हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१९

मूल्य और पूंजी

(आर्थिक सिद्धान्त के कुछ मूल तत्वों की मीमांसा)

लेखक
जे० आर० हिक्स
(फेलो ऑव नफ़ील्ड कालेज, आक्सफोर्ड)

अनुवादक
महेश चन्द
(प्रयाग विश्वविद्यालय)

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किये जायँ। शिक्षा मंत्रालय ने यह काम अपने हाथ में लिया है और इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य शिक्षा-मंत्रालय स्वयं अपने अधीन करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार की शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसके अंग्रेजी संस्करण के लेखक श्री जे० आर० हिक्स हैं और हिन्दी अनुवाद श्री महेशचन्द ने किया है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

मुहम्मद अली करीम चागला
शिक्षा मन्त्री,
भारत सरकार

प्रकाशकीय

वाणिज्य-व्यापार और उद्योग-धंधों के सर्वतोमुखी विकास के वर्तमान युग में अर्थ की प्रधानता स्वयंसिद्ध है। मुद्रा और पूंजी की समुचित व्यवस्था करके सभ्य संसार का प्रत्येक देश प्रगतिपथ पर अग्रसर होने का प्रयत्न कर रहा है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हाट-बाजारों द्वारा विभिन्न देशों के पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध सुदृढ़ हो रहे हैं। इस प्रकार वाणिज्य का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन व्यापक होता जा रहा है। ऐसी दशा में जो आर्थिक सिद्धान्त उसका नियमन करते हैं और जो प्रक्रियाएँ तथा विधियाँ काम में लायी जा रही हैं, उनका परिज्ञान इस विषय में अभिरुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपेक्षित है।

प्रस्तुत पुस्तक में मूल्य और पूंजी को लेकर बड़ी सरस एवं सरल शैली में एक जटिल विषय की मनोहर व्याख्या की गयी है। श्री महेशचन्द जी ने हिक्स के लोकप्रसिद्ध ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर कर अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए दुर्लभ अध्ययन-समाग्री सुलभ कर दी है।

ठाकुर प्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

अनुवादक की ओर से

हिक्स लिखित 'वैल्यू ऐण्ड कैपिटल' अर्थशास्त्र सिद्धान्त की अद्वितीय पुस्तक है। अनुवादक हिन्दी समिति का कृतज्ञ है कि उसे इस पुस्तक का अनुवाद प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस संबंध में यह उल्लेख्य है कि अनुवादक को इस कार्य हेतु तैयार करने का श्रेय लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के रीडर-पद पर आसीन डा० मुरलीधर जोशी को है जो अनुवादक के गुरु-सदृश हैं।

अनुवाद कार्य के संबंध में श्री रामनारायण लोहकार की सहायता का उल्लेख अनिवार्य है। यदि श्री लोहकार से समय पर सहायता न मिली होती तो स्यात् कार्य को इस शीघ्रता तथा क्षमता से पूरा न किया जा सकता।

पुस्तक में पाठकों के सहायतार्थ दो-तीन स्थानों पर अनुवादक की ओर से पाद-टिप्पणी देना उचित समझा गया है और आशा है कि उससे मूल-लेखक के प्रति किसी प्रकार का अतिचार नहीं हुआ है।

पाठकों की सुविधा की दृष्टि से ही आंग्ल अर्थशास्त्रीय शब्दों की एक हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली भी जोड़ दी गयी है।

अनुवादक

द्वितीय संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत नवीन संस्करण में मैंने जिन संशोधनों को किया है उनमें से अधिकांश का संबंध उस प्राविधिक त्रुटि को दूर करने से है जो मूल-संस्करण के तर्क में रह गयी थी। (जैसा कि मैं अब भी सोचता हूँ) मैंने उपभोक्ता के वरण संबंधी स्थायित्व की सामान्य दशाओं की पर्याप्त सही व्याख्या कर ली थी; किन्तु गणित की दृष्टि से मैंने सभी संभव दशाओं का विचार नहीं किया था, क्योंकि उनमें से कुछ ऐसी दशाएँ थीं जिनको उस समय मैं अर्थ-शास्त्रीय रूप में नहीं रख सका था। यहाँ मैं गलती पर था; अधिक हाल के (मेरे और दूसरों द्वारा किये हुए) अध्ययनों के फलस्वरूप अब यह प्रतीत होता है कि वे उपेक्षित दशाएँ अति महत्वपूर्ण आर्थिक आशय रखती हैं, और इनका उपयोग न करने के कारण मेरे तर्क के बाद के पहलुओं को क्षति पहुँची, क्योंकि, इसका फल यह हुआ कि तर्क के यह पहलू आवश्यकता से अधिक जटिल बन गये, यह अति वाञ्छनीय था कि आवश्यक संशोधनों के साथ उन्हें सरल बनाया जाय।

जिस सामान्य साध्य की मैं उपेक्षा कर गया था वह अब शब्दों में अध्याय ३, §७ में दे दिया गया है। फलस्वरूप आवश्यक समायोजन निम्नलिखित स्थानों में तथा गणितीय परिशिष्ट में यथास्थान कर दिये गये हैं:—अध्याय ५, §५ तथा ८; अध्याय ८, §३; अध्याय १७, §६। नये साध्य के अन्य परिणामों की विवेचना अतिरिक्त टिप्पणी 'अ' में की गयी है।

दूसरा स्थान जहाँ मूल तर्क गलत हो गया प्रतीत होता है, इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता था। अतः मूल को तो अपरिवर्तित छोड़ दिया है और संबंधित समस्या की अतिरिक्त टिप्पणी 'ब' में व्याख्या की गयी है।

उक्त प्रकार के प्राविधिक संशोधन करने के लिए मैं अपने को बाध्य अनुभव करता हूँ; किन्तु उन आलोचनाओं के प्रति (वे चाहे जितनी भी सुस्थापित हों), जो अधिक मूल समस्याओं से संबंधित हैं, कुछ भी सुधार करने के लिए मैंने अपने को उतना बाध्य नहीं समझा। इस पुस्तक की भूमिका लिखते समय मैंने यह विशेष रूप से स्पष्ट करने का ध्यान रखा था कि मैं आर्थिक सिद्धान्त के पूर्ण निकाय को प्रतिपादित करने का दावा नहीं करता, मैं मात्र एक विशेष अध्ययन-पथ पर चल रहा था, फिर वह मुझे जहाँ भी ले जाय। 'मूल्य और पूँजी' को उन चीजों के वक्तव्य

के रूप में मानना ही ठीक है जिन तक उस मार्ग से पहुँचा जा सकता है; अन्य (और स्यात् श्रेष्ठतर) मार्गों से इसके संबंध की विवेचना अन्यत्र करना ही उपयुक्त होगा।

जो भी हो, आलोचकों की एक विचारधारा है जिसके फलस्वरूप एक नया निर्माण हो चुका है—एक नया सिद्धान्त जो मेरे सिद्धान्त से भिन्न है, यद्यपि उसका मेरे सिद्धान्त से निकट संबंध है। इस पुस्तक का नवीन संस्करण अपूर्ण प्रतीत होता यदि इसमें प्रोफेसर सेमुएल्सन तथा उनके सहयोगियों के कार्य का कोई उल्लेख न होता। अतएव मैंने अपनी अतिरिक्त टिप्पणियों में से अन्तिम टिप्पणी में उक्त कार्य की चर्चा की है यद्यपि वह अति संक्षिप्त और अपर्याप्त है।

आक्सफोर्ड
जुलाई १९४६

जे. आर. एच.

प्रथम संस्करण की भूमिका

जिन विचारों पर यह पुस्तक आधारित है वे १९३०-३५ के बीच 'लन्दन स्कूल ऑव इकॉनॉमिक्स' में मेरे मस्तिष्क में उठे थे । ये विचार नितान्त मेरे अपने नहीं थे । उस समय प्रोफेसर रॉबिन्स के नेतृत्व में जो लोग वहाँ कार्य कर रहे थे उनके मध्य कार्यशील एक प्रकार के सामाजिक प्रक्रम के फलस्वरूप इनका उदय हुआ । उन लोगों में, जिन्होंने इस ओर योग दिया, मुझे विशेष रूप से श्री आर० जी० डी० एलेन, श्री काल्डर, श्री लर्नर, प्रोफेसर हायक, डा० रोज़िन्सटीन-रोदां तथा डा० इडेलबर्ग याद आते हैं । स्यात् इनमें से प्रत्येक इन पृष्ठों में अपनी-अपनी देन को पहचान लेगा । किन्तु नाम लेकर प्रत्येक की देन के प्रति आभार प्रदर्शित करने का प्रयत्न अत्यधिक कठिन होगा ।

यदि इस पुस्तक के विकास का प्रथम स्तर असामान्य रूप से सामाजिक था, तो इसके बाद के विकास का प्रत्येक विभाग उतना ही वैयक्तिक है । लंदन में अंकुरित होने वाले विचारों को लेकर मैंने उन्हें ऐसी दिशाओं में दीर्घरूप से विकसित किया है जिनके लिए मात्र मैं ही उत्तरदायी हूँ । मुझे श्री श्राफा से कुछ अति उपयोगी आलोचना प्राप्त हुई है, और कुछ उपर्युक्त एक-दो सज्जनों से भी । किन्तु भौतिक दूरी के कारण प्रथम वर्षों का निरंतर सहयोग पुनः संभव नहीं हो सका; अतएव प्रस्तुत कृति में में मैं उन चीजों के महत्व और निहित बातों पर अपनी निजी रिपोर्ट आपके संमुख रख रहा हूँ जिन्हें हमने खोज निकाला था ।

एक व्यापक ऋण मुझे अपनी पत्नी के प्रति प्रकट करना है । वह उस वर्ग में थी जिससे ये विचार मुझे मिले; इनके बाद के विस्तारों में वह उनका निरीक्षण करती रही; और यह तथ्य कि यह पुस्तक उसकी कृति, 'फाइनेन्स ऑव ब्रिटिश गवर्नमेंट' के साथ साथ लिखी गयी, कई रूप में मेरे लिए विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ । मेरी समझ से मेरी पुस्तक के उन भागों को जहाँ मैंने पूँजी-बाजार की व्याख्या की है, सब से अधिक लाभ हुआ; किन्तु ऐसा कोई अंश नहीं है जिसको, उसकी कृति के कारण उत्पन्न होने वाले इस विचार के निरन्तर स्मरण से कि आर्थिक सिद्धान्त का मुख्य स्थान व्यावहारिक अर्थशास्त्र के सेवक के रूप में है, लाभ न पहुँचा हो ।

मैन्चेस्टर
अक्तूबर १९३८

जे. आर. एच.

प्रस्तावना

इस पुस्तक में आर्थिक सिद्धान्त की रचनाओं में सामान्यरूप से समाहृत विषयों का पर्याप्त रूप से समावेश किया गया है, फिर भी इसे 'अर्थशास्त्र के सिद्धांत' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसका उद्देश्य बहुत भिन्न है। सिद्धान्तों के किसी भी लेखक का आदर्श क्लासिकल-कवि का आदर्श होना चाहिये—'What off was thought but ne'er so well expressed' अर्थात् जिसे प्रायः सोचा जाता था परन्तु उसकी अभिव्यक्ति इतने अच्छे ढंग से न हो पाती।' मेरा संबंध पूर्णतया नवीनताओं से है। मैं अपने को प्रत्येक समाहृत विषय के उन पक्षों तक ही सीमित रखूंगा, जिनके संबंध में मुझे कुछ नवीन बातें कहनी हैं; अथवा, कम से कम मैं पूर्व परिचित पक्षों की व्याख्या मोटे तौर पर करूंगा।

ऐसी स्थिति में यह सोचा जा सकता है कि अगले पृष्ठों में, जिनमें अर्थशास्त्र जैसे सुविकसित विज्ञान के अनेक अंशों पर कुछ नयी बातें लिखी गयी हैं, एक निबंधमाला मात्र का समावेश किया है, यह कोई एकीकृत पुस्तक नहीं। फिर भी मुझे विश्वास है कि मैंने एक पुस्तक लिखी है। मेरे इस दावे का आधार विषय की एकता में नहीं प्रत्युत रीतियों की एकता में निहित है। मैं विश्वास करता हूँ कि मुझे विश्लेषण की एक ऐसी रीति को पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिसका प्रयोग अनेकानेक आर्थिक समस्याओं में हो सकता है। इस रीति का उदय कुछ सरलतम और मौलिक समस्याओं से होता है; इसलिये उन्हें भी यहाँ स्थान मिला है। जब इस रीति का प्रयोग व्यापारिक आरोह-अवरोह जैसी अति जटिल समस्याओं के संबंध में किया जाता है, स्यात् तभी इसका महत्व अधिकतम स्पष्ट हो उठता है। अतएव, इन्हें भी यहाँ स्थान मिला है।

प्रायः किसी ऐसी रीति की मांग सुनाई पड़ती है—विशेषतया उनकी ओर से जो अति जटिल प्रश्नों के अध्ययन में लगे हैं—जिसके अन्तर्गत दो, तीन या अधिक चरों (Variables) की व्याख्या एक साथ की जा सके। दो या तीन चरों से संबंधित सरल समस्याओं का हल ज्यामितीय रेखाचित्रों द्वारा कुशलता से निकाला

जा सकता है; परन्तु जब समस्या अधिक जटिल होती है तब पूर्व परिचित सामान्य ज्यामितीय रीति से काम नहीं चलता। तब क्या किया जाय ? स्पष्ट उत्तर "बीज-गणित की शरण" है। यदि इस बात को भूल भी जायें कि अधिक अर्थशास्त्री बीज-गणित अच्छी तरह नहीं जानते हैं, यह सही है कि सामान्य रूप से व्यवहृत बीजगणित संबंधी रीतियाँ समस्याओं के विवरण में तो कुछ उपयोगी हैं, परन्तु रेखाचित्रों की अपेक्षा—यदि रेखाचित्रों का उपयोग संभव हो—कम सक्षम हैं। ऐसी परिस्थिति हेतु ही मैंने अपनी नयी रीति का प्रतिपादन किया है। इस रीति की रचना में गणित सन्निहित है, परन्तु सौभाग्य से केवल रेखाचित्रों के विधिवत् प्रयोग द्वारा ही व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार पुस्तक के मूल भाग में गणित का निराकरण करने में मैं समर्थ हो सकूंगा; परन्तु जिन्हें गणित पसन्द है उनके लिए प्रासंगिक गणित अन्त में एक परिशिष्ट के अन्तर्गत संक्षेप में दिया जायगा।[१]

शोध के उपरान्त यह पता चलता है कि कई चरोंवाली अनेक समस्यायें, जो आर्थिक सिद्धान्त के संबंध में उठती हैं, बाजारों के पारस्परिक संबंध की समस्यायें हैं। यथा, मजदूरी सिद्धान्त संबंधी अनेक जटिल समस्याओं में श्रमिक बाजार, उप-भोग्य वस्तुओं के बाजार और (स्यात्) पूंजी-बाजार के पारस्परिक संबंध का प्रश्न उठता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जटिल समस्याओं में भी आयात-निर्यात बाजारों और पूंजी-बाजार के पारस्परिक संबंध सन्निहित हैं। ऐसे ही और भी भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। अतः बाजारों के पारस्परिक संबंध के अध्ययन के लिए मुख्यरूप से हमें किसी प्रविधि की आवश्यकता है।

ऐसी प्रविधि की खोज करते समय हमारा ध्यान हठात् उन लेखकों की कृतियों की ओर खिंच जाता है जिन्होंने विशेषतः ऐसे पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया है। उदाहरण के लिए लॉसेन विचारधारा के अर्थशास्त्री वालरा और पैरेटो, जिनके साथ मेरे विचार में विक्सेल को भी लिया जा सकता है। इन लेखकों ने सामान्य संस्थिति की जिस रीति की व्याख्या की है वह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को एक ऐसे स्व-रूप में प्रदर्शित करने के लिए थी जो बाजारों के पारस्परिक संबंध की एक विवि-धतापूर्ण व्यवस्था के सदृश था। हमारी कृति को भी उन्हीं की परम्परा एवं क्रम-बद्धता में चलना है।

फिर भी जिन बातों का हम शोध कर रहे हैं उन सभी को उनकी कृतियों में पाना सम्भव नहीं है। वालरा (एलेमेन्ट्स द इकॉनॉमी पोलीटीक प्यूरे, १८७४) मुख्यतः समस्या को स्थापित करने में ही लगे रहे। मार्शल के कथन से (जिनके मस्तिष्क में स्पष्ट रूप में लिखते समय वालरा का ही ध्यान था) वालरा की कृति का यथेष्ट

विवरण मिलता है:—'आर्थिक प्रश्नों में विशुद्ध गणित का प्रधान उपयोग किसी व्यक्ति को अपने विचारों को अपने ही हित के लिए सही, संक्षिप्त और तीव्रता से लिखने में सहायक सिद्ध होता है। और साथ ही यह विश्वास दिलाता है कि उस व्यक्ति को अपने निष्कर्षों के लिए पर्याप्त, और केवल पर्याप्त, क्षेत्र प्राप्त है (दूसरे शब्दोंमें, यह कि उसके समीकरण अज्ञात चरों से संख्या में न अधिक हैं, न कम)।[२] सन् १८९० तक सामान्य संस्थिति की व्याख्या के अन्तर्गत इससे अधिक और कुछ नहीं हुआ था।[३] फिर भी यह खेद की बात है कि मार्शल की पुस्तक ने बहुत लोगों के इस विश्वास को दृढ़ कर दिया है कि सामान्य संस्थिति की व्याख्या समीकरणों की गणना के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती।

अन्त में पैरेटो महोदय (मैनुएल द इकॉनॉमी पोलीतीक, १९०९) ने व्याख्या को आगे बढ़ाया। फिर भी पैरेटो की कृति महत्वपूर्ण और प्रभावकारी होते हुए भी केवल प्रारंभ मात्र है। पूंजी एवं ब्याज की समस्याओं के प्रति ध्यानाभाव होने के कारण यह सीमित हो गई है। मूल्य के सिद्धान्त में भी जहाँ यह सबसे शक्तिपूर्ण है, कुछ महत्वपूर्ण विषयों के संबंध में भी स्पष्टता का अभाव रह जाता है जिसके प्रति हमको ध्यान देना पड़ेगा।

पूंजी और व्याज के प्रति उपेक्षा के लिए विक्सेल को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि, इन समस्याओं के प्रति वे वास्तव में पहले से ही विशेष आकृष्ट थे परन्तु पैरेटो के पूर्वगामी होने के कारण वह मूल्य संबंधी पैरेटो के सुधारों से लाभ नहीं उठा सके और (मेरा विश्वास है कि परिणाम स्वरूप) उनका पूंजी-सिद्धान्त स्थिर दशा की कृत्रिम अमूर्त व्याख्या का विचार करने तक ही सीमित रह गया। इस सीमा के होते हुए भी उन्होंने आश्चर्यजनक काम किए। उनका मुद्रा एवं व्याज का सिद्धान्त विशिष्ट रूप से (गेल्डजिन्स उन्ड गुटेन प्राइज़, १८९८) आधुनिक मुद्रा-सिद्धान्त का आधार रहा है।

हमारा वर्तमान कार्य ऐतिहासिक ढंग से निम्नवत् अभिव्यक्त किया जा सकता है। हमको पैरेटो के मूल्य-सिद्धान्त पर पुनर्विचार करना है और तब इस परिष्कृत मूल्य-सिद्धान्त का प्रयोग पूंजी की उन प्रवैगिक समस्याओं के प्रति करना है जिन तक विक्सेल महोदय अपनी व्याख्या-रीतियों द्वारा नहीं पहुँच सके थे।

ध्यान देने की बात है कि वालरा और पैरेटो की कृतियाँ अंग्रेजी में सुलभ नहीं हैं और जो हैं भी उनसे अंग्रेजी पाठक भली प्रकार भिज्ञ भी नहीं हैं। अतः, अपने तर्क-वितर्क के क्रम में मैं उनकी कृतियों के आवश्यक भागों को संक्षिप्त रूप में उपस्थित करूँगा। मैं पैरेटो के नहीं, वरन् मार्शल के अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित मूल्य

सिद्धान्त को मानकर चलूंगा। इससे कुछ लाभ भी होगा, क्योंकि, हर दृष्टि से पैरेटो के सिद्धान्त को मैं मार्शल के सिद्धान्त से श्रेष्ठ नहीं मानता। हमें पैरेटो के सिद्धान्त को उस सीमा तक पूरा करना है जहां तक मार्शल के सिद्धान्त से तुलना करने पर वह त्रुटिपूर्ण है।

इसी प्रकार प्रवैगिक समस्याओं के क्षेत्र में भी मार्शल की रीति द्वारा किए गए महत्वपूर्ण शोध-कार्यों के प्रति—मेरे विचार में विशेषतया केन्स की कृति है—ध्यान देने से उपेक्षा नहीं करूंगा। केन्स महोदय की पुस्तक 'जेनेरल थिअरी ऑव एम्प्लायमेन्ट, इन्टरेस्ट एण्ड मनी' (१९३६) उस समय निकली थी जब मेरी प्रस्तुत कृति पर्याप्त लिखी जा चुकी थी, यद्यपि यह कई दृष्टियों से अधूरी थी। क्योंकि हम लोग ऐसे ही समान क्षेत्रों से संबंधित थे, केन्स महोदय की कृति से बहुत हद तक मेरा प्रभावित होना अनिवार्य था। लिखते समय अगर 'जेनेरल थिअरी' हमारे पास न होती तो इस पुस्तक का उत्तरार्द्ध सर्वथा भिन्न ही हुआ होता। चौथे भाग के अन्तिम अध्याय विशेष रूप से केन्सीय ही हैं।

पूंजी पर कार्य आरम्भ करते समय मुझे आशा थी कि मैं पूर्णतया एक नवीन प्रवैगिक सिद्धान्त की रचना करूंगा—ऐसा सिद्धान्त जिसकी मांग बहुतेरे लेखकों ने की है परन्तु जिसका प्रतिपादन किसी ने उस समय तक न किया था। इन आशाओं को बड़ा धक्का लगा, क्योंकि केन्स महोदय बाजी मार ले गए।[४] फिर भी, मैं अपनी व्याख्या को उपस्थित करना अच्छा समझता हूँ यद्यपि उनकी तुलना में यह शिथिल दीख पड़ती है। विशेष स्थिति व्याख्या अधिक आकर्षित होती है और मैं यह भी सोचता हूँ कि मैंने ऐसी बहुत चीजों को स्पष्ट किया है जिन्हें उन्होंने अस्पष्ट छोड़ दिया था।[५]

क्योंकि मैं केन्स महोदय की पुस्तक की सहायता से युक्त हूं, मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं उनके प्रयत्नों के ढंग पर आश्चर्यचकित रह गया हूं; किस प्रकार वे बिना किसी विशेष व्याख्या यंत्र का प्रयोग किए प्रस्तुत जटिलताओं के जाल को काटकर यथार्थतः महत्वपूर्ण बातों की ओर सीधे अग्रसर हुए हैं। वे ऐसा करने में सफल इसलिए हुए हैं कि अनावश्यक का त्याग कर आवश्यक की ओर सीधे जाने के लिए उन्होंने अपने उच्च आन्तरिक भाव एवं वास्तविक संसार के प्रति सूक्ष्म पर्यवेक्षण का स्वतंत्र प्रयोग किया है। फिर भी, इन्हीं तरीकों में त्रुटि भी रही है जो पाठकों के मार्ग में बाधाएं उपस्थित करती हैं। केन्स महोदय के पाठक यह कहे बिना नहीं रह पाते 'मान लो वे गलत हैं; मान लो कि एक प्रकार के प्रभाव उससे अधिक महत्वपूर्ण हों जितना कि वे सोचते हैं और दूसरे कम महत्वपूर्ण,

तो क्या इससे विशेष अन्तर पैदा नहीं हो जायगा ?' इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर अवश्य ही मिलना चाहिए। वास्तव में यह विशेष वांछनीय है कि पाठक उन बातों को, जो विशुद्ध तर्क के परिणाम हैं और जिसको मानने के लिए उन्हें बाध्य किया जा सकता है, उन बातों से अलग कर लें जो सामाजिक प्रश्नों पर केन्स महोदय के अपने विचारों के परिणाम हैं और जिनके प्रति पाठक मतभेद रख सकते हैं। अब हम केन्स महोदय और विक्सेल के प्रतिकूल विशिष्ट धारणाओं का निराकरण करने के लिए स्वतंत्र हैं; इस प्रकार हम यह जान सकेंगे कि सामाजिक नीति के महत्वपूर्ण विषयों पर क्योंकर केन्स महोदय पूर्वगामी अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा विभिन्न परिणामों पर पहुंचते हैं। हम अनेक दृष्टिकोणों से उनका निरीक्षण करते हुए और उनके विषय में अपने मस्तिष्क में निश्चित धारणा बनाते हुए इन बाधक विचारों का चतुर्दिक अवलोकन कर सकेंगे।

मुझे आशा है कि भाग ३ और ४ में दिए गए शोध के अंग निश्चित ही अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के कारण अधिकांश पाठकों को विशेष रुचिकर प्रतीत होंगे। मैं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ कि उपर्युक्त शोध के अंश प्रारम्भ में नहीं लिखे गए हैं जहाँ पाठक उन्हें पसन्द करते वरन् पुस्तक के अंत में रखे गए हैं, और उनसे पहले भाग २ का जटिल वाग्जाल आ जाता है। परन्तु इसमें मेरी असमर्थता थी, क्योंकि, हमारे पूंजी-सिद्धान्त की यह विचित्र विशेषता है कि यह परिष्कृत मूल्य सिद्धान्त पर आधारित है। पूंजी और ब्याज की समस्यायें दो कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं: एक कठिनाई तो प्रवैगिक समस्या के प्रति ही है, परन्तु दूसरी कठिनाई बाजारों के पारस्परिक संबंध की है जिन्हें अलग अलग हल किया जा सकता है। प्रवैगिक समस्याओं का विवरण प्रस्तुत करते समय हमें यह अनुभव करके अत्यन्त सुगमता होगी, कि हम पुस्तक के दूसरे भाग में ही इस अनिवार्य अप्रासंगिक कठिनाई को हल कर चुके हैं। तदुपरान्त हम विशिष्ट रूप में प्रवैगिक कठिनाइयों को—जो कीमतों के 'स्थैतिक' निकाय के स्थान पर कीमत-निर्धारण की कल्पना में सन्निहित हैं—अलग कर सकते हैं। इनका उल्लेख पुस्तक के तीसरे भाग में किया गया है, जो हमारे मूल्य सिद्धान्त पर विशेष रूप से आधारित नहीं है। सामान्य एवं बहुत महत्वपूर्ण समस्याओं की व्याख्या, जिसके अन्तर्गत हमको प्रवैगिक कठिनाइयाँ और पारस्परिक रूप से संबंधित बाजार की कठिनाइयाँ दोनों का सामना करना है, अन्तिम रूप से पुस्तक के चौथे भाग में दी गई हैं।

यही कारण है कि मैं पाठकों से बचत और विनियोग, ब्याज और कीमतें एवं तेजी और मंदी के अध्ययन के प्रति उठे अधैर्य को रोकने और सीमान्त उपयोगिता

की विचार पद्धति की ओर पीछे जाकर तुष्ट होने की प्रार्थना करता हूँ। ऐसा कहा जाता है कि चक्करदार रीतियाँ कभी कभी प्रत्यक्ष रीतियों की अपेक्षा अधिक फल-दायक होती हैं। यह स्यात् उचित होगा कि हम पूंजी-सिद्धांत की व्याख्या ऐसे रूप में करें जो उस प्रसिद्ध नियम को चरितार्थ करे।

इस प्रकार योजना हमारे सामने निम्नवत् है :—

भाग १ में आत्मनिष्ठ मूल्य—आवश्यकताएं और उनकी संतुष्टि—के सिद्धान्त का उल्लेख है। यह वही विषय है जो मार्शल के प्रिंसिपल्स, भाग ३, का है। इस विषय में मुझे जो भी कहना है वह आगे आने वाले विषयों के लिए आवश्यक है परन्तु इसका अपना अलग से भी विशेष प्रयोजन है। इस विषय पर हमारा कार्य सांख्यकीय मांग के अध्ययनों के लिए आवश्यक सैद्धान्तिक आधार उपस्थित करने के प्रयत्न से आरंभ होता है, अतएव यह क्षेत्र निश्चित रूप से प्रासंगिक है। मौलिक रूप से रीति संबंधी अन्य विषय भी ले लिए गए हैं।

वाल्रा और पैरेटो की सामान्य-संस्थिति-व्याख्या की पुनर्रचना के लिए हमारे संशोधित आत्मनिष्ठ मूल्य के सिद्धान्त के परिणामों को पुस्तक के भाग २ में प्रयुक्त किया गया है। सबसे महत्व की बात यह है कि यहां पर हमें अज्ञात नगों और समीकरणों की गणना से परे अनेक बाजारों के साथ कीमत-निर्धारण की कार्यप्रणाली के लिए सामान्य नियम स्थापित करने का अवसर मिलता है। मार्शल के अनुगामियों द्वारा निष्फलता के आरोप से लासेनीय सिद्धान्त को मुक्त करने के लिए ऐसा करना मुख्य रूप से आवश्यक है। मुझे विश्वास है कि मैंने इसे कर दिया है। भाग २ फिर भी सापेक्ष रूप से एक शुष्क क्षेत्र है। यह पूर्णतया स्थैतिक है। यद्यपि कुछ लब्धप्रतिष्ठ अर्थशास्त्रियों ने अपने विचारों को इसी सांचे में मोड़कर संतोष कर लिया है, अनेक वास्तविक मूल्य समस्याओं के कतिपय पहलू छूट जाते हैं। बाजारों के पारस्परिक संबंध के नियमनिष्ठ सिद्धान्त से अधिक इसको न भी माना जाय तो भी इसके कुछ लाभ हैं। मेरी अभिलाषा है कि इस सिद्धान्त को इसी रूप में लिया जाय।

भाग ३ में प्रवैगिक अर्थशास्त्र के मूलतत्वों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। विशेष रूप से इसका संबंध उन समस्याओं के प्रदर्शन से है जिनका लगाव वाल्रा-कालीन सामान्य-संस्थिति-विश्लेषण से था। वाल्रा के पूंजी-सिद्धान्त के संक्षिप्त निरूपण की अपेक्षा मैं इस विषय के विशेष विस्तार में जाऊंगा। ब्याज-दर-निर्धा-रण जैसे विवादग्रस्त प्रश्नों पर मुझे जो कुछ भी कहना है उसे भाग ३ में दिया जायगा। आय एवं वचन जैसे कुछ महत्वपूर्ण विषयों के अर्थ संबंधी विवाद भी इसमें सम्मिलित होंगे।

भाग ४ में प्रवैगिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली का विवरण है। भाग २ और ३ के परिणामों को कालक्रम से आर्थिक कार्य रीति के सिद्धान्त के निर्माणार्थ यहाँ एकत्रित किया गया है। भाग २ में हमको सामान्य रूप से परस्पर संबंधित बाजार व्यवस्था कार्यप्रणाली के नियम प्राप्त होंगे। भाग ३ में हमको पूँजी-बाजार जैसे महत्वपूर्ण विशिष्ट बाजारों की विशेषताओं से परिचय प्राप्त होगा। पूँजी-बाजार की कार्य-प्रणाली को पूर्णतया समझ सकने के पूर्व ही इन दोनों अवस्थाओं को समझना आवश्यक है।

इस प्रकार हमारे सामने बहुत विस्तृत कार्यक्रम है, और मेरा विचार है कि इसे कुछ ओर से सीमित करनेका अधिकार हमें प्राप्त है। हमारे विश्लेषण की पहली सीमा शीघ्र ही स्पष्ट हो जायगी परन्तु मैं इसको यहीं बताए देता हूँ कि हम सर्वदा पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की अवधारणा को साथ लेकर आगे बढ़ेंगे। तात्पर्य यह है कि हम पूर्ति पर पड़नेवाले उस प्रभाव की लगभग सदैव उपेक्षा करेंगे जो विक्रेताओं द्वारा अपने-अपने विक्रय की कीमतों पर पड़नेवाले प्रभावों के अनुगणन से उठता है। ऐसी ही बात मांग के लिए भी होगी। वास्तव में अनेक मांग और पूर्ति कुछ हद तक ऐसी ही गणनाओं से संभवत: प्रभावित होती हैं; ऐसा भी हो सकता है कि वे बहुत हद तक इसी से प्रभावित हों। जो भी हो, ऐसे प्रभाव को केवल छोटी-मोटी समस्याओं के लिए ही स्थान मिलेगा। इसीलिए वर्तमान समय के लिए मैंने इसे छोड़ दिया है, यद्यपि अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की ओर ध्यान देने पर इस पुस्तक की व्याख्या अवश्य ही परिष्कृत हो जायगी। मेरा विश्वास है कि इसको छोड़ देने से इस पुस्तक के महत्वपूर्ण परिणामों को कोई विशेष हानि नहीं हुई है, परन्तु, यह विषय ऐसा है जिसके संबंध में कालान्तर में स्पष्ट खोज करनी पड़ेगी।

दूसरा महत्वपूर्ण परिसीमन पुस्तक के उपशीर्षक में निहित है। यह सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की एक पुस्तक है, जिसको व्यक्तिगत साहसोद्यम की आर्थिक व्यवस्था के तार्किक विश्लेषण के रूप में लिया गया है और इसमें किसी प्रकार के संस्थागत अवरोध के उल्लेख को सम्मिलित नहीं किया गया है। इस परिसीमा की व्याख्या मैं विशेष कठोरता से करूंगा। मैं पूंजीवाद के शुद्ध तार्किक विश्लेपण को ही एक कार्य मानता हूँ, जबकि आर्थिक संस्थाओं का पर्यवेक्षण आर्थिक इतिहासकारों की रीति-सदृश अन्य रीतियों से अच्छी तरह किया जाता है 'चाहे संस्थायें समसामयिक ही क्यों न हों)। जब ये दोनों ही कार्य सम्पन्न हो चुकते हैं तभी अर्थ-शास्त्र अपने गन्तव्य के निकट पहुँचने लगता है। परन्तु, इन दोनों के बीच श्रम-विभाजन की एक रेखा रखना अच्छा है : इस रेखा को मानकर चलना हितकर है।

यह समझ लेना चाहिए कि इस सादगी के मूल्य स्वरूप सैधान्तिक अर्थशास्त्री निश्चित रूप से यह कहने में असमर्थ हो जाता है कि कोई अवसर अथवा उसके द्वारा भांपा गया खतरा किसी तिथि विशेष पर वास्तविक संसार में विद्यमान होगा, अथवा नहीं। वह इसको एक अलग शोध का विषय मानने को बाध्य होता है। परन्तु वह अन्य शोधकर्त्ता को कम से कम कुछ ऐसी बातें बता सकेगा जिनकी ओर उसे ध्यान देना चाहिए।

---

१. मेरी रीति का एक विशुद्ध गणितात्मक विवरण (कम-से कम जहाँ तक यह मूल्य सिद्धांत में लागू होती है) फ्रांसीसी भाषा में आ चुका है—थिओरी मैथेमेटिक द ला वैल्यु (पेरिस, हरमन)

२. मार्शल कृत प्रिंसिपल्स, प्रथम संस्करण की भूमिका।

३. चरों और समीकरणों की केवल गिनती कर लेना भी, यदि वह विधिपूर्वक की जाय, अधिक अर्थ रखता है। आगे देखें, अध्याय ४ और मेरा निबन्ध, "लियाँ वालरा" (इक्नोमेट्रिका, १९३४)।

४. हमारी कृति के प्रारम्भिक अंश तीन लेखों में लिपिबद्ध हैं, जो 'जेनरल थिओरी' को देखने से पहले लिखे गए थे : 'ग्लाईशगे विश्टउंड-कन्जंक्चर' (ज्राईश्रिफ्ट फ्यूरे नेशनेल इकोनोमी १९३३); 'ए सजेशन फॉर सिम्पलीफाइंग द थिओरी ऑफ मनी' (इकॉनॉमिका १९३५); 'वेज एण्ड इन्टरेस्ट-द डाइनेमिक प्रॉबलेम' (इकॉनॉमिक् जनरल १९३५)।

५. देखिए निम्नांकित विषयों पर मेरे विवाद : बचत और विनियोग का सम्बंध (अध्याय १४ को टिप्पणी), उत्पादन की अवधि (अध्याय १७); अल्प एवं दीर्घकालीन ऋण (अध्याय ११) अपरिवर्तनीय मजदूरी क्यों महत्वपूर्ण है (अध्याय २१) पूंजी संचयन प्रक्रम (अध्याय २३)

भाग १

आत्मगत मूल्य का सिद्धांत

'तर्क भी वरण है' (पैरेडाइज़ लॉस्ट)

अध्याय १

उपयोगिता तथा अधिमानता

(१) उपभोक्ता की माँग के विशुद्ध सिद्धान्त की ओर, जिसने मार्शल और उनके समकालीन अर्थशास्त्रियों का पर्याप्त ध्यान आकर्षित किया था, वर्तमान शताब्दी में बहुत कम ध्यान दिया गया है। जहाँ तक अंग्रेजी में लिखी गई पुस्तकों का संबंध है, मार्शल के प्रिंसिपल्स का तृतीय भाग अभी भी इस विषय पर अन्तिम शब्द के रूप में है। अभी भी मार्शल का मांग-सिद्धान्त निःसन्देह श्लाध्य है,[१] परन्तु विलक्षणता तो यह है कि यह इतने दिनों तक असंदिग्ध रूप से लब्ध-प्रतिष्ठ रहा है। अगर वास्तव में इस विषय पर कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता है और अगर मार्शल के विश्लेषण का प्रत्येक कदम विवाद से परे हो, तब तो यह विलक्षणता समझ में आती है। परन्तु स्पष्ट है कि बात ऐसी नहीं है। मार्शल की रीति से बहुत से लेखकों को अत्यन्त परेशानी हुई है,[२] और वास्तव में उनका पहला कदम ही–जिसपर और सभी चीजें आधारित हैं–अत्यन्त संदिग्ध है।

हम सर्वप्रथम मार्शल के तर्कवितर्क की रूपरेखा मात्र की ओर ध्यान देंगें।[३] किसी भी उपभोक्ता का, जिसकी मौद्रिक आय दी हुई है, उपभोग वस्तुओं के ऐसे बाजार से सामना रहता है, जिनमें उन वस्तुओं की कीमतें पहले से ही निर्धारित हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि वह किस प्रकार अपने व्यय को विभिन्न वस्तुओं में वितरित करेगा ? सुविधा के लिए यह मान लिया गया है कि वस्तुएं अत्यन्त छोटी इकाइयों में सुलभ हैं।[४] यह मान लिया जाता है कि उपयोगिता की मात्रा प्राप्त वस्तुओं के परिमाण का एक फलन है, और इसलिए उपभोक्ता अपनी क्रय की गई वस्तुओं से अमुक मात्रा में 'उपयोगिता' प्राप्त करता है; और वह अपनी आय को इस ढंग से व्यय करेगा कि उसको अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो। परन्तु उपयोगिता तभी अधिकतम होगी जबकि प्रत्येक दिशा में की गई व्यय की सीमान्त इकाई से उपयोगिता की समान वृद्धि हो। ऐसी स्थिति में, व्यय की एक दिशा से

दूसरी दिशा में स्थानान्तरण के परिणामस्वरूप (सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम से) घटाए-गए व्यय की दिशा में उपयोगिता की हानि, बढ़ाए गए व्यय की दिशा से प्राप्त अधिक उपयोगिता की अपेक्षा अधिक होगी। चाहे जैसे भी स्थानान्तरण किया जाय, पूर्ण उपयोगिता अवश्य घटनी चाहिए। इकाइयाँ छोटी होने के कारण किसी वस्तु की क्रमशः दो इकाइयों की सीमान्त उपयोगिताओं के अन्तर की उपेक्षा की जा सकती है; अतएव इस निष्कर्ष की अभिव्यक्ति दूसरे ढंग से हो सकती है। अनेक क्रय की गई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएं अवश्यमेव अपनी कीमतों की समानुपातिक होती हैं।

मार्शल का तर्क-वितर्क पूर्ण उपयोगिता को अधिकतम करने के अभिप्राय से ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता के नियम से होते हुए आगे चलकर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि क्रय की गई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएं अवश्य ही अपनी कीमतों की समानुपातिक होंगी।

परन्तु यह 'उपयोगिता' क्या है जिसे उपभोक्ता अधिकतम करता है? और, ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता नियम का वास्तविक आधार क्या है? मार्शल महोदय हमें इन विषयों पर व्यग्र छोड़ देते हैं। जो भी हो पैरेटो ने इन विषयों पर अधिक प्रकाश डाला था।

(२) पैरेटो द्वारा लिखित "मैन्युएल् द' इकनॉमिक पोलीतिक" (१९०९) की गणना उपभोक्ता के माँग-सिद्धान्त के उच्चकोटि के विवरणों की—जिनसे किसी भी आधुनिक शोध का प्रारम्भ होना ही चाहिए—कोटि में करनी है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पैरेटो की पुस्तक अपने पूर्ण रूप में मार्शल की पुस्तक से तुलना करने योग्य है। 'मैनुएल' 'प्रिंसिपल्स' के एक प्रकार के सरल रूप का आभास देता है; परन्तु इसमें अधिकाधिक समस्याओं का विवरण छिछले रूप में ही मिलता है। सामान्य संस्थिति का इनका विख्यात सिद्धान्त भी वाल्रा के सिद्धान्तों के लालित पुनर्कथन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर भी, उपयोगिता-सिद्धान्त के इस विशिष्ट विषय पर पैरेटो विशेषज्ञ थे, और उनके शोध ध्यान देने योग्य है। क्योंकि अंग्रेजी के पाठक उनसे बहुत परिचित नहीं हैं, मैं प्रासंगिक तर्कों को ध्यानपूर्वक संक्षेप में प्रस्तुत करूंगा।

मौलिक रूप से, पैरेटो ने भी उसी उपयोगिता सिद्धान्त से प्रारम्भ किया है जिससे मार्शल ने। उनके विचारों के विकास की प्रथम अवस्था में हमारे संक्षिप्त तर्क-वितर्क उन्हें भी स्वीकार्य हुए होते। परन्तु आगे चलकर, जैसा कि मार्शल ने किया, एक ही वस्तु की माँग पर ध्यान देने (और इस प्रकार ह्रासमान सीमान्त-उपयो-

गिता-वक्र एवं माँग-वक्र के संबन्ध का शोध करने) के स्थान पर पैरेटो ने अपना ध्यान संबंधित संपूरक और प्रतियोगी-वस्तुओं की समस्या की ओर मोड़ दिया। उन्होंने यहाँ पर पहले की व्याख्या को विस्तृत किया है, अथवा, 'प्रसार' से प्रारंभ होकर इसका अंत 'क्रान्ति' में हुआ।

संबंधित वस्तुओं के अध्ययन के लिए पैरेटो ने एजवर्थ[5] की अनधिमान-वक्र नामक ज्यामितीय पद्धति को अपनाया। मार्शल की तरह जब हमारा तात्पर्य किसी एक वस्तु से होता है तो एक अक्ष पर वस्तुओं की मात्रा को और दूसरे अक्ष पर उस वस्तु की विभिन्न मात्राओं से प्राप्त कुल उपयोगिता की मात्राओं को मापते हुए हम एक कुल-उपयोगिता-वक्र खींच सकते हैं। बस इसी प्रकार, दो वस्तुओं से संबंध होने पर, हम एक उपयोगिता-पृष्ठ खींच सकते हैं। दो वस्तुओं 'क' और 'ख' के परिणामों को दो क्षैतिज अक्षों पर मापते हुए हम एक ऐसा चित्र पाते हैं जिसके अन्दर कोई विन्दु 'प' इन दो वस्तुओं के विशिष्ट मात्राओं (प म और प न) के समूह को प्रदर्शित करता है। ऐसे प्रत्येक विन्दु से तीसरी दिशा में हम एक कोटि-लम्ब खड़ा कर सकते हैं जिसकी लम्बाई वस्तुओं के उक्त विशेष समूह से प्राप्त उपयोगिता की मात्रा को प्रदर्शित करती है। इन कोटिलम्बों के शिखरों को संयुक्त

(चित्र १)
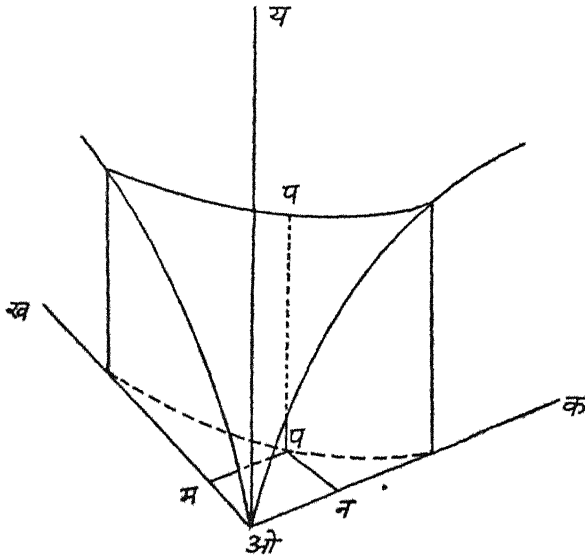
कर देने से हमें एक उपयोगिता-पृष्ठ की प्राप्ति होती है।

सिद्धान्ततः यह पर्याप्त रूप से सरल है; परन्तु त्रिदिशीय चित्रों को संभालना कठिन कार्य है। सौभाग्य से तृतीय दिशा को एक वार देख लेने के उपरान्त हमें इससे उलझने की आवश्यकता नहीं है। तृतीय दिशा का निरसन किया जा सकता है और हम पुनः दो दिशाओं पर आ सकते हैं।

त्रिदिशीय मॉडल के प्रयोग के स्थान पर हम मानचित्र का प्रयोग कर सकते हैं (चित्र २)। दो अक्षों पर क और ख वस्तुओं को दिखाकर क्षैतिज रेखा-चित्र

(चित्र–२)
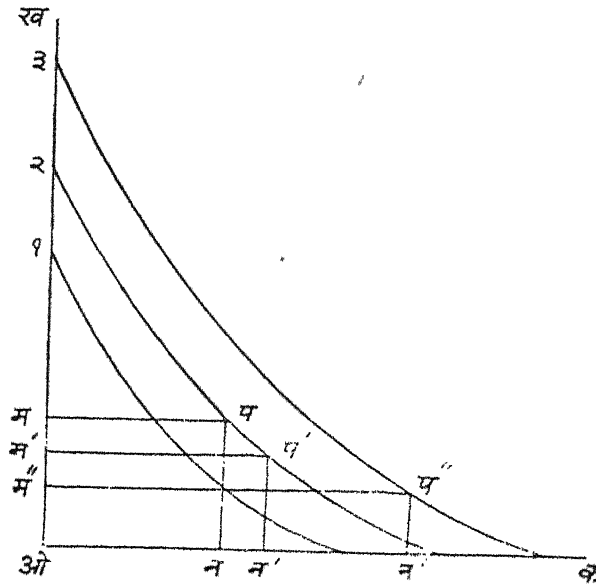
पर उपयोगिता-पृष्ठ की समुच्च रेखाओं को अंकित कर सकते हैं। (चित्र १ में बिन्दु रेखा) ये अनधिमान वक्र हैं। ये उन सभी बिन्दुओं को संयुक्त करते हैं जो तृतीय दिशा में एक ही ऊँचाई—अर्थात् समान कुल उपयोगिता—के तुल्य हैं। यदि 'प' और 'प'' एक ही अनधिमान वक्र पर हों तो इसका तात्पर्य है कि 'पम' और 'पन' मात्राओं से प्राप्त कुल उपयोगिता प'म' और प'न' से प्राप्त उपयोगिता के बराबर हैं। अगर प" बिन्दु प की अपेक्षा उच्चतर अनधिमान वक्र पर है (वक्रों का अंकन इस प्रकार होगा कि 'उच्च' और 'निम्न' वक्रों का अन्तर ज्ञात हो सके), तो प"म"

और प″न″ से पम और पन की अपेक्षा अधिक कुल उपयोगिता की प्राप्ति होगी।

इन अनधिमान वक्रों का आकार कैसा होगा ? जब तक प्रत्येक वस्तु की धनात्मक-सीमान्त-उपयोगिता होगी, अनधिमान वक्र अनिवार्यतः दाहिनी दिशा में नीचे की ओर ढलेगा। अगर 'क' की धनात्मक सीमान्त उपयोगिता है तो 'ख' के परिमाण में बिना किसी परिवर्तन के 'क' के परिमाण में वृद्धि करने से (दूसरे शब्दों में चित्र में दाहिने की ओर थोड़ी भी प्रगति से) कुल उपयोगिता निश्चित ही बढ़ेगी और इस प्रकार हम एक उच्चतर अनधिमान वक्र पर आ जायेंगे। इसी प्रकार शीर्ष-दिशा की प्रगति भी इसको निश्चय ही उच्चतर अनधिमान वक्र पर पहुँचा देगी। एक ही अनधिमान वक्र पर स्थिर रहना तभी संभव है जब इन प्रगतियों की क्षतिपूर्ति हो सके—अर्थात् 'क' की मात्रा में वृद्धि के साथ ख की मात्रा में कमी की जाए या क का विघटन और ख का सम्बर्द्धन हो। अतएव, ये वक्र अनिवार्यतः दाहिनी दिशा में नीचे की ओर ढलते हैं।

किसी बिन्दु प से होकर जानेवाले वक्र के ढाल का यथार्थतः अति महत्वपूर्ण और निश्चित अर्थ है। 'क' की एक छोटी इकाई की हानि होने पर व्यक्ति की क्षतिपूर्ति करने के लिए 'ख' की मात्रा में कुछ वृद्धि आवश्यक है। अब (जब तक मात्राएँ अल्प हैं) ख की इस मात्रा से प्राप्त उपयोगिता, 'ख' की मात्रा-वृद्धि गुणे 'ख' की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगी; 'क' की सम्बद्ध हानि के फलस्वरूप उपयोगिता में कमी, 'ख' की मात्रा में कमी गुणे 'ख' की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगी। क्योंकि प्राप्ति और हानि समान है, अतएव

$$\text{वक्र का ढाल} = \frac{\text{ख की मात्रा-वृद्धि}}{\text{क की मात्रा में ह्रास}} = \frac{\text{क की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख की सीमान्त उपयोगिता}}$$

जब किसी व्यक्ति के पास क और ख की क्रमशः प म और प न मात्राएं होती हैं, तो प से होकर जाने वाले वक्र का ढाल क की सीमान्त-उपयोगिता तथा ख की सीमान्त उपयोगिता के अनुपात को मापता है।

वक्रों के आकार के विषय में क्या हमको और कुछ ज्ञात है ? ऐसा प्रतीत होगा कि ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता नियम को इस रेखा चित्र के पदों में चित्रित करने का कोई मार्ग अवश्य होना चाहिए। प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इस तरह का रूपान्तर सम्भव है। जैसे जैसे कोई व्यक्ति किसी अनधिमान वक्र पर आगे बढ़ता है उसे 'क' की अधिक और 'ख' की कम मात्रायें प्राप्त होती हैं। क की मात्रा बढ़ने से क की सीमान्त उपयोगिता घटती है, ख की मात्रा घटने से ख की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती है। अतएव दोनों ही आधारों पर वक्र का ढाल अनि-

वार्यतः घटना चाहिए। गिरते हुए वक्र, जिनका ढाल दाहिनी ओर बढ़ने पर घटता है, केन्द्र की ओर उत्तल होते हैं, जैसा कि उन्हें चित्र में खींचा गया है।

क्या यह नितान्त तर्कसंगत है? जहाँ तक अभी अभी विचारे गए प्रत्यक्ष प्रभावों का संबंध है, ऐसा अवश्य होगा; परन्तु दूसरे अप्रत्यक्ष प्रभाव भी हैं, जिनको ध्यान में लाना है। 'क' की वृद्धि केवल 'क' की सीमान्त उपयोगिता को ही प्रभावित नहीं करती, वरन् यह ख की सीमान्त उपयोगिता को भी प्रभावित कर सकती है। ऐसी संबद्ध वस्तुओं के साथ उपर्युक्त तर्क आवश्यक रूप से अनुगमन नहीं करता। मान लीजिए 'क' की वृद्धि ख की सीमान्त उपयोगिता को कम कर देती है और 'ख' की कमी क की सीमान्त उपयोगिता को बढ़ा देती है; और ये अनुप्रस्थ प्रभाव प्रचुरमात्रा में हैं, तब यह संभव है कि अनुपस्थ-प्रभाव प्रत्यक्ष-प्रभावों पर छा जायं, और अनधिमान-वक्र के साथ दाहिनी ओर चलने से वक्र का ढाल वास्तव में अधिक हो जाय। निःसन्देह यह एक अतिविलक्षण स्थिति है; परन्तु यह ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता के अनुरूप है। ह्रासमान-सीमान्त उपयोगिता और अनधिमान वक्र की उत्तलता एक ही बात नहीं है।

(३) अब हम अनधिमान-वक्र विषयक सचमुच महत्वपूर्ण बात की ओर आते हैं—जिसके आविष्कार ने पैरेटो के सिद्धान्त को मार्शल से भिन्न पंक्ति में कर दिया और विस्तृत आर्थिक-गौरव के नये परिणामों के लिए पथ प्रशस्त किया।

(चित्र—३)
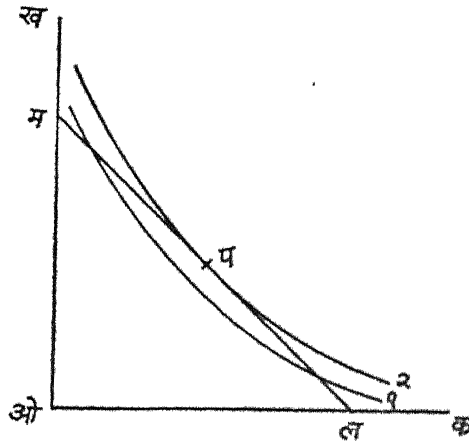
मान लीजिए एक निश्चित आयवाला कोई उपभोक्ता अपनी सम्पूर्ण आय

को दो वस्तुओं 'क' और 'ख' पर खर्च कर रहा है और 'क' तथा 'ख' के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। यह भी मान लें कि बाजार में उन वस्तुओं के मूल्य निश्चित हैं। ऐसी स्थिति में उन वस्तुओं से प्राप्त उपयोगिता की मात्रा की किसी सूचना के बिना उसके अनधिमानता के रेखा-चित्र से ही हम जान सकते हैं कि वह कितनी मात्रा में क्रय करेगा।

क–अक्ष पर (चित्र ३) लंबाई 'ओ ल' से 'क' की उस मात्रा को प्रदर्शित कीजिए जो उपभोक्ता अपनी संपूर्ण आय से खरीद सकता है : और अपनी संपूर्ण आय से 'ख' की जो मात्रा वह खरीद सकता है उसे प्रदर्शित करते हुए ख अक्ष पर 'ओ म' दूरी को लीजिए। "मल" को सरल रेखा से संयुक्त कर दीजिए। अब 'मल' रेखा का कोई भी बिन्दु इन दो वस्तुओं की उन युगल मात्राओं को प्रदर्शित करता है, जिन्हें वह अपनी आय द्वारा खरीद सकता है। यदि ल बिन्दु से चलें तो ख की कुछ मात्रा प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता को दोनों वस्तुओं की कीमतों के अनुपात द्वारा निर्देशित समानुपात में 'क' वस्तु की मात्रा देनी पड़ेगी। कीमत का अनुपात 'मल' रेखा के ढाल द्वारा प्रगट किया गया है।

'मल' रेखा के किसी भी बिन्दु से होकर एक अनधिमान वक्र जाएगा; परन्तु साधारणतया 'मल' रेखा अनधिमान वक्र को काटेगी। ऐसा होने पर यह बिन्दु संस्थिति बिन्दु नहीं हो सकता। क्योंकि, किसी न किसी दिशा में 'मल' रेखा पर चलने से उपभोक्ता सदा ही एक उच्चतर अनधिमान वक्र पर पहुंचने में समर्थ होगा, जो उसे अधिक उपयोगिता देगा। अतएव वह इस विचाराधीन बिन्दु पर अपनी उपयोगिता को अधिकतम नहीं कर सकता।

उपयोगिता अधिकतम केवल तभी होगी जब 'मल' रेखा किसी अनधिमान वक्र को स्पर्श करे, क्योंकि स्पर्श बिन्दु से किसी भी दिशा में बढ़ने पर उपभोक्ता नीचे के अनधिमान वक्र पर आ जाएगा।

कीमत रेखा और किसी अनधिमान वक्र की स्पर्शता अनधिमान वक्रों के पदों में, सीमान्त-उपयोगिताओं और कीमतों के बीच समानुपातिकता की अभिव्यक्ति है।

(४) इस प्रकार हम सीमान्त-उपयोगिता-सिद्धान्त को अनधिमान वक्रों के पदों में अनुदित कर सकते हैं; परन्तु ऐसा करके हमने केवल रूपान्तर से भी कुछ अधिक सिद्ध किया है। क्योंकि, रूपान्तर के क्रम में हमने कुछ प्रारंभिक तथ्य छोड़ दिए हैं; फिर भी हम वांछित परिणामों तक पहुंच गए हैं।

दी गई कीमतों पर किसी व्यक्ति द्वारा क्रय की जानेवाली मात्रा को निर्धारित

२

करने के लिए, मार्शल के सिद्धान्तानुसार हमें उसकी उपयोगिता-पृष्ठ का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। पैरेटो का सिद्धान्त केवल यही मानता है कि हमें उसका अनधिमान रेखा-चित्र जानना चाहिए। और वह उपयोगिता-पृष्ठ की अपेक्षा कम जानकारी प्राप्त कराता है। यह हमें केवल इतना ही बतलाता है कि वह व्यक्ति वस्तुओं के एक समूह की अपेक्षा दूसरे समूह को अधिमानता देता है; उपयोगिता-पृष्ठ की तरह इससे यह ज्ञात नहीं होता कि प्रथम समूह को कितनी उपयोगिता अधिक होने के कारण दूसरे की अपेक्षा अधिमानता दी जाती है।

अनधिमान-वक्रों में दिए जानेवाले अंक वास्तव में सर्वथा अविहित होते हैं; जैसे जैसे हम उच्चतर वक्रों की ओर चलते हैं अंकों को बढ़ाते जाना सुविधाजनक होगा परन्तु हम १,२,३,४......., १,२,४,७....., १,२,७,१०........ की अथवा कोई भी बढ़ती हुई अंकमाला ले सकते हैं।

पैरेटो की किंचित ज्यामिति इस प्रकार विस्तृत रीति सम्बन्धी महत्व के निष्कर्षों के रूप में फलित हुई। किसी भी मूल्य सिद्धान्त में यह आवश्यक है कि हम यह परिभाषा दे सकें कि 'दी हुई आवश्यकताओं' अथवा 'दी हुई रुचियों' वाले उपभोक्ता का हम क्या अर्थ लगाते हैं। मार्शल के सिद्धान्त में (जेवन्स, वालरा और आस्ट्रियाई अर्थशास्त्रियों की तरह) 'दी हुई आवश्यकताओं' की व्याख्या एक उपयोगिता-फलन अर्थात् वस्तुओं के किसी विशिष्ट समूह के लिए इच्छा की दी हुई तीव्रता के अर्थ में की गई है। इस मान्यता ने बहुत लोगों को उद्विग्न कर दिया है और पैरेटो की कृति से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मान्यता किंचित भी आवश्यक नहीं है। 'दी हुई आवश्यकताओं' को, हम बड़े अच्छे ढंग से 'अधिमानताओं के दिए हुए माप' के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। हमको केवल यही मान लेने की आवश्यकता है कि उपभोक्ता वस्तुओं के किसी एक समूह को दूसरों की अपेक्षा अधिमानता देता है, न कि यह कि बुद्धिमत्ता यह कहने में है कि वह एक समूह को दूसरे की अपेक्षा ५ प्रतिशत अधिक चाहता है या ऐसी ही कोई और बात कहने में।

परन्तु इसका अर्थ वास्तव में यह नहीं है कि अगर किसी के पास कुछ ऐसे तर्क हैं जिनके आधार पर वह उपयोगिता या सन्तुष्टि या वांछनीयता को मापने के लिए उचित पारिमाणिक माप के अस्तित्व को सिद्ध कर सके तो हमारे उपर्युक्त तर्क-वितर्क में इसके विरोध में कोई चीज है। अगर कोई दार्शनिक दृष्टि से उपयोगितावादी है तो उसे अपने अर्थशास्त्र में भी उपयोगितावादी होनेका पूर्ण अधिकार है। परन्तु अगर कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है (और आजकल कम ही लोग उपयोगितावादी हैं) तो उसे उपयोगितावादी मान्यताओं से मुक्त अर्थशास्त्र रचने का अधिकार है।

इस दृष्टिकोण से पैरेटो का आविष्कार एक द्वार उन्मुक्त करता है जिसमें हम प्रवेश करें अथवा न करें यह हमारी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु प्राविधिक आर्थिक दृष्टिकोण से यह मानने के लिए सशक्त कारण हैं कि हमें इसमें प्रवेश करना चाहिए। बाजार घटनाओंको स्पष्ट करने के लिए उपयोगिता का पारिमाणिक विचार आवश्यक नहीं है। अतएव ओकाम्स रेज़र के सिद्धान्त के आधार पर इसके बिना ही काम चलाना श्रेयस्कर है। अगर सिद्धान्त के साथ अनावश्यक सत्व जुड़े हों तो व्यवहार में इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। इस प्रकार के सत्व वर्तमान समस्याओं के लिए अप्रासंगिक हैं और उनकी उपस्थिति से दृश्य और भी धूमिल पड़ जायगा। केवल अनुभव के आधार पर इसके महत्व को दर्शाया जा सकता है; मैं पाठकों को प्रतीति कराऊंगा कि इस संदर्भ में इसका पर्याप्त महत्व है।

(५) अब हमें पर्यवेक्षण करना है कि क्या इस नियम पर कार्य करते हुए, कम से कम मार्शल की तरह सांगोपांग, उपभोक्ता के मांग के पूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन 'अधिमानताओं के माप' की मान्यता के साथ नहीं किया जा सकता। ऐसे सिद्धान्त का निर्माण करते समय पारिमाणिक-उपयोगिता पर आधारित किसी भी विचारधारा को हर समय अस्वीकार करना आवश्यक होगा, क्योंकि ऐसी विचारधारा केवल अनधिमान वक्र के रेखाचित्र से नहीं प्राप्त की जा सकती। हम केवल अधिमानता रेखाचित्र से प्रारंभ करते हैं; और इससे अधिक कुछ भी स्वीकार नहीं कर सकते।

पुर्नविचार के इस कार्य में हम पैरेटो की सहायता से वंचित रह जाते हैं; अपने महान् साध्य को स्थापित करने के उपरान्त भी वे पूर्वकालीन विचारों से प्राप्त धारणाओं का प्रयोग करते रहे। शायद इसका कारण यह था कि उन्होंने अपने पूर्वकालीन निष्कर्षों को अपने उस साध्य के प्रकाश में, जहाँ वे अपने अर्थशास्त्र में कार्य करते समय बाद को पहुँच सके थे, पुनर्रचित करने का कष्ट नहीं किया,[६] कुछ भी हो उन्होंने एक महान् अवसर खो दिया।

सन् १९१५ में इटली से प्रकाशित 'ज्योरनल डेगली इकानामिस्टी' में एक लेख लिखकर अवसर से लाभ उठाने वाला प्रथम व्यक्ति एक रूसी अर्थशास्त्री और सांख्यिकिज्ञ स्ल्युत्स्की थे।[७] वर्तमान अध्याय और आगे के भी दो अध्यायों में प्रतिपादित किया जानेवाला सिद्धान्त वास्तविक रूप से स्ल्युत्स्की महोदय का सिद्धान्त है; यद्यपि व्याख्या में रूपभेद इस तथ्य के आधार पर आ गया है कि स्ल्युत्स्की की कृति को मैं तब तक नहीं देख पाया जब तक मेरा अपना कार्य बहुत आगे नहीं बढ़ गया था और इन अध्यायों का सारांश आर० जी० डी० एलन और मेरे नाम से

इकानामिका में प्रकाशित न हो गए।[८] स्ल्युत्स्की की कृति बहुत गणितात्मक है और उन्होंने अपने सिद्धान्त की सार्थकता के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचना नहीं की है। इन बातों (और कृति की प्रकाशन-तिथि) के ही कारण स्यात् यह इतने दिनों तक प्रभावहीन रही और इसकी पुनर्खोज करनी पड़ी। वर्तमान पुस्तक स्ल्युत्स्की द्वारा इंगित क्षेत्र का प्रथम व्यवस्थित अन्वेषण है।

(६) पारिमाणिक उपयोगिता से अंजित सभी विचारों को अस्वीकार करके और उनके स्थान पर—जहाँ उनके प्रतिस्थापन की आवश्यकता है—इससे मुक्त विचारों को लाकर हमें एक शुद्धीकरण करना है।

सबसे पहला शिकार सीमान्त उपयोगिता ही होगी। यदि कुल उपयोगिता अविहित है तो इसी प्रकार की सीमान्त उपयोगिता भी है। परन्तु जब दोनों वस्तुओं के प्राप्त परिमाण निश्चित हैं, हम दो सीमान्त उपयोगिताओं के अनुपात का ठीक-ठीक अर्थ कर सकते हैं।[९] क्योंकि यह अनुपात एक अनधिमान वक्र के ढाल द्वारा प्रदर्शित होता है और वह उपर्युक्त अविहितता से स्वतंत्र है।

भ्रामक सम्पर्कों के खतरे से बचने के लिए इस अनुपात का हम नवीन नामकरण करेंगे और इसे दो वस्तुओं के बीच सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर कहकर पुकारेंगे। ख के लिए 'क' की सीमान्त-प्रतिस्थापन दर ख की वह मात्रा होगी जिससे उपभोक्ता के लिए 'क' की एक सीमान्त इकाई की हानि की क्षतिपूर्ति हो सकेगी।* यह परिभाषा उपयोगिता के पारिमाणिक माप की परतंत्रता से पूर्णतया मुक्त है।

यदि किसी व्यक्ति को बाजार कीमतों के निकाय के संदर्भ में संस्थिति की स्थिति में रहना है, तो यह प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है कि किन्ही दो वस्तुओं के बीच सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर उन वस्तुओं की कीमतों के अनुपात के बराबर अवश्य होगी। अन्यथा एक वस्तु के कुछ परिमाण का प्रतिस्थापन दूसरी वस्तु के (बाजार दर पर) समान मूल्य वाली मात्रा के स्थान पर करने में उसे स्पष्ट रूप से लाभ होगा। अतः हमको बाजार में संस्थिति की दशाओं को इसी रूप में लिखना चाहिए।

यह ज्ञातव्य है कि इस सूत्र रचना में अब तक हम मार्शल के पथ से क्वचित् हटे नहीं हैं। 'ख' के लिए 'क' की सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर वही है जिसे मार्शल 'ख' के पदों में 'क' की सीमान्त उपयोगिता कहते। अगर हम चाहें तो मार्शल की नकल कर सकते हैं और कह सकते हैं कि किसी वस्तु की कीमत मुद्रा के लिए उस वस्तु की सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के बराबर होती है।

(७) दूसरा शिकार (इस बार अधिक गंभीर) ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता

नियम को अवश्य होना चाहिए। अगर सीमान्त-उपयोगिता का यथार्थ तात्पर्य कुछ नहीं है, तो ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता का भी कोई यथार्थ तात्पर्य नहीं हो सकता, परन्तु इसके स्थान पर दूसरा हम क्या लाएं? उक्त प्रश्न का उत्तर यह नियम है कि अनधिमान वक्र अक्षों की ओर उत्तल होने चाहिए। अपने वर्तमान पारिभाषिक शब्दों में हम इसे ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर का नियम कह सकते हैं।[१०] इसकी अभिव्यक्ति निम्नांकित पदों में की जा सकती है: मान लीजिए दो वस्तुओं की कुछ निश्चित मात्रा से प्रारम्भ करके हम 'क' और 'ख' की मात्राओं को क्रमशः इस प्रकार बढ़ाते और घटाते जाते हैं कि अन्त में उपभोक्ता अपनी पूर्ववत् स्थिति में रह जाता है; तब क की दूसरी इकाई की वृद्धि के प्रभाव को काटने के लिए ख की घटाई गई मात्रा क की पहली इकाई की वृद्धि के प्रभाव को काटने के लिए घटाई गई मात्रा से, न्यून होगी। दूसरे शब्दों में, जैसे-जैसे ख के लिए अधिक 'क' प्रतिस्थापित किया जायगा, ख के लिए 'क' की सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर कम होती जायगी।

ह्रासमान सीमान्त-उपयोगिता के स्थान पर ह्रासमान सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के नियम को लाने का ठीक-ठीक क्या कारण है? जैसा कि हम देख चुके हैं वे यथार्थतः एक नहीं हैं। अतः एक के स्थान पर दूसरे को रखना रूपान्तरमात्र नहीं है; सिद्धान्त के आधार में यह एक निश्चित परिवर्तन है और इसके लिए एक निश्चित औचित्य की आवश्यकता है।

औचित्य इस प्रकार है। हमें ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के सिद्धान्त की आवश्यकता उन्हीं कारणों से है जिनके कारण मार्शल को ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता नियम की थी। जब तक संस्थिति-बिन्दु पर सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर ह्रासमान न होगी संस्थिति स्थायी नहीं होगी। अगर सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर कीमत-अनुपात के बराबर हो जाती है, ताकि 'क' की एक इकाई की प्राप्ति से कोई पर्याप्त लाभ न हो सकेगा, फिर भी यदि सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर बढ़ रही हो तो अधिक मात्रा में क को प्राप्त करना लाभकर होगा। अनधिमान वक्र के रेखाचित्र में इसे समझना शिक्षाप्रद है।

चित्र में 'प' बिन्दु पर सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर कीमत-अनुपात के बराबर है इसलिए कीमत रेखा 'प' बिन्दु से होकर जानेवाले अनधिमान-वक्र को स्पर्श करती है। परन्तु सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर बढ़ रही है (अनधिमान वक्र अक्षों की ओर अवतल है), इसलिए 'प' बिन्दु से लम रेखा पर किसी भी दिशा में प्रगति व्यक्ति को उच्चतर अनधिमान-वक्र पर ले जायगी। अतः 'प' अधिकतम उपयोगिता का

बिन्दु नहीं, प्रत्युत न्यूनतम उपयोगिता का बिन्दु है और इसलिए यह संस्थिति का बिन्दु नहीं हो सकता।

(चित्र–४)
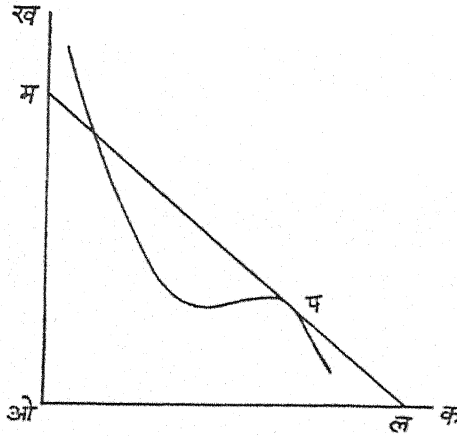
अतएव, यह स्पष्ट है कि किसी बिन्दु को उपयुक्त कीमतों पर एक संभावित संस्थिति बिन्दु होने के लिए, सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर उस बिन्दु पर ह्रासमान होनी चाहिए। क्योंकि, अनुभव से हमें यह ज्ञात है कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति के अनधिमान वक्रों के रेखाचित्रों में संभावित संस्थिति के बिन्दु अवश्य होते हैं (तात्पर्य कि वे अमुक-अमुक परिमाण में वस्तुएं क्रय करने का निश्चय करते हैं, बरीडान के गधे की तरह हिचकिचाहट में अनिश्चित समय तक रुके नहीं रहते), यह निष्कर्ष निकलता है कि ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर का सिद्धान्त कभी कभी अवश्य सही होता है।

अर्थशास्त्र में विकास के लिए हमारे लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि नियम यदा-कदा सही हो; हमें उससे भी अधिक सामान्य प्रामाणिकता अपेक्षित है। ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता का नियम सामान्य रूप में (स्यात् कुछ विशिष्ट अपवादों के साथ), प्रामाणिक माना जाता था और उसी सामान्य प्रामाणिकता पर महत्वपूर्ण आर्थिक निष्कर्ष आधारित थे। हमें फिर से उन निषकर्षों का अन्वेषण करना होगा। परन्तु उन्हें यदि सफल सिद्ध होने का कोई अवसर देना है तो उनके आधारस्वरूप अनधिमान रेखाचित्र का गुण कभी कभी से अधिक सत्य होना चाहिए।

अर्थशास्त्री अपने ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता के सिद्धान्त को आधारित करने

के लिए वास्तव में किन आधारों का प्रयोग करते रहे हैं ? सामान्यतया इस प्रकार का आधार अनुभव के प्रति अपील हुआ करती थी; वह भी उद्विग्न रूप से अस्पष्ट अनुभव, जिनके वास्तविक परीक्षण के लिए कोई अवसर नहीं मिलता। समालोचकों ने इंगित किया है कि यह कार्य रीति अवैज्ञानिक है, और 'ह्रासमान-सीमांत उपयोगिता-नियम' की निपुणता या सुबोधता पर हमारी वर्तमान विवेचना द्वारा उत्पन्न सन्देह ही परम्परागत कार्यरीति के विरोध को और भी सशक्त बनाते हैं। अगर हम ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता को संदिग्ध और अब निश्चित रूप से अप्रासंगिक मानकर अस्वीकार करते हैं तब क्या इसी प्रकार के 'अनुभव' पर ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के सामान्य नियम को आधारित कर सकते हैं ? फिर भी मैं मानता हूँ कि चुनौती का आह्वान किए बिना हम निकल सकते थे; परन्तु कोई भी अपेक्षाकृत अधिक निश्चित आधार ही चाहेगा।

(८) मैं समझता हूँ कि अपने सिद्धान्त के प्रयोजन पर विचार करके हम वह निश्चित आधार प्राप्त कर सकते हैं। इसके आधार पर हम उन बाजार-व्यवहार सम्बन्धी नियमों को तार्किक ढंग से निश्चित करना चाहते हैं, जो बाजार-स्थिति सम्बन्धी परिवर्तनों के प्रति उपभोक्ता की प्रतिक्रियाओं की व्याख्या करते हैं। बाजार-स्थिति में परिवर्तन के साथ उपभोक्ता संस्थिति के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु की ओर गतिमान होता है, इनमें से प्रत्येक बिन्दु पर ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर की दशा निश्चित रूप से विद्यमान होनी चाहिए, अन्यथा, वह ऐसी स्थिति में कदापि नहीं पहुँच सकता। इतना तो प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है; परन्तु इससे चलकर ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के नियम के उस रूप तक पहुँचने के लिए जो अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त में आवश्यक है, एक मान्यता की आवश्यकता है। हमें यह मानना है कि यह दशा बीच के सभी बिन्दुओं पर लागू होती है, जिससे संस्थिति की दो स्थितियों के बीच वक्रों में अलपेट नहीं हों। (अगर वक्रों में अलपेट हों तो विचित्र परिणाम पैदा हो जाते हैं—यथा, कुछ ऐसे कीमत निकाय होंगे जहाँ उपभोक्ता अपनी आय को व्यय करने के दो विभिन्न ढंगों में निर्वचन करने में असमर्थ हो जायगा)। ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर का सामान्य सिद्धान्त केवल इन विषमताओं को दूर करता है; उस नियम के द्वारा अपने सम्मुख उपस्थित कई संभावनाओं को दूर करता है। उस नियम के द्वारा अपने सम्मुख उपस्थित कई संभाववनाओं में से हम सरलतम को ही चुनते हैं।

जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे यह पता चलेगा कि शुद्ध-आर्थिक-सिद्धान्त के अधिकतम नियम इसी प्रकार दर्शाए जा सकते हैं। शुद्ध-अर्थशास्त्र में हैट से चूहे—आगे

पूर्वपक्षीय साध्य जो ऊपरी तौर पर वास्तविकता से संबंधित हैं——निकालने का अजीब प्रयत्न है। यह पता लगाना बड़ा रोचक है कि चूहे हैट में कैसे घुसे; जिनको जादू में विश्वास नहीं है उन्हें तो समझाना ही पड़ेगा कि चूहे जैसे तैसे घुस गए। मैं स्वयं निश्चय कर चुका हूँ कि वे दो रास्तों में घुसे हैं। एक तो उस मान्यता में निहित है (जो प्रत्येक आर्थिक तर्क-वितर्क के साथ प्रारंभ की जाती है) कि तर्क-वितर्क के अन्तर्गत वर्णित वस्तुएं ही व्यावहारिक समस्याओं में महत्व रखती हैं। (यह सदैव एक भयानक मान्यता है और लगभग न्यूनाधिक रूप से त्रुटिपूर्ण भी—यही कारण है कि आर्थिक सिद्धान्त का प्रयोग एक कठिन विषय है।) यह हमें विवेचना में काफी सहायता देती है किन्तु पूर्ण सहायता नहीं। दूसरी मान्यता है, कि (जिसे हमने अभी अलग किया है) अलपेटों की उपेक्षा की जा सकती है अर्थात् कुछ कीमत निकायों पर संभावित संस्थिति के आसपास किन्हीं भी दी हुई मात्राओं की पृष्ठ-भूमि में आवश्यकता-निकाय के अन्तर्गत (और जैसा हम बाद में देखेंगे, उत्पादन प्रणाली में भी) पर्याप्त नियमितता होती है। पुनः, यह मान्यता गलत हो सकती है; परन्तु सरलतम संभव-मान्यता होने के कारण, प्रारम्भ करने के लिए यह अच्छी है; और अनुभव के साथ इसकी अनुरूपता, वास्तव में, निश्चित रूप से उत्तम लगती है।

अब हमारे सामने का मार्ग स्पष्ट हो रहा है। अगर यह उपभोग-मालों में ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के नियम का वास्तविक आधार है तो और भी ऐसे नियमों का आविष्कार किया जा सकता है, जिनका आधार ठीक इसी प्रकार का है। इन नियमों को गिनाया जा सकता है और उनके निष्कर्षों का पता लगाया जा सकता है। उनमें से कुछ उत्पादन का विवरण उपस्थित करते हैं और आगे अध्याय ४ में उन पर ध्यान दिया जायगा और शेष इस अध्याय में प्रतिपादित सिद्धांत के ही, एक या दूसरे क्षेत्र में, प्रसरण मात्र हैं। उन मानवीय निर्वचनों के प्रकारों के बिस्तार का विचार करते समय, जिसे पैरेटो के अधिमानताके मापदण्ड के सांचे में ठीक-ठीक बैठाया जा सकता है, हमें पता चलता है कि इस प्रकार के प्रसरण बहुत अधिक हैं। जिसका समारंभ उपभोग-मालों के संबंध में उपभोक्ता के निर्वचन के एक विश्लेषण के रूप में होता है वही अन्त में सामान्य रूप से आर्थिक निर्वचन के सिद्धान्त का रूप ले लेता है। अब हम सम्पूर्ण अर्थशास्त्र के लिए एक एकीकृत करनेवाले सिद्धान्त के निकट हैं।

(९) परन्तु यह तो बहुत आगे की बातें हैं। इन लम्बे मार्गों का आविष्कार करने के पूर्व अच्छी तैयारी अपेक्षित है। हम आवश्यक तैयारी के एक अंश के साथ

इस अध्याय की समाप्ति करेंगे ।

ऊपर के अधिकांश तर्क-वितर्क में हमने यह अत्यधिक सरलीकरण कर दिया है कि उपभोक्ता का निर्वचन दो प्रकार की वस्तुओं के प्रति व्यय तक ही सीमित है । इस सरलीकरण को छोड़ने का यही महावसर है, क्योंकि, अगर हमारा सिद्धांत इस सरल उदाहरण तक ही सीमित रहा तो इसके विषय में और कुछ कहने को नहीं रह जायगा। वास्तव में यह अनधिमान-वक्र-प्रविधि के प्रधान दोषों में से एक है कि यह ऐसे सरल उदाहरण पर एकाग्रचित्त होने को उत्साहित करता है । इस प्रकार की एकाग्रचित्तता आसानी से भयानक सिद्ध हो सकती है ।

जब व्यय का वितरण दो से अधिक मालों के बीच होता है, अनधिमान चित्र की सरलता जाती रहती है; तीन वस्तुओं के लिए हमें तीन दिशाएं चाहिए, और तीन से अधिक वस्तुओं के लिए ज्यामिति बिल्कुल काम नहीं देती । जो भी हो, इस अध्याय में हमने जिन सिद्धांन्तों का प्रतिपादन किया है वे मूल रूप में अप्रभावित रहते हैं । प्रतिस्थापन की सीमान्त-दर की परिभाषा पूर्ववत् ही की जा सकती है, केवल यह बढ़ाना पड़ेगा कि अन्य वस्तुओं (ग आदि) की उपयुक्त मात्रा अपरिवर्तित रहे । उपभोक्ता पूर्णतया संस्थिति में तभी होगा जब किन्हीं दो मालों के बीच सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर उनके कीमत अनुपात के बराबर हो। ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के सिद्धान्त पर थोड़ा विवाद है ।

बहुत सी वस्तुओं के बीच व्यय के वितरण के समय संस्थिति के स्थायी होने के लिए यह आवश्यक है कि समान बाजार-मूल्यों वाले कोई भी संभव प्रतिस्थापन उपभोक्ता को अधिमान्य स्थिति में न ले जा सके । इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि प्रत्येक वस्तुओं के प्रत्येक युग्म के बीच एक ह्रासमाम-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर ही हो, परन्तु यह भी कि अधिक पेचीदे प्रतिस्थापनों (थोड़े ख और थोड़े ग के लिए थोड़े 'क' का) को भी असंभव माना जाय। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर प्रत्येक दिशा के प्रतिस्थापन के लिए अवश्य ही ह्रासमान होना चाहिए । यह अपेक्षाकृत जटिल स्थिति है, परन्तु आगे बढ़ने पर यह ज्ञात होगा कि यह हमको महत्वपूर्ण निष्कर्षों की ओर प्रत्यक्ष ले जाती है ।

पूर्वोक्त आधारों पर हम यह परिकल्पना कर लेंगे कि हमारे विश्लेषण से संबंधित प्रत्येक स्थिति पर हर एक दिशा में सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर ह्रासमान है । मैं सोचता हूँ कि इसे अन्तरावलोकन द्वारा अथवा अनुभव द्वारा संस्थापित नहीं किया जा सकता, परन्तु इसका औचित्य उसी प्रकार ठहराया जा सकता है जैसे हमने अपेक्षाकृत सरल दशा के औचित्य को ठहराया है । अब यह स्पष्ट है कि

यह एक पर्याप्त रूप से सशक्त सिद्धान्त है, जो आगे बढ़ने के लिए प्रचुर संबल देता है और हम तार्किक ढंग से इससे कुछ निश्चित परिणाम प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं।

---

१. मेरा अपना अनुभव यह है कि अधिक शोध ने तो मार्शल के सिद्धांत के प्रति मेरी श्लाघा को और बढ़ा दिया है; मुझे आशा है पाठक भी ऐसा ही अनुभव करेंगे।

२. उदाहरणार्थ-विक्स्टीड कृत 'कॉमन सेन्स ऑफ पॉलिटिकल इकॉनॅमी,' अध्याय १-३; रॉबिन्स, 'नेचर एण्ड सिगनीफिकेन्स ऑफ इकॅनोमिक साइंस,' अध्याय ६।

३. 'प्रिंसिपल्स' iii, ५.२।

४. जहाँ तक व्यक्तिगत उपभोक्ता का संबंध है, अविच्छिन्नता की यह सुगम मान्यता वास्तव में स्थिति को सदैव थोड़ा (अथवा, कभी-कभी थोड़े से भी अधिक) भ्रामक बना डालती है। यदि व्यक्तिगत उपभोक्ता सम्बंधी हमारा अध्ययन बाजार में उपभोक्ता समूह सम्बंधी अध्ययन का केवल एक कदम है तो जब वैयक्तिक माँगों का समग्रीकरण किया जायगा तो विश्वास रहे, व्याख्या की ये कृत्रिमतायें दूर हो जायंगी।

५. मैथमेटिकल साइकिक्स (पृष्ठ २१-२२)।

६. इस विषय के लिए प्रचुर मात्रा में जो शक्ति उनमें शेष थी उसका प्रयोग उपयुक्त ढंग से नहीं हुआ। जब दो से अधिक वस्तुओं का उपयोग किया जा रहा है, तो यह संभव है कि अधिमान-निकाय का अवकल समीकरण समाकलनीय न हो। यह विषय गणितज्ञों का चित्त आकर्षित करता है, परन्तु इसका तनिक भी आर्थिक महत्व प्रतीत नहीं होता : जिन समस्याओं में यह रीति प्रासंगिक हो भी सकती थी उनको कहीं अधिक उत्तम व्याख्या अन्य रीतियों द्वारा की जाती है—देखिए पैरेटो, मैनुएल पृष्ठ ५४६-५७; 'इकॉनोमी मैथमेटीक' (इनसाइक्लोपेडी द सान्इसेज़ मैथेमेटीक्स, १९११) पृष्ठ ५९७, ६१४। असमाकलनीयता सम्बंधी एक नई विवेचना के लिए देखिए एन० जार्जस्क्यु रोगिन लिखित "दी प्योर थिअॅरी ऑव कन्ज्यूमर्स विहेवियर" (क्यू० जे० इ० अगस्त १९३६)।

७. E. Slutsky, "Sulla Teoria del bilancio del consumatore" (G.D.E. July 1915)। आर० जी० डी० एलेन की "प्रोफेसर स्ल्युत्स्कीज़ थिऑरी ऑव कन्ज्यूमर्स च्वॉएस" (रिव्यू ऑव इकॉनॉमिक स्टडीज़, १९३६) को भी देखें।

८. 'ए रिकन्स्ट्रक्शन ऑवदी थिऑरी ऑव वैल्यू' (इकोनोमिका १९३४)।

९. दूसरी ओर ख की सीमान्त उपयोगिता और ग की सीमान्त उपयोगिता के अनुपात का कोई तात्पर्य नहीं होगा, यदि जब ख की सीमान्त उपयोगिता अनुगणित करते हैं तो दोनों वस्तुओं के प्राप्त परिमाण कुछ हों और जब ग की सीमान्त उपयोगिता अनुगणित करते हैं तब वे परिमाण कुछ दूसरे हों।

* अच्छा होता यदि यह कहा जाता कि प्रतिस्थापन दर ख की वह मात्रा होगी जिसको हटाने से क की एक सीमान्त इकाई की वृद्धिवश होने वाला वास्तविक लाभ उपभोक्ता के लिए शून्य होता (अनुवादक की ओर से)।

१०. शब्दावली में कष्टप्रद परिवर्तन के लिए मुझे पाठकों से अवश्य क्षमायाचना करनी चाहिए। 'ए रिक्न्स्ट्रक्शन' नामक कृति में मैंने परिवर्तन को विपरीत दिशा से देखा है और इसलिए ह्रासमान दर के स्थान पर वृद्धिमान सीमान्त प्रतिस्थापन दर का उल्लेख किया है। यह स्पष्ट हो जायगा कि क्यों यह प्रथम दृष्टि में ही सुगम लगती है। परन्तु अब मैं सोचता हूं कि मार्शल की परिचित शब्दावली के सन्निकट अपनी शब्दावली को रखने का लाभ, सुगमता में किंचित अंतर से, अधिक महत्वपूर्ण है।

अध्याय २

उपभोक्ता की मांग का नियम

(१) पिछले अध्याय में दी गई संस्थिति की दशाओं और नियमितता की आधार-भूत मान्यता के आधार पर अब हमें बाजार-आचरण के नियमों का निगमन करना है, अर्थात्, यह पता लगाना है कि कीमतों के परिवर्तन के प्रति होनेवाली उपभोक्ता की प्रतिक्रिया के ढंग के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है। संस्थिति की दशाओं का विवाद सदैव एक साध्य के प्रति साधन स्वरूप होता है; किसी निश्चित कीमत पर क्रय की गई मात्रा को निर्धारित करने वाली दशाओंकी सूचना हम इसलिए प्राप्त करना चाहते हैं कि उनका प्रयोग यह जानने के लिए किया जा सके कि कीमत परिवर्तन के साथ क्रय की जानेवाली वस्तुओं की मात्रा किस प्रकार परिवर्तित हो जायगी।

हमारी खोज की यह स्थिति मार्शल के सिद्धान्त की उस स्थिति से संबंधित है जहां उन्होंने ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता नियम की सहायता से मांग-वक्र के नीचे की ओर ढालू होने का निगमन किया है। जिस विशेष ढंग से मार्शल ने यह निगमन किया है, वह ध्यान देने योग्य है। वह मान लेते हैं कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अपरिवर्तन-शील है[1]। अतएव किसी वस्तु की सीमान्त-उपयोगिता और उसकी कीमत के बीच का अनुपात एक अपरिवर्तनशील अनुपात है। अगर कीमत गिरती है, तो सीमान्त उपयोगिता भी अवश्य घटेगी। परन्तु ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता नियम द्वारा मांगी गई मात्रा में वृद्धि को उपलक्षित करती है। इस प्रकार कीमत की गिरावट से मांग की मात्रा बढ़ जाती है। इसी तर्क-वितर्क पर हमें पुनर्विचार करना है।

मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिता के अपरिवर्तनशील होने का क्या तात्पर्य है? हमारे रूपान्तर के अनुसार इसका तात्पर्य होगा कि उपभोक्ता की मुद्रा-पूर्ति (प्रस्तुत समस्या के संदर्भ में उसकी आय) में कोई परिवर्तन किसी वस्तु 'क' और मुद्रा के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त-दर को प्रभावित नहीं करेगा। (क्योंकि प्रति-

स्थापन की सीमान्त-दर 'क' की सीमान्त उपयोगिताओं और मुद्रा के अनुपात के तुल्य होती है।) अतः, अगर उसकी आय बढ़े और 'क' की कीमत समान रहे, तो भी 'क' की क्रय की गई मात्रा में बिना किसी परिवर्तन के, 'क' की कीमत प्रतिस्थापन की सीमान्त-दर के बराबर होगी। इसलिए 'क' की मांग आय से स्वतंत्र है। किसी भी वस्तु के लिए उपभोक्ता की मांग उसकी आय से स्वतंत्र है।

नीचे के विवरण से ज्ञात होगा कि मार्शल के लिए मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिता की अपरिवर्तनशीलता का वास्तव में यही अर्थ था; यथार्थतः उन्होंने यह तो नहीं माना कि वस्तुओं के लिए लोगों की मांग उनकी आयों पर आधारित नहीं होतीं, किन्तु मांग और कीमत के नियम में उन्होंने आय-पक्ष की सामान्यतया उपेक्षा की है। हमें पता चलेगा कि ऐसा करने के लिए उनके पास कई कारण थे कि मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिता की अपरिवर्तनशीलता एक बुद्धिमत्तापूर्ण सरलीकरण है जो मार्शल द्वारा स्वयं किए गए इसके सर्वाधिक प्रयोगों में सर्वथा हानिरहित है। परन्तु सभी प्रयोगों के लिए यह हानिरहति नहीं है; मांग पर पड़नेवाले आय-परिवर्तनों के प्रभावों के प्रति अस्पष्ट रहना सदा अच्छा नहीं होता। एक ऐसे मूल्य-सिद्धान्त से, जिसमें मांग, कीमत और आय के सम्बन्ध सर्वथा स्पष्ट कर दिए गए हैं, कुछ स्पष्ट सुविधायें प्राप्त की जा सकती हैं।

(२) अब हम फिर अनधिमान रेखा-चित्र की ओर आयें और आय में परिवर्तन के प्रभावों की खोज से प्रारंभ करें। कीमत-परिवर्तन के प्रभावों की खोज पर हम बाद में जायेंगे, परन्तु अगर हम आय-परिवर्तनों के प्रभावों का परीक्षण पहले कर लें तो कीमत-परिवर्तनों की व्याख्या करना अधिक सरल होगा। गत अध्याय की तरह हम अब भी यह मान लें कि 'क' और 'ख' की कीमतें दी हुई हैं और उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होता है।

पहले हम देख चुके हैं कि अगर उसकी आय ('क' के पदों में मापने पर) 'ओल' या ('ख' के पदों में मापने पर) 'ओम' है, तो संस्थिति-बिन्दु 'प' पर होगा, जहाँ 'लम' रेखा अनधिमान वक्र को स्पर्श करती है (चित्र ५)। अब अगर उसकी आय बढ़ती है, तो लम दाहिनी ओर हटेगी, परन्तु नवीन रेखा 'ल म' फिर भी लम के समानान्तर होगी, जब तक 'क' और 'ख' की कीमतें अपरिवर्तित हैं। (क्योंकि तब ओम' / ओल'=ओम/ओल=अपरिवर्तित कीमत-अनुपात)। संस्थिति का नवीन बिन्दु 'प' होगा, जहाँ ल'म' एक अन्य अनधिमान वक्र को स्पर्श करती है।

जैसे-जैसे आय बढ़ती जाती है, ल'म' भी दाहिनी ओर बढ़ती जाती है, और बिन्दु प एक वक्र को अनुरेखित करता है, जिसे हम आय-उपभोग-वक्र[२] कहेंगे।

इसके द्वारा यह प्रदर्शित होता है कि आय में वृद्धि और कीमत के अपरिवर्तित रहने पर उपभोग किस प्रकार बदलता है। रेखाचित्र में किसी बिन्दु प से होकर एक आय-उपभोग-वक्र खींचा जा सकेगा; इस प्रकार प्रत्येक संभव कीमत-निकाय से संबंधित एक आय-उपभोगवक्र होगा।

(रेखा चित्र–५)
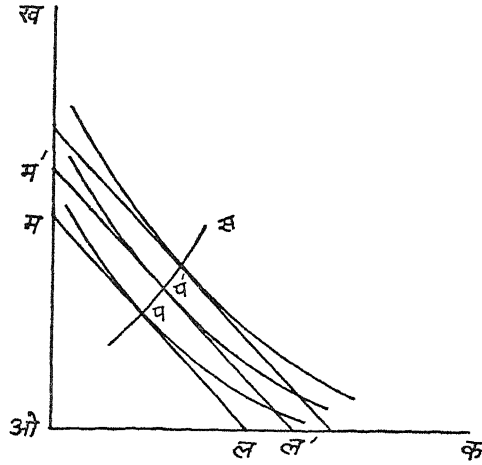
आय-उपयोग-वक्र के आकार के विषय में क्या कहा जा सकता है ? रेखाचित्र खींचने का अनुभव मात्र ही किसी को यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त है कि इसका ढाल ऊपर की ओर दाहिनी तरफ होगा; परन्तु यह प्रदर्शित करने के लिए कि यह आवश्यक रूप से ऐसा ही होगा, यह पर्याप्त नहीं है। वास्तव में इसके आकार में केवल एक ही आवश्यक प्रतिबन्ध है। कोई आय-उपभोग-वक्र किसी विशेष अनधिमान-वक्र को एक से अधिक बार नहीं काट सकता है (अगर ऐसा हुआ तो इसका तात्पर्य होगा कि उस अनधिमान वक्र की दो समानान्तर स्पर्श रेखायें हैं जो कि अनधिमान वक्रों के केन्द्र की ओर सदैव उत्तल होने के कारण असंभव है। फलतः आय-उपभोग-वक्रों के लिए ऊपर की ओर दाहिनी तरफ जाने के लिए अति अवसर रहता है यथापि किसी अनधिमान वक्र को एक से अधिक बार काटे बिना वे बायीं ओर ऊपर अथवा दाहिनी ओर नीचे जा सकते हैं (देखिए प $स_1$ या प $स_2$ चित्र नं. ६)।

स्पष्टतया ऐसा होना भी चाहिए। प$स_1$ की तरह के वक्र अवश्य ही होते

हैं। जब 'क' आय के निम्न-स्तर पर अधिक उपभोग की जाने वाली एक घटिया वस्तु होती है तो इस प्रकार के वक्र पाए जाते हैं, परन्तु आय में वृद्धि होने पर इनका प्रतिस्थापन या आंशिक प्रतिस्थापन उच्च कोटि की वस्तुओं से हो जाता है। कृत्रिम मक्खन (मारगरीन) स्पष्टतया एक स्पष्ट उदाहरण है ; सांख्यिकीय खोजों के आधार पर इसकी निकृष्टता सिद्ध हो चुकी है।[3] परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी ही और भी अनेक वस्तुएं हैं। विक्रय के लिए प्रस्तुत की गयी निम्न श्रेणी के अधिकांश माल हमारे अर्थ में संभवतः घटिया माल हैं।[४]

(रेखा चित्र—६)
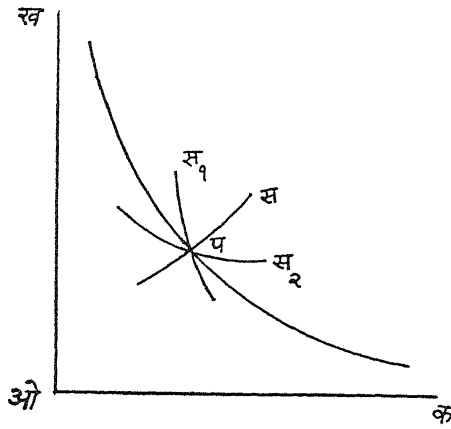
यद्यपि रेखा-चित्र सम्बंधी जिस यंत्र का हम अभी प्रयोग करते रहे हैं वह केवल दो मालों ('क' और 'ख') के संदर्भ में ही सही है, यह स्पष्ट है कि चाहे जितने भी मालों पर आय का वितरण होता हो एक इसी प्रकार का तर्क सही होगा। अगर आय बढ़ती है और यह बढ़ी आय खर्च भी की जाती है, तो कुछ दिशाओं में—स्यात् अधिकांश अथवा सभी दिशाओं में—उपभोग भी बढ़ना चाहिए; परन्तु यह पूर्णतया सम्भव है कि उन मालों की संख्या सीमित ही होगी जिनका उपभोग यथार्थतः घटेगा। यह एक बड़ा ही नकारात्मक परिणाम है और स्पष्टतया इसके और अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। Price effect

(३) अब हम कीमत-परिवर्तन के प्रभावों पर विचार करने के लिए आगे बढ़ें। फिर यहां भी हम दो मालों के प्रकरण से प्रारंभ करते हैं। अब आय और ख की कीमत को अपरिवर्तनशील मान लेना है परन्तु क की कीमत परिवर्तनशील है। उपभोग की

समुपस्थित संभावनाएं रेखाचित्र में (रेखाचित्र-७) म को (ओम वह आय है जो ख के पदों में मापी गयी है और इसलिए निश्चित है) 'ओक' के उन बिन्दुओं से संयुक्त करने वाली सीधी रेखाओं से प्रदर्शित की गयीं हैं जो 'क' की कीमत भिन्न होने पर भिन्न हो जाते हैं। क की प्रत्येक कीमत एक रेखा लम को निर्धारित करेगी (कीमत घटने पर ओल बढ़ेगा) ; और प्रत्येक कीमत से संबंधित संस्थिति-बिन्दु वह बिन्दु होगा जिस पर लम रेखा किसी अनधिमान वक्र को स्पर्श करेगी। इन बिन्दुओं को संयुक्त करने वाला वक्र मपफ को कीमत-उपभोग-वक्र कहेंगे। यह प्रदर्शित करता है कि क की कीमत बदलने पर और अन्य बातों के समान रहने पर किस प्रकार उपभोग बदलता है।

(रेखा चित्र—७)
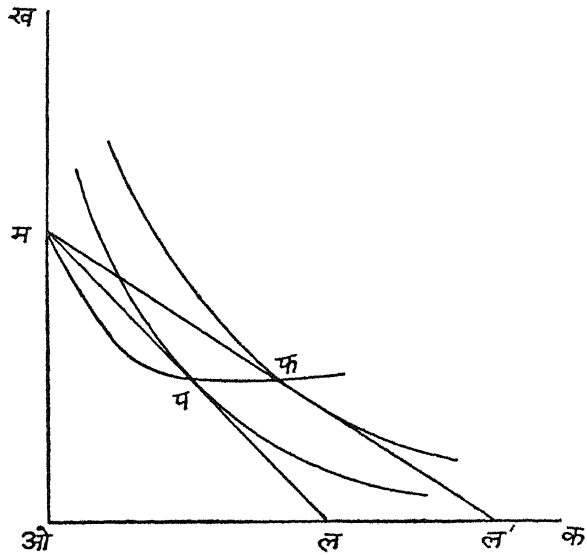
लम की एक विशेष स्थिति से प्रारंभ करके आगे बढ़ने पर हमें एक साथ सरल रेखाओं के दो वर्ग और संगत स्पर्श-बिन्दु प्राप्त होते हैं! एक ओर लम के समानान्तर रेखायें हैं जिनके स्पर्श बिन्दु आय-उपभोग वक्र को अनुरेखित करते हैं दूसरी ओर म बिन्दु से होकर जाने वाली रेखायें हैं जिनके स्पर्श बिन्दु कीमत-उपभोग-वक्र को अनुरेखित करते हैं। प्रत्येक अनधिमान-वक्र को इन दोनों में से प्रत्येक वर्ग की एक रेखा कहीं न कहीं स्पर्श करेगी। एक अनधिमान वक्र ब[२] को लीजिए जो

लम द्वारा स्पर्श होने वाले अनधिमान वक्र ब^{1} से ऊपर है। वक्र ब$_{2}$ को लम की समानान्तर रेखा प^{1} पर स्पर्श करती है और म से होकर जाने वाली रेखा फ बिन्दु पर। अब रेखाचित्र से एकदम स्पष्ट है (यह अनविमान वक्र की उत्तलता के फल-स्वरूप है) कि फ बिन्दु को निश्चित रूप से प' बिन्दु के दाहिनी ओर होना चाहिए। यह विशेषता उन सभी अनविमान वक्रों की होगी जो प्रारंभ वाले वक्र से उच्चतर हैं; और इससे पता चलता है कि जैसे जैसे हम उच्चतर अनधिमान वक्रों की ओर ऊपर बढ़ते हैं प से होकर जाने वाले कीमत-उपभोग-वक्र सदैव प से होकर जाने वाले आय-उपभोग-वक्र के दाहिने होंगे (रे. चित्र-८)।

रेखा चित्र—८
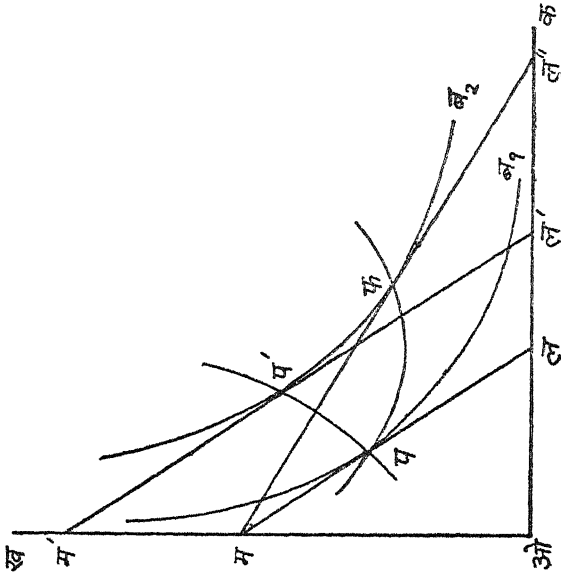
यह साध्य, जो मात्र ज्यामिति का साध्यस्वरूप दीख पड़ता है, आर्थिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है और वास्तव में मूल्य सिद्धान्त में बहुत मौलिक है। अब हमें इसका निहित अर्थ समझना चाहिए।

जब 'क' की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता कीमत उपभोग-वक्र पर प से फ पर चला जाता है। परन्तु हम अब देखते हैं कि प से फ पर पहुंचना आय-उपभोग-वक्र पर प से प' की ओर, और एक अनधिमान वक़्र पर प' से फ पर आने के तुल्य

है। मांग पर कीमत के प्रभाव को इन दो भिन्न भागों में विभाजन करना ज्ञानप्रद होगा।

किसी वस्तु की कीमत में ह्रास उस वस्तु की मांग को वास्तव में दो विभिन्न रूपों में प्रभावित करता है। एक तरफ तो यह उपभोक्ता की आर्थिक-स्थिति को अधिक संपन्न बनाता है अर्थात् उसकी वास्तविक आय को बढ़ाता है; और इस क्षेत्र में इसका प्रभाव आय में वृद्धि के प्रभाव की ही तरह होता है। दूसरी ओर यह सापेक्ष कीमतों को बदलता है ; अतएव, वास्तविक आय में परिवर्तन के अतिरिक्त, अन्य वस्तुओं के स्थान पर उस वस्तु का प्रतिस्थापन करने की प्रवृत्ति होगी जिसकी कीमत घट गयी है। मांग पर पड़ने वाला कुल प्रभाव इन दोनों प्रवृत्तियों का योग है।

इन प्रवृत्तियों का सापेक्ष महत्व फिर उन समानुपातों पर निर्भर प्रदर्शित किया जा सकता है जिनमें उपभोक्ता अपने व्यय को इस वस्तु (ख) और अन्य वस्तुओं के बीच वितरित कर रहा था। 'क' की कीमत में कमी के कारण वह जिस हद तक अधिक समृद्ध बन जाता है वह 'क' की उस मात्रा पर निर्भर होगा जिसे वह पहले खरीदता था; उसकी आय को देखते हुए अगर 'क' की मात्रा अधिक थी तो वह और भी अधिक समृद्ध बन जायगा, और यह प्रथम प्रभाव (जिसे हम आय-प्रभाव कह सकते हैं) बहुत महत्वपूर्ण होगा। परन्तु अगर मात्रा कम थी तो लाभ भी कम होगा और प्रतिस्थापन-प्रभाव के आगे आय-प्रभाव शून्यप्राय होगा।

अन्तिम स्थिति द्वारा मार्शल के 'समसीमान्त उपयोगिता' का औचित्य प्रगट होता है। यह ज्ञातव्य है कि निश्चित रूप से प्रगट होने की दृष्टि से उपरोक्त दोनों प्रभाव भिन्न-भिन्न स्तर पर हैं। प्रतिस्थापन के ह्रासमान-सीमान्तदर के सिद्धान्त से पता चलता है कि प्रतिस्थापन-प्रभाव निरपेक्षतः निश्चित है—यह सर्वदा किसी वस्तु की मांग की वृद्धि के पक्ष में काम करता है, जब उस वस्तु की कीमत गिरती है। परन्तु आय-प्रभाव उतना विश्वसनीय नहीं है ; सामान्यतया यह भी वैसे ही काम करेगा, परन्तु घटिया वस्तुओं के प्रति यह प्रतिकूल ढंग से कार्य करेगा। अतएव यह एक महत्वपूर्ण विचार है कि यह अविश्वसनीय आय-प्रभाव उन सभी स्थितियों में सापेक्ष रूप से कम महत्व रखेगा जहाँ विचाराधीन वस्तु उपभोक्ता के बजट में बहुत कम महत्व रखती है ; क्योंकि केवल इन्हीं स्थितियों में (संयोग से वे बहुत महत्वपूर्ण स्थितियां हैं) मांग का नियम सर्वथा संदेहरहित होता है। केवल इन्हीं स्थितियों में हम यह पूर्णतया निश्चित हो कर कह सकते हैं कि कीमत में गिरावट अवश्य मांग को बढ़ा देगा।

मार्शल ने अपना पूरा ध्यान ऐसे ही उदाहरणों की ओर दिया था ; और इसलिए उन्होंने आय-प्रभाव की उपेक्षा की। यह कार्य उन्होंने अपनी इस मान्यता के द्वारा किया कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान है। इसका तात्पर्य था कि मांग पर पड़नेवाले उन वास्तविक आय-परिवर्तनों के प्रभाव की उन्होंने उपेक्षा की जो कीमत परिवर्तन के परिणामस्वरूप हैं। कतिपय प्रयोजनों के लिए यह औचित्य-पूर्ण सरलीकरण था, और इसने निश्चित ही उनके सिद्धान्त को अत्यधिक सरल किया। वास्तव में बुद्धिमत्तापूर्ण सरलीकरणों में से यह एक है, जिनके अनेक उदाहरण मार्शल की कृतियों में पाए जाते हैं।

अर्थशास्त्री इन सरलीकरणों का प्रयोग करते रहेंगे, यद्यपि यह ठीक-ठीक जान लेने पर कि इनमें किन बातों की उपेक्षा की गई है, उनका मार्ग विश्वस्त बन जाता है। आगे चलकर अन्य समस्यायें मिलेंगी जिन पर मार्शल ने तो बहुत विचार नहीं किया है लेकिन जो स्पष्टतः सरल बन जाती हैं यदि हम आय-प्रभाव को समझ लें।

(४) पिछले वर्ग के ज्यामितीय-तर्क केवल उस अवस्था में लागू होते दीख पड़ते हैं जहां उपभोक्ता अपने व्यय को दो (और केवल दो) वस्तुओं पर करता है, परन्तु यह इतना ही सीमित नहीं है। मान लीजिये कि हम 'क' और ख को रोटी और आलू अथवा चाय और बनावटी मक्खन (इस अर्थ में भौतिक वस्तुएं) के रूप में नहीं मानते; अपितु एक को रोटी (या कोई भी पदार्थ), और दूसरे को सामान्य-क्रय-शक्ति (मार्शल के अनुसार 'मुद्रा') मानते हैं। उपभोक्ता को यथार्थ में यह वरण करना है कि वह अपनी मुद्रा को रोटी पर व्यय करे अथवा अन्य वस्तुओं पर व्यय के लिए हाथ में रक्खे। अगर वह निश्चय करता है कि वह रोटी पर व्यय नहीं करेगा तो वह परिणामस्वरूप कोई अन्य वस्तु या वस्तुएं खरीद लेगा और इस प्रकार वह मुद्रा को दूसरे रूप में परिवर्तित कर लेगा। परन्तु अगर 'ख' आलू भी होता तो कुछ आलू भूने जा सकते थे और कुछ उबाले, और इस प्रकार भी कई रूप बन जाते। ये संभावनायें हमें रोटी और आलू के लिए एक निश्चित अनधिमान निकाय खींचने से नहीं रोकती। ऐसे ही, जब तक मुद्रा को दूसरी वस्तुओं में परिवर्तन करने के लिए शर्तें दी गई हैं, हम किसी वस्तु 'क' और मुद्रा (दूसरे शब्दों में, सामान्य रूप में क्रयशक्ति) के बीच भी एक निश्चित अनधिमान निकाय खींच सकते हैं। दूसरी वस्तुओं के बीच क्रय शक्ति का वितरण ठीक ठीक विविध प्रयोगों में वस्तु के वितरण की तरह है, जो (भौतिक अर्थ में) केवल एक ही अन्य वस्तु होने पर भी हो सकता है।

. यह सिद्धान्त सर्वथा सामान्य प्रयोग का है । [५] भौतिक वस्तुओं के एक समूह को तब तक एक ही वस्तु की इकाइयों के रूप में माना जा सकता है जब तक विचाराधीन समस्या में उनकी सापेक्ष कीमतों को अपरिवर्तित माना जा सके। जब तक अन्य उपभोग्य वस्तुओं की कीमतों को दिया हुआ माना जायगा, उन्हें एक वस्तु 'मुद्रा' या 'सामान्य क्रय-शक्ति' के रूप में इकट्ठा किया जा सकता है। वैसे ही, दूसरे प्रयोगों में भी, अगर सापेक्ष मजदूरी-परिवर्तनों की उपेक्षा करनी है, तो संपूर्ण श्रम को समांग मानना सर्वथा न्यायसंगत है । जैसे जैसे हम आगे बढ़ेंगे दूसरे प्रयोग भी देखने को मिलेंगे ।[६]

अभी तो हम इस सिद्धान्त का केवल यह उपयोग करेंगे कि हम यह मान लेंगे कि उपभोक्ता अपनी आय को चाहे जैसे व्यय करे कीमत के गिरने के प्रभाव को आय-प्रभाव तथा प्रतिस्थापन-प्रभाव में बांट सकते हैं और कम से कम सदैव ही प्रतिस्थापन-प्रभाव के फलस्वरूप मांग की प्रवृत्ति बढ़ने की होती है ।

(५) अपने सभी विवेचनों में अब तक हमारा संबंध केवल एक व्यक्ति-विशेष के व्यवहार से रहा है । परन्तु अन्ततोगत्वा, अर्थशास्त्र का संबंध अकेले व्यक्तियों के व्यवहार से नहीं है वरन् व्यक्ति-समूह के व्यवहार से है । व्यक्तिगत मांग का अध्ययन बाजार-मांग के अध्ययन का केवल एक माध्यम है । सौभाग्यवश अपनी वर्तमान रीतियों के साथ हम आसानी से एक से दूसरे प्रकार के अध्ययन की ओर अग्रसर हो सकते हैं ।

बाजार-मांग के भी ठीक लगभग वही गुण होते हैं जो व्यक्तिगत मांग के । ध्यान करने पर यह तुरन्त समझ में आ जाएगा कि (कीमत में क्वचित परिवर्तन के कारण) मांगी गई मात्रा में वास्तविक परिवर्तन को हम आय-प्रभाव और प्रति-स्थापनप्रभाव के कारण दो भागों में विभाजित कर सकते हैं । व्यक्तिगत मांगों के परिवर्तनों का योग ही किसी समूह की मांगों का परिवर्तन है ; अतएव यह भी दो भागों में विभाज्य है—एक तो व्यक्तिगत आय-प्रभावों के योग के समकक्ष और दूसरा व्यक्तिगत प्रतिस्थापन-प्रभावों के योग के समवर्ती । जो साध्य व्यक्तिगत प्रभाव के प्रति लागू होते हैं, वैसे ही समूह-प्रभाव के प्रति भी लागू होते हैं ।

१. क्योंकि सब व्यक्तिगत-प्रतिस्थापन-प्रभाव किसी वस्तु के (जिसकी कीमत गिर गई है) वर्धित उपभोग के पक्ष में होते हैं, अतएव सामूहिक प्रतिस्थापन-प्रभाव को भी ऐसा होना चाहिए ।

२. दिशा की दृष्टि से व्यक्तिगत आय-प्रभाव बहुत विश्वसनीय नहीं हैं ; अतएव सामूहिक आय-प्रभाव भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं हो सकते । कोई वस्तु,

वास्तव में, समूह के कुछ सदस्यों के लिए घटिया हो सकती है, सम्पूर्ण समूह के लिए नहीं ; क्योंकि इस वर्ग के नकारात्मक आय-प्रभाव का शेष समूह के धनात्मक आय-प्रभाव प्रतिकार कर सकते हैं।

३. सामूहिक आय-प्रभाव सामान्यतः नगण्य होगा अगर समूह अपने सम्पूर्ण रूप में अपनी कुल आय का थोड़ा अंश ही विचाराधीन वस्तु पर व्यय करता है।

(६) अतएव हम अब मांग के नियम का सारांश निकालने की स्थिति में हैं। यदि वस्तु घटिया नहीं है तो प्रत्येक दशा में उस वस्तु का मांग-वक्र नीचे की ओर गिरता है और कीमत घटने पर उसका अधिक उपभोग होने लगता है। यद्यपि यह एक घटिया वस्तु हो—जिससे इसका आय-प्रभाव नकारात्मक होगा—फिर भी मांग वक्र का व्यवहार तब तक पूर्ववत् होगा जब तक वस्तु पर व्यय किया गया आय का अंश कम है क्योंकि इस स्थिति में आय-प्रभाव कम होगा। अगर उपर्युक्त परिस्थितियां नहीं हैं अर्थात् यदि वस्तु घटिया तो है परन्तु वह उपभोक्ताओं के बजट में महत्वपूर्ण स्थान रखती है, तब भी यह निश्चित रूप से निष्कर्ष नहीं निकलता कि कीमत गिरने पर मांग घट जायगी क्योंकि यह सम्भव है कि किसी बड़े नकारात्मक आय-प्रभाव पर एक बड़ा प्रतिस्थापन-प्रभाव छा जाय।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मांग के नियम के किसी भी अपवाद के सार्थक होने के लिए कितनी कड़ी शर्तें पूरी होनी चाहिए। अगर उपभोक्ताओं का रहन-सहन का स्तर निम्न है तभी वे अपनी आय का अधिकांश भाग ऐसी वस्तु पर व्यय करेंगे जो उनके लिए घटिया वस्तु है। मार्शल[७] द्वारा उद्धृत प्रसिद्ध गिफ़ेन वाला उदाहरण इन शर्तों में ठीक ठीक बैठ जाता है। आय कम होने पर उपभोक्ता अपने भोजन का अधिकांश भाग केवल एक ही प्रधान खाद्यान्न (गिफ़ेन के लिए, रोटी) द्वारा संतुष्ट कर सकता है, जो आय में वृद्धि होने पर अधिक विविधतापूर्ण भोजन से प्रतिस्थापित किया जायगा। अगर इस प्रधान खाद्यान्न की कीमत कम होगी, तो उनके पास व्यय करने के लिए पर्याप्त मात्रा में अतिरेक रह जायगा और इस अतिरेक को वे अधिक रुचिकर भोजन पर व्यय कर सकते हैं जो प्रधान खाद्यान्न का स्थान ग्रहण कर उसकी मांग को कम कर देंगे। ऐसी ही स्थिति में नकारात्मक आय-प्रभाव इतना शक्तिपूर्ण हो सकता है कि प्रतिस्थापन-प्रभाव महत्वहीन हो जायगा। परन्तु स्पष्ट है कि ऐसे उदाहरण विरले ही होंगे।

इस प्रकार, जैसी कि हमें आशा करनी चाहिए थी, मांग का सामान्य नियम—मांग वक्र का अधोन्मुख ढाल-व्यवहार में अपवादहीन दीख पड़ता है। इसके प्रति जो भी अपवाद हैं वे विरले एवं महत्वहीन हैं। हमारी वर्तमान प्रविधि का इस दिशा

में कोई नया योग नहीं है।

(७) परन्तु जैसे ही हम इस प्रामाणिक प्रकरण से आगे बढ़ते हैं, हमें कुछ प्रभावकारी स्पष्टीकरण प्राप्त होने लगते हैं।

अब तक हमने मुद्रा के रूप में उपभोक्ता की आय को निश्चित माना है। अगर वह बाजार में केवल क्रेता बन कर ही नहीं वरन् विक्रेता भी बन कर आए, तो ऐसी स्थिति में क्या होगा? मान लें, किसी वस्तु 'क' की एक निश्चित मात्रा के साथ वह आता है, जिसमें से——कीमत-स्थिति अनुकूल होने पर——वह अपने उपभोग के लिए कुछ मात्रा रखने के लिए उद्यत है।

यह स्पष्ट है कि जब तक 'क' की कीमत अपरिवर्तित रहेगी, हमारे पहले तर्क अधूरे रहेंगे। अगर हम चाहें तो यह मान सकते हैं कि वह किसी दी हुई कीमत पर अपने पूरे स्टॉक को बेचकर मुद्रा प्राप्त करता है: तब वह बिल्कुल उसी स्थिति में होगा जिसमें वह उपभोक्ता जिसकी मुद्रा में निश्चित आय है। तब वह अपनी स्वेच्छा से अपने 'क' की कुछ मात्रा वापस खरीद सकता है।

परन्तु 'क' की कीमत में परिवर्तन होने पर क्या होगा? प्रतिस्थापन-प्रभाव पूर्ववत् होगा। 'क' की कीमत में कमी के कारण अन्य वस्तुओं के लिए 'क' के प्रतिस्थापन को उत्साह मिलेगा। यह अवश्य ही 'क' की वर्धमान मांग के अनुकूल होगा, जिसका तात्पर्य है ह्रासमान पूर्ति। परन्तु आय-प्रभाव पूर्ववत् नहीं रहेगा। 'क' की कीमत में कमी के कारण उसका विक्रेता पहिले से असमृद्ध हो जायगा; यदि 'क' उसके लिए घटिया वस्तु नहीं है, तो यह उसकी मांग को घटा देगा (अर्थात् पूर्ति को बढ़ाएगा)।

विक्रेता और क्रेता की स्थिति का महत्वपूर्ण अन्तर इस प्रकार तुरन्त स्पष्ट हो जाता है। क्रेता के सम्बन्ध में आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव घटिया वस्तुओं की अपवाद स्वरूप स्थितियों को छोड़कर, एक ही दिशा में काम करते हैं। विक्रेता के संबंध में वे केवल उस अपवादी स्थिति में ही एक दिशा में काम करते हैं; अन्यथा, साधारणतः वे विपरीत दिशाओं में ही कार्य करते हैं।

इस तथ्य द्वारा कि विक्रेता के आय-प्रभाव की उपेक्षा बहुत विरले ही की जा सकती है, स्थिति और भी विकृत हो जाती है। विक्रेता को अपनी आय का अधिकांश किसी विशेष वस्तु से प्राप्त होता है जिसे वे बेचते हैं। अतएव आशा है कि हमको बहुत सी ऐसी स्थितियां मिलेंगी जिनमें आय-प्रभाव उतना ही (अथवा, अधिक) शक्तिशाली है जितना प्रतिस्थापन-प्रभाव। हम यह निष्कर्ष अवश्य निकाल सकते हैं कि 'क' की कीमत की कमी या तो इसकी पूर्ति को घटा सकती है अथवा बढ़ा भी सकती है।

इस प्रकार के पूर्ति-वक्र का व्यावहारिक महत्व उत्पादन साधनों के लिए निःसन्देह अत्यधिक स्पष्ट है। जैसे मजदूरी में कमी मजदूर को कभी कभी कम परिश्रमी और कभी अधिक परिश्रमी बना डालती है; यदि आय समान रहनी है तो प्रति वस्तु पारिश्रमिक की दर घट जाने पर उत्पत्ति की सीमान्त इकाई से संबंधित प्रयत्न कम महत्वपूर्ण प्रतीत होगा; दूसरी ओर आय घट जाने पर मजदूर की प्रवृत्ति अधिक मेहनत से काम करने की होगी ताकि वह आय की कमी को पूरा कर सके और यह सम्भव है कि पहले प्रभाव पर यह प्रभाव छा जाय।[८]

जब भी इस प्रकार की संरक्षण-मांग की सम्भावना होगी, ऐसा पूर्ति-वक्र सामने आयगा, अर्थात् अन्य बातें समान रहने पर जब भी विक्रेता अधिक कीअ पेक्षा कम पूर्ति करना पसंद करेगा, इस प्रकार का पूर्ति वक्र दिखाई पड़ेगा। ऐसे फार्म, जिन पर कुछ (अति नहीं) विशिष्ट कृषि-पदार्थों की खेती की जाती है उनके द्वारा की गयी कृषि-पदार्थों की पूर्ति एक अन्य उत्तम उदाहरण हो सकता है। किसी कीमती परिमाण चित्र में खींचे गए ऐसे ही पूर्ति-वक्र के किसी बिन्दु के बाद पीछे की ओर मुड़ जाने की अधिक सम्भावना है। हम विश्वास के साथ कदापि नहीं कह सकते कि इसका ढाल ऊपर की ओर होगा। (रे० चित्र-९)

रेखा चित्र–९
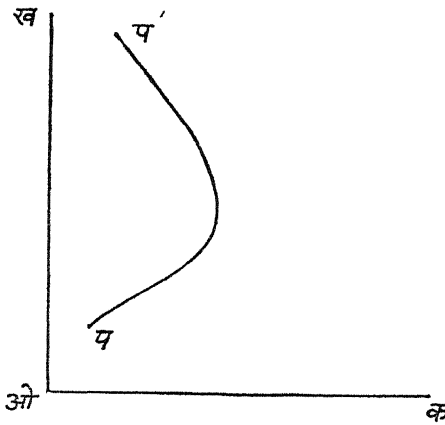
मांग और पूर्ति के बीच इस असममितता से हम पूर्व परिचित हैं, स्यात् इसकी गणना वालरा[९] के आविष्कारों में से एक के रूप में की जानी चाहिए। परन्तु इस

असमानता का कारण जब तक स्पष्ट नहीं किया गया, इसके अस्तित्व को भूल जाना सरल था। उपर्युक्त ढंग से इस विषय को स्पष्ट कर देना हमारी नवीन प्रविधि का प्रथम फल माना जा सकता है। स्पष्टीकरण स्वयं एक अच्छी चीज है और हम आगे चल कर पाएंगे कि इससे कुछ बहुत सुगम विश्लेषणात्मक रीतियों का मार्ग प्रशस्त होता है।

---

१. वास्तव में यह किसी वस्तु के ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता और मुद्रा के लिए वस्तु के ह्रासमान प्रतिस्थान सीमान्त दर के भेद का उन्मूलन करता है। फलतः यह इस बात को स्पष्ट करता है कि मार्शल ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता से क्यों संतुष्ट था।

२. 'ए रिकन्सट्रक्शन ऑव थिअ्‌री ऑव वेल्यू', में मैंने इसे व्यय वक्र की संज्ञा दी है। ष्टतः यह एक भद्दा

३. तुलना कीजिये एलेन और बोलेकृत 'फेमली एक्सपेन्डीचर', पृष्ठ ३६, ४१

४. ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता नियम का सरलता से ऐसा विवेचन किया जा सकता है कि निकृष्ट मालों का अर्थशास्त्र में कोई स्थान न रह जाय। यह उस भ्रमजाल का विचित्र उदाहरण है जिसमें मूल्य सिद्धान्त फंस सकता था जब तक उक्त नियम का पूर्णतया त्याग न किया जाता। यथार्थ में पेरेटो ने अपने विचारों का विकास करते समय इस निर्वचन को प्रतिपादित किया था ('मैनुएल द इकानामिया पोलितिका'---पृष्ठ ५०२-३, किन्तु तुलना कीजिए बाद के फ्रांसीसी संस्करण पृ० ५७३-४) प्रतिस्थापन का ह्रासमान सीमान्त दर के सत्य नियम पर पूर्णतया विश्वास करने के बदले उन्होंने एक भ्रामक सिद्धान्त आगे बढ़ाया।—ग के लिए ख की प्रतिस्थापन सीमान्त दर, ख की पूर्ति को बिना बढ़ाए ग की पूर्ति को घटाने पर, कम होगी। अगर सदा ऐसा ही होता तो यह ख को घटिया वस्तु बनाने की संभावना के क्षेत्र से अलग कर देगा। अतएव पैरेटो का यह नियम सदैव सही नहीं उतर सकता।

५. यथार्थ में पिछले अध्याय के अंत में उल्लिखित इस नियम का परिणाम है कि चाहे जिस दिशा में प्रतिस्थापन किये जांय, प्रतिस्थापन की सीमान्त-दर अवश्य घटेगी। (देखिए परिशिष्ट (८ (४) और १०)

६. इससे अधिक 'वस्तु' की परिभाषा के संबंध में चिन्ता करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है। यह विचाराधीन समस्या पर निर्भर होगा कि कब चीजों के कैसे संग्रह को वस्तु माना जाय।

७. प्रिंसिपुल्स, पृष्ठ १३२

८. राबिन्स, 'इलास्टिसिटी आव डिमाण्ड फार इनूकम इन टर्मस आव एफर्ट (इकोनोमिका, १९३०, पृष्ठ १२३)।

९. वालरा 'एलीमेन्ट्स द इकानॉमी पालीटीक प्योर (सर्वप्रथम १८७४ में प्रकाशित), लेसन्स ५-७।

अध्याय–२ की टिप्पणी

उपभोक्ता का अतिरेक

मार्शल की कृति प्रिंसिपुल्स के भाग तीन में अन्य किसी भी विषय की अपेक्षा उपभोक्ता के अतिरेक-सिद्धान्त के कारण, अधिक कठिनाइयां और मतबैभिन्य पैदा हुए हैं। जिन निष्कर्षों पर हम अभी पहुंचे हैं वे इस पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं; परिणाम-स्वरूप, यद्यपि यह हमारे वर्त्तमान निरीक्षण-मार्ग से दूर है, इसका उपयोगी रूप से परीक्षण यहां किया जा सकता है।

इस क्षेत्र में उपभोक्ता का अतिरेक एक ऐसा उदाहरण है जहाँ मार्शल स्यात् सीमा से अधिक प्रवीण थे; परन्तु वे बड़े ही प्रवीण थे, और अन्य लेखकों की तरह हम मार्शल की प्रवीणता को श्रेय न देने की सामान्यतम भूल करने से बचे रहें। हम उन भ्रामक-सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं जो वास्तविकता की अपेक्षा अधिक सरल ज्ञात होते हैं। इसकी अभिव्यक्ति ऐसे ढंग से की जा सकती है, जो पूर्णतया मिथ्या है; और इस तथ्य की उपेक्षा करना बड़ा सरल है कि मार्शल ने इसकी अभिव्यक्ति को भ्रामक न बनाने के लिए बड़ा ही कष्ट उठाया।

मार्शल एवं उपभोक्ता के अतिरेक के मौलिक आविष्कर्त्ता ड्यूपू के तर्क-वितर्क में भेद के साथ विवेचना का प्रारंभ करना उपयोगी होगा। सन् १८४४ में लिखते हुए ड्यूपू ने एक वर्णन दिया उसमें मार्शल जैसी परिशुद्धता नहीं थी।[१०] उनका स्पष्ट विचार था कि :–

राजनैतिक अर्थशास्त्र के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता का माप वह अधिकतम त्याग है जो केवल उपभोक्ता उसको लाने वाले के प्रति करने को तैयार होगा। (ड्यूपू, पृष्ठ ४०)

और इसीलिए 'पन' कीमत पर एक वस्तु की 'ओन' इकाइयां क्रय करने से प्राप्त 'उपयोगिता' कीमत-परिमाण-मांग-रेखाचित्र-१० में द प ब क्षेत्र द्वारा प्रदर्शित की गयी

है। बिना किसी विशषण के ऐसा है। मार्शल का भी रेखाचित्र यही है और वे ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं; परन्तु वे एक महत्वपूर्ण विश्लेषण का निर्धारण करते हैं कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को अपरिवर्तनशील मानना चाहिए।[११]

रेखा चित्र—१०
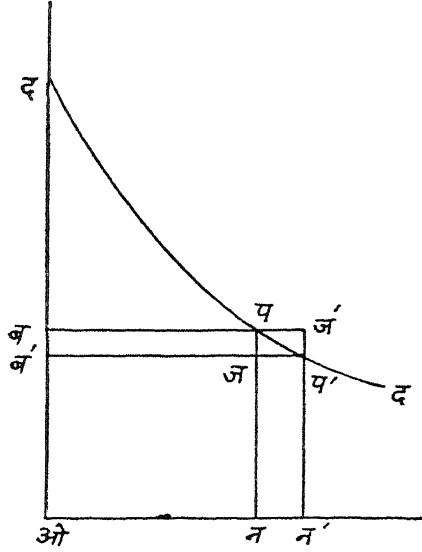
इसके प्रभाव को अनधिमान-रेखाचित्र में पूर्ववत् एक अक्ष पर वस्तु क और दूसरे पर मुद्रा को मापते हुए सहज ही प्रदर्शित किया जा सकता है (रेखाचित्र–११)। अगर उपभोक्ता की आय 'ओम' है और क की कीमत 'म ल' के, जो एक अनधिमान वक्र को प बिन्दु पर स्पर्श करती है, ढाल द्वारा इंगित की जाय तो 'ओन' 'क' की क्रय की हुई मात्रा होगी और प फ इसके लिए दी गई मुद्रा की मात्रा होगी। अब 'म' की अपेक्षा 'प' उच्चतर अनधिमान वक्र पर है, और उपयोगिता में इस लाभ को मुद्रा में मापने की आवश्यकता है। ड्यूपू की तरह मार्शल ने भी उपभोक्ता द्वारा दी गई वास्तविक कीमत पर उस कीमत के, जो कि उपभोक्ता वस्तु के बिना रह जाने की अपेक्षा देने को तत्पर होगा, आधिक्य को लिया है।[१२] जो कीमत वह वास्तव में देता है उसे हमारे रेखाचित्र में प फ के द्वारा मापा गया है और जो कीमत देने को वह तत्पर होगा वह र फ द्वारा जहाँ र उसी वक्र पर स्थित है जिस पर म (इसका अर्थ है कि अगर वह 'ओन' मात्रा खरीदता और इसके लिए र फ देता तो वह इस

सौदे के द्वारा श्रेष्ठतर नहीं हो पाता) अतएव र प रेखा की लम्बाई उपभोक्ता का अतिरेक है।

रेखा चित्र—११
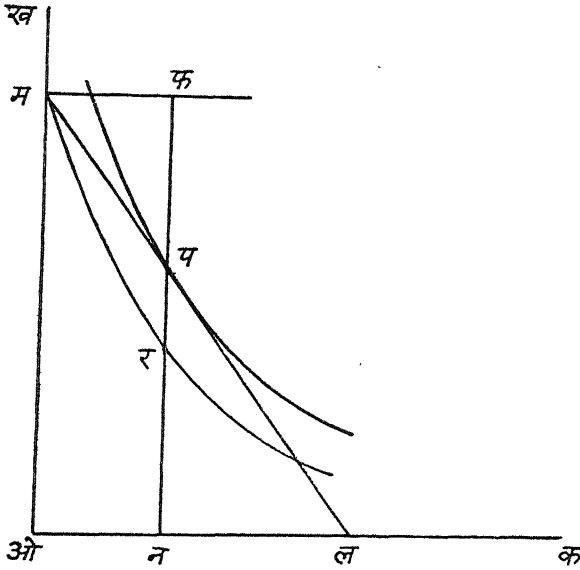
'र प' पूर्णरूपेण उपभोक्ता के अतिरेक का सामान्य निरूपण है जो मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिता के प्रति किसी भी मान्यता से मुक्त है। किन्तु जब तक मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अपरिवर्तनशील नहीं है यह मार्शल के चित्र में माँग-वक्र के नीचे वाले क्षेत्र के बराबर आवश्यक रूप से नहीं है। इसे निम्नवत् देखा जा सकता है। अगर मुद्रा की उपयोगिता अपरिवर्तनशील हो तो र बिन्दु पर अनधिमान वक्र का ढाल वही होना चाहिए जैसा प बिन्दु पर अर्थात् म प रेखा के ढाल के ही समान। अतएव 'म र' अनधिमान वक्र पर दाहिनी ओर थोड़ा सा भी स्थानान्तरण र फ को उसी मात्रा में बढ़ा देगा जितना कि म प पर थोड़ा भी स्थानान्तरण प फ को बढ़ाएगा। परन्तु प फ में वृद्धि म प द्वारा इंगित कीमत पर क्रय की गयी मात्रा में थोड़ी वृद्धि के लिए दी गई अतिरिक्त मात्रा है। रेखा चित्र १० में यह मात्रा प न न' ज' क्षेत्र द्वारा मापी गई है। लम्बाई र फ ऐसी ही वृद्धियों का योग है। अतएव इसे रेखा चित्र १० में प न न' ज' जैसी वृद्धियों से निर्मित क्षेत्र के रूप में अवश्य प्रदर्शित

किया जा सकता है। यह द प न ओ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अतएव र प को रेखाचित्र १० में द प ब मार्शल का उपभोक्ता-अतिरेक-द्वारा निरूपित किया जायगा।

यह तभी तक मान्य है जब तक मुद्रा की सामान्य उपयोगिता अपरिवर्तनशील है अर्थात् जब तक आय-प्रभावों की उपेक्षा की जाय। परन्तु आय-प्रभावोंकी उपेक्षा करने में मार्शल का अनुगमन करना इस संबंध में कहां तक न्यायोचित है? यह ऐसा प्रश्न नहीं है जिसमें इनकी उपेक्षा निःशंक हो सके। बिन्दु प पर अनधिमान वक्र के ढ़ाल और विन्दु र पर अनधिमान वक्र के ढाल के बीच अन्तर की मार्शल ने उपेक्षा की। यह सत्य है कि प्रस्तुत वस्तु का महत्व उपभोक्ता के बजट में कम होने पर इस अन्तर के भी कम महत्वपूर्ण होने की सम्भावना है। यदि उस पर व्यय किए गए आय का अनुपात कम हो तब भी यह अन्तर महत्वपूर्ण हो सकता है, और अगर र प स्वयमेव बहुत अधिक हो (अर्थात् यदि उपभोक्ता का अतिरेक अधिक हो) ताकि वस्तु को क्रय करने के अवसर की हानि, आय की अधिक हानि के तुल्य हो, तो यह तब भी महत्वपूर्ण रहेगा।

यही दुर्बलता है जो मार्शल द्वारा समुपस्थित उपभोक्ता-अतिरेक-सिद्धान्त में भी रह जाती है; परन्तु कोई कारण नहीं कि इस दुर्बलता को रहने दिया जाय। हमें याद रखना चाहिए कि उपभोक्ता के अतिरेक का विचार स्वयं के लिए अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत यह एक महत्वपूर्ण साध्य–जिसको इसी पर आधारित माना गया है–को प्रदर्शित करने के साधन के रूप में अपेक्षित है। बिना किसी प्रश्न की उपेक्षा किए ही साध्य को प्रदर्शित किया जा सकता है।

उपभोक्ता के अतिरेक को देखने का सर्वोत्तम तरीका इसे मुद्रा के रूप में उस प्राप्ति की अभिव्यक्ति का, साधनवत् मानना है जो कीमत की गिरावट के परिणाम-स्वरूप उपभोक्ता को प्राप्त होता है। अथवा और अच्छे ढंग से यह आय में वह क्षति पूरक विचलन है, जिसकी हानि कीमत की कमी को छा लेगी और उपभोक्ता को पहली स्थिति की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थिति में न छोड़ेगी। अब यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि यह क्षति पूरक विचलन किसी न्यूनतम मात्रा से कम नहीं हो सकता और साधारणतः उस मात्रा से अधिक ही होगा। बस इतना ही अपेक्षित है।

मान लें, संतरे की कीमत २ पेन्स् प्रति संतरा है; और इस कीमत पर कोई व्यक्ति ६ संतरे खरीदता है। अब मान लीजिए कि कीमत घट कर एक पेन्स् हो जाती है; और इस कम कीमत पर वह १० संतरे खरीदता है। आय में क्षति पूरक विचलन क्या है? हम ठीक ठीक नहीं कह सकते; परन्तु इतना कह सकते हैं कि यह

६ पेन्स् से कम नहीं हो सकता। क्योंकि हम फिर मान लें कि संतरे की कीमत में कमी के साथ ही उसकी आय में भी ६ पेन्स् की कमी हो जाती है। तब नई परिस्थितियों में अगर वह चाहे तो संतरे की पहले वाली मात्रा और अन्य सभी वस्तुएं भी पहले की मात्रा में खरीद सकता है। पहले की सर्वश्रेष्ठ अधिमान्य स्थिति अभी भी उसके सम्मुख है; अतएव वह हीनतर नहीं हो सकता। परन्तु सापेक्ष कीमतों में परिवर्तन के कारण यह संभव है कि वह संतरे की कुछ मात्रा द्वारा अन्य वस्तुओं की कुछ मात्रा का प्रतिस्थापन करने में समर्थ हो सके और इस प्रकार अपने को श्रेष्ठतर बना सके। परन्तु अगर वह ६ पेन्स् की हानि उठाकर भी श्रेष्ठतर रह सकता है तो ६ पेन्स् अवश्य ही क्षति पूरक विचलन की अपेक्षा कम होंगे; ठीक पूर्ववत स्थिति में बने रहने के लिए उसे ६ पेन्स् से भी कुछ अधिक से हाथ धोना चाहिए।[१३]

उपभोक्ता-अतिरेक सिद्धान्त के कारण कर के सिद्धान्त में जिन महत्वपूर्ण परिणामों को स्थापित किया गया है उसके न्याय के लिए मात्र इतना ही आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यह प्रदर्शित करता है कि क्यों (वितरण संबंधी प्रभावों के अतिरिक्त भी) वस्तुओं पर आरोपित कर, आय पर आरोपित कर की अपेक्षा, उपभोक्ता पर अधिक भार डालता है। कर में कमी के फलस्वरूप यदि संतरे की कीमत २ पेन्स् से घटकर १ पेन्स् हो जाय तो (लागत को अपरिवर्तनशील मानने पर) उपभोक्ता विशेष से कर-प्राप्ति की कमी ६ पेन्स् के बराबर होगी। अगर यह उससे आय-कर के रूप में लिया गया है तो भी वह श्रेष्ठतर रह जाएगा और सरकार का कुछ नुकसान न होगा।

उपभोक्ता अतिरेक सिद्धान्त से लिए गए अन्य निष्कर्षों का परीक्षण अनुमानतः इसी प्रकार किया जा सकता है।[१४]

---

१०. ड्युपु का लेख 'अनेल्स द पौन्त्स् एत चौसीस' में प्रकाशित हुआ था। और इस प्रकार तब तक अति अप्राप्य था जब तक 'एम० द वर्नादिंश' की कृति 'द ल यूतीलिते एत द ज मिस्योर्' (त्यूरिन, १९३३) का स्पष्ट पुनर्संस्करण नहीं प्रकाशित हो गया। इसी संस्करण से मैंने मूल पाठ में अवितरण दिया है।

११. मार्शल, प्रिंसिपुल्स पृष्ठ ८४२

१२. वही, पृष्ठ १२४।

१३. इस प्रकार क्षतिपूर्ति विचलन को चित्र १० के ब प ज ब' क्षेत्र से भी अधिक सिद्ध किया जा सकता है। क्या इसे ब ज' प' ब', के क्षेत्र से कम भी सिद्ध किया जा सकता है? प्रथम दृष्टि में कोई भी ऐसा सोच सकता है। परन्तु इस पक्ष में उतना तीव्र साक्ष्य उपस्थित करना वास्तव में संभव नहीं है। अगर अनधिमान रेखा चित्र (चित्र ११) का हम प्रयोग करें

तो यह स्पष्ट हो जायगा। सन्तरे की कीमत एक पैंस कम हो जाने और आय के १० पैंस कम हो जाने पर क्रय-अवसर को प्रदर्शित करने वाली रेखा संस्थिति के पूर्व बिन्दु प से होकर नहीं गुजर सकती। अतएव इसके द्वारा स्पष्ट किए जाने वाले अनधिमान वक्र का विश्वसनीय ज्ञान हमें नहीं है। मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिता अपरिवर्तनशील मान लेने पर हम अपने पूर्व तर्क वितर्क के आधार पर यह अनुमान कर सकते हैं कि क्षतिपूर्ति विचलन बड़े आयत से कम होगा।

१४. मेरे द्वारा उपर्युक्त बातें लिखी जाने के पश्चात् प्रकाशित एक लेख ('द' जेनरल वेलफेयर इन रिलेशन टु प्रोबलेम्स आव टैक्सेशन एण्ड आव रेलवेज एण्ड आव यूटीलिटी रेट्स', इकॉनोमेट्रिका, जुलाई १९३८) में प्रोफेसर होटेलिंग ने प्रधान रूप से ऐसा ही तर्क उपस्थित किया है और इसे आर्थिक कल्याण की आधारभूत समस्याओं में प्रयुक्त किया है। प्रो० पिगु के सभी मूलाधारीय अंशों की इसी प्रकार समीक्षा करना रोचक होगा, मेरा विचार है कि अधिकांशतः यह ठीक निकलेगा।

अध्याय ३

सम्पूरकता

(१) एजवर्थ और पैरेटो द्वारा दी गई सम्पूरक और प्रतिस्पर्द्धी वस्तुओं की परिभाषा (जिसकी ओर मार्शल का ध्यान नहीं गया) इस प्रकार है।[1] अगर क की पूर्ति बढ़ जाने पर (और ख स्थिर रहे) ख की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाय तो उपभोक्ता के बजट में ख वस्तु क के साथ सम्पूरक होगी; अगर क की पूर्ति बढ़ जाने पर (और ख स्थिर रहे) ख की सीमान्त उपयोगिता कम हो जाय तो ख क की प्रतिस्पर्द्धी है (अथवा क के लिए प्रतिस्थापन है)। इस परिभाषा के आधार पर यह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि सम्पूरक-प्रतियोगी संबंध उत्क्रमणीय है : क के साथ ख यदि सम्पूरक है तो ख के साथ क भी सम्पूरक है; फिर यदि क के लिए ख प्रतिस्थापन है तो ख के लिए क भी प्रतिस्थापन है।[2] पुनः मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता होने पर इस परिभाषा से तुरन्त यह परिणाम निकलता है कि क की कीमत में गिरावट क की मांग को बढ़ाएगी और इसलिए ख की सीमान्त उपयोगिता अवश्य बढ़ जायगी क्योंकि, क और ख परस्पर सम्पूरक हैं और इस प्रकार ख की मांग भी बढ़ जायगी। इसी प्रकार क और ख अगर प्रतिस्थापन है तो यह ख की मांग को कम कर देगा। एजवर्थ और पैरेटो इतने से ही पर्याप्त संतुष्ट हो गए।

परन्तु पैरेटो को संतुष्ट नहीं रहना चाहिए था क्योंकि अपनी परिभाषा को अनधिमान वक्रों के रूप में अनुदित करते समय उनके सामने कठिनाइयां पैदा हो गईं। वे उन स्थितियों के बीच, जब क एवं ख सम्पूरक हों (उक्त परिभाषा के अनुसार) और जब क और ख के बीच अनधिमान वक्र (उपभोग की हुई अन्य वस्तुएं अपरिवर्तित मानने पर) बहुत मुड़े हुए हों (चित्र १२), कुछ सादृश्य का पता लगाने में वास्तव में समर्थ रहे। फिर उन स्थितियों के बीच भी, जब अनधिमान वक्र बहुत चपटे हों (रेखाचित्र—१३) और जब क और ख परस्पर प्रतिस्थापन हों, वे कुछ सादृश्यों का पता लगाने में समर्थ रहे।[3] परन्तु यह सादृश्य बिल्कुल ठीक नहीं है, क्योंकि

यह खोज करना असंभव है कि अनधिमान वक्रों की कितनी वक्रता सम्पूरक और प्रतिस्थापन वस्तुओं के बीच के अन्तर–जो परिभाषा के आधार पर पूर्णतया अन्तर होना चाहिए–के समवर्त्ती है।
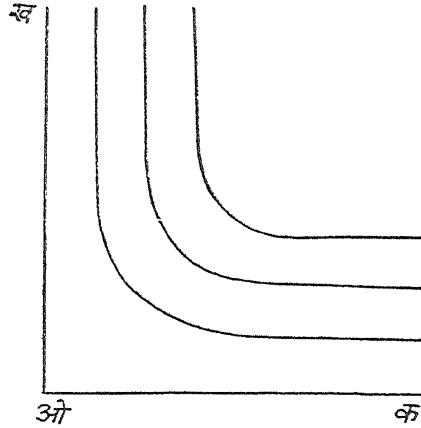
रेखाचित्र–१२

एजवर्थ–पैरेटो की परिभाषा स्वयं पैरेटो के उपयोगिता-अमापनीयता सिद्धान्त के प्रति घात करती है। यदि उपयोगिता एक 'मात्रा' नहीं है प्रत्युत उपभोक्ता के

रेखाचित्र–१३
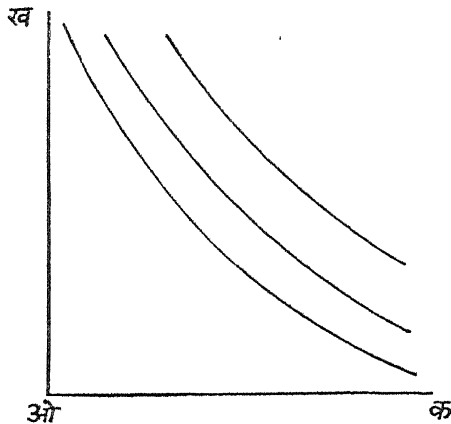
अधिमान-माप की सूचक मात्र हैं, तो उनकी संपूरक वस्तुओं की परिभाषा का कोई ठीक तात्पर्य नहीं हो सकता। सम्पूरक और प्रतिस्पर्द्धी वस्तुओं का भेद उपयोगिता मापन के लिए अपनाए गए अविहित माप के अनुसार भिन्न होगा।[४]

(२) निम्नांकित ढंग से इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सर्वप्रथम, हमें एजवर्थ-पैरेटो की परिभाषा में 'सीमान्त उपयोगिता' के स्थान पर 'मुद्रा के लिए सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर' (जो 'मुद्रा के पदों में सीमान्त-उपयोगिता' है) को लाना है। क्योंकि एजवर्थ-पैरेटो परिभाषा का प्रयोग तभी कुछ अर्थपूर्ण है जब मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिता को अपरिवर्तनशील माना जाय, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मुद्रा—वे 'अन्य वस्तुएं' जिन पर आय को खर्च करते हैं— को इस प्रसंग में किसी न किसी तरह आना ही पड़ेगा।

इसके उपरान्त हमें यह पता लगाना है कि क की पूर्ति बढ़ने पर (और ख अपरिवर्तित हो) तो 'मुद्रा' का क्या होता है। अपनी पिछली खोजों के प्रकाश में यह पाना आश्चर्यजनक नहीं होगा कि मुद्रा की पूर्ति इस तरह से घटायी जायगी ताकि क की वृद्धि का प्रभाव कट जाय और उपभोक्ता पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर न हो सके।

इस संशोधन की आवश्यकता उन्हीं कारणों से हुई है जिनसे ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता नियम को संशोधित करने के लिए हम बाध्य हुए हैं; वास्तव में ह्रासमान-सीमान्त-उपयोगिता को ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के रूप में संशोधित करने का यह परिणाम है। प्रतिस्थापन-वस्तु की हम ऐसी परिभाषा चाहते हैं जिससे पूर्णतया यह निश्चित हो कि उसी स्थूल वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई पूर्वागत इकाइयों का प्रतिस्थापन है। इस प्रकार क की एक अतिरिक्त इकाई द्वारा मुद्रा के लिए क की सीमान्त प्रतिस्थापन दर निश्चित रूप से तभी कम होगी यदि मुद्रा के लिए अतिरिक्त इकाई इस प्रकार प्रतिस्थापित की जाय कि उपभोक्ता पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर न रह जाय (ह्रासमान-सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर का हमारा नियम)। तो हम कह सकते हैं कि ख क का प्रतिस्थापन है यदि मुद्रा के लिए ख की प्रतिस्थापन-दर उस समय कम हो जाय जब क द्वारा मुद्रा को इस प्रकार प्रतिस्थापित किया जाता है कि उपभोक्ता पूर्ववत बना रहता है। हम कह सकते हैं कि ख क का सम्पूरक है यदि, जब मुद्रा का क द्वारा प्रतिस्थापन किया जाता है तब मुद्रा के लिए ख की सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर बढ़ती है।

यह परिभाषा उपयोगिता के पारिमाणिक माप पर निर्भर नहीं है; मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिता अगर अपरिवर्तनशील हो (अगर आय-प्रभाव की उपेक्षा की जा सके) तो यह एजवर्थ-पैरोटो की परिभाषा बन जाती है; और एजवर्थ-

पैरेटो की परिभाषा की तरह यह क और ख के बीच उत्क्रमणीय है। यदि क के साथ ख सम्पूरक है तो क अवश्य ख के साथ सम्पूरक होगा। यदि क के लिए स प्रतिस्थापन है तो क भी ख के लिए प्रतिस्थापन है। [५] और जैसा कि हम आगे चलकर पाएँगे, यह उन स्थितियों में प्रत्यक्ष प्रयोगनीय है जहां मुद्रा की सीमान्त-उपयोगिताको अपरिवर्तनशील नहीं माना जा सकता।

(३) हमारी नई परिभाषा का एक बड़ा उत्सुकताजनित परिणाम यह है कि अनधिमान-रेखाचित्र—जिसे पैरेटो ने संबंधित वस्तुओं की समस्या पर प्रकाश डालने वाला साधन समझा था—उस विशिष्ट समस्या के प्रति प्रत्यक्ष रूप से अत्यल्प उपयोगी सिद्ध होता है।

अपने दो अक्षों पर दो वस्तुओ को मापने वाला अनधिमान रेखाचित्र तभी उपयोगी होगा जब हम ऐसा विचार करें कि उपभोक्ता अपनी आय को 'दो वस्तुओं' पर (और केवल 'दो वस्तुओं' पर ही) व्यय कर रहा हो। व्यवहार में इसका तात्पर्य यह है कि इसका प्रयोग आवश्यक रूप से उस परिस्थिति में किया जाय जिसमें हम केवल एक भौतिक वस्तु की मांग सम्बन्धी समस्याओं में रुचि रखते हों और दूसरे अक्ष पर अन्य सभी वस्तुओं को मिलाकर (मार्शल को मुद्रा) प्रदर्शित करते हों। ऐसी समस्याओं—मार्शल की समस्याओं—के लिए अनधिमान-रेखाचित्र बड़ा ही शिक्षाप्रद है और विश्लेषण को सूक्ष्म करने में मार्शल की रीति की अपेक्षा हमें इससे अधिक सहायता मिलती है। परन्तु सम्बन्धित मालों की समस्या का वर्णन द्वि-अक्षीय अनधिमान-रेखाचित्र पर नहीं किया जा सकता। दो संबंधित मालों और मुद्रा (आवश्यक पृष्ठभूमि) को प्रदर्शित करने के लिए तीन अक्षों की आवश्यकता होगी। इसका तात्पर्य यह है कि इस सिद्धान्त को बड़ी सुगमतापूर्वक या तो बीजगणित में (परिशिष्ट में एक बीजगणितीय विवरण दिया जायगा) प्रदर्शित कर सकते हैं, अथवा, साधारण शब्दों में, जैसा कि यहां किया गया है।

अब हम आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव के पारस्परिक अन्तर की ओर जिसे गत अध्याय में हम विकसित कर आए हैं पुनः, ध्यान दें। हम यह देख चुके हैं कि क की कीमत में कमी के कारण प्रेरित (अन्य कीमतें अपरिवर्तत रहने पर) आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव क की मांग को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। हमें अब उनके ऊपर अधिक सामान्य रूप से विचार करना है। और यह देखना है कि उपभोक्ता के व्यय के सामान्य पुनर्विन्यास में ये दोनों प्रभाव किस प्रकार कार्यान्वित होते हैं।

आय-प्रभाव से कोई अधिक परेशानी नहीं होती । क की कीमत में कमी की प्रतिक्रिया उपभोक्ता के लिए आय बढ़ने के सदृश होती है और इस प्रकार घटिया मालों को छोड़कर उपयोग किए जानेवाले प्रत्येक माल की मांग बढ़ने की प्रवृत्ति होती है । यदि क पर आय का कम अनुपात व्यय किया जाता है तो आय-प्रभाव भी सामान्यतया कम होगा; इसका क की मांग पर केवल थोड़ा प्रभाव होगा और अन्य किसी भी वस्तु की मांग पर इसका समानुपातिक प्रभाव कम होगा ।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि प्रतिस्थापन-प्रभाव में अवश्य ही प्रतिस्थापना क के पक्ष में होती है और इसलिए क से भिन्न किसी अन्य वस्तु के विपक्ष में होती है । अनधिमान-रेखाचित्र में अगर हम क से भिन्न सभी वस्तुओं को एक 'वस्तु' (शीर्षाक्ष पर मापित) के रूप में कर दें तो प्रतिस्थापन प्रभाव की प्रवृत्ति इस संयुक्त 'वस्तु' की मांग को कम करने की होगी ।[६] परन्तु ऐसा केवल तभी होता है जब हम अन्य सभी वस्तुओं को सम्मिलित रूप में देखें, इसका यह अर्थ नहीं कि अलग-अलग प्रत्येक वस्तु की मांग घटेगी ।

मान लीजिए , संपूरकता की हमारी परिभाषा के अनुसार, ख (अन्य वस्तुओं में से एक) क के साथ संपूरक है । हमें ज्ञात है कि अगर ख की मात्रा को अपरिवर्तनशील मान लें तो क के अनुकूल और मुद्रा के प्रतिकूल (अब क और ख के अतिरिक्त वस्तुएँ) प्रतिस्थापन से मुद्रा के लिए ख की सीमान्त प्रतिस्थापन दर बढ़ जायगी । अब मुद्रा के पदों में ख की कीमत दी हुई है और अपरिवर्तनशील है; अतएव यदि मुद्रा के लिए ख की सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर को ख की कीमत के बराबर रखना है तो मुद्रा के लिए ख की सीमान्त प्रतिस्थापन-दर की वृद्धि के फलस्वरूप मुद्रा की ख के द्वारा प्रतिस्थापनाको प्रोत्साहन मिलेगा । अतः यदि 'ख', क का सम्पूरक हो तो मुद्रा की क के द्वारा प्रतिस्थापना होने के साथ मुद्रा की ख के द्वारा वैसी ही प्रतिस्थापना होने की प्रवृत्ति होगी । क के अनुकूल कोई भी प्रतिस्थापन ख के अनुकूल इसी प्रकार के प्रतिस्थापन को उत्तेजित करता है ।

दूसरी ओर यदि हमारी परिभाषा के अनुसार ख, क का प्रतिस्थापन है तो मुद्रा के लिए क की प्रतिस्थापना (और ख अपरिवर्तनशील हो) का प्रभाव मुद्रा के पक्ष में और ख के विपक्ष में प्रतिस्थापन को उत्साहित करता है । क के अनुकूल प्रतिस्थापन की प्रवृत्ति ख के प्रतिकूल प्रतिस्थापन के साथ चलने की होती है । संपूरकता की हमारी परिभाषा द्वारा इन दो स्थितियों के बीच एक निश्चित रेखा खिंच जाती है ।

(४) संपूरकता और प्रतिस्थापन में इस प्रकार अन्तर करने पर एक ऐसी बात हठात् स्पष्ट हो जाती है जो संभवतः पाठक को उद्विग्न करती रहती । इस प्रकार के प्रतिस्थापन-जो संपूरकता के प्रतिकूल हैं–और संबंधित वस्तुओं के प्रश्न को लेने के पूर्व पिछले अध्यायों में जिस प्रकार के प्रतिस्थापन की विस्तृत विवेचना की गयी है, दोनों में क्या अन्तर है ? उत्तर है कि वे एक ही हैं ।

उपभोक्ता यदि अपनी आय को दो वस्तुओं के क्रय करने में ही विभाजित करता है और इन दो वस्तुओं के अतिरिक्त कदाचित अन्य कोई वस्तु नहीं क्रय कर सकता, तो इन दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन संबंध के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता । क्योंकि उनमें से एक की अधिक मात्रा लेकर भी यदि वह पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं हो पाता , तो उसे दूसरे की कम ही मात्रा लेनी पड़ेगी । परन्तु जब वह अपनी आय को दो से अधिक वस्तुओं में बांटता है तो दूसरे प्रकार के सम्बन्धों की भी संभावना हो जाती है । अभी भी संभव है कि अन्य सभी वस्तुएं इन दोनों वस्तुओं में से एक (मान लीजिए क) की प्रतिस्थापन है । क की पूर्ति बढ़ने पर यह तभी घटित होगा यदि निम्नांकित शर्तों को संतुष्ट करने के लिए अन्य सभी वस्तुओं की मात्राओं में कमी करनी पड़े : १. पहले की अपक्षा उपभोक्ता श्रेष्ठतर नहीं रह गया है, २. इन अन्य वस्तुओं के बीच की सीमान्त-प्रतिस्थापन दर अपरिवर्तित है । क के अनुकूल प्रतिस्थापन यहां पर प्रत्येक वस्तु को अलग-अलग लेने पर उनके प्रतिकूल प्रतिस्थापन है । परन्तु सम्भव है कि इन दो शर्तों को संतुष्ट करने के लिए कुछ अन्य वस्तुओं (क के प्रति संपूरक वस्तुएँ) में वृद्धि अवश्य होनी चाहिए । स्पष्ट है कि उपभोग की जानेवाली सभी वस्तुएँ क के साथ संपूरक नहीं हो सकतीं; क्योंकि यह नहीं हो सकता कि उपभोक्ता सभी वस्तुओं की अधिक मात्रा भी पाए और पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर भी न हो । इस प्रकार हम देखते हैं कि दो वस्तुओं के अनधिमान चित्र पर संपूरकता का प्रश्न ही नही उठ सकता; क्योंकि क और ख केवल तभी संपूरक होंगे यदि कोई तीसरी वस्तु ऐसी है जिसको घटाकर क और ख दोनों के पक्ष में प्रतिस्थापना की जा सके ।

वस्तुओं का संपूरक समूह वास्तव में केवल तभी संभव है यदि कुछ अतिरिक्त चीज हो जिसको घटाकर उनको प्रतिस्थापित किया जा सके । 'क', 'ख' और 'मुद्रा', इन तीन मालों में क और ख सम्पूरक हो सकते हैं; परन्तु ऐसा होने पर क मुद्रा के लिए आवश्यक रूप से प्रतिस्थापन होगा और (इस विचार से कि ख के अनुकूल प्रतिस्थापन होने पर क्या होगा और यह स्मरण करके कि क और

'ख' का सम्पूरक संबंध उत्क्रमणीय है) ख को भी अवश्य ही मुद्रा के लिए प्रतिस्थापन होना चाहिए। क, ख, ग और मुद्रा इन चार मालों में क, ख और ग तीनों आपसमें सम्पूरक हो सकते हैं; परन्तु ऐसा होने पर प्रत्येक को मुद्रा के लिए प्रतिस्थापन होना चाहिए। उपभोक्ता के व्यय में चाहे जितनी भी वस्तुएँ समाविष्ट हों, वास्तव में सैद्धान्तिक रूप से यह संभव है कि एक के अतिरिक्त और सभी माल सम्पूरक हों अर्थात् इनमें से प्रत्येक माल उस अलग माल का प्रतिस्थापन हो। यही संपूरकता की सर्वाधिक संभव सीमा है; जब कि दूसरी चर्मस्थिति यह है कि सम्पूरकता हो ही नहीं।

यह मान लेना उचित है कि व्यावहारिक रूप में हमारा संबंध सामान्यतः अधिकतम संपूरकता की अपेक्षा न्यूनतम संपूरकता की स्थितियों से होगा। किसी वस्तु विशेष के साथ संपूरक मालों का एक छोटा गुट होगा, परन्तु निस्पृह रूप से लिए गए किसी भी अन्य माल से इसका अधिकाधिक संभावित संबंध निःसन्देह साधारण प्रतिस्थापना का होगा। कोई भी कम से कम इतना पाने की आशा तो रखेगा ही।

(५) अब हम उपभोक्ता व्यय पर पड़ने वाले किसी वस्तु क की कीमत परिवर्तन के प्रभाव विषयक निष्कर्षों को संकलित कर सकते हैं। क की कीमत का ह्रास (जब कि अन्य कीमतें अपरिवर्तित रहें) आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव द्वारा, क की मांग और अन्य वस्तुओं की मांग दोनों को प्रभावित करता है।

जहां तक क की मांग का प्रश्न है, प्रतिस्थापन-प्रभाव के कारण यह अवश्य बढ़ेगी; और जब तक क एक घटिया माल नहीं है आय प्रभाव भी ऐसा ही करेगा।

जहां तक एक साथ ली हुई सभी वस्तुओं की मांग का प्रश्न है (चूंकि उनकी कीमतें दी हुई हैं; यही सभी अन्य वस्तुओं पर होने वाले कुल व्यय के प्रति भी लागू होगा) प्रतिस्थापन प्रभाव इसे कम करेगा और आय-प्रभाव (व्यावहारिक रूप से सदा ही) इसे बढ़ाएगा। ये प्रभाव यथासंभव तुलनीय होंगे और फलतः अन्य वस्तुओं की कुल मांग बढ़ या घट सकती है।[७]

जहां तक किसी अन्य विशेष वस्तु ख की मांग का प्रश्न है, जब तक ख, क के साथ सम्पूरक नहीं है, प्रतिस्थापन प्रभाव इसे कम करेगा, वैसे ही जब तक ख एक घटिया वस्तु नहीं है आय-प्रभाव इसको बढ़ाएगा। अतएव इस प्रकार की कई भिन्न स्थितियों का विवरण दिया जा सकता है।

१. क के साथ ख अत्यधिक सम्पूरक हो। यहां प्रतिस्थापन प्रभाव आसानी

से इतना अधिक हो सकता है कि वह आय-प्रभाव पर छा जाय और फलस्वरूप ख की मांग निश्चित रूप से बढ़ेगी। उक्त बात का एक उदाहरण (परन्तु केवल उदाहरण) ऐसा हो सकता है: ख और क का प्रयोग एक निश्चित अनुपात में करते हैं; तब क के अनुकूल किया गया प्रतिस्थापन ख के अनुकूल प्रतिस्थापन को अनिवार्य बना देगा। इस प्रकार प्रतिस्थापन-प्रभाव आय-प्रभाव की अपेक्षा उन स्थितियों में अधिक होगा जब कि क वस्तु की मांग पर आय-प्रभाव की तुलना में प्रतिस्थापन प्रभाव अधिक है।

२. क के साथ ख कुछ कुछ सम्पूरक हो। इस स्थिति में आय-प्रभाव महत्व प्राप्त कर लेता है। सामान्यतः यह उसी दिशा में चलेगा जिधर प्रतिस्थापन-प्रभाव: अतः ख की मांग में कुछ वृद्धि होगी। परन्तु ख के घटिया माल होने पर आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन प्रभाव एक दूसरे को काट सकते हैं, अथवा चरम स्थिति में, (नकारात्मक) आय-प्रभाव इतना महत्वपूर्ण हो सकता है कि ख की मांग कुछ कम हो जाय।[८]

३. ख, क के लिए कुछ कुछ प्रतिस्थापनीय हो। (निःसन्देह, यह वास्तव में एक अति सामान्य स्थिति है।) आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन प्रभाव सामान्यतः विरोधी दिशाओं में चलेंगे इस प्रकार इनके अन्दर एक दूसरे को काटने की प्रवृत्ति होगी अथवा ख की मांग पर अत्यल्प प्रभाव डालेंगे, जो किसी भी दिशा में जा सकता है। परन्तु ख अगर एक घटिया माल है, तो इसकी मांग निश्चित रूप से संकुचित होगी, यद्यपि स्यात् थोड़ी ही।

४. ख, क के लिए अत्यधिक प्रतिस्थापनीय हो। इस स्थिति में प्रति-स्थापन-प्रभाव निश्चित रूप से प्रमुख होगा और ख की मांग अवश्य कम होगी। यहां चरम स्थिति वह है जिसमें क और ख पूर्ण रूप में प्रतिस्थापन हैं, दूसरे शब्दों में जब क के अनुकूल प्रतिस्थापन से मुद्रा के लिए ख की सीमान्त-प्रतिस्थापन दर ठीक उसी अनुपात में कम होती है जिस अनुपात में (मुद्रा के लिए) क की सीमान्त प्रतिस्थापन दर कम होती है। जब उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने वाले माध्यम के रूप में, दो वस्तुओं में अन्तर नहीं कर सके, चाहे वे स्थूल रूप से अन्तर करने योग्य हों अथवा नहीं, तो सामान्यतया यही घटित होगा। यदि ख, क के लिए पूर्ण प्रतिस्थापन है और ख की कीमत में बिना कमी के क की कीमत गिरती है तो ख की मांग अवश्य गिरकर शून्य हो जायगी। पूर्ण-प्रतिस्थापन की दशा का संबंध उत्क्रमणीय है; यदि क के लिए ख पूर्ण प्रतिस्थापन है तो ख के लिए क भी पूर्ण प्रतिस्थापन अवश्य ही होगा।

इस विभाजन के उपसंहार के लिए हम पूछ सकते हैं कि किन स्थितियों में क की कीमत में कमी का प्रभाव ख की मांग पर नहीं पड़ता। स्पष्ट है कि ऐसा तब होगा जब ख की मांग पर आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव दोनों या तो नगण्य (न्यूनतम से भी कम) हों; अथवा, यदि वे पृथक पृथक लेने पर नगण्य नहीं हैं तो विपरीत दिशाओं में हैं और उनका अन्तर नगण्य है। निःसन्देह बहुत सी वस्तुएँ प्रथम विभाजन के अन्तर्गत आती हैं जिन्हें अर्थशास्त्रियों ने किसी विशिष्ट वस्तु क से स्वतन्त्र माना है, क्योंकि वे ऐसा कोई संकेत प्रकट नहीं करतीं जिससे यह ज्ञात हो कि क की कीमत के परिवर्तन से उनकी मांग प्रभावित होती है; क की कीमत उन्हें किसी प्रकार प्रभावित नहीं करती। परन्तु इस भावना का कोई विरोध नहीं कर सकता कि काफी वस्तुएँ दूसरे विभाजन के अन्तर्गत भी आती हैं। यह विश्वास करना कठिन है कि वस्तुओं के अनुकूल सभी प्रतिस्थापन निकट-प्रतिस्थापनों की मात्रा को घटाकर होते हैं। ऐसा लगता है कि कुछ कुछ प्रति-स्थापन्नता निश्चित रूप से वर्तमान रहती है, जो आय प्रभाव के द्वारा प्रतिकार हो जाने के कारण स्पष्ट नहीं हो पाती।

(६) उपभोक्ता के वजट में संपूरक और प्रतिस्थापन्न मालों से संबंधित हमारा सिद्धान्त यही है। मेरे विचार से यह प्रदर्शित किया गया है कि यह एक संगत और यथार्थ सिद्धान्त है। परन्तु यह प्रदर्शित करना अभी बाकी है कि यह एक उपयोगी सिद्धान्त भी है: इसके अन्तर्गत लिया गया विभाजन एक महत्वपूर्ण विभाजन है, जिसे विविध समस्याओं में उपयोगी ढंग से प्रत्युक्त किया जा सकता है। इस पुस्तकके शेष भाग में हमारा यही कार्य होगा; एक या दो ऐसी प्रारम्भिक बातें हैं, जिनका विवरण यहां दिया जा सकता है।

सर्वप्रथम, यह ज्ञातव्य है कि ख की मांगपर क की कीमत परिवर्तन के प्रभाव विषयक जिन सिद्धान्तों को हमने प्रतिपादित किया है वे बाजार-मांग के प्रति वैसे ही प्रयोगनीय हैं जैसे व्यक्तिगत उपभोक्ता की मांग के प्रति उपभोक्ताओं के एक समूह द्वारा की गई ख को मांग पर पड़ने वाला प्रभाव का आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव में विभाजनीय है। यह संभव है कि क और ख कुछ व्यक्तियों के लिए सम्पूरक हों और कुछ के लिए प्रतिस्थापन। ऐसा होने पर, अगर क की कीमत गिरने पर कुल प्रतिस्थापन प्रभाव ख की मांग को बढ़ा दे तो हम उन दोनों को सम्पूर्ण समूह के लिए सम्पूरक मान सकते हैं; और प्रतिकूल स्थिति में सम्पूर्ण समूह के लिए प्रतिस्थापन मान सकते हैं। समूह के लिए भी सम्पूरकता की उत्क्रमणीयता ठीक उतरती है; यदि क के साथ ख सम्पूरक है तो ख के साथ क भी सम्पूरक होगा;

यदि क के लिए ख प्रतिस्थापन है तो ख के लिए क भी प्रतिस्थापन होगा।[१]

हमारी परिभाषा की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है जो इसे प्रयोग के लिये सुविधाजनक बनाती है। दूसरी उस सिद्धान्त से निकलती है जिसका प्रतिपादन हमने पिछले अध्याय में किया है और जिसे इस अध्याय में विस्तृत रूप से प्रयुक्त किया गया है : जब वस्तुओं के किसी समूह की सापेक्ष कीमतें अपरिवर्तित मानी जाती हैं तो उन्हें एक वस्तु-समान माना जा सकता है।

हम देख चुके हैं कि क जब एक अकेली भौतिक वस्तु हो और अन्य उपभोग्य वस्तुएँ उपर्युक्त अर्थ में एक अकेली वस्तु के रूप में मान ली जायं तो अन्य कीमतों की अपेक्षा क की कीमत में कमी के कारण अन्य वस्तुओं के विरुद्ध और क के अनुकूल प्रतिस्थापन होगा। (वास्तव में इससे आय-प्रभाव की भी उत्पत्ति होगी, परन्तु अभी हम उसे अलग ही रखेंगे।) इस प्रतिस्थापन-प्रभाव के परिणामस्वरूप अन्य वस्तुओं की मांग घट जाती है; दूसरे शब्दों में, सभी वस्तुओं को एक साथ लेने पर उन पर किया गया व्यय कम हो जाता है (यद्यपि जैसा कि हम देख चुके हैं, इन वस्तुओं पर व्यय का पुनर्विन्यास ऐसा हो सकता है कि व्यक्तिगत रूप से उनमें से कुछ के ऊपर व्यय बढ़ जाय)।

अब हम इस विचारधारा को और आगे बढ़ाएंगे। क के अनुकूल और अन्य वस्तुओं के प्रतिकूल प्रतिस्थापन इसलिए होता है कि अन्य कीमतों (जिनमें परस्पर समान-अनुपात पूर्ववत विद्यमान है) की अपेक्षा क की कीमत कम हो गयी है। यदि क की कीमत न बदले और अन्य सभी वस्तुओं की कीमतें बदल जायें, परन्तु एक ही अनुपात में बदलें जिससे कि सुगमता से इन सभी वस्तुओं को मिलाकर अब भी एकीकरण माना जा सके तो फलस्वरूप ऊपर जैसी वस्तु-स्थिति होगी और उसी प्रकार का प्रतिस्थापन प्रभाव होगा। इससे हमें यह कहने का संकेत मिलता है कि किसी समूह की प्रत्येक वस्तु की कीमत में (एक ही अनुपात में) कमी होने के कारण सम्पूर्ण समूह के अनुकूल प्रतिस्थापन को प्रेरणा मिलेगी। यह आगमन पूर्ण रूप से न्यायसंगत है।

आगे चल कर हम यह देखेंगे कि यह साध्य स्पष्टतः एक उपयोगी साध्य है; परन्तु इसकी सीमाओं को ठीक-ठीक समझ लेना महत्वपूर्ण है अर्थात् यह समझ लेना कि इसका क्या अर्थ नहीं लगाना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समूह में प्रत्येक वस्तु को पृथक् पृथक् लेने पर प्रतिस्थापन्न-प्रभाव अनुकूल ही होना चाहिए, ताकि (आय-प्रभाव के अतिरिक्त) पृथक पृथक प्रत्येक वस्तु की मांग अवश्य बढ़े। यह सर्वदा संभव है कि समूह की कुछ वस्तुओं की मांग कम हो जाय,

क्योंकि समूह की अन्य वस्तुओं द्वारा वे प्रतिस्थापित कर दी जाती हैं। फिर आय-प्रभाव को भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए । उस स्थिति में जब कि समूह एक बड़ा समूह है जिसका अर्थ यह होगा कि उपभोक्ता अपनी आय का पर्याप्त भाग इस समूह पर व्यय करता है, आय-प्रभाव भी अधिक होगा। परन्तु किसी बड़े समूह के लिए नकारात्मक आय-प्रभाव संभावित नहीं है; यह संभव नहीं लगता कि आय के बढ़ने पर उपभोक्ता वस्तुओं के सम्पूर्ण बड़े समूह पर कम मुद्रा का व्यय करेगा। फलतः जहां तक स्वयं समूह की मांग का प्रश्न है, हमें इस बात की आशा करनी चाहिए कि आय-प्रभाव उसी दिशा में होगा जिस दिशा में प्रतिस्थापन-प्रभाव ।

(७) एक महत्वपूर्ण साध्य का जो संभवतः मांग के सिद्धान्त का अन्तिम साधारणीकरण है, उल्लेख (इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में जिस पर ध्यान नहीं दिया जा सका) और शेष रह जाता है क्योंकि इसका सम्बन्ध किसी विशिष्ट कीमत परिवर्तन से न होकर उपभोक्ता के सम्मुख विद्यमान कीमत निकाय के किसी भी परिवर्तन से है । इस प्रकार के किसी भी कीमत परिवर्तन से आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव पैदा होंगे, आय-प्रभाव के विषय में सामान्य रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्रतिस्थापन प्रभाव के विषय में सामान्य रूप से कुछ तो अवश्य ही कहा जा सकता है। प्रतिस्थापन-प्रभाव का संबंध सापेक्ष कीमतों के परिवर्तन से है; हम ऐसे प्रभाव को अलग कर सकते हैं यदि हम कीमतों के ऐसे परिवर्तनों का विचार करें जो उपभोक्ता को उसी अनधिमान स्तर पर छोड़ते हैं, बशर्ते अन्य सभी कीमत परिवर्तनोंको हम समानुपातिक कीमत-परिवर्तन के रूप में लेवें, जिसका अर्थ होगा वास्तविक आय में परिवर्तन और जिसके फल-स्वरूप यह परिवर्तन शुद्ध-आय-प्रभाव को मूर्त करेंगे।

जब हम कीमतों के ऐसे परिवर्तन पर विचार करते हैं जो उपभोक्ता को उसी अनधिमान स्तर पर छोड़ देता है, तो हम यह सदैव कह सकते हैं कि पुरानी कीमतों के पदों में व्यय किए गए मालों के नए समूह का मूल्य मालों के पुराने समूह के मूल्य की अपेक्षा अधिक होगा । क्योंकि इस अनधिमान स्तर पर पुराना समूह ही मालों का ऐसा समूह था जो उसे पुरानी कीमतों पर प्राप्य था। वैसे ही नई कीमतों के पदों में मालों के पुराने समूह का मूल्य मालों के नए समूह के मूल्य की अपेक्षा अधिक होगा ।

इन असमानताओं में पहली असमानता से ही यह पता चलता है कि (चिन्हों की ओर उपयुक्त ध्यान देते हुए) क्रय की गई मात्रा में वृद्धि का योग, पुरानी

कीमतों पर मूल्य आंकने पर, अवश्य ही धनात्मक होगा। दूसरी असमानता से यह पता चलता है कि उसी वृद्धि का योग, नई कीमत के आधार पर मूल्य आंकने पर अवश्य ही ऋणात्मक होगा। ये दोनों ही कथन तभी परस्पर संगत होंगे यदि वृद्धियों का योग प्रत्येक दशा में संगत कीमत की वृद्धि के आधार पर मूल्य आंकने पर ऋणात्मक हो। और इसी भाव से हमें यह समझना चाहिए कि कीमतों के अति सामान्य परिवर्तन वस्तुओं की मांग में विपरीत दिशा में परिवर्तन लाते हैं। इस बातपर बल देना आवश्यक है कि यह प्रतिस्थापन-प्रभावों के प्रति ही लागू होता है; यदि वास्तविक आय में कोई परिवर्तन होता है (अथवा यदि उपभोक्ताओं के एक समूह की पृष्ठभूमि में वास्तविक आय के वितरण में कोई परिवर्तन होता है) तो आय-प्रभाव पर भी विचार करना पड़ेगा और यह व्याख्या तत्संबंधी विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर करनी पड़ेगी।[१०]

---

१. एजवर्थ, पेपर्स खण्ड १ पृष्ठ ११७, पेरेटो, मैनुएल. पृष्ठ २६८

२. दिए गए उपयोगिता-फलन के साथ आंशिक अवकलन का क्रम महत्वहीन हो जाता है।

३. रेखा चित्र १२ में मोड़ के पास क में थोड़ी वृद्धि से यदि ख में वृद्धि साथ ही साथ न हो—किञ्चित ही लाभ होगा। रेखाचित्र १३ में क की मात्रा में वृद्धि के साथ ख की पर्याप्त मात्रा घटेगी, फिर भी यह लाभकर स्थिति हो सकती है।

४. देखिए गणितात्मक परिशिष्ट §५

५. क और ख के अतिरिक्त और वस्तुओं की कीमतें दी हुई मानिए और उस स्थिति से प्रारम्भ कीजिए जहां उपभोक्ता के पास क, ख और मुद्रा (जिसमें हमारी रुचि है) की एक निश्चित मात्रा है। म को मुद्रा की वह अधिकतम मात्रा मानिए जिसे उपभोक्ता क और ख की अतिरिक्त मात्राएँ छ और ज को प्राप्त करने हेतु देने को तैयार होगा। म तब छ और ज और छ का फलन है, और छ एवं ज के प्रति म के आंशिक अवकलन का क्रम पूर्ववत् नगण्य है।

६. अनधिमान वक्र पर प′ से फ की ओर गतिशीलता दाहिनी तरफ नीचे की ओर है। (अध्याय-२-रेखाचित्र ८ देखिए)

७. दूसरे दृष्टिकोण से अन्य वस्तुओं की संयुक्त मांग क की मांग की लोच इकाई से कम या अधिक होने पर, क्रमशः बढ़ेगी अथवा घटेगी।

८. मांग के सामान्य नियम के अपवाद की तुलना करें, जब क की कीमत में कमी के कारण इसकी मांग में कमी हो जाती है।

९. ध्यान देने की बात यह है कि केवल प्रतिस्थापन प्रभाव ही विपर्ययी है। यदि ख की कीमत में कमी के कारण ग की मांग बढ़ती है तो आवश्यक रूप से इसका तात्पर्य यह नहीं

होगा कि ग की कीमत में कमी के कारण ख की मांग बढ़ जायगी। जो भी हो, यदि ग की मांग पर ख की कीमत का प्रभाव कुछ भी अधिक हो, तो इस प्रकार का सम्बन्ध पाने की आशा हमें होनी चाहिए।

१०. आगे चलकर हमें इस अन्तिम वर्ग के तर्क वितर्क के प्रयोग की आवश्यकता प्रायः नहीं होगी। इसके कुछ परिणाम जो इस पुस्तक में सामान्य रूप से अनुसृत दिशाओं से भिन्न दिशा की ओर ले जाते हैं—अतिरिक्त टिप्पणी—अ में विवेचित किये गए हैं।

भाग २

सामान्य संस्थिति

दृश्य पर एक नया भेदने वाला प्रकाश पड़ता है जो मनुष्यों और चीजों को विलक्षण रूप से पारदर्शक बना देता है और संपूर्ण मानवता तथा जीव-जगत के जीवन-ढांचे और गति को एक समान प्रदर्शित करता है।

(द डाइनेस्ट्स)

अध्याय ४

विनिमय की सामान्य संस्थिति

(१) अब हम उपभोक्ता की मांग के नियम का पूर्ण स्पष्टीकरण कर चुके हैं। साधारण दृष्टिकोण से मालूम करें कि हमारी क्या उपलब्धि हुई है। सर्वप्रथम, व्यक्ति की आवश्यकतायें दी हुई हैं, इस मान्यता के लिए ठीक अर्थ को हमने प्राप्त कर लिया है ; इसका तात्पर्य यह होना चाहिए कि उसकी अधिमान्यताओं का मापदण्ड दिया हुआ है। उसके बाद हम यह भी पता लगा चुके हैं कि किस तरह एक व्यक्ति दिए हुए अधिमान्यताओं के मापदण्ड और दी हुई वस्तुओं की पूर्ति के साथ, उन वस्तुओं का अन्य वस्तुओं से विनिमय करना चाहेगा जबकि दोनों वस्तु-समूहों की (वस्तुएँ जो वह देता है और वे जो वह प्राप्त करता है) कीमतें दी हुई हैं। आगे, हम यह देख चुके हैं कि कीमतों के परिवर्तन से खरीदने और बेचने के ये निर्णय (ये मांगें और पूर्तियां) किस तरह प्रभावित होते हैं। अन्त में, हमने इन मांग और पूर्ति के नियमों का समष्टीकरण किया है जिससे कि वे अकेले व्यक्तियों की जगह व्यक्तियों के समूहों के प्रति लागू हो सकें। यह मान कर कि समूह के प्रत्येक सदस्य की अधिमान्यताओं का मापदण्ड निश्चित रहता है, हम यह खोज चुके हैं कि कीमतों में परिवर्तन होने पर व्यक्तियों के किसी समूह की कुल मांग और पूर्ति की कैसी प्रतिक्रिया होगी।

विवेचना के विस्तार के साथ साथ हमने तात्कालिक-व्यक्तिगत-आवश्यकताओं पर अपनी आय का व्यय करने वाले सामान्य उपभोक्ता के प्रति अपने विश्लेषण के सर्वाधिक उपयुक्त प्रयोग को प्रायः ध्यान में रखा है। निश्चय ही यही विषय मार्शल के —जिनकी हमने इतनी टीका टिप्पणी की है—मस्तिष्क में लगभग पूर्णरूप से विद्यमान था। परन्तु यही एक ऐसा विषय नहीं है जिसके प्रति यह विश्लेषण लागू होती हो। (वास्तव में अगर ऐसा ही हुआ होता तो मुझे संदेह है कि इसको शुद्धता की इस हद तक ले आना उपयोगी होता।)

यह आवश्यक नहीं है कि क्रय और विक्रय की गई वस्तुएँ उपभोग-माल हों; और न यह आवश्यक है कि वे सभी केवल उपयोग-माल ही हों। आवश्यक इतना ही है कि वे इच्छित पदार्थ हों, जो खरीदे और बेचे जा सकें और जिन्हें अधिमान्यता (एक अनधिमान निकाय) के—जो स्वयमेव कीमतों से स्वतंत्र है—क्रय में संजोया जा सके।

अतः उपभोग-मालों की मांग के साथ ही साथ श्रम-सेवाओं की पूर्ति को भी इसमें लिया गया है। जैसा कि हम देख आए हैं ऐसे मजदूरी-उपार्जक (या, वेतन-उपार्जक) की कल्पना हो सकती है जो आय अर्जित करने के एक तरीके को अन्य तरीकों की तुलना में चुनता है, क्योंकि वह कार्य की एक मात्रा के फलस्वरूप प्राप्त आय को कार्य की किसी अन्य मात्रा से प्राप्त दूसरी आय की अपेक्षा वरीयता देता है। (१) जैसा कि विकस्टीड ने ठीक ही बतलाया है (२) इनमें उन वस्तुओं का क्रय-विक्रय भी सम्मिलित किया गया है—जो व्यक्ति विशेष की आवश्यकताओं को संतुष्ट नहीं करता हो, परन्तु जिनसे अन्य लोगों की आवश्यकताओं, अथवा, कोई मान ली गई आवश्यकताओं की संतुष्टि होती हो। परन्तु इतने ही से संभावित विस्तार समाप्त नहीं हो जाता—यह तब स्पष्ट हो जाता है जब हम यह विचार करते हैं कि वह क्या है जो हमारे मापदंड से वहिष्कृत है।

यह उपभोग मालों के क्षेत्र में भी एक विषय को बहिष्कृत कर देता है। यह पाठ्यग्रंथों को प्रिय वेबलेनेस्क्यू का उदाहरण है जहां कीमत में कमी होने के कारण प्रदर्शनात्मक व्ययवाली वस्तु (हीरे) की मांग कम हो सकती है, क्योंकि, हीरे की इच्छा (मुद्रा के लिये हीरे की एक दी गई मात्रा की सीमान्त-प्रतिस्थापन दर) उसकी कीमत पर आधारित होती है और कीमत गिरने के साथ कम हो जाती है। परन्तु महत्वपूर्ण बहिष्कृतों की तुलना में यह एक छोटी बात है।

एक तो उत्पादकों की मालों की मांग और पूर्ति है। किसी उत्पादक के लिए उत्पादन का कोई कारक सामान्यतः कोई ऐसी चीज नहीं है जिसका स्थान उसकी अपनी अधिमान्यताओं के मापदण्ड पर हो। इसके लिए उसकी मांग एक व्युत्पन्न मांग है जो इससे उत्पादित वस्तु की कीमत पर आधारित है। वह अपनी उत्पादित वस्तु को बेचना चाहता है और तब विक्रय से प्राप्त धन से अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करना चाहता है ; उत्पादित वस्तु की कीमत विषयक किसी सूचना के बिना वह नहीं बतला सकता कि उत्पादन-कारक की किसी इकाई के लिए वह कितना दे सकेगा। यह उसे आर्थिक वरण की समस्या का एक अंग है, जो हमारी पहली विवेचना में बिल्कुल छोड़ दिया गया है। इस भाग के आगे आने वाले अध्यायों

में हम इस पर ध्यान देंगे ।

दूसरा मामला, जो अलग कर दिया गया है, वह सटोरी-मांग का है । यह पाठ्य ग्रंथों में वर्णित एक और परिचित विषय है कि कीमत में कमी होने पर मांग न बढ़े, या हो सकता है घट भी जाय, क्योंकि इसके कारण कीमत के और अधिक गिरने की प्रत्याशा उत्पन्न होती है । यहां पर प्रत्याशाओं के माध्यम से होने वाली प्रतिक्रिया के कारण मुद्रा के लिए वस्तु की सीमान्त प्रतिस्थापन दर कीमतों पर निर्भर नहीं रह जाती । हम बाद में (चौथे भाग में) देखेंगे कि प्रत्याशाओं के माध्यम से किस तरह महत्वपूर्ण प्रतिक्रियायें हो सकती हैं ।

यहां पर केवल एक उदाहरण दिया जा सकता है । एक व्यापक अर्थ में स्वयं मुद्रा (३) की मांग अनिवार्यतः और हमेशा सटोरी है । मुद्रा की स्वयं अपने ही निमित्त कोई मांग नहीं होती है । उसकी मांग केवल इसलिए की जाती है कि वह भविष्य में क्रय करने का साधन है । अतः भविष्य संबंधी प्रत्याशाओं से इसका प्रभावित होना सदैव संभाव्य है । मुद्रा के प्रत्येक सिद्धान्त को इस तथ्य को किसी न किसी प्रकार से सदैव ध्यान में रखना पड़ा है ।

उत्पादन और सट्टा , ये दो महत्वपूर्ण बहिष्कृत हैं । ये आगे के कई अध्यायों में हमारे विचार के विषय बने रहेंगे ।

किन्तु ध्यान रहे कि वे वहीं तक बहिष्कृत हैं जहां तक व्यक्ति की अधिमान्यताओं के मापदण्ड के प्रति कीमतों की प्रतिक्रिया का संबंध है । किसी भी समस्या का ,जिसमें ऐसी प्रतिक्रिया निहित नहीं है, हमारी वर्तमान प्रविधि द्वारा अध्ययन किया जा सकता है ।

(२) इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमें अपने उपभोक्ता-वरण-सिद्धान्त से चलकर विनिमय-सिद्धान्त के उपयोगी प्रारंभिक सर्वेक्षण में प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहन मिलता है ।

हम मान लें कि हमें एक ऐसे संसार से व्यवहार करना है जहां विनिमय के एकमात्र पदार्थ, व्यक्तिगत सेवाएँ हैं । इन सेवाओं के लिए की गई मांग पूर्व अध्यायों में प्रतिपादित नियमों से अधिशासित होगी ; ऐसा ही पूर्ति का होगा । उत्पादन और सट्टे की संपूर्ण जटिलताओं को छोड़ दिया गया है । यदि हम इस प्रकार के आर्थिक निकाय की स्पष्ट रूप रेखा प्राप्त कर सकें तब भी हम निश्चय ही वास्तविक जगत् के यथार्थ मॉडल से बहुत दूर रहेंगे ; किन्तु हम एक ऐसा आधार पा लेंगे जिसके ऊपर निर्माण करना संभव होगा और जो स्वयंमेव कुछ निश्चित उद्देश्यों के लिए उपादेय होगा ।

उत्पादन से पहले विनिमय के सामान्य सिद्धान्त की व्याख्या करने का निश्चय करके हम मार्शल की अपेक्षा वालरा के पदचिह्नों पर चल रहे हैं। सामान्य विनिमय-संस्थिति के सिद्धान्त के उस रूप का, जिसका हम अभी तक अध्ययन करते हैं, प्रतिपादन वालरा ने ही किया था।[४] जैसा कि हमें मूल्य के सिद्धान्त पर पैरेटो के कार्य को आगे बढ़ाने से पहले उसका संक्षिप्तकरण करना पड़ा था, उसी तरह अब हम बालरा के कुछ कार्य का संक्षिप्तीकरण करेंगे।

आइए, हम एक सरल उदाहरण से प्रारंभ करें जिसमें केवल दो तरह की सेवाएं हैं—केवल दो तरह के मालों का विनिमय होना है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति या तो केवल 'क' का एक क्रेता और 'ख' का विक्रेता है, या 'ख' का क्रेता और 'क' का विक्रेता। जहां तक हम पूर्ण प्रतिस्पर्धा की कल्पना करते हैं, यह उदाहरण बिल्कुल कठिनाई प्रस्तुत नहीं करता। एक कीमत-अनुपात स्थापित करना होता है और वह है'क' का 'ख' से कीमत-अनुपात। एक शर्त इसे स्थापित करने के लिए प्राप्त है—यह कि 'क' की मांग को इसकी पूर्ति के बराबर होना चाहिए। (यदि 'क' की मांग उसकी पूर्ति के बराबर है तो गणित के अनुसार इसका तात्पर्य है कि 'ख' की मांग उसकी पूर्ति के बराबर है।) हमारी पहले की खोजों ने यह दिखा दिया है कि कीमत-अनुपात दिया होने पर किस तरह 'क' की मांग और पूर्ति निर्धारित होगी। बाजार की संस्थिति के लिए केवल कीमत-अनुपात का उस स्तर पर निश्चित होना अनिवार्य है जहां मांग और पूर्ति बराबर होते हैं।[५]

यह एक सर्व परिचित बात है ; किन्तु जब हम तर्क को आगे ऐसे मामलों तक बढ़ाते हैं जहां दो से अधिक वस्तुएँ संबंधित हैं, कुछ नए प्रश्न उभर आते हैं, जो कि अपेक्षाकृत कम स्पष्ट हैं, यथा, कितनी कीमतों को निर्धारित करना है ? दो मालों के विनिमय के लिए हमें एक कीमत निर्धारित करनी है; तीन मालों के विनिमय के लिए हमें दो कीमतें निश्चित करनी हैं, और इसी तरह आगे भी मालों की संख्या से सदैव एक कम। यह तुरंत ही देखा जा सकता है यदि हम 'न' वस्तुओं में से एक को मूल्य के आधार के रूप में चुनें ; तब न—१ कीमतें शेष न—१ मालों की उस आधार वस्तु के रूप में कीमतें हैं। अवश्य ही अन्य वस्तुओं का बिना आधार वस्तु के सहारे सीधे विनिमय द्वारा विनिमय किया जा सकता है ; किन्तु संस्थिति की दशा में किन्हीं भी दो वस्तुओं की विनिमय-दर को सदैव आधार-वस्तु के पदों में आंकी उनकी कीमतों के अनुपात के बराबर होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो कोई न कोई पक्ष प्रत्यक्ष विनिमय त्याग कर और सौदे को दो भागों में विभक्त कर सदैव अपने को लाभान्वित करने में समर्थ हो सकता है : पहले तो एक वस्तु का

आधार वस्तु से विनिमय करके और तब आधार वस्तु का दूसरी वस्तु से ।

बहुमुखी विनिमय पर विचार करते समय हम इसे सुविधाजनक पायेंगे कि हम सदैव किसी एक वस्तु को मूल्य के मान के रूप में लें ।[६] यहां तक इस वस्तु में मुद्रा के कुछ गुण निहित हैं । किन्तु यह मानना अनिवार्य नहीं है कि हमारे व्यापारी वास्तव में आधार वस्तु को मुद्रा के रूप में प्रयोग करते हैं ; वे ऐसा कर भी सकते हैं, और नहीं भी । अगर कुछ उद्देश्यों के लिए, हम आधार-वस्तु को मुद्रा मान लें, तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होना चाहिए कि अभी तक इसे निम्नांकित गुणों के अतिरिक्त अन्य मुद्रा-गुणों से युक्त नहीं किया गया है—एक तो यह कि वह एक ईप्सित वस्तु है और दूसरे यह कि वह मूल्य के मान के रूप में प्रयुक्त होती है । बाद में हम अपनी आधार-वस्तु को अन्य गुणों से युक्त करने में समर्थ होंगे जिससे हम इसे वास्तव में यथार्थ मौद्रिक समस्याओं के विश्लेषण करने के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं । इस समय तो यह वहुत कुछ छाया सदृश है । किन्तु हम देखेंगे कि अपने विश्लेषण की प्रारंभिक अवस्था में किसी भी मुद्रा के विल्कुल न रखने की अपेक्षा, छाया-मुद्रा का रखना काफी उपयोगी है ; क्योंकि तव हम शीघ्र ऐसे परिणाम निकालने में समर्थ हो सकेंगे जिनके एक मौद्रिक अर्थव्यवस्था में सही होने की काफी आशा होगी, यद्यपि वे पूर्णरूपेण सत्य नहीं हैं ।

अस्तु, इस समय हम केवल यह मानेंगे कि हमारी आधार-वस्तु, किसी भी अन्य वस्तु की तरह, एक सामान्य व्यक्ति की अधिमान्यताओं के मापदण्ड पर साधारण स्थान रखने वाली एक वास्तविक वस्तु है । यह आवश्यकता नहीं है कि जो व्यक्ति आधार-वस्तु की पूर्ति के साथ बाजार आते हैं वे अनिवार्यतः अपनी पूरी पूर्ति को व्यय करने के लिए तत्पर हों । यदि उसकी कुछ मात्रा सुरक्षित रखने के लिए कीमतें अनुकूल हैं तो वे ऐसा निर्णय कर सकते हैं ।

(३) यदि कीमतों की एक निर्धारित सूची दी हुई हो तो हम यह जानते हैं कि किस प्रकार किसी व्यक्ति की विशिष्ट स्थिति निश्चित की जा सकती है । इससे यह ज्ञात होता है कि जो वस्तुएँ उसके पास नहीं हैं उनके लिए उसकी मांग कितनी मात्रा में होगी तथा जो वस्तुएं उसके पास हैं उनकी कितनी मात्रा वह देने को उद्यत होगा । जोड़ द्वारा ही हम प्रत्येक वस्तु की मांग व पूर्ति निर्धारित कर सकते हैं । अगर कीमत-निकाय ऐसा है कि जिससे यह मांगें और पूर्तियां बराबर हो जायें तो यह संस्थिति की स्थिति है । यदि ऐसा नहीं है तो कम से कम कुछ कीमतें गिरेंगी या चढ़ेंगी ।

वाल्रा ने यह प्रदर्शित किया था कि यह हल निर्णीत होगा, यदि समीकरणों

की संख्या अज्ञातों की संख्या के बराबर हो। अगर 'न' प्रकार की वस्तुओं का विनिमय किया जा रहा है तो यह बताता है कि हमें न–१ कीमतों का निर्धारण करना है। पहले तो यह प्रतीत हो सकता है कि उन्हें निर्धारित करने के लिए 'न' समीकरण हैं---बाजार में न वस्तुओं के लिए मांग और पूर्ति समीकरण। परन्तु बात यह नहीं है। यह याद होगा कि दो वस्तुओं के लिए हमारे पास केवल एक मांग और पूर्ति समीकरण था। चाहे कितनी भी वस्तुएँ हों, समीकरणों की संख्या वस्तुओं की संख्या से सदैव एक कम होती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि बाजार में आधार-वस्तु की मांग और पूर्ति का समीकरण शेष समीकरणों से प्राप्त किया जा सकता है। किसी व्यक्ति विशेष द्वारा यह निश्चय कर लेने पर कि प्रत्येक अन-आधार-वस्तु की कितनी मात्रा वह बेचेगा या खरीदेगा तो यह स्वयमेव निर्धारित हो जायेगा कि वह आधार वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगा या बेचेगा।[७] इस प्रकार—

आधार-वस्तु की मांग = अन्य वस्तुओं की बिक्री से उपलब्धि
—अन्य वस्तुओं केक्रय पर व्यय

अथवा

आधार वस्तु की पूर्ति = अन्य वस्तुओं के क्रय पर व्यय---अन्य वस्तुओं की बिक्री से उपलब्धि

अतः, पूर्ण समाज के लिए,

आधार-वस्तु की मांग—उसकी पूर्ति = अन्य वस्तुओं की बिक्री से कुल उपलब्धि
—अन्य वस्तुओं के क्रय पर कुल व्यय।

और यदि प्रत्येक अन-आधार-वस्तु की मांग तथा पूर्ति बराबर हो जाय तो उक्त अंतर शून्य के बराबर होना चाहिए।

इस प्रकार न—१ स्वतंत्र कीमतों के निर्धारित करने के लिए न—१ स्वतंत्र समीकरण हैं।

(४) यहां तक यह काफी संतोषजनक है; किन्तु इस सबका क्या महत्व है? कुछ व्यक्तियों के लिए (निःसन्देह वाल्रा के लिए भी) युगपत् समीकरण-निकाय, जो कि सम्पूर्ण कीमत-निकाय को निर्धारित करता है, अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। वे इस प्रकार के मार्मिक सहसंबद्ध कीमतों के निकाय के चिन्तन से अत्यन्त बौद्धिक संतोष प्राप्त करते हैं; और न केवल विनिमय के अर्थशास्त्र की वरन् उत्पत्ति के अर्थशास्त्र की भी व्याख्या करने के लिए जितने आगे तक यह विश्लेषण बढ़ाया जा सकता है (वास्तव में यह काफी आगे तक बढ़ाया जा सकता है) वे उतने ही अधिक प्रसन्न होते हैं और वे अनुभव करते हैं कि इस प्रकार वे स्पर्द्धी अर्थव्यवस्था के कार्य-

संचालन का पूर्णतर ज्ञान पा जाते हैं । मुझे स्वयं इस दृष्टिकोण के प्रति विशेष सहानुभूति है । मेरा विश्वास है कि वाल्रा के समीकरण-समूहों का केवल प्रसार मात्र से ही हम पर्याप्त ज्ञान-वृद्धि कर सकते हैं ; और इसलिए मैं इस पुस्तक के कई भागों में वाल्रा-रीति पर चलूंगा ; और मैं यह दिखाने की आशा करता हूँ कि कई नए क्षेत्र हैं जिन पर वे पुराने क्षेत्रों की अपेक्षा कुछ अधिक प्रकाश डालते हैं । भले ही वह रूपरेखा में ही हो, बाजारों के अन्तर्संबंध की रचना बता देना भी एक बड़ी लक्ष्य-प्राप्ति है । सिद्धान्त-संबंधी अनेक प्रश्न हैं जिनका तब तक संतोष-जनक समाधान नहीं किया जा सकता जब तक हम वाल्रा के साथ खड़े होकर समूचे कीमत-निकाय पर दृष्टि न डालें ।

इन गुणों के होते हुए भी यह स्पष्ट है कि अनेक अर्थशास्त्रियों ने (स्यात् अधिक-तम ने, और उन्होंने भी जिन्होंने वाल्रा का अध्ययन गंभीरतापूर्वक किया है) अंततो-गत्वा वाल्रा की रीति में कुछ निःसारता पाई है । वे कहेंगे कि यह सही है कि वाल्रा पूरे निकाय का एक चित्र प्रस्तुत करता है, परन्तु, यह एक बहुत दूर का चित्र है और इससे केवल इतना आश्वासन मिलता है कि किसी प्रकार समस्याओं का समा-धान हो जायगा । तथापि, यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि यह समाधान होगा कैसे ? दूसरे अर्थशास्त्री सैद्धान्तिक रूप से कम महत्वाकांक्षी हैं, परन्तु, वे कम से कम ऐसे निष्कर्षों को हमारे सामने रखते हैं जिनका व्यावहारिक समस्याओं के संबंध में उप-योग किया जा सकता है ।

मेरा विश्वास है कि वाल्रा के निकाय की इस निःसारता का कारण यह है कि उन्होंने अपने सामान्य-संस्थिति-निकाय से संबंधित परिवर्तनों के नियम नहीं निकाले । उन्होंने यह तो बताया कि दिए साधनों और अधिमान्यताओं के कारण निर्धारित कीमतों द्वारा किन शर्तों को पूरा किया जाय । परन्तु उन्होंने यह नहीं समझाया कि यदि रुचि या साधन बदल जायें तो क्या होगा ।

यह सही है कि दो वस्तुओं का सरल उदाहरण लेकर उनसे संबंधित पूर्ण विश्ले-षण वाल्रा ने दिया और यह लगभग वही विश्लेषण है जो मार्शल ने एक प्रयोग के संबंध में ('अपनी कृति 'प्योर थिअरी ऑव फॉरेन् ट्रेड' में') दिया है । परन्तु उसने सामान्य स्थिति की इस प्रकार की खोज नहीं की ।

मेरा विश्वास है कि हमें जो प्रविधि अब प्राप्त है उसकी सहायता से हम सामान्य स्थिति का ऐसा ही विश्लेषण कर सकते हैं और कम से कम कुछ निष्कर्षों तक पहुंच सकते हैं । यदि हम ऐसा कर सकें तो सामान्य-संस्थिति-रीति फलविहीनता के दोष से लगभग मुक्त हो जायगी । विनिमय-सिद्धान्त से आगे न जाकर भी हम एक

ऐसा निकाय प्राप्त कर लेंगे जिसका प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय-व्यापार के सामान्य-सिद्धान्त के संबंध में किया जा सकेगा, कम से कम उतना तो अवश्य जितना मार्शल ने अपने दो वस्तुओं के व्यापार संबंधी विशेष उदाहरण में किया है। इसके कुछ विशेष प्रयोग भी हो सकेंगे। और जब उत्पत्ति तथा सट्टे का पूरा विचार कर लेंगे तब अनेक महत्वपूर्ण द्वार अनावृत हो जायेंगे।

अध्याय ५

सामान्य संस्थिति निकाय की कार्य प्रणाली

(१) वैयक्तिक मांग-परिवर्तनों से संबंधित नियमों की भांति कीमत-निकाय-परिवर्तन के नियमों को भी स्थैतिक दशा की शर्तों से प्राप्त किया जा सकता है। हम पहले यह विचार करेंगे कि दिए हुए संस्थिति-निकाय की स्थिरता के लिए कौन सी शर्तें आवश्यक हैं। फिर हम एक व्यवस्था संबंधी परिकल्पना करेंगे कि संस्थिति बिंदु के आस पास की स्थितियां भी स्थिर हैं। तब हम रुचि एवं साधनों में परिवर्तनों के फलस्वरूप कीमत-निकाय की प्रतिक्रिया संबंधी नियमों का पता लगायेंगे।

विनिमय में स्थिरता का क्या अर्थ है ? संस्थिति की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि संस्थिति-बिन्दु से तनिक सा भी विचलन होने पर संस्थिति को पुनर्स्थापित करने वाली शक्तियां कार्यशील हो उठें। इसका तात्पर्य है कि संस्थिति-स्तर से ऊपर कीमत-वृद्धि के कारण ऐसी शक्तियों का उदय होना चाहिए जो कीमत में ह्रास ला सकें; जिसका तात्पर्य है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में कीमत-वृद्धि पूर्ति को मांग से अधिक कर देती है।[1] स्थिरता की शर्त यह है कि कीमत-वृद्धि पूर्ति को मांग से अधिक कर दे और कीमत-ह्रास मांग को पूर्ति से अधिक कर दे।

विनिमय-सिद्धान्त में, मात्र स्थिरता की दशाओं का वर्णन करने के अतिरिक्त उनसे परिवर्तन के नियम निर्गमित करना भी संभव है। क्योंकि विनिमय-सिद्धान्त मांग के सिद्धान्त पर आधारित है, अतः, यह खोज करना संभव है कि विनिमय की स्थिरता कहां तक मांग-सिद्धान्त, जो कि अध्याय-२ और ३ में प्रतिपादित किया गया है, के साथ सामंजस्य रखती है। इस तरह के नियंत्रण का प्रयोग करके हम कीमत-निकाय की कार्य-प्रणाली के संबंध में, जितना दूसरी तरह से संभव होता, उससे अपेक्षाकृत काफी अधिक सीख सकते हैं।

(२) आइए, हम दो वस्तुओं के साधारण विनिमय के साथ अध्ययन प्रारंभ करें। इसका अच्छी तरह से अध्ययन किया जा चुका है। अतः हम किन्हीं नए परिणामों

की आशा नहीं रख सकते; किन्तु, इस परिचित सिद्धान्त का अपने विश्लेषण के पदों में पुनर्कथन करके हम इसे इस रूप में रखने की आशा कर सकते हैं जो कि सामान्यीकृत किया जा सके ।

चित्र—१४
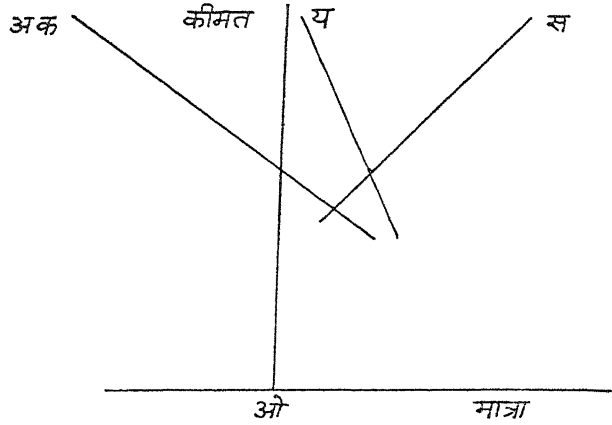
[ऊपर चित्र १४ में अक की जगह अ. म. (अतिरिक्त मांग) पढ़िए और य की जगह म (मांग) समझिए]

अगर केवल दो मालों ('क' और 'ख') का ही व्यापार हो रहा है तो संस्थिति की दशा यह है कि 'क' की मांग 'क' की पूर्ति के बराबर हो और स्थिरता की दशा यह है कि 'ख' के पदों में 'क' की कीमत की कमी, क की मांग को उसकी पूर्ति से अधिक कर देगी ।[२] हमें चाहिए कि किसी भी कीमत पर मांग और पूर्ति के अंतर को अतिरिक्त-मांग कहें । तब संस्थिति दशा के अनुसार अतिरिक्त-मांग शून्य होनी चाहिए ; और स्थिरता दशा यह है कि कीमत-ह्रास होने पर अतिरिक्त-मांग बढ़ेगी—अर्थात्, अतिरिक्त-मांग-रेखा (अगर हम इसे उस रूप में रखना चाहें) नीचे की तरह ढालू होनी चाहिए ।[3] रेखाचित्र (चित्र १४) से यह स्पष्ट है कि जब मांग-वक्र नीचे की ओर दाहिनी तरफ ढालू हो और पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर दाहिनी तरफ, तो अतिरिक्त-मांग वक्र को नीचे की ओर ढालू होना चाहिए । किन्तु, सामान्य रूप से कीमत-ह्रास के अतिरिक्त-मांग पर पड़ने वाले प्रभाव के संबंध में क्या कहा जा सकता है ?

जैसा कि हम देख चुके हैं,[४] मांग-प्रभाव और पूर्ति-प्रभाव दोनों आय-प्रभाव और

प्रतिस्थापन-प्रभाव के रूप में विश्लेषित किए जा सकते हैं ; अतः अतिरिक्त-मांग का भी इसी तरह विश्लेषण किया जा सकता है। कीमत-ह्रास एक प्रतिस्थापन-प्रभाव की स्थापना करता है जो मांग को बढ़ाता है और पूर्ति को घटाता है : अतः, इसे अतिरिक्त-मांग को बढ़ाना चाहिए। दूसरी ओर कीमत-ह्रास उन क्रेताओं द्वारा जो फलतः समृद्ध हो जाते हैं, और उन विक्रेताओं द्वारा, जो असमृद्ध हो जाते हैं, एक आय-प्रभाव की स्थापना करता है। जहां तक वस्तु किसी भी पक्ष के लिए घटिया नहीं है, इसका तात्पर्य यह है कि आय-प्रभाव की प्रवृत्ति मांग और पूर्ति बढ़ाने की होगी। इस प्रकार अतिरिक्त-मांग पर पड़ने वाले आय-प्रभाव की दिशा इस बात पर निर्भर करती है कि इनमें से कौन सी प्रवृत्ति अधिक शक्तिशाली है। यदि मांग-पक्ष पर आय-प्रभाव उतना ही शक्तिशाली है जितना कि पूर्ति पक्ष पर, तो अतिरिक्त-मांग पर आय-प्रभाव शून्य रह जायगा, और केवल प्रतिस्थापन प्रभाव बच रहेगा। इस मामले में अतिरिक्त मांग-वक्र नीचे की तरफ ढालू होना चाहिए; संस्थिति स्थिर होनी चाहिए ।

यह कहां तक संभव है कि आय-प्रभाव इस तरह से कट जायेंगे ? अगर क्रेता और विक्रेता समान व्यक्ति हैं और लगभग एक ही परिस्थिति वाले हैं तब यह अत्यंत संभव है कि आय-प्रभाव कट जायेंगे। क्योंकि, संस्थिति में पूर्ति मांग बराबर होती है; और इसलिए कीमत-ह्रास का प्रारंभिक प्रभाव (पूर्ति या मांग, में समायोजन होने के पहले) ख के पदों में ठीक बराबर मात्रा से क्रेताओं को समृद्ध बना देता है और विक्रेताओं को असमृद्ध। अतः, यदि क्रेता और विक्रेता आय-परिवर्तन के प्रति एक ही तरह की प्रतिक्रिया करते हैं तो क्रेताओं की तरफ से (आय-प्रभाव के कारण) बढ़ी हुई मांग विक्रेताओं की तरफ से (आय-प्रभाव के कारण) बढ़ी हुई पूर्ति के तुल्य हो जायगी। अतिरिक्त-मांग पर आय-प्रभाव कुछ नहीं होगा।

वास्तव में, यह एक सौभाग्य की बात होगी कि कार्य ठीक इस रूप में घटित हों। सामान्यतः, क्रेताओं और विक्रेताओं के मध्य आय के पुनर्वितरण के फलस्वरूप या तो अतिरिक्त-मांग में निवल वृद्धि होगी या निवल ह्रास। तब भी केवल उन स्थितियों को छोड़कर जब क्रेताओं के लिए 'क' एक घटिया माल हो, किन्तु, विक्रेताओं के लिए न हो (या विक्रेताओं के लिए घटिया हो, किन्तु क्रेताओं के लिए न हो) यह प्रवृत्ति होगी कि अतिरिक्त मांग शून्य हो जाय।[१] अतः विनिमय की स्थिरता की समस्याओं का अध्ययन करते हुए, यह मान कर चलना तर्क युक्त रीति होगी कि आय-प्रभाव कट जाते हैं : और तब हम यह खोज करें कि एक दिशा में या दूसरी में निवल आय-प्रभाव स्थिति में क्या अंतर लाते हैं।

अगर आय-प्रभाव समाप्त हो जाते हैं तो 'क' का 'ख' से विनिमय स्थिर होना चाहिए ; और यह तब भी स्थिर रहेगा अगर अतिरिक्त मांग पर आय-प्रभाव उसी दिशा में हों जिसमें प्रतिस्थापन-प्रभाव । अस्थिरता की एकमात्र संभव दशा तब होगी जब विपरीत दिशा में सशक्त आय-प्रभाव हों—अर्थात् 'क' के विक्रेताओं को, जब वे 'क' के क्रेताओं की अपेक्षा अधिक समृद्धि हो जायेंगे, 'क' की अधिक मात्रा उपभोग करने के लिए काफी अधिक उत्सुक हो जाना होगा ।[६]

चित्र—१५
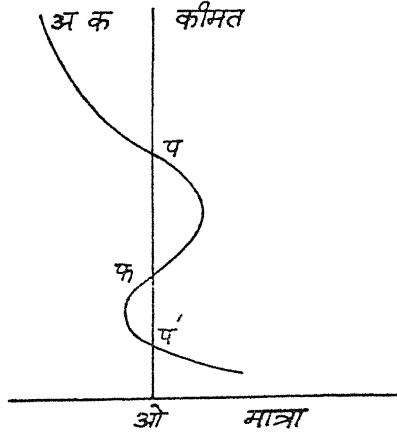
[ऊपर चित्र—१५ में अ० क० की जगह अ० म० (अतिरिक्त मांग) पढ़िए ।]

इस तरह की दशाओं में, संस्थिति अस्थिर रहेगी ; किन्तु एक अतिरिक्त-मांग वक्र, जिसने अस्थिर स्थितियां पैदा की (जैसे फ, चित्र १५) अब भी घुमाव लेने में समर्थ रहेगा और स्थिर स्थितियां पैदा कर सकेगा (जैसे, प और प') । इस तरह के मामलों में जिस तरह की कठिनाई आती है वह यह है कि स्थिर संस्थिति की एक से अधिक स्थितियां हो सकती हैं ।

यदि (जैसा कि चित्र १४ में है) स्थिर संस्थिति की केवल एक ही स्थिति है तो मांग और पूर्ति दशाओं के परिवर्तन का कीमत पर प्रभाव पूर्णरूप से साधारण है । व्यापार करने वाले किसी व्यक्ति की रुचियों में इस तरह का परिवर्तन, कि 'ख' के पदों में 'क' के एक दी हुई कीमत पर वह चाहता है कि अधिक 'क' खरीदे या कम 'क' बेचे, (इसमें यह निहित है कि वह ख को बेचना अधिक अथवा खरीदना कम चाहता है) 'क' की ख के पदों में कीमत बढ़ा देगा ('ख' की 'क' के पदों में

कीमत को कम कर देगा)। इस तरह के परिवर्तन के फलस्वरूप अतिरिक्त-मांग-वक्र दाहिनी तरफ हट जायेगा। यही नियम चित्र १५ में काम करता है—शर्त यह है कि हम स्थिर स्थिति से आरंभ करें; किन्तु यदि स्थिर स्थिति प की तरह स्थित है तो कीमत-वृद्धि तीव्र और असतत हो सकती है।

(३) अब हम बहुमुखी विनिमय (दो से अधिक वस्तुओं का विनिमय) पर आते हैं जहां कि हमें एकदम नई भूमि तैयार करनी है। बहुमुखी विनिमय में स्थिरता के पूरे प्रश्नपर, जहां तक मैं जानता हूँ, इससे पहले कभी विचार नहीं हुआ है, जो शोचनीय है; क्योंकि विषय के प्रारंभ में ही कुछ काफी रोचक व महत्व के प्रश्न उठते हैं।

बहुमुखी विनिमय में स्थिरता से हमारा तात्पर्य क्या है? स्पष्टतया, जैसा कि पहले था, 'क' का, आधारवस्तु के पदों में, कीमत ह्रास क की मांग को उसकी पूर्ति से अधिक कर देगा। किन्तु क्या हम यह मान लें कि यदि (अ) अन्य वस्तुओं की कीमतें दी हुई हैं, या, (ब) अन्य कीमतों में इस तरह से तालमेल किया जाता है जिससे अन्य बाजारों में संस्थिति कायम रहे तो इसका यही प्रभाव होगा? मेरे विचार से इस समस्या में वास्तव में सर्वाधिक महत्व का प्रश्न यह है कि जब सभी अन्य कीमतों में तालमेल किया जाता है तब क्या होता है। यदि, जब इसके सब प्रतिघात होने दिए जाते हैं, थोड़ी सी कीमत-वृद्धि पूर्ति को मांग से अधिक नहीं करती, तब संस्थिति की पुनर्स्थापित होने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती है। बाजार संस्थिति की तरफ जाने की अपेक्षा उससे दूर हटेगा। किन्तु, यदि मात्र पहली दशा ही पूरी नहीं होती[७] तो संस्थिति से दूर हटने की प्रवृत्ति अंत में (यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नहीं) नियंत्रित हो जायगी; यह केवल क के बाजार के कार्यक्रम से नहीं वरन् अन्य बाजारों के प्रतिघातों द्वारा नियंत्रित हो जायगी। यह समझना सरल है कि इस तरह के मामले में संस्थिति-कीमत-निकाय की स्थापना एक अधिक जटिल समस्या बन जाती है; किन्तु, ठीक बात कहें तो, यदि एक बार संस्थिति स्थापित हो जाय तो यह भी स्थिर संस्थिति होगी। संस्थिति से हट जाने पर ऐसी शक्तियां कार्यशील हो जायेंगी जिनकी प्रवृत्ति संस्थिति को पुनर्स्थापित करने की होगी।

मैं एक ऐसे निकाय को, जिसमें स्थिरता की सभी दशायें संतुष्ट होती हों, पूर्ण-स्थिर कहने का प्रस्ताव करता हूँ; और एक ऐसे निकाय को, जिसमें कुछ दशायें संतुष्ट नहीं होतीं, किन्तु, जिसमें कीमतें बढ़ने से, यदि सभी प्रतिघातों को होने दिया जाता है, पूर्ति मांग की अपेक्षा अधिक हो जाती है, मैं अपूर्ण-स्थिर कहने का प्रस्ताव करता हूँ। इस प्रकार एक अपूर्ण-स्थिर निकाय भी अंत में स्थिर होता है; किन्तु

इसकी स्थिरता केवल अप्रत्यक्ष प्रतिघातों पर ही निर्मित होती है।

इस पुस्तक में आगे चलकर मैं यह दिखाने की आशा करता हूँ कि कुछ ऐसी समस्यायें हैं जहां कि अपूर्ण स्थिरता एक रोचक और महत्व की परिकल्पना है। (उनमें से कछ अत्यंत विलक्षण समस्यायें प्रसिद्ध 'साख की अस्थिरता' के संबंध में उठती हैं।) किन्तु इसका संबंध हमसे इस समय नहीं है। हम यह देखेंगे कि बहुमुखी विनिमय के शुद्ध निकाय के, अगर यह कुछ भी स्थिर है, पूर्ण स्थिर होने की संभावना है। और पूर्णरूप से अस्थिर निकाय, जो कीमतों के एक निश्चित निकाय पर कभी नहीं ठहर सकते, शायद ही रोचक होते हैं। उनके परिवर्तन के नियमों की स्थापना एक मूर्खतापूर्ण समस्या होगी।

(४) इस प्रकार बहुमुखी विनिमय के निकाय की सामान्य स्थिरता में दो प्रश्न निहित हैं : (१) यदि यह मान लें कि स्वयं 'क' के लिए बाजार स्थिर है अर्थात् 'क' की कीमत में ह्रास, अन्य कीमतों के दिए हुए होने पर, क की अतिरिक्त मांग को बढ़ायेगा, तो क्या अन्य वस्तुओं के बाजारों की प्रतिक्रियाओं द्वारा इसे अस्थिर किया जा सकता है ? (२) यह मानते हुए कि स्वयं क-बाजार अस्थिर है, क्या इसे अन्य बाजारों की प्रतिक्रियाओं द्वारा स्थिर बनाया जा सकता है ? आइए, हम प्रथम प्रश्न पर पहले विचार करें।

किसी अन्य विशिष्ट वस्तु 'ख' के बाजार की प्रतिक्रियाओं का 'क' के बाजार पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन (ग. . .आदि की कीमतें दी हुई होने पर) रेखाचित्र के द्वारा किया जा सकता है (चित्र १६)।

दो अक्षों पर 'क' और 'ख' की कीमतें अंकित कीजिए। तब रेखाचित्र पर कोई भी बिन्दु कीमतों में एक विशिष्ट युग्म का प्रतिनिधित्व करेगा। हम 'ख' की किसी भी कीमत से परस्पर संबंधित 'क' की कीमत निर्धारित कर सकते हैं जो कि क की मांग और पूर्ति को बराबर कर देगी और इस प्रकार क-बाजार को संस्थिति में ला देगी। (निश्चिय ही ख-बाजार के लिए संस्थिति में होना अनिवार्य नहीं है)। इस प्रकार हम ऐसे कीमतों के युग्म निर्धारित कर सकते हैं जो कि क-बाजार में संस्थिति ला देंगे। इसे रेखाचित्र में एक बिन्दु के रूप में अंकित करते हुए, हम ख की अन्य अविहित कीमतों से इसी तरह संबंधित बिन्दुओं की एक शृंखला बनाएँ। ये बिन्दु एक वक्र का निर्माण करेंगे जिसे हम क क' कहेंगे। इस वक्र के आकार के संबंध में क्या कहा जा सकता है ?

'ख' की कीमत-वृद्धि 'क' की कीमत में वृद्धि करेगी या नहीं, यह इस पर निर्भर है कि 'क' का अतिरिक्त-मांग वक्र किस तरह प्रभावित होता है। अगर यह

ऊपर स्थानान्तरित होता है, क की कीमत बढ़ जायगी और कक' का ढाल धनात्मक होगा; अगर यह नीचे स्थानान्तरित होता है तो कक' का ढाल ऋणात्मक होगा।

चित्र–१६ यह सभी स्थिर स्थितियां हैं
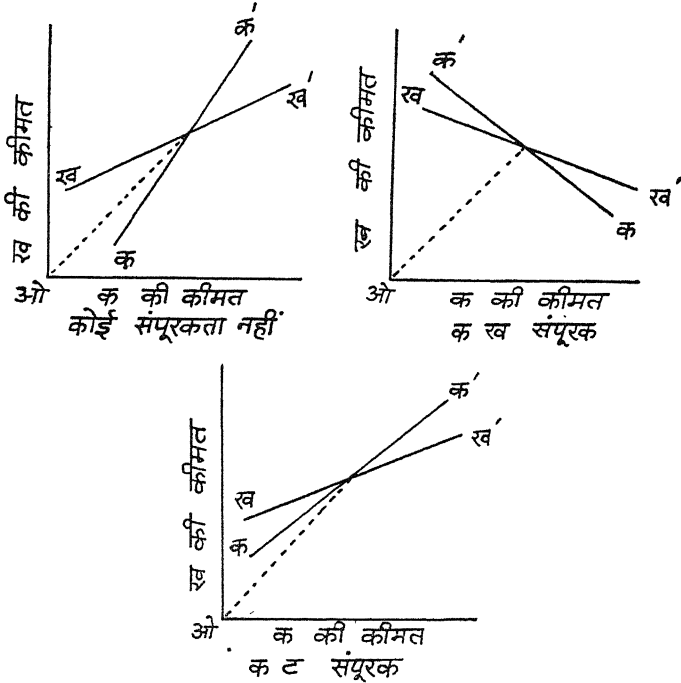
किन्तु पहले की तरह, ख की कीमत आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव द्वारा क के अतिरिक्त-मांग-वक्र पर प्रतिक्रिया करती है। यह अनुमान करने के लिए कि अतिरिक्त-मांग पर आय-प्रभाव अधिकतर कम होगा (क्योंकि यह दो हिस्सों का बना है जो कि शायद विपरीत दिशाओं में कार्य करते हैं), ठीक वही कारण है जैसे कि ऊपर—२ में दिए हैं। अगर 'क' और 'ख' प्रतिस्थापन्न हैं तो प्रतिस्थापन-प्रभाव 'क' की अतिरिक्त-मांग को बढ़ा देगा और यदि वे संपूरक हैं तो घटा देगा (संपूरकता और प्रतिस्थापन यहां क्रेता और विक्रेता को एक साथ लेकर, अर्थात् संपूर्ण बाजार के संदर्भ में समझे गए हैं)। यदि (सन्निकटन स्वरूप) हम आय-प्रभाव की उपेक्षा करते हैं तो हम मोटे तौर पर कह सकते हैं कि जब 'क' और 'ख' प्रति-

स्थापन्न हैं क क (दाहिनी ओर) ऊपर की तरफ ढालू होगा; और जब वे संपूरक हैं, तब (दाहिनी ओर) नीचे की तरफ।

अब हम इस समय अपने ध्यान को ऐसे मामलों तक, जिनमें क क' (दाहिनी ओर) ऊपर की तरफ ढालू है, सीमित करें। वक्र का ढाल क की अतिरिक्त-मांग पर दोनों कीमतों के सापेक्ष-प्रभाव के ऊपर निर्भर है। यदि क की कीमत का प्रभाव सापेक्षिक रूप से अधिक शक्तिशाली है तब ख की कीमत में वृद्धि क की कीमत को अनुपातिक रूप से कम बढ़ायगी। क क' वक्र की लोच इकाई से कम होगी। यदि क की कीमत की अपेक्षा ख की कीमत क की अतिरिक्त-मांग पर सापेक्षिक रूप से अधिक शक्तिशाली प्रभाव रखे तो इसकी लोच इकाई से अधिक होगी।

कुछ हद तक इन दोनों मामलों की संभावनाओं के बीच विभेद करना संभव है। इस उद्देश्य के लिए हमें यह विचार करना चाहिए कि यदि 'क' और 'ख' की कीमतें एक ही अनुपात में बढ़ें जिससे 'क' का 'ख' से कीमत-अनुपात पूर्ववत् बना रहे तो क्या होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं यह अपने प्रभावों में ठीक उसी तरह होगा जैसा कि 'क' और 'ख' को छोड़कर, (आधार-वस्तु सहित) अन्य सभी वस्तुओं की जिन्हें कि एक साथ मिलाया और एक अकेली वस्तु ट के रूप में समझा जा सकता है, कीमतों में अनुपातिक रूप से बराबर ह्रास होने पर होगा। अब (पुनः आय-प्रभाव की उपेक्षा करते हुए) यदि 'क' और 'ट' संपूरक नहीं हैं तो 'ट' का कीमत-ह्रास 'क' की अतिरिक्त-मांग को कम कर देगा। इस प्रकार, जब तक 'क', 'ट' के साथ संपूरक न हो, 'क' के बाजार में संस्थिति बनाए रखने के लिए 'क' की कीमत-वृद्धि 'ख' की कीमत-वृद्धि के अनुपात से कम होनी चाहिए। क क' वक्र बेलोच-दार होना चाहिए।

इस प्रकार हमें क क' वक्र के गुणों का काफी अच्छा ज्ञान हो गया है। यदि हम आय-प्रभावों की उपेक्षा कर दें तो हमारे पास निम्नलिखित संक्षिप्त नियम हो जाते हैं! जब कोई संपूरकता न हो जिससे कि 'ख' और 'ट' (क और ख को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं का समूह) दोनों के लिए 'क' प्रतिस्थापन हो, क क' वक्र को (दाहिनी ओर) ऊपर की ओर ढालू होना चाहिए और इसकी लोच इकाई से कम होनी चाहिए। यदि क और ख संपूरक हैं, क क' (दाहिनी ओर) नीचे की तरफ ढालू होता है। अगर 'क' और 'ट' संपूरक हैं क (दाहिनी ओर) ऊपर की तरफ ढालू होगा और लोच इकाई से अधिक होगी। अगर आय-प्रभाव महत्वपूर्ण हैं तो ये नियम कुछ संशोधित होंगे जिससे कम या अधिक महत्व के अपवाद उनमें दिखाई देंगे।

ठीक इसी तरह के परिणाम ख ख' वक्र, जो उन कीमतों के युग्मों का प्रति-

निधित्व करता है जो ख के बाजार को संस्थिति में लायेंगे, के लिए सही होंगे। यदि क और ख प्रतिस्थापन्न हैं तो ख ख' का ढाल ऊपर की तरफ होगा, और यदि वे संपूरक हैं तो नीचे की तरफ। किन्तु जब हम ख और ट के बीच संपूरकता पर विचार करते हैं तो यह ज्ञातव्य है कि अक्षों की स्थिति उल्टी हो जाती है। यदि ख और ट संपूरक हैं तो ख-बाजार में संस्थिति रखने के लिए क की कीमत-वृद्धि को ख की कीमत की अनुपातिक वृद्धि से अधिक वृद्धि द्वारा अनुसृत होना चाहिए। अतः यदि हम क की कीमत क्षैतिज अक्ष पर माप रहे हैं, तो हमें कहना चाहिए कि जब ख और ट संपूरक हैं ख ख' बेलोचदार होगा और जब ख, क और ट के लिए प्रतिस्थापन्न है, तो लोचदार।

चित्र–१७
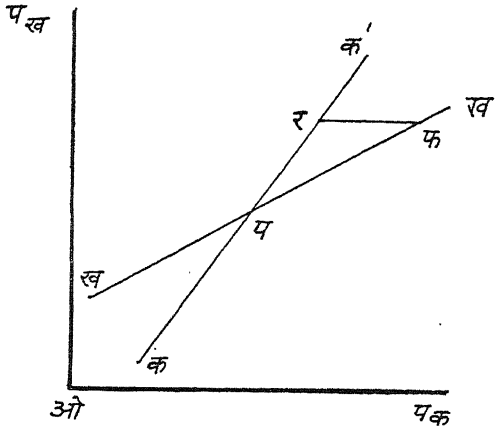
ये परिणाम इस निकाय की स्थिरता के परीक्षण के लिए प्रयुक्त किए जा सकते हैं। यदि क क' और ख ख' एक विन्दु प पर एक दूसरे को काटते हैं तो प एक ऐसी कीमतों के युग्म को दर्शाता है जिस पर क-बाजार और ख-बाजार दोनों संस्थिति में होंगे। वे स्थिर संस्थिति में होंगे यदि क की कीमत में थोड़ी सी वृद्धि ख की कीमत पर प्रतिक्रिया करे और वह क की कीमत पर इस तरह प्रतिक्रिया करे कि इसे पुनः कम कर दे। इसके लिए यह शर्त है कि क क' को ख ख' की अपेक्षा दाहिनी ओर ऊपर की तरफ अधिक तीव्र ढालू होना चाहिए (या, यदि ख ख' दाहिनी ओर नीचे की तरफ ढालू हो तो क क' को उसकी अपेक्षा नीचे की तरफ अधिक तीव्र ढालू होना चाहिए)। यह चित्र १७ की सहायता से तुरन्त समझा जा सकता है। संस्थिति-

विन्दु के ऊपर क की एक कीमत लेने पर, ख बाजार ख ख' पर एक बिन्दु फ पर संस्थिति में लाया जा सकता है। ख की इस नयी कीमत पर, क—बाजार क क' पर स्थित 'र' बिन्दु पर संस्थिति में आ जायगा और जहां से हमने प्रारंभ किया था उसकी अपेक्षा यह क की कीमत को संस्थिति के अधिक निकट लाता है। इस प्रकार यह निकाय संस्थिति की तरफ लौटने को प्रवृत्त होता है और स्थिर होता है।

इस कसौटी का प्रयोग करते हुए, हम सर्वप्रथम यह देख सकते हैं कि यदि निकाय में कोई संपूरकता नहीं है, जिससे कि क, ख और ट सभी एक दूसरे के प्रति-स्थापन्न हैं, तो निकाय को स्थिर होना चाहिए। क्योंकि इस मामले में क क' की लोच इकाई से कम है और ख ख' की इकाई से अधिक, अतः ख ख' की अपेक्षा क क' अधिक प्रवण है और स्थिरता की शर्त अनिवार्य रूप से पूरी हो जाती है।

चित्र १६ के दूसरे रेखाचित्र से यह पुनः स्पष्ट है कि संपूरकता के होने का अर्थ अनिवार्य रूप से अस्थिरता नहीं है। ऐसे मामले, जिनमें 'क' और 'ख' संपूरक हैं किन्तु तब भी स्थिरता की शर्त पूरी होती है, सहज ही निर्मित किए जा सकते हैं। पहली निगाह में यह भी माना जा सकता है कि ऐसे अस्थिर मामले भी निर्मित किए जा सकते थे जिनमें खख,' क क' की अपेक्षा दाहिनी ओर नीचे की तरफ अधिक प्रवणता से ढालू हो। जो भी हो, ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि सर्वाधिक पूर्ण संपूरक संबंध, जो कि दो वस्तुओं, क और ख, में हो सकता है, तभी होता है जब उनका निश्चित अनुपात में उपभोग करना पड़े। ऐसे मामले में ख की प्रत्येक कीमत से संबंधित क की एक कीमत होगी जो दोनों (क और ख) की अतिरिक्त मांग को शून्य कर देगी। इसमें एक ओर हम ख की कीमतों की शृंखला की कल्पना कर सकते हैं और दूसरी ओर उससे क्रमशः संबंधित क की कीमतों की शृंखला। इस प्रकार क क' और ख ख' वक्र अनुरूप हो जायेंगे। किन्तु यदि संपूरकता की सर्वाधिक संभाव्य तीव्रता ऐसी है कि उसमें दोनों वक्र अनुरूप होते हों तो (यह प्रतीत होगा कि) उन्हें अस्थिर रूप में कटने के लिए इस सर्वाधिक संभाव्य मात्रा से भी अधिक संपूरकता की आवश्यकता होगी। इस प्रकार हमारे त्रिमुखी विनिमय के मामले में यह संभव नहीं है कि संपूरकता अस्थिरता का कारण बन जाय। गणितीय रूप से इसे मालों की किसी भी संख्या के लिये सही सिद्ध किया जा सकता है।

(५) अतः, अपने अब तक के बहुमुखी विनिमय की स्थिरता संबंधी व्याख्या के निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि इसी अध्याय के आरंभ में उठाए पहले प्रश्न का उत्तर फिलहाल नकारात्मक है। यदि स्वयं क का बाजार स्थिर है तो यह संभव नहीं है कि अन्य बाजारों की प्रतिक्रियाओं से वह अस्थिर बन उठे। अब दूसरे प्रश्न

को लें। यदि स्वयं क का बाजार अस्थिर हो तो क्या यह संभव है कि अन्य बाजारों की प्रतिक्रियास्वरूप यह स्थिर हो जाय—क्या बहुमुखी संस्थिति के अपूर्ण स्थिर निकाय संभव हैं ?

यह प्रश्न पहले प्रश्न की अपेक्षा काफी कम असुविधाजनक है। यदि 'क' की कीमत में वृद्धि (अन्य कीमतें दी हों) 'क' की अतिरिक्त-मांग को बढ़ाता है तो 'क' का बाजार अस्थिर होता है। इस प्रकार, यदि अन्य कीमतों की अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओं द्वारा इसे स्थिर करना हो तो इन अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओं को 'क' की अतिरिक्त-मांग कम करना चाहिए। यह दिखाया जा सकता है कि उनके द्वारा ऐसा किया जाना बहुत ही असंभव है। किसी अन्य वस्तु 'ख' को लीजिए। तब (यदि आय-प्रभाव उपेक्षित किए जा सकें) तो अनिवार्यतः ख-बाजारकृत प्रतिक्रियाओं को क की अतिरिक्त-मांग बढ़ा देनी चाहिए। क्योंकि यदि ख, क का एक प्रतिस्थापन है तो 'क' की कीमत में वृद्धि 'ख' की अतिरिक्त-मांग को, अतः ख की कीमत को, बढ़ा देगी। अगर 'ख', 'क' के साथ संपूरक है तो 'क' की कीमत-वृद्धि 'ख' की अतिरिक्त-मांग को, अतः 'ख' की कीमत को कम कर देगी ; किन्तु यह पुनः 'क' की अतिरिक्त मांग को बढ़ा देगी। अतः दोनों मामलों में 'क' की अतिरिक्त मांग अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओं द्वारा बढ़ा दी जायगी। अगर स्वयं 'क' का बाजार अस्थिर था, तो अप्रत्यक्ष प्रभावों के फलस्वरूप यह और भी अधिक अस्थिर हो जाना चाहिए।

तथापि यह तर्क निर्णयात्मक नहीं है। क्योंकि जब एक से अधिक बाजारों की प्रतिक्रियायें होने दी जाती हैं, यह कुछ अल्प अपवादों के अधीन हो जाता है ; और कम से कम केवल यह अनिवार्य रूप से सही है कि यदि आय-प्रभाव उपेक्षित हों, तो जब 'क' की कीमत बढ़ती हो, दूसरे बाजार की अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओं की प्रवृत्ति 'क' की अतिरिक्त-मांग को बढ़ाने की होगी। किन्तु यथार्थतः इस मामले में आय-प्रभावों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि 'क'-बाजार स्वयं ही तभी अस्थिर हो सकता है जब 'क'—बाजार में आय-प्रभाव अधिक हो। अब, यदि क की कीमत-वृद्धि पर अधिक शक्तिशाली होने के कारण आय-प्रभाव 'क' की अतिरिक्त मांग को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखता है, यह संभव है कि 'ख' की कीमत बदलने पर भी ऐसा ही प्रभाव पड़े। इस प्रकार यह संभव हो जाता है कि संबंधित वस्तुओं के बाजारों की प्रतिक्रियाओं के प्रभाव कभी उससे विपरीत दिशा में जा सकते हैं जिसे हमने पहले मान रक्खा हो। ये प्रतिक्रियायें संभवतः उन बाजारों पर, जो स्वयं अस्थिर हैं, एक स्थिरकारी प्रभाव डाल सकती हैं।

मैं नहीं समझता हूँ कि यह संभावना वास्तव में काफी महत्वपूर्ण है। जो भी

हो, इसे उन नियमों के, जिन्हें हम आगे[६] में प्रतिपादित करेंगे, 'अपवादों के संभाव्य स्रोत के रूप में देखा जा सकता है।

नकारात्मक किन्तु विश्वसनीय निर्णयों का जिन्हें हमने अपने स्थिरता संबंधी विचार विमर्श से निकाला है, सार निम्नांकित है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बहुमखी विनिमय के स्थिर निकायों का अस्तित्व मांग के नियमों से पूर्ण संगत है। वास्तव में आदिगृहीत रूप से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि बहुमुखी विनिमय का निकाय अनिवार्यरूपेण स्थिर है। किन्तु स्थिरता की दशायें बिल्कुल सरल दशायें हैं जिससे यह मानना बिल्कुल तार्किक हो जाता है कि वे लगभग किसी निकाय में, जिससे हमारे संबंधित होने की संभावना हो, पूरी हो जायेंगी। अस्थिरता का एकमात्र संभाव्य अंतिम स्रोत आय-प्रभावों में अत्यधिक असमानता है। अधिकांश वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन्नता की सामान्य मात्रा इस कारण को प्रभाव डालने से रोकने के लिए पर्याप्त है।

पुनः, यदि बहुमुखी विनिमय का निकाय कुछ भी स्थिर है, उसके पूर्ण स्थिर होने की संभावना है। अतः, ऐसे मार्गों की खोज के लिए आगे बढ़ना, जैसा कि आगे हम करेंगे, बिल्कुल न्याययुक्त है, जिसमें बहुमुखी विनिमय का एक पूर्ण स्थिर निकाय कीमतों के मूल-निर्धारकों में होने वाले परिवर्तन के प्रति प्रतिक्रिया करेगा। क्योंकि, आर्थिक नियम, जो फलित होते हैं, वे सिद्धान्त होते हैं जिन्हें किसी भी दशा में जिसे पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत बहुमुखी विनिमय के एक निकाय तक सीमित किया जा सकता है, वास्तविक रूप में कार्यरत पाने की हम प्रत्याशा करते हैं।

(६) ऐसी संक्षिप्त रीति, जिसके द्वारा स्थिरता की दशाओं से आर्थिक नियम निर्गमित किए जा सकें, नीचे दी गई हैं। हम यह अनुमान करें कि व्यापार करने वाले मनुष्यों में से एक अल्प वर्ग अपनी अधिमान्यताओं में एक विशिष्ट प्रकार के परिवर्तन का अनुभव करता है। व्याख्या के उद्देश्य के लिए सर्वाधिक अनुकूल परिवर्तन किसी विशिष्ट वस्तु के लिए बढ़ी हुई इच्छा है जिसे कि वे आधार वस्तु की पूर्ति बढ़ा कर (या उसके लिए अपनी मांग घटा कर) संतुष्ट करने को तैयार हैं : किन्तु अन्य वस्तुओं के लिए उनकी मांग और पूर्ति अप्रभावित रहनी चाहिए। कीमतों में क्या परिवर्तन होंगे? कीमतों में परिवर्तन ऐसे होने चाहिए कि जिसमें व्यापार में लगे अन्य व्यक्ति इतनी अतिरिक्त पूर्ति करें कि वह पहले वर्ग की मांग को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त हो। अब हमको स्वयं स्थिरता की दशाओं से ज्ञात है कि कौन से कीमत-परिवर्तन 'क' के बाजार में एक अतिरिक्त पूर्ति लाएंगे जब कि अन्य बाजार, जैसा कि उन्हें चाहिए, संस्थिति में रहते हैं। स्थिरता की दशा में इस प्रकार हमें

यह कहने में समर्थ करती हैं कि मांग में इस प्रकार की वृद्धि के क्या प्रभाव होंगे।[८]

सर्वप्रथम स्वयं क की कीमत ही बढ़ जानी चाहिए। यह तब भी होता है जब अन्य बाजारों के माध्यम से गौण प्रतिक्रियायें होने दी जाती हैं। यह निकाय कुछ भी स्थिर (यहां तक कि अपूर्ण स्थिर) मात्र तभी हो सकता है यदि 'क' की कीमत में वृद्धि (अन्य गौण प्रतिक्रियाओं को देखते हुए) 'क' की पूर्ति को मांग की अपेक्षा अधिक कर देती है।

अब कुछ ऐसी बातें हैं जो कि अन्य कीमतों पर प्रभाव के संबंध में कही जा सकती हैं। इस संबंध में नियम केवल संक्षिप्त रूप से कहे जा सकते हैं यदि निवल रूप से आय-प्रभाव उपेक्षित किए जा सकें। क्योंकि यह मानना संभवतः पूर्णरूप से न्याययुक्त नहीं है, अतएव इन नियमों में कुछ मात्रा तक अशुद्धि हो सकती है। जो भी हो, उन्हें आय-प्रभावों की उपेक्षा के साथ निर्धारित करना सुविधाजनक है।

अगर हम यह मान सकें कि अन्य बाजारों वाली प्रतिक्रियायें केवल एक विशिष्ट ('ख' के) बाजार तक सीमित हैं ('क' और 'ख' के अतिरिक्त अन्य कीमतें उपेक्षणीय सीमा तक ही प्रभावित होती हैं), तो 'ख' की कीमत पर पड़ने वाला प्रभाव ऊपर के § ४ की सहायता से समझ में आ जाता है। अगर 'क' और 'ख' प्रतिस्थापन हैं तो 'ख' की कीमत बढ़ेगी, और यदि वे संपूरक हैं, तो गिरेगी; क्योंकि मात्र इसी तरह के परिवर्तन 'ख' के बाजार में संस्थिति बनाए रखेंगे।

अगर एक से अधिक अन्य कीमतें प्रभावित होती हैं तो हमें इस बात का भी विचार करना पड़ेगा कि अन्य वस्तुओं क और ग इत्यादि के बाजार आपस में एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। 'ख' की कीमत पर प्रभाव निम्न प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है। सर्वप्रथम, यदि 'क' के लिए 'ख' प्रतिस्थापन है, तो उसकी प्रवृत्ति 'ख' की कीमत को बढ़ाने की होती है। किन्तु ख की कीमत न केवल इस तरह प्रत्यक्ष रूप से ही प्रभावित हो सकती है अपितु अप्रत्यक्ष रूप से 'ग' की कीमत में परिवर्तन द्वारा भी। अगर 'क' के लिए 'ग' एक प्रतिस्थापन है, तो 'ग' की कीमत बढ़ जायगी; और यदि 'ख' भी 'ग' के लिए प्रतिस्थापन है तो इससे 'ख' की कीमत बढ़ जायगी। अतः एक अप्रत्यक्ष प्रभाव 'ख' की कीमत को बढ़ाने में प्रवृत्त होगा। इसी प्रकार यदि 'क' के साथ 'ग' संपूरक है और 'ख' के साथ भी 'ग' संपूरक है, तो 'ग' की कीमत कम हो जायगी किन्तु यह पुनः 'ख' की कीमत को बढ़ाने में प्रवृत्त होगा। दूसरी तरफ, यदि 'ग', क के साथ संपूरक है और ख के लिए प्रतिस्थापन, तो 'ग' बाजार के प्रभावस्वरूप 'ख' की कीमत कम हो जायगी।

तीसरे-बाजार के अप्रत्यक्ष प्रभाव इस प्रकार इस नियम का प्रतिपालन करते हैं कि 'क' की मांग में वृद्धि उन वस्तुओं की कीमत बढ़ा देगी जो 'क' के प्रतिस्थापनों के प्रतिस्थापन हैं या उसके संपूरक के संपूरक हैं ; और उन वस्तुओं की कीमत घटा देगी जो प्रतिस्थापनों के संपूरक हैं या संपूरकों के प्रतिस्थापन हैं।

ऐसे मामलों में, जहां बहुत सी कीमतें प्रभावित होती हैं, यह अनिवार्य हो सकता है कि इस तरह के बहुत से अप्रत्यक्ष प्रभावों और साथ ही साथ प्रत्यक्ष प्रभावों को होने दिया जाय। कभी-कभी, स्यात् अधिकतर, वे सभी एक ही दिशा में जायेंगे। 'क' और 'ख' ऐसी वस्तु-समुच्चय के सदस्य हो सकते हैं जो सभी परस्पर एक दूसरे के प्रतिस्थापन हैं। जब 'क' की कीमत बढ़ रही हो तब दो कारणों से 'ख' की कीमत बढ़ेगी; एक दोनों में प्रत्यक्ष प्रतिस्थानापन्नता के कारण और दूसरा समूह के अन्य सदस्यों के अप्रत्यक्ष प्रतिस्थापन होने के कारण। जो भी हो, यदि 'क' और 'ख' संपूरकों के समूह के सदस्य हों तो मामला इतना सीधा नहीं रह जाता। अब, यदि 'क' की मांग बढ़ती है, प्रत्यक्ष प्रभाव 'ख' की कीमत को कम करेगा; किन्तु कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव संपूरक के संपूरक होने से 'ख' की कीमत बढ़ा देंगे। अतः निवल परिणाम किसी भी दिशा में जा सकता है।

बहुमुखी विनिमय का निकाय, जिसमें संपूरकता बिल्कुल भी न हो, एक साधारण नियम का प्रतिपालन करेगा। चाहे जितने अप्रत्यक्ष प्रभाव होने दिए जायें, वे सभी एक ही दिशा में जायेंगे। जब 'क' की मांग बढ़ेगी, 'क' की कीमत बढ़ेगी और अन्य सभी कीमतें भी बढ़ेंगी। यह भी दिखाया जा सकता है कि अन्य सभी वस्तुओं की कीमतें 'क' की कीमत के अनुपात में कम बढ़ेंगी।[९]

इस तरह वास्तव में यह बिल्कुल संभव नहीं है कि संपूरकता की पूर्ण अनुपस्थिति हो।[१०] फिर भी ऐसे बहुत से कारण हैं कि हम ऐसी स्थिति की प्रत्याशा कर सकते हैं जो कि ठीक संपूरकता की पूर्ण अनुपस्थिति में प्राप्त की जा सकती है और जिसे संन्निकटन रूप में बहुत सी वास्तविक स्थितियों में पाया जा सकता है। यथा, (१) वे कारण जिनसे हम परिचित हैं और जिनके आधार पर हम यह प्रत्याशा करते हैं कि यादृच्छिक रूप से लिए मालों के युग्मों के मध्य प्रतिस्थापन संबंध प्रमुख और संपूरक संबंध अपवादात्मक है। (२) यह तथ्य ज्ञातव्य है कि प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं के समूहों के बीच अप्रत्यक्ष प्रभाव उसी दिशा में कार्य करते हैं जिसमें प्रत्यक्ष प्रभाव, जब कि संपूरकों के समूहों के बीच अप्रत्यक्ष प्रभावों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष प्रभावों को मिटा देने की हो सकती है। (३) अब तक हम यह मानते रहे हैं कि 'क' की मांग में वृद्धि केवल 'क' तक ही सीमित है और 'क' के साथ संपूरक वस्तुओं पर

नहीं। व्यवहार में संपूरक वस्तुओं के समूह के लिए मांग अधिकतर साथ-साथ बढ़ेगी।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, यह प्रतीत होता है कि एक विशिष्ट माल (या मालों का समूह) की मांग में वृद्धि होने पर यह अत्यन्त संभाव्य है कि इसका सामान्य कीमतों पर उन्मुखी प्रभाव हो। वास्तव में, इस उन्मुखी प्रवृत्ति को यदि कुछ भी विस्तृत क्षेत्र में होना हो तो माल या मालों को, जिनकी मांग बढ़ती है, काफी महत्व का होना चाहिए। और यह सदैव संभव है कि पहले माल के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संपूरक कुछ ऐसे विशिष्ट माल होंगे जिनकी कीमतें वास्तव में गिरेंगी।

(७) मैं विश्वास करता हूं कि अन्य कीमतों पर प्रभाव के संबंध में जो कुछ कहा जा सकता है वह इतना ही है। किन्तु विनिमय के नियमों को पूरा करने के लिए एक और तत्संबंधी बात जोड़ी जा सकती है।

हम देख चुके हैं कि जब 'क' की मांग बढ़ती है तो उसकी कीमत बढ़नी चाहिए। इस वृद्धि की सीमा को कौन निश्चित करता है? यह दिखाया जा सकता है कि मांग में एक दी हुई वृद्धि 'क' की कीमत को कम प्रभावित करेगी यदि निकाय में वस्तुओं के किसी भी युग्म में अधिक प्रतिस्थापनता या कम संपूरकता हो।[११]

यदि 'क' वस्तु के बहुत से अच्छे प्रतिस्थापन्न हैं तो कीमत में बिना अधिक वृद्धि के इसकी बढ़ी हुई मांग को संतुष्ट करना अपेक्षाकृत काफी सरल होगा। वास्तव में स्वयं प्रतिस्थापनों की कीमतों में बढ़ने की प्रवृत्ति होगी; किन्तु यह वृद्धि वस्तुओं के समस्त समूह पर इसकी व्यापकता बहुत कम छायेगी और इस प्रकार उनमें से प्रत्येक को (स्वयं 'क' सहित) बहुत कम प्रभावित करेगी। दूसरी ओर, यदि 'क' के संपूरकों का ऐसा बहुत बड़ा समूह है जिनकी मांग नहीं बढ़ी है तो इन संपूरकों की कीमतों में घटने की प्रवृत्ति होगी (वे व्यक्ति, जो 'क' की अनिवार्य अतिरिक्त-पूर्ति करते हैं, 'क' की संपूरक वस्तुओं को बेचने में प्रवृत्त होंगे)। संपूरकों की कीमतों में ह्रास के प्रभाव-स्वरूप उनकी (अतः स्वयं 'क' की) मांग बढ़ जायगी; 'क' की कीमत में पुनः वृद्धि इस कीमत-ह्रास संबंधी क्षतिपूर्ति के लिए अनिवार्य होगी।

अब अगला कदम इन सिद्धान्तों को स्वयं प्रतिस्थापनों और संपूरकों के लिए प्रयुक्त करना है। अगर उनके अपने अच्छे प्रतिस्थापन हैं तो इस कारण उनकी कीमतें कम प्रभावित होंगी और फलतः इसकी प्रवृत्ति (अपनी पारी पर) 'क' की कीमत पर पड़ने वाले प्रभाव को कम करने की होगी। किन्तु यदि वे संपूरकों के समूह के सदस्य हैं तो इससे उनकी कीमत में उतार-चढ़ाव बढ़ जायगा, और, परिणामस्वरूप, 'क' की कीमत में भी अनिवार्य उतार-चढ़ाव बढ़ जायेंगे।

अतः, अपूर्ण प्रतिस्थापनीयता के समान संपूरकता को निकाय में जड़ता का एक

तत्व माना जाना चाहिए जो किसी दिए हुए माल की पूर्ति की लोच में घटाता है। वास्तव में, यदि इसी तरह हमने 'क' की पूर्ति में वृद्धि से प्रारंभ किया होता तो हम देखते कि उपरोक्त शक्तियां मांग की लोच को घटाती हैं।

(८) जो कुछ मुझे विनिमय - सिद्धान्त पर कहना था वह मैं कह चुका हूं। वास्तव में अब स्यात् ही कुछ और बचा हो जो इस प्रकार सामान्यता के स्तर पर जोड़ा जा सके। अतः, हम तुरन्त प्रयोगों की तरफ बढ़ते हैं, उदाहरणस्वरूप, जब हम यह स्मरण करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परागत सिद्धान्त दो वस्तुओं के साधारण विनिमय की व्याख्या पर कितना आधारित है तो हमें अपने इतने अधिक सामान्य सिद्धान्त के प्रयोग के लिए हमको अधिक डरने की आवश्यकता नहीं है। अस्तु हम उस रास्ते को नहीं अपनायेंगे; अंशतः इसलिए क्योंकि इस पुस्तक में मेरा विशिष्ट समस्याओं की आर्थिक व्याख्या से इतना संबंध नहीं है, और मुख्यतः इसलिए क्योंकि मेरा यह विश्वास नहीं है कि वास्तविक जगत के इतने अधिक पहलुओं को छोड़ देना जरूरी है जितना कि हमको छोड़ना पड़ेगा यदि हम वास्तविक समस्याओं को विनिमय के शुद्ध सिद्धान्त के क्षेत्र में बांधना चाहें।

विनिमय-सिद्धान्त पर इतना समय लगाना एक बिल्कुल भिन्न कारण से उपयोगी था। जब हम अगले अध्यायों में उत्पादन की व्याख्या करेंगे और तब भी जब, चौथे भाग में, हम प्रवैगिक समस्यायें पढ़ेंगे, ठीक इसी तरह के प्रश्न जैसे कि हम यहां देख चुके हैं, हमारे समक्ष आयेंगे। वे पहले तो कुछ अधिक उलझे हुए प्रतीत होंगे किन्तु वे परिचित रूप में बदले जा सकेंगे; अतः तब यह मालूम होगा कि हम उत्तर पहले से ही जानते हैं। यही कारण है कि विनिमय-सिद्धान्त सामान्य रूप में आर्थिक निकाय के अध्ययन का अनिवार्य अंग है।[१२]

अध्याय ६

फर्म की संस्थिति

(१) वैयक्तिक संस्थिति के सिद्धान्त के असदृश, सामयिक साहित्य में फर्म की संस्थिति के सिद्धान्त पर, किए गए विचारों की अति हो गई है।[1] एक तरह से मुझे इन विवादों में कुछ नहीं जोड़ना है। फिर भी यह अनिवार्य है कि कुछ ऐसे सादृश्य, जो कि फर्म और व्यक्ति के मामलों के बीच है, निकालने के लिए हम विचार-क्षेत्र में उतरें। इस सादृश्य के कारण ही हम फर्म के बाजार व्यवहार के नियमों को वैयक्तिक मामले के परिचित रूप में रखने में समर्थ होंगे; और अंत में हम विनिमय सिद्धान्त को, जिसे पिछले अध्याय में प्रतिपादित किया गया है, उत्पादन को समझने के लिए भी आगे बढ़ा लेंगे।

मूल्य-सिद्धान्त और उत्पादन-सिद्धान्त के बीच संक्रमण सर्वाधिक सरलता से निम्न रूप में किया जा सकता है। अभी तक हमने यह मान रखा था कि हमारे व्यापारी-व्यक्ति कुछ विशेष वस्तुओं या सेवाओं की पूर्ति के साथ बाजार आते हैं और वे अन्य वस्तुओं को केवल एक ही तरह से अर्थात् विनिमय द्वारा पा सकते हैं। अब हमें इस तथ्य पर भी विचार करना है कि वे नई वस्तुओं को कभी कभी दूसरी तरह से भी प्राप्त कर सकते हैं—प्राविधिक रूप परिवर्तन या उत्पत्ति द्वारा। स्पष्टतया, वे इस रीति को तब तक न अपनायेंगे जब तक यह साधारण विनिमय से अधिक लाभप्रद न हो; इसका तात्पर्य है कि विनिमय-साध्य वस्तुओं के एक समुदाय को उत्पत्ति द्वारा वस्तुओं के दूसरे समुदाय में बदलना तभी लाभप्रद होगा यदि प्राप्त वस्तु-समुदाय का छोड़ दिए हुए वस्तु-समुदाय की अपेक्षा अधिक बाजार-मूल्य है। अतः विभिन्न बाजारू दशाओं में उत्पादन के लिए विभिन्न अवसर लाभदायक हो जायेंगे; और यह विभिन्न अवसर विभिन्न व्यक्तियों को प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार उन व्यक्तियों का वर्ग जो अपनी सेवाओं की साधारण बिक्री की अपेक्षा प्राविधिक रूप परिवर्तन द्वारा माल प्राप्त करते हैं अर्थात् साहसोद्यमी वर्ग बदल सकता है।*

साहसोद्यमी की साधारणतया यह एक विशेषता होगी कि वह कुछ सेवाओं को (उत्पत्ति के कारकों को) इसलिए नहीं इकट्ठा करता है कि उसको उनकी प्रत्यक्ष इच्छा है वरन् इसलिए क्योंकि उसे अपने उत्पादन-अवसरों से पूर्ण लाभ उठाने के लिए उनकी आवश्यकता होती है। उन कारकों की मात्रा, जिन्हें वह नियोजित करता है, उस उत्पत्ति पर पूर्ण रूप से निर्भर मानी जा सकती है जिसे कि वे संभव करते हैं; परिणामस्वरूप, साहसोद्यम (कारकों का उत्पादों में रूपान्तर) साहसोद्यमी के व्यक्तिगत खाते से मुक्त एक अलग आर्थिक इकाई के रूप में माना जा सकता है। यह कारकों को इकट्ठा करता है और उत्पादों को बेचता है; इसका मुख्य उद्देश्य उनके मूल्यों के अन्तर को अधिकतम करना है।[२]

(२) हम अपना अध्ययन ठीक उपयोगिता-सिद्धान्त के सदृश विश्लेषण से प्रारंभ कर सकते हैं। पूर्णप्रतिस्पर्द्धी बाजार के अन्तर्गत एक विशिष्ट साहसोद्यम की कल्पना कीजिए। इसकी संस्थिति के लिए आवश्यक दशायें क्या हैं?

सर्वप्रथम, साधारणतम उदाहरण लीजिए। एक विशिष्ट साहसोद्यम के लिए कुछ प्राविधिक संभावनायें खुली हुई हैं जिनके द्वारा एक कारक 'अ' एक उत्पाद 'क' में परिवर्तित किया जा सकता है। बाजार में 'अ' और 'क' दोनों की कीमतें दी हुई हैं। अतः, जहां तक प्राप्त किए हुए उत्पाद की कुल कीमत नियोजित कारक की कुल कीमत से अधिक है, उत्पादन-कार्य में प्रवृत्त होना लाभदायक होगा। पुनः यह इसके लिए लाभप्रद होगा कि उत्पाद की इतनी मात्रा पैदा करे कि उपर्युक्त आधिक्य यथासंभव अधिक हो जाय।

आइए, हम इसे रेखाचित्र की सहायता से समझें। यदि हम कारक 'अ' की मात्रा क्षैतिज अ क्ष पर मापें और 'क' उत्पाद की मात्रा शीर्ष-अ क्ष पर, तो एक ऐसा वक्र खींचा जा सकता है जो कि प्रत्येक दिए हुए कारक की मात्रा के रूपान्तर से प्राप्त उत्पाद की अधिकतम मात्रा दिखायेगा। इस समय हम उत्पादन-वक्र (चित्र–१८) की आकृति के संबंध में कोई विशेष मान्यतायें नहीं करेंगे।

अब मान लीजिए कि कारक की 'ओ न' मात्रा योजित है और उसके द्वारा प्राप्त उत्पादन की मात्रा 'प न' है 'ओ म' को 'प न' के बराबर कीजिए और 'म फ' को उत्पादन की उस मात्रा का प्रतिनिधित्व करने दीजिए जिसका बाजार-मूल्य कारक की 'ओन' मात्रा के मूल्य के बराबर है। तब 'ओ फ' वह अतिरिक्त उत्पाद है जो साहसोद्यमी को प्राप्त होता है। 'ओ फ' का मूल्य लागत के ऊपर प्राप्ति का अतिरेक है।

तब संस्थिति की दशायें यह हैं कि 'ओ फ' को अधिकतम होना चाहिए और 'धनात्मक' भी।

रेखाचित्र में जैसा कि हमने इसे खींचा है, इन दशाओं में से पहली पूरी नहीं होती है। अगर 'प', वक्र पर दाहिनी तरफ जाता है तो 'प फ' रेखा (स्वयं को समानान्तर रखते हुए, क्योंकि इसका ढ़ाल 'म फ' 'प म' कारक और उत्पाद की कीमतों के अनुपात, जो कि बाजार की दशाओं द्वारा दिए हुए हैं, के बराबर है) ऊपर की तरफ स्थानान्तरित होगी। यह तब तक ऊपर की तरफ स्थानान्तरित होती रहेगी, (जिससे 'ओ फ' बढ़ेगा) जब तक यह उत्पादन-वक्र पर स्पर्श रेखा नहीं बन जाती (चित्र–१९)। संस्थिति की दशायें पूरे रूप में इस तरह निर्धारित की जा सकती हैं :

(१) रेखा 'प फ' को उत्पादन-वक्र से स्पर्श करता हुआ होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्थिति-बिन्दुपर उत्पादन-वक्र का ढ़ाल, कारक की कीमत से उत्पाद की कीमत के अनुपात के बराबर होना चाहिए। परन्तु उत्पादन-वक्र का ढ़ाल,
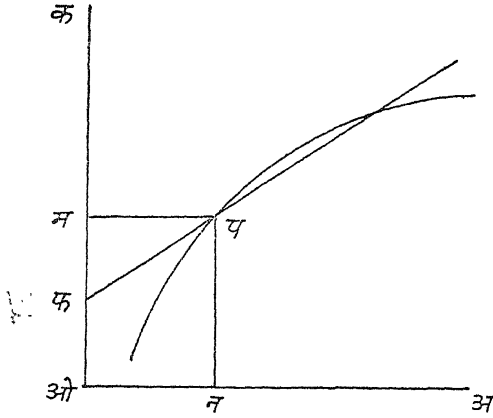
चित्र—१८

कारक की थोड़ी सी वृद्धि से प्राप्त उत्पादन की वृद्धि अर्थात् कारक के सीमांत उत्पाद के बराबर होता है। अतः शर्त दो परिचित रूपों में से किसी भी रूप में रखी जा सकती है : कारक की कीमत सीमान्त उत्पाद के मूल्य के बराबर होती है, या, उत्पाद की कीमत इसकी सीमान्त-लागत के बराबर होती है।

(२) 'ओ फ' के न्यूनतम की अपेक्षा अधिकतम होने के लिए यह अनिवार्य है कि उत्पादन-वक्र स्पर्श-बिन्दु पर ऊपर की तरफ उत्तल हो। इसका तात्पर्य है कि संस्थिति-बिन्दु पर सीमान्त-उत्पाद ह्रासमान होना चाहिए या सीमान्त-लागत वृद्धिमान।

यह विदित होगा कि ये दो दशायें बहुत कुछ उसी प्रकार की हैं जिन पर हम अपने आत्मगत-मूल्य के सिद्धान्त में विचार कर चुके हैं। उत्पादन-वक्र, जैसा कि
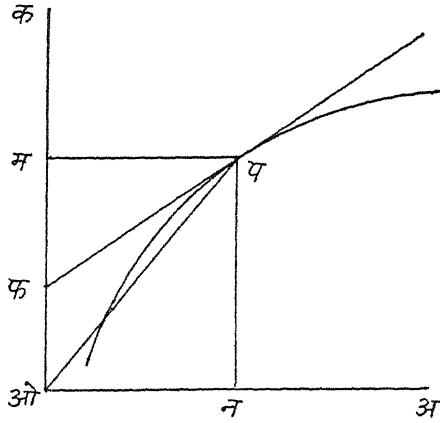
चित्र—१९

हमने इसे खींचा है, अपनी विशेषताओं में एक अनभिमान वक्र से काफी समानता रखता है। जहां पहले कीमत-अनुपात और प्रतिस्थापन की सीमान्त-दर के बीच समानता थी वहीं अब कीमत-अनुपात और सीमान्त उत्पाद के—जिसे यदि हम चाहें, तो रूपान्तर की सीमान्त-दर कह सकते हैं—बीच समानता है। जहां तक स्थिरता की दशा का संबंध है, प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर का ह्रासमान-सीमान्त-उत्पाद से स्थानान्तरित कर दिया गया है। अतः ये दो दशायें पर्याप्त रूप से समान हैं और इनकी सहायता से हम अपने व्यक्ति के व्यवहार के सिद्धान्त के समान एक फर्म के व्यवहार के सिद्धान्त को बनाने में समर्थ हो सकेंगे।

(३) किन्तु उत्पादन के सिद्धान्त में एक तीसरी शर्त है जिससे संगत कोई शर्त आत्म गत-मूल्य के सिद्धान्त में नहीं है। अतिरेक 'ओ फ' धनात्मक होना चाहिए। अब 'ओ फ' धनात्मक तभी हो सकता है यदि 'ओ प' का ढाल 'प फ' के ढाल से अधिक तीव्र है, और जिसका तात्पर्य है कि ओ प का ढाल प के दाहिने तरफ हटने के साथ कम होता जाना चाहिए। 'ओ प' का ढाल उत्पाद की मात्रा और कारक की मात्रा के बीच के अनुपात को मापता है; इसका तात्पर्य है कि यह औसत उत्पाद है। अतः, संस्थिति की तीसरी शर्त यह है कि औसत उत्पाद ह्रासमान होना चाहिए या औसत लागत वृद्धिमान।[3]

अतः सस्थिति की शर्तें दो वैकल्पिक रूपों में रखी जा सकती हैं:—

१. कारक की कीमत=सीमा उत्पादन का मूल्य १. उत्पाद की कीमत= सीमान्त लागत।

२. सीमान्त उत्पाद ह्रासमान २. सीमान्त लागत वृद्धिमान।

३. औसत उत्पाद ह्रासमान ३. औसत लागत वृद्धिमान।

(३) अभी तक हम ज्यामितीय रूप से आगे बढ़े हैं; किन्तु अब यह पता लगाना अनिवार्य है कि क्या इस तरह से निकाली हुई ये संस्थिति की शर्तें वास्तव में सत्याभासक शर्तें हैं। दूसरी और तीसरी शर्त उत्पादन-वक्र की विशेषताओं से संबंध रखती हैं; क्या वास्तव में इस बात की संभावना है कि कारक और उत्पाद के बीच संबंध इन विशेषताओं से युक्त हो? व्यक्ति के मामले में प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर की शर्त के सत्याभास के संबंध में हमको सन्देह का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ा था। किन्तु यहां हमें एक नहीं, दो शर्तों के साथ चलना है; और साथ ही अपेक्षाकृत अधिक गंभीर प्रश्नों के उत्तर देना है।

संस्थिति की शर्तों की, जो कि अभी निर्धारित की गयी हैं, आलोचना दो बातों पर निर्भर है। एक तो यह कि साहसोद्यमी स्वयं अधिकतर विश्वास कर लेते हैं कि वे ह्रासमान औसत लागत की दशाओं में उत्पादन कर रहे हैं। दूसरी अपेक्षाकृत अधिक सैद्धान्तिक है और आधुनिक लेखकों द्वारा अधिकतर स्वीकृत 'ह्रासमान व वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि नियमों' की व्याख्या से निकलता है। बड़े पैमाने की मितव्ययिता के कारण और मुख्य रूप से कुछ कारकों की इकाइयों एवं कुछ प्रक्रमों के अविभाज्य होने के कारण वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि (मोटे तौर पर, ह्रासमान लागत) की प्रवृत्ति होती है। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि (अर्थात् वृद्धिमान लागत) की प्रवृत्ति तब होती है जब एक तरह के कारकों की, जो कि उत्पाद के बनाने में प्रयुक्त हैं, मात्रा बढ़ती है जब कि अन्य प्रकार (या प्रकारों) के कारकों की मात्रा अपरिवर्तित रहती है या अपेक्षाकृत धीरे से बढ़ती है। यदि एक फर्म वृद्धिमान औसत लागत की दशाओं में उत्पादन कर रहा है तो इसका तात्पर्य यह होना चाहिए कि इनमें से बाद वाली प्रवृत्ति प्रमुख है—अर्थात् न केवल कारकों की कुछ प्रकार की सीमितता होनी चाहिए अपितु इतनी पर्याप्त सीमितता होनी चाहिए कि वह बड़े पैमाने की किसी भी मितव्ययिता, जो कि उस समय हों, को अन्यथा कर दे।[४]

अतः, हमारे रेखाचित्रों जैसी स्थिति केवल तभी पैदा हो सकती है जब कि कारक 'अ' को किन्हीं ऐसे कारकों के साथ प्रयुक्त किया जा रहा हो जिनकी केवल एक सीमित मात्रा फर्म के पास है और बाजार से जिसे अधिक नहीं जुटाया जा सकता।

अल्पकालिक समस्याओं के लिए ऐसी फर्म जिसके अचल उपकरण अथवा कारखाने भूतकाल में बन चुके हैं और अपनी कुछ सीमा तक विशेष्ट प्रकार के हैं एक अच्छा उदाहरण है। दीर्घकालिक समस्याओं के लिए, हमारे पास केवल वह अंतिम नियन्त्रण है जिसका प्रयोग स्वयं साहसोद्यमी द्वारा किया जाता है। उत्पादन के पैमाने के बढ़ने के साथ सीमान्त लागतों के बढ़ने का एकमात्र कारण नियन्त्रण में रखने की कठिनाई है।[१]

फिर भी हमें यह याद रखना चाहिए कि हमारे पास विचार करने को दो शर्तें हैं—वृद्धिमान सीमान्त लागतें और वृद्धिमान औसत लागतें। फर्म के विस्तार के साथ सीमान्त लागतों को बढ़ाना चाहिए जिससे यह सुनिश्चित हो जाय कि फर्म का विस्तार कहीं न कहीं रुकेगा। किन्तु यह संस्थिति की पर्याप्त शर्त नहीं है कि सीमान्त-लागत बढ़ती हुई होनी चाहिए। यह थोड़ा भी असंभव नहीं है कि फर्म के विस्तार के साथ, बढ़ी हुई नियंत्रण की कठिनाई के कारण सीमान्त लागतें थोड़ी ही बढ़ें; वास्तव में, में सोचता हूं कि यह प्रत्याशा की जा सकती है कि फर्म की सभी दशाओं में से यह सर्वाधिक सामान्य दशा है। किन्तु यदि सीमान्त लागत अपने न्यूनतम स्तर से केवल थोड़ी ऊपर है तो स्यात् सीमान्त लागत औसत लागत से कम होगी (सीमान्त लागत के न्यूनतम होने पर औसत लागत अनिवार्य रूपेण सीमान्त लागत से अधिक होगी)। अतः यदि फर्म ऐसी कीमत पर बिक्री करती है जो इसकी सीमान्त लागत के बराबर है तो यह बिक्री हानिप्रद होगी।

(४) इस संबंध में मतैकतता प्रतीत होती है, कि पूर्ण स्पर्द्धा की परिकल्पना को त्याग देने पर यह समस्या हल हो सकती है। अगर हम यह मानें कि उपलब्ध फर्म (कम से कम उन उद्योगों में जहां बड़े पैमाने की मितव्ययितायें महत्वपूर्ण हैं) उन कीमतों पर कुछ प्रभाव रखती है जिन पर वह माल बेचता है और फलस्वरूप कुछ हद तक, वह एकाधिकारी भी है, तो उपर्युक्त कठिनाइयां समाप्त हो जाती हैं। वह कीमत, जिस पर एकाधिकारी माल बेचता है, उसकी सीमान्त-लागत के बराबर नहीं होती है, किन्तु उससे एक ऐसे प्रतिशत से अधिक होती है जो उसके उत्पाद की मांग की लोच पर निर्भर है। अतः यह संभव है कि, यद्यपि सीमान्त लागत, औसत लागत से कम है कीमत, औसत-लागत से अधिक हो।

यहां तक तो ठीक है; फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पूर्णप्रतिस्पर्द्धा की मान्यता का सामान्यतया परित्याग और एकाधिकारी मान्यता को संपूर्ण रूप से अपनाना आर्थिक सिद्धान्तों के लिए अवश्य विनाशकारी परिणाम दिखाएगा। एकाधिकार में स्थिरता-दशायें अनिवार्य हो जाती हैं; और वह आधार, जिसपर आर्थिक

नियम निर्मित किए जा सकते हैं, समाप्त हो जाता है। न केवल गिरती हुई औसत-लागत एकाधिकार के साथ संगत है; अपितु गिरती हुई सीमान्त-लागत की एकाधिकार के साथ संगत है। वास्तव में, फर्म के अनिश्चित विस्तार को रोकने के लिए कुछ न कुछ होना चाहिए, किन्तु यह जिस तरह बढ़ती हुई सीमान्त-लागत द्वारा रोका जा सकता है, ठीक इसी तरह बाजार के सीमित होने पर भी ऐसा हो सकता है, यद्यपि वास्तव में दोनों एक साथ भी कार्यशील हो सकते हैं।

जो स्थिति पैदा होती है उसे (अब उस वस्तु बाजार को अलग से देखते हुए, अर्थात् गौण प्रतिक्रियाओं को ध्यान में न रख कर) एकाधिकारी के उत्पाद की मांग में वृद्धि के उदाहरण से समझाया जा सकता है। उत्पाद की मांग में वृद्धि इसकी कीमत को बढ़ा सकती है; या इसे घटा सकती है; क्योंकि, जो कुछ हम जानते हैं वह यह है कि कीमत सीमान्त-लागत से किसी प्रतिशत तक अधिक होनी चाहिए—निश्चित प्रतिशत तक नहीं। प्रभाव दुहरे रूप में अनिश्चित है; प्रतिशत बदल सकता है और सीमान्त-लागतें निर्गत में वृद्धि के साथ बढ़ सकती हैं और घट सकती हैं। (वास्तव में, यह भी निश्चित नहीं है कि निर्गति बढ़ेगा; अगर वृद्धि के साथ मांग कम लोचदार हो जाती है तो निर्गत गिरेगा।[६]

मैं विश्वास करता हूँ कि इस विध्वंसक परिस्थिति से कुछ भी बचा लेना केवल तभी संभव है—और यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रत्यासन्न विध्वंश में सामान्य-संस्थिति-सिद्धान्त का ही अधिकतर अंश आक्रांत है—यदि हम यह मान सकें कि अधिकतरफर्मों के, जिनपर हम बाद में विचार करेंगे, संबंधित बाजार पूर्णप्रतिस्पर्द्धी बाजारों से बहुत अधिक अंतर नहीं रखते हैं। अगर हम यह मान सकें कि कीमतें, सीमान्त लागत से जितने प्रतिशत अधिक होती हैं वह न तो बहुत हो और न ही अधिक परिवर्तनीय,[७] और यदि हम यह भी अनुमान कर सकें (जो बहुत कुछ उक्त पहले अनुमान का परिणाम है) कि सीमान्त लागतें संस्थिति-विन्दु पर सामान्यतया निर्गत के साथ बढ़ती हैं (ह्रासमान सीमान्त लागतें विरल होती हैं) तो एक पूर्णप्रतिस्पर्द्धी अर्थतंत्र के नियमों से एक ऐसे तंत्र के, जिसमें एकाधिकार के विस्तृत तत्व निहित हों अधिक भिन्नता न करनी पड़ेगी। कम से कम इस प्रकार बच निकलना प्रयोगनीय प्रतीत होता है।[८] जो भी हो, हमें इतना तो ध्यान रहना ही चाहिए कि हम एक खतरनाक कदम उठा रहे हैं और स्यात् इस प्रकार हम एक गम्भीर हद तक उन समस्याओं को सीमित कर देंगे जिनके हेतु हमारा भावी विश्लेषण प्रस्तुत किया जायगा। फिर भी व्यक्तिगत रूप से मुझे संदेह है कि इस कारण जो समस्यायें हमें निष्कासित करनी पड़ेंगी उनमें से अधिकतर का आर्थिक सिद्धान्त के तरीकों

से लाभप्रद विश्लेषण हो सकता है।

(५) आइए, अब हम पूर्णप्रतिस्पर्द्धी के मामले की तरफ लौटें। हम यह मान लें कि फर्म के पास किसी उत्पादक साधक की एक निश्चित मात्रा (उसकी निजी विशिष्ट उत्पादक अवसर) उपलब्ध हे जो कि इसे वृद्धिमान औसत लागत के अन्तर्गत उत्पादन के लिए प्रेरित करने को काफी महत्वपूर्ण है। अब हमें चाहिए कि एक कारक और उत्पाद, वाले उपर्युक्त परीक्षित उदाहरण की अपेक्षा अधिक सामान्य रूप में संस्थिति की दशायें निर्धारित करें।

अब, कोई कारण नहीं है कि हम सामान्यीकरण की किसी भी स्थिति से कम पर रुकें। प्राविधिक अवसर, जो कि एक साहसोद्यम के सम्मुख आते हैं, वास्तव में काफी उलझे हुए हो होते हैं। किसी विशिष्ठ उत्पाद को पैदा करने के लिए बहुत से कारकों की सामान्यतया आवश्यकता पड़ेगी; बहुधा, अकेले एक उत्पाद को पैदा करने की अपेक्षा बहुत से संयुक्त उत्पाद पैदा करना लाभप्रद होता है। अतः, हम सोचें कि हमारी फर्म कारक अ, ब, स, ...को उत्पाद क, ख, ग, ...में परिवर्तित करने के लिए अपने उत्पादक अवसर का प्रयोग कर रही है।

जिस तरह हमारे प्रथम सरल उदाहरण में प्राविधिक दशाओं के कारण उत्पाद की मात्रा और कारक की मात्रा के बीच केवल एक संबंध दिखाने वाले एक उत्पादन-वक्र का निर्माण हुआ था उसी तरह सामान्य उदाहरण में भी हमारे पास कारक की विभिन्न मात्राओं और उनसे प्राप्त उत्पाद की विभिन्न मात्राओं के बीच केवल एक संबंध है। (अगर हम चाहें तो हम इसे बहु-विस्तारीय पृष्ठ कह सकते हैं।) यदि यह संबंध दिया हो और कारकों की सब मात्रायें तथा एक को छोड़कर उत्पादों की सभी मात्रायें दी हों, तो बचे हुए उत्पाद की अधिकतम उत्पाद्य मात्रा निकाली जा सकती है। इसी तरह, उत्पादों की सभी मात्रायें दी हों और एक को छोड़कर कारकों की सभी मात्रायें दी हों तो बचे हुए कारक की आवश्यक न्यूनतम मात्रा निकाली जा सकती है।[९]

संगत मात्राओं के किसी भी दिए हुए समूह से प्रारंभ करके उत्पादन में जटिलता की किसी भी मात्रा का परिवर्तन आ सकता है; किन्तु ये सब निम्न तीन प्रकारों में से सब या कुछ के समूहों के रूप में वर्गीकृत किए जा सकते हैं : (१) दूसरे उत्पाद को घटाकर एक उत्पाद बढ़ाया जाय अर्थात् उसे दूसरे उत्पाद के लिए सीमान्त रूप में प्रतिस्थापित किया जाय। (२) एक कारक दूसरे के लिए प्रतिस्थापित किया जाय। (३) एक कारक और एक उत्पाद एक ही साथ बढ़ाए जायं (या घटाए जायं)।[१०]

अगर साहसोद्यमी को सभी उत्पादों और सभी कारकों की कीमतें दी हुई हों तो इसके द्वारा नियोजित कारकों और पैदा किए हुए उत्पादों की मात्रा, अतिरेक के अधिकतम होने वाली शर्त से निश्चित होगी। इसका तात्पर्य है कि फिर यह अतिरेक किसी भी परिवर्तन से बढ़ाया नहीं जा सकता। इस प्रकार 'एक कारक, एक उत्पाद' वाले उदाहरण में निर्धारित तीन दशाओं के सदृश संस्थिति की निम्न दशायें होंगी।

(१) कीमत-सीमान्त लागत, वाली शर्त के सदृश हमारे पास तीन तरह की शर्तें हैं:—

(अ) किन्हीं भी दो उत्पादों के बीच कीमत-अनुपात उन्हीं के बीच सीमान्त प्रतिस्थापन-दर के बराबर होना चाहिए (यह अब प्रतिस्थापन की प्राविधिक दर है)।

(ब) किन्हीं दो कारकों के बीच कीमत-अनुपात उनकी सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर के बराबर होना चाहिए।

(स) किसी कारक और किसी उत्पाद के बीच कीमत-अनुपात को उनके रूपान्तर की सीमान्त-दर (अर्थात् उस उत्पाद के पदों में कारक का सीमान्त उत्पाद) के बराबर होना चाहिए।

(२) फिर स्थिरता की दशायें आती हैं। किसी कारक को उत्पाद में रूपान्तरित करने के लिए हमें रूपान्तर की ह्रासमान सीमान्त-दर या ह्रासमान-सीमान्त-उत्पाद वाली शर्त जो एक-कारक एक-उत्पाद वाले मामले में पूर्व निर्धारित की जा चुकी है) रखनी पड़ेगी। एक उत्पाद के दूसरे से प्रतिस्थापन के लिए हमें 'प्रतिस्थापन की वृद्धिमान सीमान्त-दर' अर्थात् दूसरे उत्पाद के पदों में वृद्धिमान-सीमान्त-लागत (सीमान्त-अवसर-लागत) की शर्त रखनी पड़ेगी। और एक कारक के दूसरे से प्रतिस्थापन के लिए 'प्रतिस्थापन की ह्रासमान-सीमान्त-दर' की शर्त रखनी पड़ेगी।[११]

ये शर्तें न केवल, मात्र अकेले प्रतिस्थापनों और रूपान्तरों—एक उत्पाद का दूसरे उत्पाद के लिए, एक कारक का दूसरे कारक के लिए और एक कारक का एक उत्पाद में रूपांतर—के लिए ही मान्य होंगी, वरन् समूह प्रतिस्थापनों और रूपान्तरों के लिए भी होंगी। उत्पाद के समूहों के किसी भी युग्म के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्तदर को वृद्धिमान और कारकों के समूहों के किसी भी युग्म के बीच ह्रासमान होनी चाहिए; तथा कारकों के और उत्पादों के किन्हीं भी समूहों के बीच रूपान्तर की सीमान्त दर ह्रासमान होनी चाहिए।[१२]

इस अन्तिम नियम का एक परिणाम यह है कि एक उत्पाद विशेष को पैदा करने की सीमान्त लागत (मौद्रिक रूप में), निर्गत के बढ़ने के साथ, बढ़नी चाहिए

भले ही सब कारणों की पूर्तियां (निश्चित उत्पादक-अवसर को छोड़कर) परिवर्तनीय मानी जायें ।

(३) अन्त में इस शर्त के स्थान पर कि केवल धनात्मक अतिरेक हो अन्य अनेक शर्तें हैं। धनात्मक अतिरेक इसलिए होना चाहिए जिससे उत्पादन को बिल्कुल बन्द करना लाभप्रद न रह जाय । किन्तु इसी तरह आंशिक रूप से उत्पादन को बन्द कर देना अर्थात् क, ख, ग. . , .उत्पादों में से किसी एक का, या इनमें से किसी समूह का उत्पादन छोड़ देना, भी लाभप्रद न रहना चाहिए अतः, प्रत्येक उत्पाद को पैदा करने की औसत लागत बढ़ती हुई होना चाहिए ; उत्पादों के प्रत्येक समूह की जिसमें समस्त उत्पादों को अन्तर्निहित करने वाला समूह भी शामिल है, औसत लागत भी वृद्धिमान होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि इनमें से अन्तिम शर्त (जिसके प्रति, इस अध्याय में औसत लागत के संबंध में पहले जो कुछ कहा गया है, वह सब लागू होता है) ही ऐसी है जो कि वास्तव में संभवतः अधिक कष्ट देगी। क्योंकि, यह प्रतिपादित करना सापेक्षिक रूप से सरल है कि संयुक्त उत्पादनों के एक समूह में से केवल एक उत्पाद या कुछ उत्पादों के एक उप-समूह का उत्पादन सामान्यतः बढ़ती हुई औसत लागत (अर्थात् तेजी से बढ़ती हुई सीमान्त लागत) पर होगा । अगर अन्य उत्पादों के निर्गत की बिल्कुल वृद्धि न हो तो ऐसे उपसमूह का उत्पादन अत्यंत सीमित हो जायगा ।

सामान्य उदाहरण में यही संस्थिति-दशायें हैं । अब हमें पहले भाग की तरह आगे बढ़ना है । हम यह मान लेंगे कि स्थिरता दशा (२) और (३) संस्थिति दशा के आस पास सही हैं, और तब हम फर्म के लिए बाजार-व्यवहार के नियम निर्गमित करेंगे ।

क्योंकि उत्पादन के लाभदायक अवसर भिन्न होंगे इसलिए वही व्यक्ति कभी उत्पादक हो सकता है व कभी व्यापारी, अथवा कभी एक प्रकार का उत्पादक हो सकता है व कभी दूसरी प्रकार का। (अनुवादक की ओर से)

अध्याय ७

प्राविधिक संपूरकता और प्राविधिक प्रतिस्थापन

(१) अब हमें विचार करना है कि जब एक फर्म, जो कि उत्पादों की कुछ कीमतों पर और कारकों की कीमतों पर संस्थिति में रही है, इन कीमतों में कुछ अन्तर अनुभव करती है तो क्या होता है। यह कारकों की कुछ मात्राओं का प्रयोग करती रही होगी, और उत्पादों की कुछ मात्रा पैदा करती रही होगी ; ये मात्रायें किन रूपों में प्रभावित होगीं ?

यह समस्या ठीक उसके सदृश है जिस पर हमने व्यक्ति का उदाहरण लेकर दूसरे और तीसरे अध्याय में विचार किया था ; और हमारा विश्लेषण ठीक उसी प्रकार आगे बढ़ेगा। फिर भी, इसमें आश्चर्य की कोई बात न होगी यदि इस बार पहले से भिन्न विचारों की ओर हमें विशिष्ट ध्यान देना पड़े।

आइए हम उस सरलतम उदाहरण से प्रारंभ करें जिस पर हमने अन्तिम अध्याय में विस्तार से विचार किया था। साहसोद्यमी के पास स्वयं सीमित सामर्थ्य वाला उत्पादक अवसर होता है ; अन्यथा, वह केवल एक कारक को लगाए और एक उत्पाद पैदा करे। अतः उसकी संस्थिति की दशा अन्तिम अध्याय के चित्र १९, और चित्र २० के जो कि आगे दिया है, 'प' विन्दु द्वारा दर्शित स्थिति के समान है। अब अनुमान कीजिए कि कारक की कीमत गिरती है। निर्गत में कोई भी परिवर्तन करने के पहले इसका तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि उसका अतिरेक 'ओ फ' से 'ओ फ१' तक बढ़ जायगा। किन्तु, क्योंकि रेखा 'प फ१' उत्पादन-वक्र का स्पर्श नहीं करती, 'ओ फ'१ ऐसा अधिकतम अतिरेक नहीं है जो कि वह नई दशाओं में प्राप्त कर सकता है। उत्पादन वक्र के साथ 'प", जहां स्पर्श रेखा प'फ२, प फ१ के समानान्तर है, की तरफ बढ़ना उसके लिए लाभप्रद होगा।

क्योंकि उत्पादन वक्र ऊपर की तरफ उत्तल है अर्थात् ह्रासमान-सीमान्त-उत्पाद (अर्थात् ह्रासमान-सीमान्त-उत्पाद या वृद्धिमान-सीमान्त-लागत की दशा है) बिन्दु

प', जहां स्पर्श रेखा प बिन्दु की अपेक्षा दाहिनी ओर ऊपर की तरफ कम तीव्रता से ढालू है, को प के दाहिने तरफ होना चाहिए। अतः कारक की कीमत गिरने पर इस कारक की अधिक मात्रा काम में लायी जायेगी। फलतः उत्पाद के निर्गत में वृद्धि होगी।

उत्पाद की कीमत में वृद्धि भी, जिसमें कि स्पर्श रेखा के ढाल का कम हो जाना निहित है, ठीक इसी तरह के प्रभाव रखेगी।

ये प्रारंभिक परिणाम हैं ; किन्तु उन रीतियों से जिनके द्वारा हम उन तक
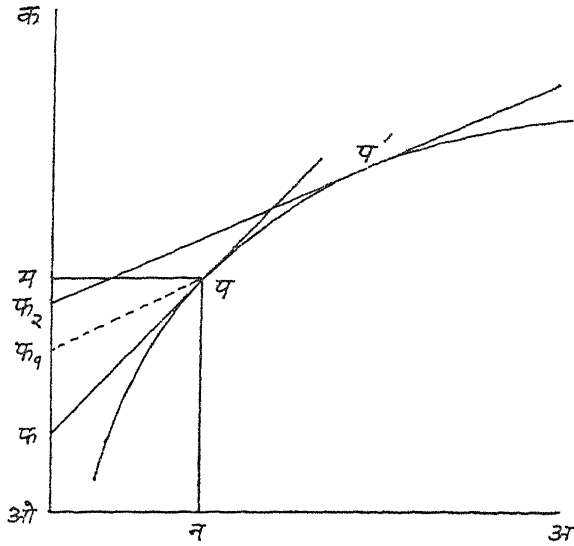
चित्र—२०

पहुंचे हैं अन्य और अधिक रोचक निष्कर्ष निकलते हैं। कीमतों में एक परिवर्तन, ठीक उसी तरह जैसे व्यक्तियों के साथ, फर्म को एक ऐसी स्थिति में ले जाता है जिसका प्रतिनिधित्व एक दूसरे तरह के ढाल वाली नई स्पर्श-रेखा के स्पर्श-बिन्दु के रूप में किया जा सकता है। किन्तु व्यक्ति के साथ नई स्पर्श रेखा एक भिन्न वक्र को छूती है; फर्म के साथ यह उसी वक्र को छूती है। अतः उत्पादन के मामले में, हमारे पास उस आय-प्रभाव जैसी कोई चीज नहीं है जिसने उपयोगिता-सिद्धान्त में हमें इतना अधिक कष्ट दिया था। मात्र 'उत्पादन-प्रभाव' विशेषता में प्रतिस्थापन-

प्रभाव की तरह है ; यह उस वक्र (इस उदाहरण में उत्पादन-वक्र, जिस तरह पहले वाले उदाहरण में अनधिमान-वक्र) के साथ की गति है, जिसकी विशेषतायें हम स्थिरता दशाओं से जानते हैं ।

किन्तु उत्पादन-प्रभाव के अन्दर, प्रतिस्थापन-प्रभाव की तरह, एक दूसरी उलझन है—सम्पूरकता की उलझन । वास्तव में, यह उपयोगिता-सिद्धान्त की अपेक्षा उत्पत्ति-सिद्धान्त में अधिक अन्तर्निहित है । क्योंकि, उपयोगिता-सिद्धान्त में जहां हमें ऐसी वस्तुओं के बीच संबंध समझने थे जो कि (एक अर्थ में) एक जैसी मानी जा सकें, यहां हमें दो तरह की वस्तुओं पर विचार करना है—कारक और उत्पाद । उनके परस्पर-संबंध और विपरीत-संबंध को खुल कर समझने के लिए कुछ प्रयास आवश्यक है ।
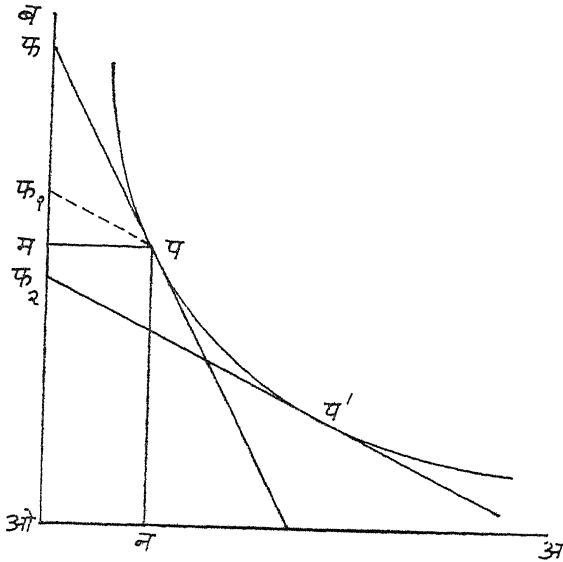
चित्र–२१

(२) सुलझाव में पहले कदम के रूप में, हम एक अपेक्षाकृत अधिक काल्पनिक उदाहरण की रचना करें जिसमें कारक और उत्पाद के बीच के संबंध से हमें परेशानी नहीं होगी । अनुमान कीजिए कि निर्गत, जिसे फर्म को पैदा करना है, निश्चित है, जिससे कि यह कीमतों में साधारण परिवर्तनों से प्रभावित न होगा। जो भी हो, यह भी अनुमान कीजिए कि अ और ब दो कारक नियोजित हैं । अब समस्या यह है

कि दिए हुए निर्गत को एक न्यूनतम लागत पर पैदा करना है। यह रेखाचित्र २१ से स्पष्ट किया जा सकता है। उत्पादन वक्र नीचे की तरफ उत्तल होता हुआ (कारकों के बीच प्रतिस्थापन की ह्रासमान-सीमान्त-दर) एक अनविमान-वक्र की तरह बन जायगा। स्थिति 'प', जहां प फ उत्पादन-वक्र को स्पर्श करती है, एक संस्थिति-बिन्दु होगा, यदि कारकों की कीमतों के अनुपात म फ से प म के अनुपात की तरह हों। अब अनुमान कीजिए कि अ की कीमत गिरती है। अब ब कारक की मात्रा, जो अ की ओ न मात्रा के बराबर मूल्य रखती है म फ से म फ१ तक गिर जाती है : और उत्पादन की कुल लागत (कारक ब के पदों में) ओ फ से ओ फ१ तक गिर जाती है। किन्तु क्योंकि पफ१ उत्पादन वक्र को नहीं छूता है, उत्पादन वक्र के साथ प' तक जा कर जहां प' फ२ प फ१ के समानान्तर है, लागतें और भी कम (ओ फ२ तक) की जा सकती हैं।

संस्थिति के नए बिन्दु पर अ अधिक और ब कम नियोजित होता है: अ के पक्ष में और ब के विपक्ष में प्रतिस्थापन हुआ है। परिणाम पूर्णतया वैसा ही निश्चित है जैसा कि एक-कारक और एक-उत्पाद वाले मामले में। उसमें 'अ' की कीमत का ह्रास 'क' उत्पाद की पूर्ति में विस्तार की ओर ले गया था ; यहां यह ब कारक की मांग में संकुचन की ओर ले जाता है। प्रत्येक प्रभाव अनिवार्य है।

(३) उपयोगिता-सिद्धान्त के साथ सादृश्य को स्मरण रखते हुए, हम यह पाने की आशा करेंगे कि हम इन दोनों मामलों में इस तरह के निष्कर्ष अनिवार्यतः पाते हैं, क्योंकि, इनमें से प्रत्येक में हम केवल दो चलों के साथ कार्य कर रहे हैं—एक-कारक और एक उत्पाद, अथवा, दो कारक। जैसे ही हम अधिक उलझे हुए मामलों पर जाते हैं तो निश्चितता के समाप्त होने की आशंका हो सकती है।

अनुमान कीजिए कि फर्म को अब भी एक निश्चित निर्गत पैदा करना है, किन्तु किन्तु अब वह तीन कारकों, अ,ब,स, को योजित करता है। अनुमान कीजिए कि अ की कीमत गिरती है। तब, क्योंकि ब और स की कीमतों के अनुपात अपरिवर्तित रहते हैं, उन्हें मात्र एक कारक समझा जा सकता है।[१] परिणामतः, अ की मांग अब भी अनिवार्यतः बढ़नी चाहिए ; और ब और स की मांग (एक साथ लेने पर) संकुचित होनी चाहिए। अन्य कारकों (एक साथ लिए जाने पर) की मात्रा घटाकर अ के पक्ष में प्रतिस्थापन होना चाहिए।

फिर भी, पहले की तरह यह अनिवार्य नहीं है कि अन्य कारकों में से प्रत्येक की मात्रा घटाकर प्रतिस्थापन हो। ब, अ के साथ संपूरक हो सकता है, जिससे, ब की मांग बढ़ेगी। तब स की मात्रा घटाकर अ और ब के पक्ष में प्रतिस्थापन होगा।

उपयोगिता-सिद्धान्त की तरह, 'अ' और 'ब' के संपूरक होने के लिए यह शर्त है कि 'स' के लिए 'अ' का प्रतिस्थापन ('ब' की मात्रा अपरिवर्तित रखी जाय) 'स' के लिए 'ब' की सीमान्त प्रतिस्थापन दर को 'ब' के पक्ष में स्थानान्तरित करे।

इस प्रकार, जहां तक निर्गत अपरिवर्तित रखा जाता है, और हम केवल कारकों के बीच प्रतिस्थापन को ही विचारते हैं, ठीक वैसे ही नियम दृष्टिगोचर होते हैं जैसे कि हमने उपभोक्ता के बजट में प्रतिस्थापन-प्रभाव के लिए पाए थे। यह स्पष्ट है कि व्यवहार में ठीक ऐसी ही बात होती यदि हम एक ऐसे फर्म के मामले पर विचार करते जो कारकों की अपरिवर्तनशील मात्रा नियोजित किए हुए हो और विभिन्न संयुक्त-उत्पादों के उत्पादन में, कीमतों के परिवर्तन के प्रभावस्वरूप, परिवर्तन कर रहा हो। केवल तब 'क' की कीमत में वृद्धि अन्य सामान्य उत्पादों के विपरीत, किन्तु स्यात् कुछ सम्पूरक उत्पादों के पक्ष में, क के अनुकूल प्रतिस्थापन की ओर ले जायगी।

(४) अब, जब कि दोनों, कारकों और उत्पादों, की मात्रायें परिवर्तनीय हैं, क्या होता है ? यह अति महत्वपूर्ण मामला है।

अनुमान कीजिए कि फर्म एक उत्पाद 'क' का उत्पादन कर रहा है और 'अ' और 'ब' दो कारकों को योजित करता है। तब, क्योंकि कारकों और उत्पादों की मात्राओं को मिलाने वाला संबंध अब भी उसी प्रकार की विशेषतायें रखता है जिनके कि हम आदी हो गए हैं, 'अ' की कीमत गिरने पर उसकी मांग अनिवार्यतः बढ़नी चाहिए। किन्तु 'ब' की मांग पर और 'क' की पूर्ति पर क्या प्रभाव होंगे ? अगर हम पृथक् रूप में उत्पाद पर पड़ने वाले प्रभाव को देखें तो यह प्रतीत होगा कि उत्पाद की पूर्ति अनिवार्यतः बढ़नी चाहिए (चित्र २०); यदि हम पृथक् रूप में अन्य कारक की मांग पर पड़ने वाले प्रभाव को देखें तो यह प्रतीत होगा कि इसे निश्चित रूप से संकुचित होना चाहिए (चित्र २१); किन्तु यह तर्क का उचित रूप नहीं है। यदि इसी तरह का तर्क तीन कारकों वाले उदाहरण, जिस पर हम अभी विचार कर चुके हैं, पर लागू किया गया होता तो ऐसा प्रतीत होता कि 'ब' और 'स' की मात्रा घटाकर ही 'अ' की मांग बढ़ना चाहिए। हम जानते हैं कि यह अनिवार्य नहीं है ; या तो ब अथवा स, अ के साथ संपूरक हो सकते हैं।

दो-कारक और एक-उत्पाद वाले मामले में संपूरकता के विचार को लागू करते हुए यह प्रतीत होगा कि ऐसे तीन रास्ते हैं, जिनमें अ की माँग की वृद्धि संतुलित की जा सकती है :

(१) 'क' उत्पाद की पूर्ति बढ़े और दूसरे कारक 'ब' की मांग घटे (यहां कोई संपूरकता वर्तमान नहीं है)।

(२) 'क' की पूर्ति बढ़े किन्तु 'ब' की मांग भी बढ़े (यहां कारक 'अ' और 'ब' संपूरक हैं)।

(३) 'ब' कारक की मांग घटा दी जाय, किन्तु, 'क' उत्पाद की पूर्ति भी घटायी जाय। यहां कारक और उत्पाद के बीच विलक्षण प्रकार की प्रतिलोमित संपूरकता है। यह स्पष्ट होता जा रहा है (वास्तव में, इस अध्याय के चित्र २० और २१ की तुलना से यह प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है) कि कारक और उत्पाद में साधारण संबंध (कि एक कारक की बढ़ी हुई वृत्ति बढ़े हुए उत्पाद में प्रतिफलित होती है) वस्तुओं के बीच, कारकों के बीच या उत्पादों के बीच प्रतिस्थापन के संबंध के साथ बहुत सी समान विशेषतायें रखता है। किन्तु यदि यह साधारण संबंध प्रतिस्थापन के सदृश है तो यह प्रतीत होता है कि कोई चीज ऐसी भी होनी चाहिए जो संपूरकता के सदृश हो। यह इस प्रकार है। हम इसे प्रतीपायन कहें। अगर कारक 'अ' और उत्पाद 'क' प्रतीपायित है तो 'ब' के लिए 'अ' का प्रतिस्थापन क के पदों में 'ब' के सीमान्त-उत्पाद को घटा देगा और इसलिए ('क' और 'ब' की दी हुई कीमतों पर) 'क' की पूर्ति को संकुचित कर देगा।

मैं समझता हूँ कि इस स्थल पर पाठकों की आंखें आश्चर्य से फैलेंगी और वे कहेंगे कि इस तर्क में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य है। प्रतीपायन एक ऐसा अनोखा संबंध है कि सामान्य बुद्धि के साथ इसका समझौता कराना कठिन है। यह प्रतीत होगा कि कुछ न कुछ छूट गया है जो या तो प्रतीपायन को बहिर्गत करता है, या कम से कम इसकी संभावना को बुरी तरह से सीमित करता है। हम देखें कि वह क्या हो सकता है।

(५) जहां एक ओर तीसरा विकल्प ('अ' और 'क' का प्रतीपायित होना) पूर्ण रूप से असंभव प्रतीत होता है, दूसरा विकल्प (अ और ब सम्पूरक) सामान्य बुद्धि को तुरंत ही स्वीकृत है। हम देखेंगे कि यही भ्रान्ति की कुंजी है। इसके लिए कारण हैं कि हम क्यों अपने तीन विकल्पों को संभावना के क्रम में रख सकते हैं। सर्वाधिक संभाव्य यह है कि अ और ब संपूरक होंगे, इसके बाद यह कि न तो कोई संपूरकता उपस्थित होगी और न प्रतीपायन और सब से कम यह कि प्रतीपायन हो। इसके लिए कारण सब एक दूसरे पर अवलंबित हैं।

सर्वप्रथम, हम एक सीमांतिक उदाहरण लें, जिसमें यह सिद्ध करना संभव है कि दो कारकों को अवश्यमेव संपूरक होना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि

यदि 'अ' की वृत्ति में वृद्धि हो और 'ब' अपरिवर्तित रहे और जिससे हुई 'क' के निर्गत की वृद्धि 'ब' को 'क' में रूपान्तरित करने की सीमान्त दर को ब के पक्ष में करता है, अर्थात्, ब का सीमान्त-उत्पाद बढ़ाता है, तभी दोनों कारक संपूरक होंगे। (दो कारकों के संपूरक होने का प्रमाण सुस्थापित और परिचित दो कारकों के सहयोगी होने के अतिरिक्त कुछ नहीं है ; एक की वृद्धि को दूसरे का सीमान्त-उत्पाद अवश्य बढ़ाना चाहिए ।[२] इस संबंध में हम वर्तमान में स्वीकृत परिभाषाओं में विघ्न नहीं डालाना चाहते ![३]

अब इस पर विचार कीजिए कि उत्पादन की उन विशिष्ट दशाओं में क्या होगा, जब साहसोद्यम के निश्चित 'उत्पादक अवसर' की देन लुप्त हो जाती है जिससे बढ़ते हुए निर्गत के साथ लागतें नहीं बढ़ती ; और जिसमें बड़े पैमाने की कोई भी मितव्ययिता उपस्थित नहीं होती जिससे बढ़ते हुए निर्गत के साथ लागतें गिरती भी नहीं हैं, और स्थिति ठीक पूर्णप्रतिस्पर्द्धा के अनुरूप हो जाती है। लागतें (दोनों औसत और सीमान्त) स्थिर हैं; अतिरेक शून्य हैं ; ऐसी स्थिति में जब प्रत्येक कारक को सीमान्त उत्पाद के बराबर प्रति इकाई कीमत दी जाती है तो पूर्ण-उत्पाद ठीक वितरित हो जाता है।[४] क्योंकि सीमान्त-लागत अपरिवर्तित है, अतः दोनों कारकों में एक साथ हुई अनुपातिक वृद्धि के कारण हुई उत्पाद की वृद्धि (एक साथ लिए जाने पर दोनों कारकों का सीमान्त-उत्पाद) अपरिवर्तित रहनी चाहिए। किन्तु यह संयुक्त-सीमान्त-उत्पाद चार भागों से बना है :

(१) 'ब' को अपरिवर्तित रख कर अ का सीमान्त-उत्पादन ;

(२) साथ साथ ब की वृद्धि के कारण सीमान्त-उत्पाद की वृद्धि (या ह्रास) यदि अ और ब संपूरक है तो वृद्धि होगी और यदि प्रतिस्थापन तो ह्रास ;

(३) 'अ' को अपरिवर्तित रख कर 'ब' का सीमान्त उत्पाद ;

(४) 'अ' की वृद्धि के कारण पूर्ववत् वृद्धि (या ह्रास)। इस पर पहले जैसा नियम लागू होता है।

अब हम यह जानते हैं कि जैसे जैसे कारकों की योजित मात्रा बढ़ती है इनमें से पहला और तीसरा भाग कम होता जाता है। किन्तु हम यह जानते हैं कि कुल जमा कम नहीं होती। अतः पहले और तीसरे का ह्रास दूसरे और चौथे की वृद्धियों से पूरा हो जाना चाहिए। अतः कारक 'अ' और 'ब' को संपूरक होना चाहिए।

इस प्रकार यदि निश्चित 'उत्पादक अवसर' उत्पादन के पैमाने को सीमित करने के लिए कुछ नहीं करता तो दोनों कारकों को संपूरक होना चाहिए। जैसे ही यह वृद्धि को सीमित करने के लिए कुछ करता है तो दोनों कारक वास्तव में अनिवार्यतः

संपूरक नहीं रह जाते । किन्तु तब भी उस दिशा में एक संभावना है, यदि दोनों कारकों का संयुक्त-सीमान्त-उत्पाद धीरे धीरे कम होता है। एक उत्पाद को बनाने के लिए जब केवल दो कारक योजित हैं और उस उत्पाद का निर्गत अस्थिर है तो दोनों कारक तभी प्रतिस्थापन हो सकते हैं जब दो शर्तें पूरी होती हों : साहसोद्यमी के अचल साधनों को उत्पादन में काफी सहयोग देना चाहिए और कारकों को ऐसा होना चाहिए कि वे एक दिए हुए निर्गत के उत्पादन में निकट प्रतिस्थापन हों ।[७]

अब हम एक ऐसी स्थिति में हैं कि विचित्र मामले--प्रतीपायन--की व्याख्या कर सकते हैं । यदि 'अ' और 'क' प्रतीपाक्ति हैं तो अ और ब को प्रतिस्थापन होना चाहिए । अतः साहसोद्यमी के निश्चित साधनों का उत्पादन को सीमित करने में महत्वपूर्ण हाथ होगा । अ की वृत्ति की वृद्धि से उद्यम के साधन का ब के सहयोग से निकलकर अ के सहयोग में आ जाना चाहिए। और इस प्रक्रिया के फलस्वरूप निर्गत में ह्रास होना चाहिए । और तब अ कारक को ऐसा होना चाहिए कि इसका नियोजन मुख्य रूप से उत्पाद के लघु पैमाने के उत्पादन के अनुरूप हो और 'ब' कारक दीर्घ पैमाने के उत्पादन के लिए । तब यह संभावित हो जाता है कि अ की कीमत में कमी जिससे अ का अधिक मात्रा में नियोजन लाभप्रद हो जाता है केवल लघु पैमाने के उत्पादन को प्रोत्साहित करने से ही चरितार्थ हो सकता है; और तब साहसोद्यमिक साधन ब के सहयोग में दीर्घ पैमाने के उत्पादन से निकल कर अ के सहयोग में लघु पैमाने के उत्पादन में लगा दिए जाते हैं । इस प्रकार निर्गत घट सकता है । प्रतीपायन वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि के रूप में प्रतिलक्षित होता है; जो, यदि निश्चित साहसोद्यमिक साधन काफी महत्वपूर्ण हैं, ठीक पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अनुरूप है । फिर भी, यह उसकी संभावना प्रतीत नहीं होती जिसका हमें काफी लेखा-जोखा लेने की आवश्यकता है ।[८]

(६) अब हम अन्ततोगत्वा एक ऐसी स्थिति में हैं जिसमें इन विशेष उदाहरणों का समाधान कर चुके हैं ; हम एक फर्म के ऐसे सामान्य उदाहरण की तरफ जा सकते हैं जो कारकों की कितनी भी संख्या योजित कर सकती है, और उत्पादों की कितनी भी संख्या पैदा कर सकती है । अब भी यह अनुमान करना चाहिए कि कारक एक सीमित शक्ति के निश्चित उत्पादक-अवसर के साथ सहयोग कर रहे हैं जिससे वृद्धिमान सीमान्त लागत की शर्त पूरी हो जाती है ।

हम यह देखें कि क्या होता है (१) यदि एक कारक की कीमत परिवर्तित होती है, (कारकों और उत्पादों की अन्य कीमतें दी हों) ; (२) जब अन्य कीमतें दी होने पर एक उत्पाद की कीमत में परिवर्तन होता है ।

(१) यदि 'अ' कारक की कीमत में ह्रास होता है तो उस कारक की मांग

बढ़ जानी चाहिए । इस बढ़ी हुई वृत्ति को किसी तरह संतुलित होना चाहिए ; परिणामतः या तो किसी उत्पाद की पूर्ति बढ़ना चाहिए या किन्हीं अन्य कारकों की मांग संकुचित होनी चाहिए , या दोनों । हम देख चुके हैं कि जब केवल एक ही अन्य कारक 'ब' होता है तो ब की मांग संभवतः अवश्य बढ़ जाना चाहिए (अ और ब संपूरक) । चाहे अन्य कारक कितने भी हों यही बात तब भी मान्य दिखाई जा सकती है ।[७] यदि सहसोद्यमी के निश्चित साधन उत्पादन को सीमित करने में कोई विशेष महत्व नहीं रखते तो वृत्ति प्राप्त कारकों का संपूर्ण-समूह एक ऐसा परस्पर-संपूरक-समूह बनाएगा जिसके प्रत्येक युग्म संपूरक हों । जैसे ही निश्चित साधन महत्वपूर्ण हो जाते हैं, केवल तभी कारकों के कुछ युग्मों के प्रतिस्थापन्न होने की संभावना प्रतीत होने लगती है—और अन्ततोगत्वा कुछ कारक-उत्पाद संबंधों में प्रतीपायन की संभावना भी प्रतीत होने लगती है ।[८]

तब एक कारक की कीमत में ह्रास का टिपिकल परिणाम इस प्रकार है : कि उत्पादों की पूर्तियां बढ़ेंगी और अन्य कारकों की मांग भी बढ़ेगी । किन्तु जब निश्चित साधन काफी प्रभावशाली होते हैं, इन सामान्य नियमों में से प्रत्येक के लिए अपवादों की एक सीमित मात्रा संभव है, कुछ कारक पहले कारक के लिए प्रतिस्थापन हो सकते हैं, कुछ उत्पाद इसके विपरीत प्रतीपायित हो सकते हैं ; प्रतिस्थापन्न कारकों के लिए मांग और प्रतीपायित उत्पादों के लिए पूर्तियां घटेंगी ।

(२) यदि किसी उत्पाद क की कीमत में वृद्धि होती है (अन्य कीमतें अपरिवर्तित रहें) तो 'क की पूर्ति बढ़ना चाहिए। यह बढ़ी हुई पूर्ति केवल कारकों की बढ़ी हुई वृत्ति से ही संभव की जा सकती है, या अन्य उत्पादों के निर्गत को कम करके की जा सकती है, या दोनों प्रकार से। उत्पादों के बीच संपूरकता की प्रबल आशा के लिए अनिवार्यतः वही कारण हैं जो कारकों के बीच प्रबल आशा के लिए (यदि उत्पादन में साहसोद्यमी के निश्चित साधनों का योग उपेक्षणीय है, तो सभी उत्पादों को संपूरक होना चाहिए) । इस प्रकार, यद्यपि अपवाद संभव है, इस बात की संभावना है कि अन्य उत्पादों में से अधिकतम के निर्गतों की बढ़ने की प्रवृत्ति होगी। निर्गत में सामान्य वृद्धि के लिए कारकों की वृत्ति में सामान्य वृद्धि द्वारा अनुरूप होना आवश्यक है; यद्यपि, एक बार पुनः यह कह देना उपयुक्त होगा कि प्रत्येक कारक के लिए यह निश्चित नहीं है।

टिपिकल स्थिति यह है कि एक उत्पाद की कीमत में हुई वृद्धि अन्य उत्पादों की पूर्ति में वृद्धि और कारकों की मांग में वृद्धि ला देगी। प्रतिस्थापन्न-उत्पाद और प्रतीपादित कारक केवल एक सीमा तक ही संभव होंगे।

ये वे सिद्धान्त हैं जो एक फर्म के बाजार-व्यवहार को निश्चित करते हैं। वे, उनसे जो कि व्यक्ति के व्यवहार को निश्चित करते हैं, दो मुख्य रूपों में भिन्न हैं : प्रथम आय-प्रभाव अनुपस्थित हैं, द्वितीय, एक ही फर्म में संयुक्त रूप से उत्पादित उत्पादों और एक ही फर्म में संयुक्तरूप से योजित कारकों की संपूरक होने की प्रवृत्ति होती है। जब कि प्रतिस्थापन्न-उत्पाद और प्रतिस्थापन-कारक रह सकते हैं, उनके प्रबल होने की संभावना नहीं है।

अध्याय ८

उत्पत्ति की सामान्य संस्थिति

(१) अब हम एक अनन्तिम संश्लेषण के लिए प्रयत्न करने की स्थिति में हैं। हम देख चुके हैं (अध्याय १–३ में) कि व्यक्ति की संस्थिति को कौन कौन से तत्व निर्धारित करते हैं और कीमतों के परिवर्तन द्वारा व्यक्ति से किस तरह की प्रतिक्रियाओं की प्रत्याशा की जा सकती है। अध्याय ४ और ५ में हमने इन सिद्धान्तों को एक अर्थतंत्र की कार्यप्रणाली की, जिसमें केवल ऐसे ही निजी व्यक्ति हैं, व्याख्या करने में प्रयुक्त किया है जिससे एकमात्र संभव आर्थिक-प्रक्रिया वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय थी। अंत में, बाद के दो अध्यायों में हमने एक नए प्रकार की जिस आर्थिक इकाई का प्रयोग किया है, वह है फर्म; और हमने वे सिद्धान्त खोजे हैं जो उसके बाजार-व्यवहार को निश्चित करते हैं। इस प्रकार हम अन्त में इस स्थिति में भी आ जाते हैं कि हम एक ऐसे अर्थतंत्र की कार्यप्रणाली का परीक्षण कर सकते हैं जिसमें दोनों तरह की इकाइयां हों—निजी व्यक्ति और फर्म; जिससे कीमत निकाय न केवल विनिमय को व्यवस्थित करता है, अपितु उत्पादन को भी व्यवस्थित करता है।

मात्र यह तथ्य, कि यह उत्पादन पर विचार करता है, उत्पादन की सामान्य-संस्थिति की परिकल्पना को, जैसा कि हम इस अध्याय में देखेंगे, विनिमय की सामान्य-संस्थिति से भी अधिक व्यापकता प्रदान करता है। यह वास्तव में अभी भी एक काफी अच्छी तरह विकसित निकाय है जिसमें इतनी अधिक आर्थिक समस्याओं का समावेश हैं कि पिछली शताब्दी के अर्थशास्त्रियों द्वारा अपनाए हुए विचारों के अनेक निकाय इसके अन्दर आ जाते हैं और इसके सरलतम रूपों में गिने जाते हैं। मैं विश्वास करता हूं कि वितरण या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जैसे क्षेत्र में ऐसी बहुत सी समस्यायें हैं, विशेषकर दीर्घकालीन समयायें, जिनके संबंध में यह काफी पर्याप्त परिकल्पना है : अतः इसका प्रयोग काफी निरापद है। किन्तु ऐसे अन्य क्षेत्र हैं जहां इसका

प्रयोग करना अत्यधिक असुरक्षित है; वास्तव में इस निकाय का दुरुपयोग आर्थिक सिद्धान्त में भूलों का सबसे बड़ा कारण है। क्योंकि यह अब भी आर्थिक, जीवन के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों से दूर है, इसके द्वारा उन पक्षों से संबंधित किसी भी विषय का अध्ययन सप्रभाव रूप से नहीं किया जा सकता।

स्यात् इसकी मुख्य त्रुटियां संख्या में तीन वर्गों में हैं। प्रथम, यह एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की तरफ कोई ध्यान नहीं देता; जैसा कि मैं स्पष्ट कर चुका हूं, मैं नहीं चाहता कि इस दोष के महत्व को अतिरंजित किया जाय। द्वितीय, यह राज्य की आर्थिक क्रियाओं से पृथक् है। यह दोष बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु क्योंकि राज्य एक बहुत ही अगम्य आर्थिक इकाई है, आर्थिक सिद्धान्त में जिस हद तक इसकी क्रियाओं का विचार रखा जा सकता है, वह बहुत कुछ सीमित है। (अतः यह वास्तव में आर्थिक सिद्धान्त एक प्रकार से सामान्य रूप में कमी है।) अंतिम, यह पूंजी और व्याज, बचत और विनियोग, और उन बहुत सी क्रियाओं के मिश्रण से पृथक् है जिन्हें हमने पहले के एक अध्याय में 'सट्टा' कहा है। यह भी एक बहुत महत्वपूर्ण दोष है जिसे ठीक करने के लिए हम इस पुस्तक के आगे आने वाले भाग में प्रयत्न करेंगे। फिर भी, तब यह स्पष्ट होगा कि हम इस अध्याय में अपने रास्ते से भटक नहीं रहे हैं।

(२) अब हमें ऐसे निकाय पर विचार करना है जिसमें दो प्रकार के व्यक्ति हैं—निजी व्यक्ति और साहसोद्यमी। इन दो वर्गों में इस तरह से अन्तर किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति दो तरह के साधनों में से एक या दोनों तरह के साधनों की पूर्ति रखता है—(१) उत्पादन के ऐसे कारक जो बाजार में बेचे जा सकते हैं (२) साहसोद्यमिक साधन जो इस तरह से नहीं बेचे जा सकते, किन्तु, जो अन्य तरह के कारकों के साथ ऐसे उत्पादों को पैदा करने के लिए प्रयुक्त किए जा सकते हैं जो बेचे जा सकते हैं। कारकों और उत्पादों के लिए बाजार-कीमतों की श्रेणी दी हुई होने पर कोई भी व्यक्ति, जो साहसोद्यमिक साधन रखता है, यह निश्चित करने में समर्थ हो सकता है कि उन साधनों का उत्पादन में प्रयोग करने से कुछ धनात्मक अतिरेक प्राप्त होगा या नहीं। अगर ऐसा होगा, तो वह साहसोद्यमी बन जाता है। साहसोद्यमी के रूप में वह यह निश्चित करेगा कि उत्पादन का कैसा प्रबंध उसके अतिरेक को अधिकतम बनाएगा। कीमतों के दिए हुए होने पर यह सर्वाधिक लाभजनित व्यवस्था प्रविधि की अवस्था और उसके साहसोद्यमिक साधनों की सीमा द्वारा निर्धारित होगी; परिणामतः उसकी कारक-मांग और उत्पादों की पूर्ति (व्यापार के संबंध में) निर्धारित है; अतः, उसके अतिरेक की मात्रा निर्धारित

है। अब यह अतिरेक उसके निजी खाते (उसके खाते का वह भाग जहां उसके निर्णय निजी व्यक्ति के निर्णयों के समान हो जाते हैं) की आय का अंश बन जाता है।

निजी व्यक्ति को, जिसके पास केवल पहली तरह के कारक हैं, या, जो अपने साहसोद्यमिक साधनों को प्रयोग करने योग्य नहीं समझता है, निम्न निर्णय करना पड़ता है (१) वह अपने कारकों की कितनी पूर्ति बेचेगा—उदाहरण के लिए वह कितना श्रम करेगा; तथा (२) वह इस तरह प्राप्त अन्य का कितना मांग प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं पर खर्च करेगा। कीमतों का निकाय और अधिमान्यताओं का माप दिया हुआ होने पर ये निर्णय एक ही तरह से किए जाने चाहिए। अतः, निजी व्यक्तियों के कारकों की पूर्ति और वस्तुओं की मांग निर्धारित है।

साहसोद्यमी को भी जो साहसोद्यमिक साधन बिक्री-योग्य कारकों को (या स्यात् इनके बिना) रखते हैं, अपने निजी खाते के संबंध में ऐसे ही निर्णय लेने पड़ते हैं। वह अपनी आय को कारकों की पूर्ति से प्राप्त आय के साथ साथ अतिरेक के रूप में भी कमाता है। कीमतों के दिए हुए होने पर यह दोनों निर्धारित हैं; अतः उसकी वस्तुओं के लिए मांग निर्धारित है।

हम साहसोद्यमियों और निजी व्यक्तियों, दोनों को साथ साथ लें तो यदि कीमतों का निकाय दिया हुआ हो, प्रत्येक वस्तु की हर तरह की मांग और पूर्ति निर्धारित है। ठीक तो यह है कि हमें बाजार को चार भागों में विभाजित करना है : (१) उत्पादों के लिए ऐसे बाजार, जहां मांग का उदय (निजी व्यक्तियों और साहसोद्यमियों के) निजी कारणों से होता है और पूर्ति का उदय साहसोद्यमियों के व्यापारिक कारणों से (अर्थात् फर्म से) होता है। (२) कारकों के बाजार, जहां मांग का उदय फर्मों के कारण होता है और पूर्ति का निजी कारणों से; (३) प्रत्यक्ष सेवाओं के बाजार जहां मांग और पूर्ति दोनों निजी कारणों से उदय होती है; (४) माध्यमिक उत्पादों के (ऐसे उत्पादों के, जो एक फर्म के लिए तो उत्पाद हैं और दूसरे के लिए कारक) बाजार, जहां मांग और पूर्ति दोनों ही फर्म द्वारा की जाती हैं। सभी तरह के बाजारों में कीमत-निकाय दिए होने पर, मांग और पूर्ति निर्धारित होते हैं।

समीकरण के संख्या के संबंध में यहां भी वैसी ही थोड़ी सी उलझन है जैसी विनिमय-सिद्धान्त में थी। एक वस्तु को आधार-वस्तु के रूप में लिया जाना चाहिए और यदि यह मान लें कि कुल मिलाकर 'न' वस्तुएं हैं, तो 'न–१' कीमतें निर्धारित करनी होती हैं। यों तो 'न' समीकरण होते हैं किन्तु एक समीकरण शेष समीकरणों से निर्धारित हो जाता है। बाजार—संस्थिति न होने पर भी खातों को (चाहे वह

निजी खाते हों या व्यापारिक) संतुलित होना चाहिए; इसका तात्पर्य है कि यदि 'न—१' बाजार संस्थिति में हैं तो शेष एक बाजार को भी संस्थिति में होना चाहिए।

(३) मात्र, फर्म-संस्थिति संबंधी आधुनिक विचारों की पृष्ठभूमि में उनके तर्कों को थोड़ा सा ठीक करते हुए अभी तक हमने वाल्रा और पैरेटो के पद-चिन्हों का अनुसरण किया है। किन्तु, जब हम निकाय की स्थिरता पर विचार करते हैं और इसकी कार्यप्रणाली की परीक्षा करने को उद्यत होते हैं तो दोनों अर्थशास्त्रियों से मार्ग-दर्शन नहीं मिलता।

उत्पादन-संस्थिति की स्थिरता का परीक्षण हमें उसी तरह करना है जिस तरह अध्याय ५ में हम विनिमय-संस्थिति की स्थिरता का परीक्षण कर चुके हैं। फिर भी सौभाग्य से हमारे लिए यह अनिवार्य नहीं है कि हम पहले की तरह उलझी हुई और किंचित कष्टप्रद खोज में प्रविष्ट हों। क्योंकि अब भी हम बाजारों की स्थिरता से संबंधित हैं; हम अपनी पूर्व-खोज के यथाविधि परिणामों को लेकर हम वर्तमान समस्या का विश्लेषण कर सकते हैं।

हम देखेंगे कि एक जगह को छोड़कर उक्त परिणामों का प्रयोग बिल्कुल निर्विघ्नता से आगे बढता है। वास्तव में, हमने पिछले अध्याय में कीमत-परिवर्तन का केवल एक फर्म की मांग और पूर्ति पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार किया था। अब हमको फर्मों के समूह पर पड़ने वाले प्रभाव को लेना है। जिस प्रकार हमने व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभाव का समग्रीकरण किया था, उसी प्रकार अब हम फर्मों के प्रभावों का समग्रीकरण कर सकते हैं। अतः फर्म-समूह को वही नियम मानने चाहिए जो एक फर्म को। यदि कीमत-परिवर्तन के कारण किसी विशिष्ट वस्तु का उत्पादन करने वाली फर्मों की संख्या में परिवर्तन होता हो, अर्थात्, कुछ फर्में 'उद्योग' को छोड़ दें या कुछ उसमें आ जायं तो क्या होगा ? यह एक अत्यंत पेचीदा मामला है और हमारे लिए सतर्क होकर चलना ही ठीक है। फिर भी, यह प्रतीत नहीं होता कि हमारे वर्त्तमान उद्देश्यों के लिए नई फर्मों की संभावना के कारण उठने वाली विशेषताएं गम्भीर समस्या का हेतु बनेंगी। 'क' उत्पाद की कीमत में वृद्धि होने पर नई फर्म 'क' के उत्पादन हेतु या तो इसलिए प्रोत्साहित होगी कि यह उन साहसोद्यमिक साधनों के प्रयोग को लाभप्रद बनाती है जो अभी तक कहीं भी काम नहीं आते थे, या इसलिए कि यह उन साहसोद्यमिक साधनों को, जो पहले कहीं दूसरे उत्पादों के उत्पादन में काम आते थे, अब 'क' के उत्पादन-क्षेत्र में आने को प्रेरित करती है। हर हालत में एक से ही सिद्धान्त लागू होने चाहिए। अगर नए साहसोद्यमिक साधन पहले कहीं भी प्रयुक्त नहीं थे तो उनके

कारण न केवल उद्योग में लगे हुए अन्य कारकों की मांग बढ़ती है अपितु 'क' की पूर्ति के नए स्रोत भी आरंभ होते हैं। उत्पादों की पूर्ति और कारकों की मांग में, नई फर्म के प्रवेश के परिणामस्वरूप कीमत-निकाय पर पड़ने वाले प्रभावोंवश, कमी आ सकती है। परन्तु यदि साहसोद्यमिक साधन किसी दूसरे प्रयोग से निकाल कर लाए गए हैं तो अन्य उत्पादों की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप से घट सकती है और इसलिए उन उत्पादों में प्रयुक्त कारकों की मांग भी प्रत्यक्ष घटेगी। किन्तु इसका तात्पर्य यह होना चाहिए कि साहसोद्यमिक साधनों की सीमित शक्ति उत्पादन के पैमाने पर एक महत्वपूर्ण रोक है; अतः यह प्रभाव उस फर्म पर पड़ने वाले प्रभाव के समान है जो दो उत्पादों का लगातार उत्पादन करती है, किन्तु सापेक्षिक कीमतों में अंतर के कारण एक पर अधिक और दूसरे पर कम ध्यान केन्द्रित करने को बाध्य होती है। इस प्रकार, यद्यपि स्यात् मात्रा में तो नहीं किन्तु परिवर्तन की दिशा में नयी फर्मों के कारण पैदा हुई उलझनें उसी प्रकारकी हैं जैसी कि हम पहले देख चुके हैं।

अब हम अपनी विनिमय-संस्थिति के विश्लेषण को उत्पादन की संस्थिति के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं। पहले की तरह इस मामले में भी यह अब भी सत्य है कि अस्थिरता का एक मात्र स्रोत आय-प्रभावों में अत्यधिक असममितता ही है। अब हमको केवल यह विचार करना है कि नई परिकल्पना के अन्तर्गत वास्तविक अस्थिरता हेतु असममितता के पर्याप्त सशक्त होने की संभावना क्या है।

जब किसी वस्तु की मांग (या पूर्ति) निजी खाते से आती है तो कीमत-परिवर्तन के प्रभाव को पहले की तरह दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक, आय-प्रभाव और दूसरा, प्रतिस्थापन-प्रभाव। किन्तु जब यह फर्म की तरफ से आती है तो, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, आय-प्रभाव की तरह कोई भी चीज नहीं होती है। इस प्रकार असमान आय-प्रभावकृत अस्थिरता की संभावना पर विचार करते समय चार तरह के बाजारों में विभेद करना अनिवार्य है।

(१) उत्पादों के बाजार में, कीमत-ह्रास उपभोक्ताओं को अधिक समृद्ध बना देगा और साहसोद्यमियों को कम समृद्ध; इस प्रकार यहां दोनों पक्षों पर एक आय-प्रभाव है, जो ठीक उस तरह कार्य करता है जिस तरह विनिमय-सिद्धान्त में, और जिसके कारण तभी अस्थिरता संभव है जब उत्पाद घटिया हो या यह काफी हद तक उन साहसोद्यमियों द्वारा उपभुक्त होता हो जो उसे पैदा करते हैं। किन्तु, हमें यह याद रखना चाहिए कि इतना होने पर भी यह पर्याप्त नहीं है कि निबल आय-

प्रभाव अस्थिरता के कारण बनेंगे; बाजार तभी अस्थिर होगा जब निबल आय-प्रभाव, जो कि अस्थिरता का कारण बनता है, प्रतिस्थापन-प्रभाव द्वारा छा नहीं लिया गया है। यहां हमारे पास स्थापक स्वरूप न केवल उपभोक्ता-बजट में अन्य वस्तुओं और इस उत्पाद के बीच (विनिमय-सिद्धान्त की भांति) प्रतिस्थापन-प्रभाव है वरन् कीमत-परिवर्तन का उत्पादन पर प्रभाव भी है जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक प्रतिस्थापन-प्रभाव की तरह कार्य करता है और फलतः सदैव स्थिरता की ओर प्रवृत्ति रखता है।

(२) कारकों के बाजार के संबंध में, कीमत-ह्रास कारक के पूर्तिकर्त्ताओं को कम समृद्ध बना देता है और साहसोद्यमियों को अधिक समृद्ध; क्योंकि विभिन्न व्यक्ति विशिष्ट प्रकार के कारकों की पूर्ति में विशिष्टता रखते हैं, यथा, नियुक्त कर्म-चारीगण अधिकतर उसी तरह का श्रम प्रदान नहीं करते जिस तरह का नियोक्ता करता है), इससे हानिकारक दिशा में एक निबल आय-प्रभाव पड़ने की विशेष संभा-वना है। पुनः, जो भी हो, स्थायक स्वरूप (१) उत्पादन-प्रभाव तथा (२) व्यक्तियों के बजट में प्रतिस्थापन, यथा (विश्राम और उपभोग के बीच) दोनों ही उपलब्ध हैं।

(३) प्रत्यक्ष सेवाओं के बाजार, जिनमें उत्पादन का कोई हाथ नहीं होता, ठीक उसी ढंग पर कार्य करते हैं जो हमारे विनिमय-विश्लेषण में वर्णित है।

(४) उन माध्यमिक उत्पादों के बाजार, जिनकी मांग और पूर्ति दोनों फर्म की तरफ से आती है, जो किसी तरह के आय-प्रभावों द्वारा प्रभावित नहीं होते हैं और अतएव अनिवार्यतः स्थिर होते हैं।[3]

इससे यह प्रतीत होता है कि, जहां तक स्थिरता के प्रश्न का संबंध है, उत्पा-दन-संस्थिति की दशा बहुत कुछ वैसी ही है जैसी विनिमय-संस्थिति की थी। फिर भी हमारे सामने एक नया शक्तिशाली प्रभाव (फर्म के बाजार-व्यवहार में आय-प्रभावों का लोप) है जो स्थिरता-उन्मुखी है। दूसरी तरफ, यह सिद्ध हो जाता है कि अस्थिरता का खतरा विशिष्ट रूप में कारक-बाजार पर केन्द्रित है।

यह कितना संभव है कि उक्त अन्तिम कारण जनित अस्थिरता सम्पूर्ण निकाय में प्रबल हो जाय? यह प्रतीत होगा कि यह बिल्कुल संभव नहीं है। क्योंकि हमें सदा याद रखना चाहिए कि प्राविधिक पक्ष पर कारकों और उत्पादों में प्रबल संबंध एक प्रतिस्थापन-संबंध के रूप में प्रतिष्ठित होता है, और वह एक दृढ़ संबंध होता है। सापेक्ष कीमतों में अति अल्प परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कारक-उत्पाद परिवर्तन-

दर में पर्याप्त परिवर्तन होने की संभावना एक अतिसशक्त स्थायक-तत्व है। अन्य तत्वों की अपेक्षा यही ऐसा तत्व है जिसके कारण हम यह मान सकते हैं कि अधिकतम सामान्य परिस्थितियोंमें उत्पादन की सामान्य-संस्थिति स्थिर रहेगी। (४) संभवतः स्थिरता के विषय पर अभी कुछ और भी कहने को शेष है, किन्तु अपने उद्देश्य हेतु हम काफी प्रगति कर चुके प्रतीत होते हैं। हम अपनी संतुष्टि के लिए पर्याप्त रूप से देख चुके हैं कि उत्पादन-संस्थिति का पूर्ण-स्थिर-निकाय एक बुद्धिसंयत परिकल्पना है। तब हम ऐसे निकाय की मान्यता करें और देखें कि इसका कार्य कैसे चलेगा।

सामान्य-संस्थिति-निकाय के लिए औपचारिक नियम (जैसे कि हम अध्याय ५ में देख चुके हैं) अब भी लागू होंगे। केवल हमें उनकी अधिक प्रकार की व्याख्या करनी है।

क्योंकि निकाय स्थिर है, अतः यह अब भी सत्य है कि किसी वस्तु की मांग-वृद्धि (जिससे कि कुछ व्यक्ति उस वस्तु की अधिक इच्छा करते हैं और विनिमय में कोई आधार-वस्तु देते हैं) आधार-वस्तु के पदों में उस वस्तु की कीमत को अवश्य बढ़ा देगी। इसी तरह वस्तु की पूर्ति-वृद्धि (जिससे कि कुछ व्यक्ति उस वस्तु की अधिक मात्रा देने को तत्पर हैं और विनिमय में किसी आधार पर वस्तु को चाहते हैं) उस वस्तु की कीमत कम कर देगी। इन नियमों को कारकों तथा उत्पादों दोनों के लिए सही होना चाहिए।

इस तरह के मांग (या पूर्ति) में दिए हुए परिवर्तन के द्वारा वस्तु की कीमत किस हद तक प्रभावित होगी यह निकाय में प्रतिस्थापन्नता की सीमा पर निर्भर करता है। निकाय में दो उत्पादों के बीच (या, कारकों के बीच) जितनी ही अधिक प्रतिस्थापनता या कम संपूरकता होगी, किसी वस्तु की कीमत उसकी मांग के परिवर्तन से उतनी ही कम प्रभावित होंगी। इस तरह का प्रतिस्थापन प्राविधिक क्षेत्र में हो सकता है या निजी व्यक्तियों के बजट में। पुनः, यहां एक कारक और उसके उत्पाद के बीच सामान्यतः प्रतिस्थापन संबंध मानना चाहिए। इस प्रकार अपने उत्पाद के पदों में किसी भी कारक का सीमान्त उत्पादकता-वक्र जितना ही लोचदार होगा, किसी वस्तु (कारक या उत्पाद) की कीमत इसकी मांग (या पूर्ति) में परिवर्तन के द्वारा उतनी ही कम प्रभावित होगी।

मांग (या पूर्ति) में इस तरह के परिवर्तन का अन्य वस्तुओं की कीमतों पर पड़ने वाला प्रभाव मुख्यतया इस बात पर निर्भर करेगा कि ये अन्य वस्तुएं पहली के लिए प्रतिस्थापन्न हैं या संपूरक। वास्तव में, यहां प्रतिस्थापन्नता और संपूरकता,

निकाय की संपूर्णता के संदर्भ में समझे जाने चाहिए। (यदि दो वस्तुएं दोनों तरफ प्रतिस्थापन्न हैं तो वे अनिवार्यतः पूर्ण निकाय के लिए प्रतिस्थापन हैं; इसी तरह संपूरकों के लिए समझिए; यदि वे एक तरफ प्रतिस्थापन हैं और दूसरी तरफ संपूरक तब यह प्रभाव उनकी सापेक्ष प्रबलता पर निर्भर करेगा।)

पहले सन्निकटनस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि 'क' वस्तु की कीमत में वृद्धि होने से उन सब वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होगी जो 'क' के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रतिस्थापन्न हैं और उनकी कीमतों में ह्रास होगा जो संपूरक हैं। किन्तु दूसरी ओर हमें अन्य कीमतों के माध्यम से पड़ने वाले अप्रत्यक्ष ,प्रभावों को स्थान देना पड़ सकता है (जो इस नियम के अनुसार चलते हैं कि प्रतिस्थापनों के प्रतिस्थापन और संपूरकों के संपूरक कीमत में बढ़ने की प्रवृत्ति रखते हैं; संपूरकों के प्रतिस्थापनों और प्रतिस्थापनों के संपूरकों की कीमतों के घटने की प्रवृत्ति होती है)। अगर एक वस्तु ऐसी है कि वह 'क' के लिए प्रत्यक्ष प्रतिस्थापन्न तो है ही, एक प्रतिस्थापन्न की संपूरक भी है तो प्रत्यक्ष-प्रभाव और अप्रत्यक्ष-प्रभाव विपरीत दिशा में कार्यशील होंगे।

तीसरे, हमें आय-प्रभाव को भी ध्यान में रखना पड़ सकता है। कीमतों में परिवर्तन से कुछ लोग अधिक धनी बन जायेंगे और कुछ लोग, अधिक गरीब; संभव है कि वस्तुओं के लिए उनकी मांग और पूर्ति पर पड़ने वाले प्रभाव एक दूसरे को न काटें। इस आय-प्रभाव के संबंध में सामान्य रूप से कुछ कहना अत्यन्त कठिन है; कभी कभी इसकी कार्य-प्रणाली का अनुमान लगाया जा सकता है, अधिकतर उसे यादृच्छिक अशुद्धि का उद्यम समझा जा सकता है।

(५) अब यह संभव है कि इस तरह की व्याख्या के कुछ सरल उदाहरण दिए जाएं।

सर्वप्रथम, मान लीजिए कि किसी वस्तु 'क' की मांग में वृद्धि होती है। 'क' की कीमत बढ़ जायगी और यह वृद्धि अपने साथ पूर्ण निकाय के अन्दर कीमतों में एक सामान्य वृद्धि की प्रवृत्ति को लायगी (यद्यपि यथार्थ में, जब तक 'क' एक अत्यन्त महत्व की वस्तु नहीं है, निकट-संबंध वाली वस्तुओं के मामलों में वृद्धि केवल सूक्ष्म मात्रा तक ही होगी)। निकट संबंध वाली वस्तुओं में 'क' के निर्माण करने वाले कारक आते हैं; उनकी कीमतों की प्रवृत्ति साधारणतया बढ़ने की होगी। जिन वस्तुओं की कीमतों में ह्रास होगा वे मात्र वही हो सकती हैं जो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से 'क' के साथ संपूरक हों। संपूरकों को निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

१. उपभोग में, 'क' के साथ संपूरक वस्तुएं। जैसे ही 'क' की कीमत बढ़ती है, इन वस्तुओं की मांग गिरेगी और उनकी कीमतें घटने लगेगी । (व्यवहार में कई बार यह प्रभाव साथ साथ इन संपूरक वस्तुओं की मांग-वृद्धि के कारण छिप सकता है।

२. उत्पादन में, 'क' के साथ संपूरक उत्पाद। जैसा कि हम यह देख चुके हैं, यह बहुत संभव है कि 'क' के साथ संयुक्त रूप में उत्पादित कोई भी वस्तु इस वर्ग में आयेगी। जैसे ही 'क' की पूर्ति बढ़ती है, इन संपूरकों की पूर्ति भी बढ़ेगी और उनकी कीमतों के घटने की प्रवृत्ति होगी। (यहां पाठ्य पुस्तकों का प्रसिद्ध भेड़ के ऊन और मांस का उदाहरण दिया जा सकता है।)

३. 'क' के प्रति प्रतीपायित कारक। जहां तक कोई भी संयुक्त-उत्पाद प्राविधिक रूप से प्रतिस्थापन्न है, उनका उत्पादन गिरेगा, और किसी भी कारक की मांग भी, जो इन प्रतिस्थापन-उत्पादों के उत्पादन के लिए विशिष्ट रूप से आवश्यक हो, गिर सकती है।

अप्रत्यक्षक संपूरक, या तो प्रत्यक्ष संपूरकों के प्रतिस्थापन्न होते हैं, या उन प्रत्यक्ष प्रतिस्थापनों के, जिनकी संपूरक कीमतें बढ़ती हैं। यथा, पहले वर्ग में वे कारक आयेंगे जिनकी 'क' की उपभोग-संपूरक वस्तुओं के उत्पादन के लिए आवश्यकता पड़ेगी, या वे उत्पाद आयेंगे जिनका उत्पादन, इन कारकों की कीमत में कमी होने से, सरल हो जाता है। दूसरे वर्ग में ऐसी वस्तुएं पाई जा सकती हैं जैसे उन अन्य उत्पादों की उपभोग-संपूरक वस्तुयें, जिनकी कीमतें इसलिए बढ़ती हैं क्योंकि उनके उत्पादन के लिए कुछ उन्हीं कारकों की आवश्यकता पड़ती है जो 'क' के निर्माण के लिए अनिवार्य हैं।

फिर भी, इन अधिक अस्पष्ट अप्रत्यक्ष-संपूरकों के मामलों में यह संभव नहीं है कि उनकी कीमतें निबल रूप से गिरेंगी। क्योंकि, जहां वे एक ओर किसी हेतुक विश्लेषण के अनुसार अप्रत्यक्ष संपूरक हैं, दूसरे दृष्टिकोण से वे अक्सर अप्रत्यक्ष प्रतिस्थापन्न होंगे। पूर्ण निकाय में प्रतिस्थापन का सामान्य प्रभुत्व अप्रत्यक्ष संपूरकता के प्रभाव को बहुत कुछ छा लेगा।

(६) अब विलोम दशा को लीजिए, अर्थात्, 'अ' कारक की पूर्ति में वृद्धि को। यह स्पष्ट है कि 'अ' की कीमत गिरनी चाहिए। अन्य कीमतों पर प्रभाव उपर्युक्त तरह से देखा जा सकता है। तथापि एक विशेष प्रभाव ऐसा है जो विशेष रोचक है। उसी उद्योग या उद्योगों में नियोजित एक अन्य कारक 'ब' की कीमत पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? यदि 'ब' एक संपूरक कारक है (और जैसा कि हम देख चुके

हैं कि एक साथ नियुक्त कारकों के बीच संपूरकता के प्रबल संबंध होने की संभावना है जिससे 'अ' और 'ब' के संपूरक होने की कम से कम उत्पादन-पक्ष पर बहुत कुछ संभावना है) तो प्रत्यक्ष प्रभावस्वरूप 'ब' की कीमत बढ़ेगी। फिर भी यहां कम से कम एक अप्रत्यक्ष प्रभाव ऐसा है जिसको भी स्थान मिलना चाहिए— वह है उत्पाद (या उत्पादों) का कीमतों के माध्यम से अप्रत्यक्ष प्रभाव । कम से कम उत्पादन पक्ष पर उत्पाद को स्यात् 'अ' और 'ब' के लिए घनिष्ट 'प्रतिस्थापन' माना जाना चाहिए। अतः 'ब' की कीमत की (प्रतिस्थापन्न के प्रतिस्थापन्न वाले अपने रूप में) स्यात् गिरने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार 'ब' की कीमत पर निवल प्रभाव दो विरोधी प्रवृत्तियों के मिश्रण से बना है, इसे बढ़ाने में प्रवृत्त एक प्रत्यक्ष-प्रभाव, और इसे घटाने में प्रवृत्त एक अप्रत्यक्ष-प्रभाव; इनमें से कोई भी प्रबल हो सकता है। किन्तु उत्पादन में यदि 'अ' के लिए 'ब' एक प्रतिस्थापन है तो दोनों प्रभाव स्यात् 'ब' की कीमत को घटाने में प्रवृत्त होंगे।

जब एक कारक की पूर्ति बढ़ती है तो अन्य सभी वस्तुओं में से स्यात् संपूरक कारकों की कीमत में वृद्धि की सर्वाधिक संभावना रहती है; फिर भी, वास्तव में, वे कीमतों में तभी बढ़ते हैं अगर उनके सामान्य उत्पाद प्रभावित नहीं होते हैं, अर्थात्, यदि उत्पादों की मांग काफी लोचदार होती है, या, उत्पाद अन्य वस्तुओं के लिए अच्छे प्रतिस्थापन्न होते हैं।

(७) हमारी सामान्य मान्यता के अनुसार 'अ' की पूर्ति में वृद्धि (देखिए पिछला पैराग्राफ) का तात्पर्य था 'अ' की आधार-वस्तु के पदों में वृद्धि; दी हुई कीमतों पर 'अ' की दी हुई मात्रा बढ़ी और पूर्तिकर्त्ताओं ने उसके बदले में केवल आधार-वस्तु की मांग की। अगर आधारवस्तु मुद्रा है तो इसका तात्पर्य है कि वे अपनी पूरी आय का, जो पूर्ति की नई इकाइयों से वे प्राप्त करते हैं, संचय करते हैं। इसी तरह, विचाराधीन मामले में निःसन्देह यह माना गया है कि नयी मांग आधार-वस्तु के पदों में मांग है; अतः, यदि आधारवस्तु मुद्रा है, तो यह निहित है कि नयी मांग संचय को कम करके की जा रही है, न कि अन्य वस्तुओं में मितव्ययिता करके। यदि यह मानना उचित नहीं है, तो इसका अर्थ होगा कि 'अ' की पूर्ति की वृद्धि उत्पादों की मांग में भी वृद्धि लाती है; या, 'क' की मांग में वृद्धि अन्य उत्पादों की मांग में ह्रास लाती है; और इन प्रभावों को भी विश्लेषण में स्थान देना चाहिए। स्वभावतः, इनके कारण सामान्य कीमतों पर एक ऐसा प्रभाव पड़ेगा जो प्रमुख प्रभाव के विपरीत दिशा में जायगा; जिससे कीमतें सामान्यतः मांग में वृद्धि के परिणामस्वरूप केवल ऊपर की तरफ बढ़ेंगी; या, पूर्ति में वृद्धि के

परिणामस्वरूप वे नीचे की तरफ गिरेंगी, बशर्ते पहले मामले में वास्तविक असंचयन हो और दूसरे में वास्तविक संचय।

कुछ वस्तुओं के लिए बढ़ी हुई मांग के साथ किसी एक कारक की बढ़ी हुई पूर्ति के कीमतों पर पड़ने वाले निबल प्रभाव की व्याख्या करना अधिकतर बहुत उलझनयुक्त होगा और इसलिए परिणामों के अनुगणन के लिए किसी दूसरे उपाय को खोजना स्वाभाविक है। यह कभी कभी आधारवस्तु के बदलने के सरल उपाय से मिल जाता है। कौन सी आधारवस्तु हम चुनेंगे यह अभी तक पूर्ण रूप से हमारे निर्णय पर निर्भर है; यदि हम एक कारक की पूर्ति में वृद्धि पर विचार कर रहे हैं, जिसकी बिक्री की प्राप्ति को मुख्यतः उपभोग वस्तुओं की खरीद के लिए प्रयुक्त करना है, तो किसी ऐसी प्रतिनिधि उपभोग वस्तु को, जो कारक के पूर्तिकर्त्ता द्वारा उपयुक्त की जाती है अपनी आधारवस्तु के रूपमें लेना और फिर वास्तविक पदों में व्याख्या करना तर्कयुक्त है। तब हमें केवल कारक की पूर्ति में परिवर्तन के प्रभाव पर विचार करना है और दूसरी तरफ कुछ भी नहीं रखना है। हमारी व्याख्या हमें प्रत्यक्ष रूप से बतलाती है कि कारक की कीमत को इस प्रतिनिधि उपभोग-वस्तु के पदों में गिरना चाहिए; अन्य कारकों की कीमतों पर पड़ने वाले प्रभावों को भी इसी तरह वास्तविक रूप में बताया जा सकता है।

फिर भी, व्याख्या के उक्त ढंग को सामान्य रूप से अपनाने में एक बाधा विचारणीय है। यदि हमारे निकाय में कोई कीमत ऐसी है जो कि परम्परावश मुद्रा में निश्चित है, तो यदि हम मुद्रा को आधार-वस्तु के रूप में लें, हमारे तर्क में कोई विशेष अंतर नहीं आयेगा। (आवश्यकीय विस्तृत समायोजन की विवेचना प्रस्तुत अध्याय की टिप्पणी में की गई है।) किन्तु यदि हम आधार-वस्तु के रूप में किसी अन्य वस्तु को लेते हैं तो कुछ भी आगे बढ़ने में समर्थ होने के लिए हमें तीक्ष्ण बौद्धिक व्यायाम की आवश्यकता पड़ेगी।

इस विचार का अधिक महत्व पूर्णरूप से आगे प्रकट होगा।

अध्याय ८ की टिप्पणी

परम्परावादी या दृढ़ कीमतें

परम्परावादी (अधिकतम अथवा निम्नतम) कीमतों का यथार्थ विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

मान लो कि अन्य सभी कीमतें दी हुई हैं और किसी एक वस्तु की मांग रेखा (द) तथा पूर्ति रेखा (स) चित्र २२ के अनुसार खींची गयी हैं। यदि वस्तु की
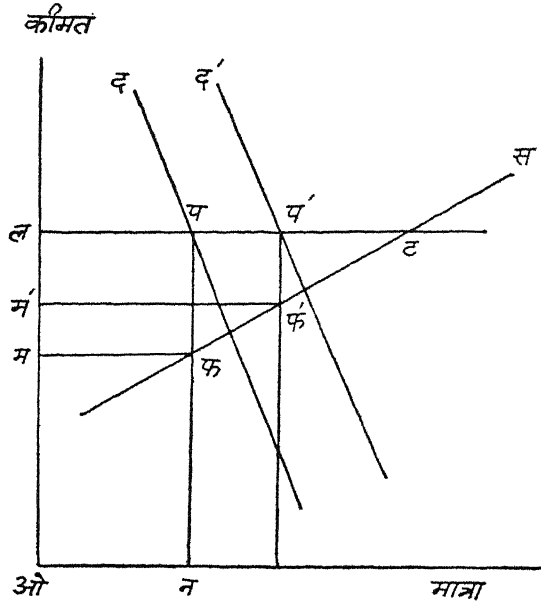
चित्र—२२

कीमत स्वतंत्र रूप से परिवर्तनीय हो तो दोनों रेखाओं के कटन-बिन्दु पर कीमत

निर्णीत होगी। परन्तु मान लो यदि कीमत इससे ऊपर किसी स्तर पर निर्धारित हो तब केवल ओ न (ल प या म फ) मात्रा की बिक्री होंगी, यद्यपि विक्रेता ल ट मात्रा की पूर्ति करने को तत्पर होंगे । यह स्थिति वैसी ही है जो उस समय उदित होती जब केवल क्रेताओं के लिए ओ ल कीमत निश्चित होती और विक्रेताओं के लिए 'ओ म' कीमत और दोनों का अन्तर उन विक्रेताओं को बोनस के रूप में दे दिया जाता जो यथार्थ में बिक्री कर पाते हैं । (विकल्प स्वरूप हम यह मान सकते हैं कि वस्तु पर प्रति इकाई 'ल म' कर लगाया गया है और इस प्रकार प्राप्त होने वाली आय विक्रेताओं को दे दी जाती है। इंग्लैण्ड के कृषि-मंत्रालय द्वारा यह प्रक्रम प्रचलित किया जा चुका है।) इस रचना के द्वारा हम संस्थिति की इस दशा को बनाए रखेंगे कि पूर्ति मांग के बराबर होती है, यद्यपि ऐसा करने में हमें इस नियम का त्याग करना पड़ेगा कि बाजार में केवल एक कीमत होती है। यहां एक ओर एक वास्तविक कीमत है जो एक दिए हुए तथ्य के रूप में निश्चित है; और दूसरी ओर एक 'प्रतिच्छाया कीमत' है जो संस्थिति की दशाओं द्वारा निर्धारित होती है। क्योंकि, विक्रेताओं को यह प्रतिच्छाया कीमत वास्तव में नहीं मिलती है, वरन् बोनस के रूप में प्राप्त होती है, आय-प्रभावों के लिए प्रतिच्छाया कीमत महत्वपूर्ण नहीं है; यद्यपि यह महत्वपूर्ण तो है ही, क्योंकि, पूर्तिपक्ष में यह प्रतिस्थापन-प्रभावों को व्यवस्थित करती है।

यदि वस्तु की मांग बढ़ती है (यथा, यदि मांग रेखा द से हटकर द' पर पहुंच जाती है) तो निश्चित कीमत में परिवर्तन होना अनिवार्य नहीं है। क्योंकि क्रय की हुई मात्रा बढ़ जायगी, प्रतिच्छाया कीमत ओ म से बढ़कर ओ म' हो जायगी। बोनस 'ल प फ म' से बदल कर ल प' फ' म' हो जायगा। परन्तु इसके अधिक महत्वपूर्ण होने की संभावना नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि (आय-प्रभाव के अतिरिक्त) पूर्ति ठीक उसी तरह बढ़ेगी जैसे वह तब बढ़ती जब वास्तविक कीमत 'ओ म' से बढ़कर 'ओ म" हो जाती। यही कारण है कि प्रतिच्छाया-कीमत महत्व-पूर्ण है। इस वस्तु के बाजार के पूर्तिपक्ष से संबंधित अन्य बाजारों में होने वाली प्रतिक्रिया ठीक उसी प्रकार की होगी जैसी कीमत में वास्तविक परिवर्तन करने पर होती; केवल मांग पक्ष की प्रतिक्रिया में ही ऐसी हैं जो कीमत-निर्धारण के द्वारा मूर्त्त नहीं होतीं।

उदाहरणार्थ, गेहूं की एक निम्नतम कीमत के प्रभावों को लीजिए जिसके साथ गेहूं की पूर्ति पर ठीक इतने पर्याप्त नियन्त्रण हैं कि निम्नतम कीमत व्यावहारिक

हो जाय। यदि किसी विशेष कारण से मांग का प्रसार होता है तो यह संभव है कि इसकी कीमत पर कोई प्रभाव न पड़े और फलस्वरूप अन्य स्रोतों से उदित होने वाली गेहूं की मांग अप्रभावित रहे। तथापि यह संभव है कि पूर्ति प्रभावित हो उठे और स्यात् पूर्ति-वृद्धिवश अन्य उपजों की पूर्ति घट जाय। तब इन अन्य वस्तुओं की कीमतें उसी प्रकार बढ़ जायेंगी जैसी गेहूं की कीमत बढ़ने पर वे बढ़ जातीं।

इस साध्य का महत्व (जो अधिकतम--कीमतों के लिए भी, सभी पदों को उलट देने पर, समान रूप से सही है) स्वयं स्पष्ट है। कीमत-नियंत्रण कीमतों की सामान्य वृद्धि को दबा सकता है, परन्तु, यदि यह नितान्त पूर्ण नहीं है, तो यह इस वृद्धि को पूर्णतया रोक नहीं सकता।

एक दूसरे प्रसंग में, आगे २१ वें अध्याय में, हम इस चर्चा को पुनः चलायेंगे।

अध्याय ९

विश्लेषण की रीति

(१) प्रावेगिक अर्थ-विज्ञान (वह अति-विवादास्पद शब्द) की जो परिभाषा मेरे मस्तिष्क में है वह इस प्रकार है । मैं आर्थिक सिद्धान्त के उन अंगों को, जिनको तिथिगत करने की हम चिन्ता नहीं करते, अर्थशास्त्रीय स्थिति विज्ञान और जहाँ प्रत्येक परिमाण तिथिगत हों उन अंगों को अर्थशास्त्रीय प्रवैगिक विज्ञान की संज्ञा देता हूँ । उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्रीय स्थिति विज्ञान में हम एक ऐसे साहसोद्यमी का विचार करते हैं जो अमुक-अमुक उत्पादन कारकों की मात्रा का प्रयोग करता है और उनकी सहायता से अमुक परिमाण में वस्तुएँ पैदा करता है; परन्तु हम यह प्रश्न नहीं उठाते कि उत्पादन-कारकों का कब प्रयोग हुआ और वस्तुएँ बनकर कब तैयार हुईं । अर्थ-शास्त्रीय प्रवैगिक विज्ञान में ऐसे प्रश्न हम अवश्य उठाते हैं और इस पर विशेष ध्यान भी देते हैं कि इन तिथियों का परिवर्तन किस प्रकार उत्पादन कारकों और उत्पादों के पारस्परिक संबंध को प्रभावित करता है ।

अतएव अब तक हमारा संबंध अर्थशास्त्रीय स्थिति-विज्ञान से रहा है और यह संबंध गहरे रूप में इसलिए रहा है कि तिथिगत करने के किसी भी सुझाव से अलग रहने के लिए हम एक कठोर नियम का पालन करते रहे हैं । अधिकांश अर्थशास्त्री जिन्होंने ऐसी ही समस्याओं का सामना किया है, इतने दृढ़ नहीं रहे हैं । मैं अपने स्थैतिक-सिद्धान्त को इतना स्थैतिक इसलिए बना सका कि वास्तव में मैं एक प्रवैगिक सिद्धान्त का निर्माण कर रहा था । मैं यह प्रदर्शित करने की चेष्टा करूँगा कि इन परिस्थितियों में हमारी कार्य-विधि के बहुत लाभ थे । यह सत्य है कि यदि कोई प्राचीन-अर्थशास्त्रियों (कम से कम उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश अर्थशास्त्रियों) के सामान्य पथ का अनुगमन करें और अपने स्थैतिक सिद्धान्त को किंचित प्रवैगिक पुट दें तो इसे वास्तविक संसार में अधिकाधिक रूप से व्यवहार्य बनाया जा सकता है । अधिशेष और सापेक्ष लागत के सिद्धान्त से लेकर एकाधिका-

रिक शोषण के सिद्धान्त तक का परम्परागत अर्थशास्त्रीय विश्लेषण अधिकांश को अपने अन्तर्गत ले सकता है, इन सबकी, समय का विचार छोड़कर, तर्कयुक्त व्याख्या की जा सकती है। जब तक ढांचा एक प्रामाणिक रचना का रूप ग्रहण नहीं करता, इसको उदाहरणों तथा संस्थागत अर्हताओं से अनिहित किया जा सकता है। परन्तु पूंजी, ब्याज, व्यापारिक अस्थिरता या मुद्रा संबंधी समस्याओं का—जहाँ आर्थिक-परिमाणों को तिथिगत करना महत्वपूर्ण है—हल निकालने में यह सर्वथा असमर्थ होगा।

इसके विपरीत यदि अर्थशास्त्रीय स्थिति-विज्ञान के सिद्धान्त को अपने स्पष्ट-तम एवं सुदृढ़तम रूप में उपस्थित किया जाय, जैसा कि हमने किया है, तो प्रोवेगिक समस्या एक चुनौती का रूप ले लेगी। आर्थिक व्यवस्था की कल्पना केवल एक-दूसरे पर आधारित बाजारों के समूहों के रूप में ही नहीं वरन् समय के प्रक्रम के रूप में की जानी चाहिए। क्या इस प्रोवेगिक क्षेत्र में विश्लेषण की इन्हीं रीतियों का प्रयोग करना संभव है? अथवा हमें पूर्णतया भिन्न रीतियों का आश्रय लेना होगा? यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि अब तक की रीतियाँ पर्याप्त होंगी। फिर भी आगे चलकर हम पायेंगे कि प्रावेगिक समस्या को काटछाँट कर इस रूप में लाने का भी एक मार्ग है जहां यह ऊपरी तौर पर स्थैतिक के सदृश हो जाती है। इसप्रकार स्थैतिक सिद्धान्त के परिणामों का प्रयोग प्रत्येक दशा में हो सकता है, यद्यपि उन परिणामों का भारी पुनर्निर्वचन आवश्यक होगा।

(२) सर्वप्रथम जब अर्थशास्त्रियों ने प्रावेगिकी का अध्ययन प्रारम्भ किया तो यह स्वाभाविक था कि पहले समायोजन-हेतु कम-से-कम परिवर्तन की चेष्टा की जाय। ऐसा निम्न प्रकार से हुआ। स्थैतिक सिद्धान्त हमारे सम्मुख अर्थव्यवस्था के व्यक्तियों की अधिमानता उनके अधीनस्थ उत्पादन-साधन (या कारक) एवं प्रविधि की स्थिति (उत्पादन फलन) पर आधारित कीमत-निकाय को उपस्थित करता है। जहाँ तक तिथिगत करने का संबंध है अगर हम इन सबको एक ही क्षण पर तिथिगत कर सकें और यह कह सकें कि किसी क्षण विशेष की कीमतों का निकाय उस क्षण विशेष से संबंधित अधिमानताओं और साधनों (अन्य किसी पर नहीं) पर आधारित है तो हम स्थैतिक विश्लेषण को अधिक-से-अधिक सुविधाजनक ढंग से प्रयुक्त कर सकते हैं। यह स्पष्ट रूप से (कम-से-कम अपेक्षित अर्थ में) सत्य नहीं है। परन्तु क्या कोई ऐसा मार्ग नहीं है कि इसे वास्तविक बनाया जा सके?

इसके वास्तविक न होने का मुख्य कारण यह है कि संस्थिति लाने के लिए अपे-क्षित समायोजन में समय लगता है। किसी वस्तु की कीमत में अचानक वृद्धि उस

वस्तु की पूर्ति पर केवल थोड़ा प्रभाव डालती है, परन्तु इससे साहसोद्यमी का ध्यान इस बात के अनुमान में लग जाता है कि क्या यह बढ़ी हुई कीमत आगे भी बनी रहेगी। यदि वे इस निर्णयपर पहुँचते है कि संभवतः यह आगे बनी रहेगी तो वे भविष्य में विशेष रूप से अधिक पूर्ति के लिए उत्पादन प्रारम्भ कर देंगे। इस तरह के निर्णय कारकों की तात्कालिक माँग को प्रभावित करेंगे; इस तरह कारकों के बाजार की तत्कालीन अवस्था इस बातसे निश्चित होगी कि साहसोद्यमी उत्पादित वस्तुओं की कीमत -वृद्धि की व्याख्या किस रूप में करता है।

इसी तरह, किसी वस्तु की तात्कालिक पूर्ति तत्कालीन कीमत पर उतनी आधारित नहीं होती जितनी कि साहसोद्यमी की उन प्रत्याशाओं पर जो भूतकाल में उसने इसके संबंध में की थी। भूतकालीन प्रत्याशायें ही, चाहे वे सही हों या गलत, मुख्यतः चालू उत्पादन को प्रभावित करती हैं। वास्तविक वर्तमान कीमत का प्रभाव अपेक्षाकृत कम होता है।

प्रावेगिक सिद्धान्त का प्रथम मुख्य विषय यही है और सबसे पहले इसी से मार्गों की भिन्नता परिलक्षित होने लगती है। हमें या तो इस कठिनाई का सामना करके जानबूझकर इस तथ्य को स्वीकार करना है कि पूर्ति (और अन्ततोगत्वा माँग भी) प्रत्याशित कीमतों से उतनी ही नियंत्रित होती है जितनी वर्तमान कीमतों से; अथवा, उस स्थिति पर केन्द्रित होकर जहाँ कठिनाइयाँ न्यूनतम हैं इस प्रश्न को टाल जाना हैं। पहली रीति इसमें मार्शल की है और दूसरी (विस्तृत रूप से) आस्ट्रियाई विचारकों की है। इसका उद्देश्य स्थिर-दशा पर विशेष ध्यान देना है।

यद्यपि मेरा विश्वास है कि स्थिर दशा, अन्त में, प्रवंचना के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। तथापि वर्तमान आर्थिक विचार के क्षेत्र में इसनें इतना महत्वपूर्ण स्थान पा लिया है कि हमें इस ओर अवश्य थोड़ा ध्यान देना चाहिए। स्थिर दशा प्रावेगिक निकाय की वह विशिष्ट अवस्था है जहाँ रुचि, प्रविधि और साधन समय-पर्यन्त स्थिर होते हैं। अब हम तार्किक रूप से यह मान सकते हैं कि इन अपरिवर्तित दशाओं के अनुभव से साहसोद्यमी उनके अप्रतिहत रूप से आगे बने रहने की प्रत्याशा में रहेगा; जिससे कीमत-प्रत्याशाओं और वर्तमान कीमतों में अन्तर करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे सब एक ही हैं। हम यह भी मान सकते हैं कि साहसोद्यमियों ने भूतकालमें उन्हीं कीमतों की प्रत्याशा की थी जो सचमुच ही आज विद्यमान हैं; इसलिए वस्तुओं की पूर्ति उनकी कीमतों से पूर्णतया समायोजित हो जाती है। अतएव अब यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि स्थिर-दशागत में स्थापित कीमत-निकाय और स्थैतिक-कीमत-निकाय में, जिसकी विशेषताओं को हम पहले

से जानते हैं, वास्तविक एकरूपता है।

इसे निम्नांकित रूप में देखा जा सकता है। यह सत्य है कि कारक वास्तव में इस रीति से प्रत्युक्त होते हैं कि वे केवल भावी उत्पादन में ही फलीभूत होंगे और भावी विक्रयशीलता की प्रत्याशा ही उनके योजित होने को प्रोत्साहन देती है। फिर भी स्थिर दशा में वर्तमान रूप से प्रयुक्त कारक तत्कालीन उत्पादन की मात्रा उत्पादित करते ज्ञात होते हैं क्योंकि इनके द्वारा उस मात्रा में उत्पादन संभव होता है परन्तु इस शर्त पर कि माध्यमिक उत्पादन का भण्डार (सामान्यतया निश्चित एवं चालू पूँजी) परिणामस्वरूप घटेगा नहीं। प्रोफेसर पिगु के प्रसिद्ध उदाहरण में माध्यमिक उत्पादों का स्टॉक उस झील की तरह है जो वर्तमान सेवाओं के आगत से भरती रहती है और तत्कालीन निर्गत की मात्रा से खाली होती रहती है। यद्यपि कुछ काल तक झील में पानी रुका रहता है, फिर भी, यदि हम यह शर्त लगा दें कि झील में पानी की कुल मात्रा स्थिर रहनी चाहिए तो वर्तमान आगत और वर्तमान मिर्गत की मांत्रा में एक प्रत्यक्ष संबंध रहता है। जब तक हम इस 'स्थिर' मान्यता को बनाए रक्खेंगे कि पूंजी अखंड रहती है तो प्राविधिक उत्पादन फलन वर्तमान आगत और वर्तमान निर्गत के बीच एक संबंध बन जाता है; हम फिर स्थैतिक संसार में उतर आते हैं।

पूर्णतया समय का ध्यान छोड़ देने के कारण स्थैतिक सिद्धान्त में जो एक बात स्पष्ट नहीं हो पाई थी, वह स्थिर अर्थव्यवस्था की ओर देखने से स्पष्ट हो जाती है। यह बात अर्थव्यवस्था में वर्तमान माध्यमिक उत्पादों के परिमाण पर आगत-निर्गत संबंधों का आधारित होना है। माध्यमिक उत्पादन-पूँजी की मात्रा—को किस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है?

इसे ब्याज की दर द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। ब्याज की दर में कमी के कारण दीर्घकालीन प्रक्रमों को अपनाने का उत्साह बढ़ेगा और इससे (किसी-क्षण) माध्यमिक उत्पादों की आवश्यकता अधिक हो जायगी। लेकिन क्योंकि हम स्थिर-दशा में है इसलिए पूँजी के स्टॉक की प्रवृत्ति ह्रास या वृद्धि की नहीं होगी; इस प्रकार स्टॉक का स्थिर रहना ब्याज के परिमाण और दर में एक संबंध स्थापित करता है। अगर साहसोद्यमी अपने स्टॉक को घटाने या बढ़ाने की इच्छा नहीं करते तो उनका उधार लेना नहीं के बराबर होगा। ऋण की माँग और पूर्ति को संस्थिति में होने के लिए कुल बचत भी नगण्य होनी चाहिए। अतएव ब्याजदर उस स्तर पर निश्चित होनी चाहिए जिससे निवल बचत या निवल-नकारात्मक बचत को उत्प्रेरणा न मिल सके। ब्याज का यह स्तर सामाजिक व्यक्तियों की 'बचत की

प्रवृत्ति' और उनकी वास्तविक आय दोनों पर आंशिक रूप से आधारित है और ये दोनों शक्तियां माध्यमिक उत्पाद-स्टॉक के परिमाण पर आधारित होती हैं। इस प्रकार पूंजी-स्टॉक के परिमाण और ब्याज की दर को निर्धारित करने के लिए हमारे पास दो समीकरण हैं; और परिमाणतः दोनों निर्धारित किए जाते हैं।

अनलंकृत ढंग से संक्षिप्त किया गया यह सिद्धान्त स्थिर-दशा का सत्याभासक सिद्धान्त है; परन्तु अभाग्य से यह मात्र स्थिर दशा का सिद्धान्त है। अर्थव्यवस्था की प्रत्येक इकाई के लिए बचत और विनियोग दोनों अत्यन्त विशिष्टावस्था में ही शून्य के बरावर होंगे। शेष कीमत निकाय को स्थैतिकी के ढंगपर निर्धारित होने के लिए छोड़कर पूँजी और ब्याज संबंधी समीकरणों को हम तभी अलग कर सकते हैं जब बचत और विनियोग दोनों शून्य के बराबर हों। एक बार उस विशिष्ट उदाहरण को छोड़ देने पर हमें अनेकानेक नवीन जटिलताओं पर विचार करना आवश्यक होगा जो स्थिर अर्थव्यवस्था में साधारणतया दूर कर दी जाती हैं। स्थिर-दशाओं की पूर्व धारणाओं ने इन जटिलताओं की उपेक्षा को प्रोत्साहित किया है (जिनमें से कुछ अत्यधिक महत्व की जटिलता में हैं) और यही कारण है कि अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्क पर इसका इतना घातक प्रभाव पड़ता रहा है।

केवल स्थिर दशा में ही वास्तविक कीमत को प्रत्याशित कीमत से अलग करने की आवश्यकता नहीं होती; आय का उत्पाद से विभेद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती; ब्याज की मौद्रिक दर का ब्याज की वास्तविक दर से विभेद करना आवश्यक नहीं होता और ऋण देने की एक समयावधि की ब्याज दर का दूसरी समयावधि की ब्याज-दर से विभेद करना आवश्यक नहीं होता। कई महत्वपूर्ण पक्षों को छोड़ देने के कारण स्थिर दशा ने निश्चित रूप से ब्याज-सिद्धान्त के विकास को रोका है। यद्यपि सदा ही इस सत्य को स्वीकार किया गया है कि किसी वास्तविक अर्थव्यवस्था की व्यावहारिक स्थिति कभी भी स्थिर नहीं होती फिर भी स्थिर दशा के सिद्धान्त-विदों ने वास्तविकता को स्थिरता की ओर 'प्रवृत्त' होते देखा, यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्ति संशयात्मक है। स्वयं स्थिरता के सिद्धान्त से कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता कि वास्तविकता ऐसी (स्थिरता की) दिशा में बढ़ती है। यह सिद्धांत बतलाता है कि अगर हम स्थिरदशा में आ गए तो (अन्य बातें समान रहने पर) इस पर अडिग रहेंगे; किन्तु इससे कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता कि हम वास्तव में ऐसी ही स्थिति की ओर अग्रसर होते हैं; क्योंकि यह थोड़ी सी भी वास्तविक चीज़ों संबंध में कुछ नहीं बतला सकता।

(३) प्रावेगिक समस्या के प्रति हम लोगों की अपनी विधि पूर्ण रूपेण भिन्न होनी

चाहिए। इसकी बहुत-सी बातें मार्शल की रीति के समान होंगी। अपनी रचना के सम्बद्ध भाग ('जेनरल रिलेशन्स ऑफ डिमाण्ड, सप्लाई एण्ड वैल्यू' के प्रसिद्ध पाँचवें खण्ड) में मार्शल ने एक वस्तु के मूल्य निर्धारण का विचार किया है और ऐसा, जहाँ तक संभव हो सका, पृथकत्व में किया गया है। परन्तु हमारा संबंध सम्पूर्ण मूल्य-निकाय के निर्धारण से है। अतः हम प्रत्येक दृष्टि से मार्शल का अनुगमन नहीं कर सकते।

मार्शल का विश्लेषण एक दिन-विशेष से प्रारंभ होता है; इसे हम प्रथम दिवस कहेंगे। वह इस प्रकार की अवास्तविक 'स्थिर' मान्यता को नहीं अपनाते कि माँग और पूर्ति की उन दशाओं की, जो प्रथम दिवस को वास्तव में वर्तमान थीं, उत्पादक ने भूतकाल में ही भविष्यवाणी कर दी थी, प्रत्युत वे इतना आगे बढ़ते हैं कि वे प्रथम दिवस बिक्री के लिए रक्खी गयी पूर्ति को भूतकालीन प्रत्याशाओं द्वारा पूर्णतया निर्धारित और इसलिए पहले से ही दी हुई मानते हैं। वर्तमान का कोई कार्य उसमें परिवर्तन नहीं ला सकता। जो भी हो, क्रेताओं की माँग और संभवतः विक्रेताओं की निग्रह-माँग भी प्रथम दिवस की वास्तविक अधिमानताओं और आय की स्थिति द्वारा निर्धारित होंगी। इन पर प्रथम दिवस की प्रत्याशाओं का भी प्रभाव पड़ेगा, विशेषतया यदि वस्तु स्थायी है और कुछ व्यक्ति भविष्य में माँग वृद्धि (या कम पूर्ति) की प्रत्याशा रखते हैं।

किस सीमा तक प्रथम दिवस की कीमत निर्धार्य है? जिस कीमत पर क्रय-विक्रय प्रारंभ होता है वह स्पष्ट रूप से निर्धार्य नहीं है; क्योंकि व्यापारी निश्चित रूप से यह नहीं जानते कि किस मात्रा में आज पूर्ति समक्ष आयेगी और क्रेताओं की ओर से माँग किस मात्रा में होगी। 'वे मूल और सुधार' की रीति द्वारा कीमत निश्चित करके कार्यारंभ करते हैं, (यद्यपि उनकी प्रत्याशाओं से वर्तमान बाजार की दशायें जितनी ही कम भिन्न होंगी, समायोजन उतना ही आसान होगा)। परन्तु मार्शल अपने प्रवीण तर्क से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जिस कीमत पर बाजार समाप्त हो जायगा वह फिर भी निर्धार्य है। अन्ततोगत्वा माँग और पूर्ति बराबर हो जाती है—इस अर्थ में कि प्रथम दिन की बाजारू-कीमत पर क्रेता उस दिन अपनी इच्छानुसार खरीदते हैं और विक्रेता जितना चाहते हैं, बेचते हैं, आगे चलकर हम इस विवाद पर पुनः आयेंगे।

इसके बाद वे द्वितीय दिवस या स्यात् कई दिन बाद के दिवस पर विचार करते हैं। कुछ समय बाद प्रथम दिवस के प्रारम्भ से पहले के निर्णयों का मालों की पूर्ति पर पूर्ण प्रभाव पड़ना रुक जायगा और प्रथम दिवस की निर्धारित कीमतें पूर्ति

को प्रभावित करने लगेंगी। परन्तु जैसे-जैसे हम 'अल्पकाल' अथवा 'दीर्घकाल' के लिए अग्रसर होंगे इसका प्रभाव भिन्न होता जायगा। 'विशिष्टीकृत चातुर्य और योग्यता, कार्यानुकूल मशीन और अन्य भौतिक पूंजी तथा उचित औद्योगिक संगठन की पूर्ति को, अल्पकाल में, माँग से समायोजित होने का समय नहीं मिलता; किन्तु उत्पादक को अपनी इच्छा पर आधारित सामग्री द्वारा अपनी पूर्ति का, जितना अच्छा हो सके, माँग के साथ समायोजन करना पड़ता है। 'दूसरी तरफ दीर्घकाल में पूँजी के सब विनियोग तथा भौतिक मशीनों को प्राप्त करने के प्रयत्न और व्यापार के संगठन तथा व्यापार-ज्ञान एवं क्षमता की प्राप्ति को उस आय से, जिसे वे अर्जित करने की आशा रखते हैं, समायोजित होने का समय मिलता है।' जैसा कि हम देखेंगे दीर्घकाल अपने वास्तविक अर्थ में (पूर्ति की माँग के प्रति समायोजनशीलता) सामान्य प्रोवेगिक सिद्धान्त के अनुकूल विचार नहीं है किन्तु मार्शल के प्रसिद्ध विभेद के मूलतत्व पर पूर्ण ध्यान देना आवश्यक है।

अगर हम यह मान लें (जिसे मार्शल ने सामान्यतया माना है) कि उत्पादक प्रथम दिवस की प्राप्त कीमतों पर अपनी भावी-कीमत-प्रत्याशा को आधारित करता है तो हम यह कह सकते हैं कि जब प्रथम दिवस की कीमत एक किसी निश्चित स्तर (अल्पकालीन सामान्य पूर्ति कीमत) से ऊपर हो तो उत्पादक अल्पकाल से आगे की भावी तिथियों के लिए अपने प्रथम दिवस के विक्रयार्थ वास्तविक निर्गत से भी अधिक निर्गत की योजना बनाना प्रारम्भ कर देंगे। यदि प्रथम दिवस की कीमत 'दीर्घकालीन सामान्य पूर्ति कीमत' से अधिक है तो वे अपनी यंत्र-सामग्री को बढ़ायेंगे और इस मार्ग पर वृद्धिमान भावी निर्गत का आयोजन प्रारंभ कर देंगे।

प्रथम दिवस से प्रारम्भ करके हम यह पूछ सकते हैं कि अगर उत्पादक भविष्य के किसी दिन 'न' को अमुक कीमत की प्रत्याशा करते हैं तो उस दिन के लिए कितने निर्गत के उत्पादन करने का आयोजन करेंगे। तब हम प्रत्येक संभव प्रत्याशित कीमत के लिए आयोजित उत्पादन-मात्रा देते हुए एक वक्र खींच सकते हैं। प्रत्येक विशिष्ट-भावी-तिथियों के लिए ऐसे ही वक्र खींचे जा सकते थे; मार्शल के अल्प एवं दीर्घ-कालीन वक्र इस संभावी वृहत् समूह से लिए गऐ नमूने हैं।

(४) अपने सिद्धान्त के निर्माण के लिए मार्शल जिस मार्ग पर अग्रसर हुए हैं वह पूर्वपरिचित होगा। उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण पाठक को मार्शल के विश्लेषण के उन अंगों का स्मरण दिलाने के लिए पर्याप्त होगा जो हमारे प्रयोजन के लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं। हमें उनके ढाँचे को इतना सामान्य बना देना है ताकि यह एक संपूर्ण आर्थिक निकाय की समस्याओं के विचारार्थ प्रयुक्त हो सके।

सर्वप्रथम उनके मॉडल के कुछ अंग ऐसे हैं जिन्हें बनाये रखना हमारे लिए उपादेय न होगा। कड़ा-त्रिवर्गीय विभेद इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है (प्रथम दिन की अस्थायी संस्थिति, अल्पकाल और दीर्घकाल)। ये श्रेणियाँ मार्शल के पृथक् बाजार के लिए पर्याप्त रूप से उपयुक्त हैं, परन्तु संपूर्ण-निकाय के विश्लेषण के लिए वे उपयुक्त नहीं हैं। ऐसी स्यात् ही कोई समयावधि होगी जो इतनी छोटी हो कि (मार्शल के अर्थ में) सभी वस्तुओं के हेतु हमारे सामने अस्थायी संस्थिति उपस्थित कर सके। कोई न कोई उत्पाद ऐसा अवश्य ही होगा जिसकी पूर्ति उस समयावधि में बढ़ाई जा सकेगी। स्यात् ही कोई समयावधि इतनी दीर्घ होगी कि इसके अन्तर्गत सभी वस्तुओं की पूर्ति पूर्ण 'समायोजित' हो सके; इसके अतिरिक्त संपूर्ण अर्थव्यवस्था को पूर्ण संस्थिति में लाने के लिए दीर्घकाल का विस्तार हमको स्थिर संस्थिति की प्रवृत्तियों के प्रति प्राक्मान्यता दोष से युक्त कर देगा। इस प्रकार मैं मार्शल के त्रिवर्गीकरण का उपयोग नहीं करूँगा—यद्यपि इसमें निहित सत्य (समायोजन में लिया गया समय) को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखने का प्रयत्न करूँगा।

अपनी सबसे छोटी समयावधि में निर्गत की किंचित अस्थिरता को स्वीकार करने का यदि हम निर्णय भी करलें फिर भी उस सबसे छोटी समयावधि (जिसे मार्शल के 'दिवस' से पृथक करने के लिए मैं एक "सप्ताह" मानता हूँ) को स्पष्ट रूप से समझ लेने की और स्पष्ट रूप से परिभाषित करने की आवश्यकता है। मैं सप्ताह की परिभाषा उस समयावधि के रूप में करूँगा जिसमें कीमतों की अस्थि-रता की उपेक्षा की जा सके। सैद्धान्तिक प्रयोजनों में इसका तात्पर्य है कि कीमतें निरन्तर तो नहीं किन्तु अल्प समयान्तरों पर परिवर्तित होती रहेंगी। एक सप्ताह की कलैंडर अवधि वास्तव में सर्वथा अविहित है; इसे अत्यल्प मानकर हम अपनी सैद्धान्तिक योजना को कीमतों के निरन्तर दोलन, जो किन्हीं बाजारों में कीमतों की विशेषता होती है, के अनुरूप बना सकते हैं। तिस पर भी मैं सोचता हूँ कि सप्ताह को अत्यल्प मानने से हमारा सिद्धान्त ज्ञानप्रद न रह जायगा; मेरा विश्वास है कि इसे पर्याप्त दीर्घ मानना अच्छा होगा यद्यपि इसका तात्पर्य है कि हमें वास्तविकता के अनिश्चित सन्निकटन से ही तुष्ट होना पड़ेगा।

यह मानकर कि सप्ताह में किसी एक ही दिन (मान लीजिए सोमवार) बाजार खुलता है, सप्ताह पर्यन्त अपरिवर्तित कीमतों की परिकल्पना को काल्पनिक रूप दिया जा सकता है; इस प्रकार सोमवार को ही अनुबंध किए जा सकते हैं। सप्ताह के बीच अनुबंध कार्यान्वित होते रहेंगे (माल डेलीवर किए जा सकेंगे आदि) किन्तु

नए अनुबंध अगले सप्ताह के सोमवार तक नहीं किए जाँयगे। अतएव सोमवार की कीमतें ही सप्ताह भर चालू रहेंगी और उन्हीं के द्वारा सप्ताह भर साधनों की बिक्री अधिशासित होगी।

अब यह जानना कठिन नहीं है कि जब बाजार खुले न हों और इस कारण जब कीमतों में परिवर्तन की कोई संभावना न हो तो सप्ताह भर कीमतें अपरिवर्तित रहेंगी। किन्तु हमें यह भी मानना चाहिए कि सोमवार को बाजार-समय में भी, जब बाजार खुला होता है और विक्रेताओं को बाजार-कीमत मोल-तोल और भूल-सुधार द्वारा निश्चित करनी पड़ती है, कीमत परिवर्तन नगण्य होते हैं। इसका तात्पर्य है कि बाजार (वास्तव में सभी बाजार) शीघ्रता से और सुगमता से अस्थायी संस्थिति (मार्शल के अर्थ में) की ओर अग्रसर होता है। मार्शल ने अपने मॉडल की परिस्थितियों के अनुसार इस मान्यता को उचित ठहराने के लिए कुछ आधार प्रस्तुत किए हैं। मैं इस अध्याय के अन्त में दी गई टिप्पणी में इस बात का परीक्षण करूँगा कि कहाँ तक ये आधार हमें प्राप्य हैं। इस समय के लिए, मैं अपने पाठकों से कहूँगा कि वे अस्थायी संस्थितिकी स्थिति में सरलता से प्रवेश करने की कल्पना को एक प्रकार की "पूर्णता" समझ लें जिसका हम बाजार दशाओं में मान लें; जिस तरह हम पूर्ण सामयिक ज्ञान की परिकल्पना कर लेंगे—कि प्रत्येक व्यक्ति उन बाजारों की वर्तमान कीमतों को जानता है जो उससे संबंधित हैं। जहाँ तक मेरा विचार है इन सुगमताओं से हमारे विश्लेषण के प्रत्याशित परिणामों में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है।

(५) प्रथम विशेषता से अथवा उसकी हमारी की गई व्याख्या से सप्ताह की एक दूसरी विशेषता समक्ष आती है। हम यह मानते हैं कि सप्ताह योजना की अवधि है—कहने का तात्पर्य है कि भविष्य के साधनों की बिक्री के निर्णय सोमवार को होते हैं। क्योंकि प्रत्येक नए निर्णय का लगाव नए अनुबंध से होगा और अनुबंध केवल सोमवार को ही हो सकते हैं अतएव हम सयुक्तिक रूप से मान सकते हैं कि सोमवार ही योजना-तिथियां भी हैं।

यह स्वीकार करना मौलिक रूप से महत्वपूर्ण है कि साहसोद्यमियों के क्रय-विक्रय सम्बन्धी निर्णय (और कुछ सीमा तक निजी व्यक्तियों के भी वैसे ही निर्णय) लगभग सदैव एक ऐसे निर्णयों के निकाय के अंग हैं जो वर्तमान तक ही सीमित न रहकर भावी घटनाओं से भी संबंधित हैं। एक फर्म के वर्तमान कार्यकलाप ऐसी योजना के अंग हैं जिसके अन्तर्गत न केवल तात्कालिक बिक्री और खरीद के निर्णय आते हैं वरन् न्यूनाधिक दूरी के भविष्य की बिक्री की इच्छायें (किसी भी दर पर,

तथा सामान्यतया खरीद भी) भी आतीं हैं।

आर्थिक प्रक्रम का वास्तविक विवरण यह प्रदर्शित करेगा कि फर्म अनियमित समयान्तरों में योजना बनाता है। योजना बनाने की तिथियों के बीच समाहृत काल में अन्तिम योजना न्यूनाधिक रूप से अपने प्रारंभिक रूप में चलती रहती है यद्यपि कुछ अधिकार सामान्यतया अधीनस्थों को भी छोटे-मोटे परिवर्तन के लिए सौंप दिए जाते हैं। जब योजना बनाने की दूसरी तिथि आ जाती है तो नवीन सूचनाओं के प्रकाश में पूर्ण स्थिति पर पुनर्विचार किया जाता है और तब योजना बनाई जाती है।

किसी योजना में विशेष परिवर्तन की आवश्यकता पर ध्यान रखते हुए पूरी परिस्थिति का बारबार परीक्षण करना व्यवसायिक प्रबंध का एक महत्वपूर्ण विषय है। महत्वपूर्ण परिवर्तन लाते रहने की तत्परता प्रथम कोटि के व्यापारिक साहसोद्यम की निश्चित पहिचान है। अकुशल फर्म में महत्वपूर्ण योजनायें विरले ही बनाई जाती हैं और इनमें सारा आयोजन छोटे-मोटे समायोजनों से ही हो जाता है जिसके निमित्त स्थिति के थोड़े ही तत्व ध्यान में रखे जाते हैं और साथ ही अधिक विचार-विमर्श की आवश्यकता नहीं पड़ती। फिर भी इस विभेद के महत्व के होते हुए भी यहाँ हम इस पर कम ही ध्यान देंगे। हम यह मानकर चलेंगे कि प्रत्येक फर्म प्रति सोमवार को न्यूनाधिक रूप में पूरी स्थिति पर पुनर्विचार करती है, यद्यपि इसका तात्पर्य होगा कि हमारी प्रवृत्ति इस निकाय में जितनी क्षमता होने की संभावना है उससे अधिक क्षमता आरोपित करने की होगी। किन्तु मेरी धारणा में इसका कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि विवाद की अंतिम स्थिति में शिथिलता को स्थान दिया जा सकता है।

तब हम यह मानें कि फर्म (और निजी व्यक्ति) स्वयमेव प्रदर्शित बाजार-स्थिति के प्रकाश में सोमवारों को अपनी योजनायें बनाते और संशोधित करते हैं; इस प्रकार सप्ताह भर किए गए छोटे-मोटे समायोजनों की उपेक्षा की जा सकती है। अन्य मान्यताओं के साथ इसका तात्पर्य है कि जब सोमवार की संध्या के समय बाजार बन्द होते हैं तो वे उस दिन की संभव-पूर्णतम संस्थिति पर पहुँच चुके होते हैं, न केवल कीमतें ही तय हो चुकी होती हैं प्रत्युत सभी लोग उसी कीमत पर लाभप्रद क्रय-विक्रय भी करते हैं। इस प्रकार के क्रय-विक्रय इस बात का संकेत करते हैं कि योजनायें इन कीमतों से समायोजित हो गई हैं—या यदि हम अदक्षता को स्थान देते हैं तो योजनायें इतनी समायोजित हो गई हैं कि योजनाकारों की अपूर्ण दक्षता के साथ संगत है।

(६) किसी दिए हुए सप्ताह में अपनाई हुई योजनायें न केवल वर्तमान कीमतों पर अपितु योजनाकारों की भावी कीमतों की प्रत्याशाओं पर भी आधारित होती हैं। यह अनुमान करते हुए कि प्रत्येक व्यक्ति का भावी सप्ताह की कीमतों की प्रत्याशाओं का एक निश्चित विचार होता है, हम सामान्यतया इन प्रत्याशाओं की व्याख्या एक दृढ़ और नियत रूप में करेंगे। वास्तव में यह मान्यता अत्यधिक कड़ी है और दो विभिन्न तरह से त्रुटि पैदा करती है। एक बात तो यह है कि व्यक्तियों की प्रत्याशायें उन कीमतों की प्रत्याशायें नहीं हैं जो बाहर से मान ली जाँय अपितु बाजार-दशाओं की प्रत्याशायें हैं, उदाहरण के लिए जैसे माँग की सारिणी एकाधिकार के संबंध में कुछ हद तक सदैव ऐसा ही होना चाहिए जिससे कि यथार्थ कीमत-प्रत्याशाओं की मान्यता, उस पूर्ण स्पर्द्धा की मान्यता का एक पक्ष रह जाती है जिसे हम अभी तक मानते आए हैं और यहाँ आगे भी मानेंगे।

दूसरे, और स्यात् जो अधिक महत्वपूर्ण है, व्यक्ति स्यात् ही ठीक-ठीक प्रत्याशायें कर पाता है। वे यह प्रत्याशा नहीं करते हैं कि वह कीमत, जिस पर वे किसी विशिष्ट भावी-सप्ताह में किसी विशिष्ट निर्गत को बेचने में समर्थ हो सकेंगे, ठीक इतनी-इतनी होगी; वे एक या एक से अधिक अंकों की प्रत्याशा करते हैं जो उन्हें सर्वाधिक संभव प्रतीत होते हैं किन्तु इस सर्वाधिक संभव मूल्य से किसी भी तरफ विचलन होनेकी संभावना रहती है। यह एक जटिलता है जिसके प्रति गंभीर रूप से ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

कुछ प्रयोजनों के लिए, जैसे किसी व्यक्ति की सम्पत्ति-((या, जैसा हम देखेंगे, उसकी आय) के पूंजीगत मूल्य का जब अनुमान लगाया जाता है तो सर्वाधिक संभव मूल्य पर ध्यान केन्द्रित करना पर्याप्त होता है और शेष बारंबारता वंटन को छोड़ा जा सकता है। किन्तु अधिकांश प्रयोजनों के लिए प्रसरण बड़ा महत्वपूर्ण है।

अन्तिम-रूप-से-अपनाई हुई योजना को निर्धारित करने वाले तत्वों पर विचार करते हुए हमें अनेकानेक आचरणों, जिनका परिणाम समान रूप से निश्चित नहीं है, के बीच निर्वाचन करने वाले व्यक्तियों के संबंध में भी विचार करना है। भावी तिथि पर प्रत्याशित रूप से लागू होने वाली सर्वाधिक संभव कीमत यद्यपि अपरिवर्तित रहती है फिर भी एक व्यक्ति की यदि वह संभव-कीमतों के प्रसरण के बढ़ जाने पर उस कीमत की संभावना के संबंध में कम विश्वस्त हो जाता है उस तिथि पर खरीद और बिक्री से संबंधित योजना को अपनाने की तत्परता प्रभावित हो सकती है। सामान्यतया कोई भी मान लेगा कि बढ़ा हुआ प्रसरण उसको उन योजनाओं को बनाने के लिए कम इच्छुक कर देगा जिसमें प्रभावित तिथि पर हुए क्रय-विक्रय निहित

होते हैं। यदि ऐसा है तो ऐसे मामलों में, जहाँ व्यक्ति बिक्री की योजना बनाता है, बढ़े हुए प्रसार का वही प्रभाव होगा जो प्रत्याशित कीमतों के ह्रास का, तथा ऐसे मामलों में, जहाँ वह क्रय करने की योजना बनाता है, इसका प्रभाव प्रत्याशित कीमतों की वृद्धि के समान होता है। अगर हमें योजना निर्वारण की समस्याओं में प्रत्याशा की अनिश्चितता को स्वीकार करना है तो हम अधिकाधिक संभव कीमत को प्रतिनिधि प्रत्याशित कीमत नहीं मान सकते। प्रतिनिधि प्रत्याशित कीमत सर्वाधिक संभव कीमत +प्रत्याशा की अनिश्चितता हेतु कुछ छूट या दूसरे शब्दों में जोखिम के लिए छूट के बराबर होगी।

इस तरह से समक्ष आने वाला विश्लेषण, जिसमें हम यह अनुमान करते हैं कि व्यक्ति कीमतों की ठीक-ठीक प्रत्याशा करते हैं, ऐसे संसार में, जहाँ जोखिम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, व्यवहृत होने में सर्वथा असमर्थ नहीं है। जब हम योजनाओं के निर्धारण से संबंधित होते हैं तो हमें योजनाकारों की प्रत्याशाओं का जोखिम के साथ समायोजित होने का अनुमान करना चाहिए। जोखिम के अध्ययन का यह एक पूर्णरूप से संतोषजनक तरीका नहीं है—मैं स्वयं सोचता हूँ कि प्रावेगिक-अर्थशास्त्र, जिसे कि हम यहाँ प्रतिपादित करेंगे, के अतिरिक्त जोखिम का अर्थशास्त्र भी होना चाहिए था—किन्तु यह प्रदर्शित करना पर्याप्त है कि जिन अन्वेषणों को हम कर रहे हैं वे अव्यवहार्य नहीं हैं।

यह जानना महत्वपूर्ण है कि जोखिम की छूट—वह प्रतिशत जिससे कि प्रतिनिधि प्रत्याशित कीमत, सर्वाधिक संभव कीमत से कम हो जाती है या बढ़ जाती है—अनिश्चितता की मात्रा से संबंधित योजनाकार के मत से ही पूर्णरूप से निर्धारित नहीं होती। यह उसके जोखिम उठाने की इच्छा से भी प्रभावित होता है, जो कि एक ऐसा तत्व है जो अन्तिम विश्लेषण में उसकी अधिमानताओं के मापदण्ड पर निर्भर है। अतः जोखिम उठाने की इच्छा में वृद्धि, हमारी व्याख्या में, प्रत्याशित कीमतों में योजनाकार के अनुकूल परिवर्तन को प्रदर्शित करेगी।

पुनः (और यह हमारी व्याख्या की सर्वाधिक गंभीर कमजोरी है) किसी विशिष्ट जोखिम को वहन करने की इच्छा (किसी विशिष्ट भावी तिथि पर, जिसके लिए प्रत्याशित कीमतें अनिश्चित हैं, खरीदने और बेचने की योजना बनाना और उसे कार्यान्वित करना) शेष योजना में निहित जोखिम से काफी प्रभावित होगी। यद्यपि जोखिमों के पारस्परिक संबंधों के परिणाम यदा-कदा हमारी दृष्टि में आयेंगे किन्तु वर्तमान रीति के आधार पर इस विषय में मैं शायद ही कुछ कर सकूँगा।

इस प्रकार हम बाहरी तौर पर यह मानेंगे कि लोग विशिष्ट-निश्चित-कीमतों

की प्रत्याशा करते हैं अर्थात् उनकी कुछ कीमत संबंधी प्रत्याशायें हैं। किंतु समय समय पर हम इन प्रत्याशाओं की व्याख्या, उन विशिष्ट अंकों के द्वारा करने को तत्पर रहेंगे जो वास्तविकता की अनिश्चित प्रत्याशाओं का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करते हैं।

(७) सप्ताह, योजना और निश्चित प्रत्याशा, ये तीनों विचार हमारे परीक्षण में मूल रूप से आयेंगे। इनके प्रयोग से वास्तविक संसार के प्रति हमसे थोड़ा अनौचित्य हो जाता है परन्तु प्रावेगिक सिद्धान्त की दिशा में आगे बढ़ने की दृष्टि से यह अनौचित्य आवश्यकता से अधिक नहीं है। मैंने यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि हमारे मॉडल की अत्यधिक अनम्यता के गंभीर परिणाम नहीं हुए हैं।

सप्ताह के प्रयोग से हम परिवर्तन-प्रक्रम को अस्थायी संस्थितियों की एक श्रृंखला के रूप में देख सकते हैं। इससे प्रावेगिक क्षेत्र में भी संस्थिति-विश्लेषण का प्रयोग करने में हम समर्थ हुए हैं। योजना के प्रयोग से हम भविष्य में निर्देशित क्रियाओं और वर्तमान उद्देश्यों में रत क्रियाओं के बीच संबंध स्थापित कर सके हैं। यह मानकर कि आयोजन सप्ताहान्तर्गत कार्यान्वित किया जाता है हम यह सहज कल्पना कर सकते हैं कि सप्ताहारंभ की अपेक्षा सप्ताहान्त की स्थिति भिन्न है। इस प्रकार द्वितीय सप्ताह में संस्थापित नवीन संस्थिति प्रथम सप्ताह की संस्थिति से अवश्यमेव भिन्न होगी। इसी तरह आगे बढ़ने पर हमें एक प्रक्रम की प्राप्ति होगी।

निश्चित प्रत्याशाओं के उपाय द्वारा हम उसी विश्लेषण का प्रयोग करने में समर्थ हैं जिसका प्रयोग हमने स्थैतिकी में व्यक्ति और फर्म की संस्थिति को निश्चित करने और वर्तमान कीमतों तथा प्रत्याशित कीमतों पर योजनाओं की निर्भरता को निर्धारित करने के लिए किया है। इसे इस तथ्य के साथ लेकर, कि बाजार-संस्थिति के विचार को हमने सुरक्षित रखा है, स्थैतिक विश्लेषण के मूलतत्व हमें अभी भी प्राप्य हैं।

इस प्रकार, अपने माडेल को स्थिरता की स्थिति में छोड़े बिना ही हमने स्थैतिक मशीनरी के मूलतत्वों को सुरक्षित रखा है। अब हम यह देखने के लिए आगे बढ़ें कि यह सब कैसे कार्यशील होता है।

अध्याय ९ की टिप्पणी

(१) मार्शल ने अपनी पाँचवीं पुस्तक के दूसरे अध्याय में तथा अदल-बदल-संबंधित परिशिष्ट में एक अति बुद्धिमत्तापूर्ण तर्क देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि परिवर्तनीय-बाजार-दशाओं में अनिवार्य "भूल एवं सुधार" रीति द्वारा कीमत के निर्धारित होने के प्रक्रम का अन्ततोगत्वा निर्धारित कीमतों पर काफी प्रभाव पड़ना आवश्यक नहीं है। क्योंकि हमारे विश्लेषण हेतु भी इस बात का कुछ महत्व है, मार्शल के तर्क की यहाँ समीक्षा करना उपयुक्त है।

क्योंकि सामान्यतः यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती कि व्यापारियों को यह ज्ञात है कि किसी भी बाजार में कुल कितनी पूर्ति उपलब्ध है और किन्हीं भी दी हुई कीमतों पर कुल माँग कितनी होगी, प्रारंभ में निश्चित कोई भी कीमत केवल कल्पना पर आधारित हो सकती है। यह संभव नहीं है कि ऐसी कल्पना कीमत पर माँग और पूर्ति वास्तव में बराबर पाई जायँगी। यदि वे बराबर नहीं उतरतीं तब व्यापार के दौरान में कीमत चढ़ेगी या गिरेगी। अब यदि व्यापार के बीच कीमत-परिवर्तन होता है तो समस्या माँग और पूर्ति-विश्लेषण के सामान्य-यंत्र की पकड़ में नहीं आती है क्योंकि, ठीक कहा जाय तो, सत्य यह है कि माँग तथा पूर्ति वक्रों से केवल यह ज्ञात होता है कि किसी कीमत पर क्रेता और विक्रेता क्रमशः किस मात्रा में क्रय-विक्रय करेंगे : यह भी तभी होगा जब कीमतें आरंभ में ही निश्चित कर दी जायं और वे बराबर बनी रहें। इसलिए वाल्रा तथा एजवर्थ सरीखे पूर्वकालीन लेखकों ने यह माना था कि "माँग और पूर्ति विश्लेषण" दृढ़ता के साथ केवल उन बाजारों तक सीमित रखा जाय जहाँ 'पुनर्संविदे' संभव हैं अर्थात् ऐसे बाजारों तक जहाँ यदि कोई सौदा किसी 'गलत' कीमत (हम देखेंगे कि संस्थिति-कीमत के अतिरिक्त अन्य कीमत को नामांकित करने के लिए एक नाम सुविधाजनक होगा) पर कर लिया जाता है तो संस्थिति कीमत आ जाने के बाद उक्त कीमत को सुधारा जा सकता है। क्योंकि ऐसे बाजार अत्यन्त अपवादस्वरूप हैं, उनकी समस्या का हल (यदि उसे हल कहा जा सके) अति विश्वासोत्पादक नहीं थी।

मार्शल ने अपने तर्क को मुद्रा की अपरिवर्तित-सीमान्त-उपयोगिता मानकर दिया है, यदि हम अपनी जिस भाषा से परिचित हो चुके हैं उसमें उस तर्क को रखें तो अध्ययन में सुविधा होगी। मुख्य बात यह दर्शाना है कि व्यापार के बीच होने वाले कीमत-परिवर्तन का प्रभाव संपत्ति-पुनर्वितरण के प्रभाव के सदृश होता है। मान लीजिए कि संस्थिति-कीमत ६ पैंस प्रति पौंड है और प्रारंभ में गलत कीमत १० पेन्स थी जो बाद में घटकर ६ पेन्स रह गयी। मान लीजिए किसी व्यक्ति ने ३ पौंड वस्तु गलत कीमत पर खरीदी : तब अंत में इस व्यक्ति की स्थिति उसी स्थिति के समान है जिसमें कीमत तो बराबर ६ पेन्स रखी जाती हैं किन्तु क्रेता को बाध्य करके ३ × (१०—६) पेन्स विक्रेता को दिलवाए जाते हैं। उसकी कुल माँग तथा विक्रेता की कुल पूर्ति बिल्कुल वैसी ही होगी जैसी वे होतीं यदि उक्त हस्तांतरण प्रत्यक्ष घटता।

ऐसे हस्तांतरण के प्रभाव हमारी शब्दावली में आय-प्रभाव कहलाते हैं; और जैसा कि हम अनेक बार देख चुके हैं कि आय-प्रभावों की बहुधा उपेक्षा की जा सकती है। मार्शल द्वारा जिस उदाहरण का विचार किया गया है उसमें यह माना जा सकता है कि व्यक्ति अपने साधनों का केवल एक अल्पांश विचाराधीन वस्तु पर व्यय करता है; और, यदि ऐसा हो तो, कीमत परिवर्तन के प्रभाव-स्वरूप उसके साधनों के मूल्य में केवल थोड़ा-सा परिवर्तन आएगा। स्पष्ट है कि यही मार्शल के साध्य का आधार था। स्वयं मार्शल के शब्दों में यह मान्यता 'जिन बाजार-सौदों से हमारा व्यावहारिक संबंध है उनमें से अधिकांश सौदों के संबंध में उचित कही जा सकती है। जब कोई व्यक्ति अपने उपभोग के लिए कोई चीज खरीदता है वह सामान्यतः अपने कुल साधनों का केवल एक अल्पांश ही व्यय करता है।' प्रारंभ के 'गलत' सौदों के कारण क्रेता की स्थिति श्रेष्ठतर (अथवा हीनतर) बन जाती है; किन्तु यदि वस्तु पर किया गया कुल व्यय थोड़ा है तो उसका लाभ (या हानि) भी कम होगा। और उसकी उस वस्तु की माँग बहुत कम प्रभावित होगी। फलस्वरूप बाजार का अंत संस्थिति-कीमत के अतिनिकट ही होगा।

(२) तब मार्शल के तर्क का यही आशय होता है। स्पष्टतः यह उस प्रकार के 'मछली-बाजार' के लिए, जो मार्शल के ध्यान में था, काफी सही है। मार्शल द्वारा प्रतिपादित अस्थायी-संस्थिति के सिद्धान्त में पूर्ति निश्चित होती है, माँग अनेक अंतिम उपभोक्ताओं के समूह की होती है, और बाजारों की परस्पर प्रतिक्रिया की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। हमारे अध्ययन हेतु यह वांछनीय है कि यदि हो

सके तो इन सीमाओं को हटा दें। क्या हम सारे ढाँचे को गिराए बिना ऐसा कर सकते हैं ?

मार्शल के विशेष उदाहरण के समान सामान्य उदाहरण में यह अब भी सही है कि गलत व्यापारजनित हानि और लाभ केवल आय प्रभावों को उत्पन्न करते हैं—ऐसे प्रभाव जो प्रकार में उन आय प्रभावों के समान हैं जिनका विचार तब भी करना पड़ता जब हम यह मान लेते कि संस्थिति कीमत सीधे ही स्थापित हो गई है। हम वारंबार देख चुके हैं कि लगभग सदैव आय-प्रभावों के कारण आर्थिक सिद्धान्तों के नियमों में एक सीमा तक अनिर्धारितता आ जाती है। गलत व्यापार के कारण केवल इतना होता है कि यह अनिर्धारितता कुछ तीव्र हो जाती है। नि:सन्देह इसकी तीव्रता गलत व्यापार की मात्रा पर निर्भर होती है; यदि संस्थिति कीमतों से अत्यन्त भिन्न कीमतों पर बहुत बड़ी मात्रा में सौदे होते हैं तो प्रभाव गंभीर होगा। किन्तु मेरे विचार में हम तर्क से यह मान सकते हैं कि 'अति-गलत' कीमतों पर होने वाली सौदों की मात्रा सीमित होती है। यदि कीमत निश्चित करने में बुद्धिमानी से काम लिया गया तो ऐसा ही होगा।

जैसा हमने स्थैतिकी में देखा था, हम यह प्रत्याशा कर सकते हैं कि इस तथ्य के आधार पर, कि क्रेताओं के लाभ का अर्थ क्रेताओं की हानि है और इसका विवर्तन भी, इन विघ्नकारी प्रभावों में कुछ कमी आ जायगी। इस प्रकार जब भी दोनों पक्ष भिन्न मालों पर अतिरिक्त व्यय के वितरण में किंचित भी सदृश हैं, माँग परिवर्तन अंशत: तत्सदृश पूर्ति-परिवर्तन द्वारा अन्यथा हो जायेगा।

क्योंकि हमने यह माना है कि बाजार केवल सोमवार को खुलते हैं गलत कीमतों का प्रभाव आय प्रभाव तक सीमित हो जाता है; इसलिए संस्थिति कीमतों को शेष सप्ताह में कार्यान्वित की गई उत्पादन तथा उपभोग योजनाओं के प्रति सूचक स्वरूप मान लिया जाता है। यदि सप्ताह की समयावधि लम्बी मानी जाय तो वास्तव में इस रीति का यह अर्थ होगा कि हमारे निष्कर्षों के व्यवहारिक प्रयोग किसी सीमा तक अविहित होंगे। यदि हम उस अविहितता को कम करने में विशेष रुचि रखते हैं तो हम ऐसा सदैव सप्ताह की अवधि को घटाकर कर सकते हैं।

अध्याय १०

संस्थिति और असंस्थिति

(१) जिस सामान्य तरीके का हमें अनुसरण करना है वह अब स्पष्ट हो जायगा। सर्वप्रथम हमें किसी विशिष्ट सोमवार पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि उस दिन का निर्धारित-कीमत-निकाय किस प्रकार निर्धारित होता है। इस खोज में हमें उस सोमवार के पहले हुई प्रत्येक चीज को पूर्वनिश्चित की तरह मानना चाहिए; इस समय का बना कोई निर्णय उसे बदल नहीं सकता, 'भूतकाल ईश्वर की भी शक्ति के बाहर है'। विशिष्ट रूप में इसका तात्पर्य यह है कि जब सोमवार को सुबह बाजार खुलता है उस समय स्थित बिक्री के लिए तैयार माल, अर्द्धनिर्मित माल और कच्चा सामान, हर तरह का निश्चित कारखाना और टिकाऊ उपभोक्ता माल के सहित संस्थान की संपूर्ण भौतिक सामग्री दी हुई मानना चाहिए। इसके आगे, आर्थिक समस्या भूतकाल से प्राप्त इन साधनों के, वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि पर, निर्धारण की है।

इन प्राप्त साधनों के आधार पर साहसोद्यमियों से (और साथ ही साथ निजी व्यक्तियों से भी) ऐसी योजनाओं के बनाने की आशा की जा सकती है जो उनके वर्तमान व्यवहार और भविष्य के इच्छित व्यवहार को निर्धारित करती है। उत्पादों की मात्रा जिसे वह वर्तमान सप्ताह और भविष्य के सप्ताहों में बेचेगा और आगतों की मात्रा (सेवायें, सामान और स्यात् कारखानों की नयी प्राप्ति) जो कि वह वर्तमान या भविष्य के सप्ताहों में खरीदेगा या किराए पर लेगा, इनसे संबंधित निर्णय साह-सोद्यमी की योजना में आ जाते हैं। एक निजी व्यक्ति की योजना में वस्तु की मात्रा, जिसे वह इस सप्ताह में या आगे के सप्ताहों में खरीदेगा (और स्यात् सेवाओं की मात्रा भी जो वह पूर्ति के रूप में देगा) इनसे संबंधित निर्णय आते हैं। इस प्रकार योजनाओं के अंग के रूप में सभी मालों और सेवाओं की वर्तमान माँग और पूर्ति निर्धारित होती हैं; यद्यपि उनका निर्धारण भविष्य की माँग और

पूर्ति से संबंधित व्यक्तियों की इच्छाओं के साथ संयुक्त रूप से होता है।

व्यक्तियों द्वारा निर्धारित योजनायें वर्तमान कीमतों और उनकी भविष्य की प्रत्याशित कीमतों पर निर्भर करती हैं; किन्तु वर्तमान कीमतें स्वयं ही वर्तमान माँगों और पूर्तियों से, जो योजना के अंग है, निर्धारित होती हैं। इस प्रकार यदि पहले सोमवार को एक ऐसी कीमतों की श्रेणी निश्चित हो जाती है जो सभी बाजारों में माँग और पूर्ति को बराबर नहीं करती तो कीमतों में एक समायोजन होना होगा। उन बाजारों में कीमत गिरेगी जहाँ पूर्ति माँग से अधिक है, और उनमें बढ़ेगी जहाँ माँग पूर्ति से अधिक है। वर्तमान कीमतों में यह परिवर्तन योजनाओं में परिवर्तन लायेगा और परिणामस्वरूप माँग और पूर्ति में भी, योजनाओं में परिवर्तन द्वारा मांग और पूर्ति को संस्थिति में लाया जाता है।

हम यह मान रहे हैं कि सोमवार को व्यापार तब तक चलता है जब तक माँग और पूर्ति संस्थिति में नहीं आ जाते हैं; यह इसलिए अनिवार्य है ताकि हम संस्थिति रीति को प्रावेगिक सिद्धान्त में प्रयोग करने में समर्थ हो सकें। क्योंकि हम संस्थितीकरण के प्रक्रम पर, जिसे कि संस्थिति-कीमतों के निर्माण के पहले आना चाहिए,[1] विशेष ध्यान नहीं देंगे, हमारी रीति में यह निहित प्रतीत होता है कि हम आर्थिक निकाय से सदा संस्थिति में होने की धारणा करते हैं। हम प्रत्येक बार एक सप्ताह की और फिर दूसरे सप्ताह की संस्थिति-कीमत निकालते हैं और इसको यहीं पर छोड़ देते हैं।

(२) जहाँ तक संस्थिति के इस सीमित अर्थ का संबंध है, यह बिल्कुल सत्य है कि हम आर्थिक निकाय के सदैव संस्थिति में होने की परिकल्पना करते हैं। ऐसा करना अतार्किक भी नहीं है। एक अर्थ में प्रतिस्पर्द्धी की दशाओं में वर्तमान पूर्ति और वर्तमान माँग सदा ही बराबर रहते हैं। वास्तव में दूकानों के स्टॉक अविक्रीत छोड़े जा सकते हैं; किन्तु वे अविक्रीत इसलिए हैं क्योंकि व्यक्ति उन्हें अभी बेचने के लिए कीमत में कटौती करने की अपेक्षा भविष्य में बेच सकने के मौके को अधिक पसंद करते हैं। वर्तमान कीमतों के गिरने की प्रवृत्ति पूर्ति को वर्तमान से भविष्य की ओर टालती है। पूर्ति का माँग पर आधिक्य, जिसका तात्पर्य इससे अधिक है, तभी संभव है यदि कीमत शून्य तक आ जाय, या वस्तु एकाधिकृत हो जाय, या कीमत परम्परा से निश्चित हो। (हम अपने प्रावेगिक सिद्धान्त में आगे पुनः परंपरागत कीमतों पर लौट आयेंगे।)[2]

इस (विश्लेषणात्मक रूप से महत्वपूर्ण) अर्थ में आर्थिक निकाय (या कम से कम वे निकाय जिनसे हम संबंधित होंगे) को सदा संस्थिति में माना जा सकता

हैं; किन्तु एक दूसरा अधिक व्यापक अर्थ है जिसमें न्यूनाधिक सीमा तक यह अधिकतर संस्थिति के बाहर रहता है। इस शब्द का कुछ इस तरह का अर्थ व्यावहारिक समस्याओं के आधुनिक विवादोंमें सुपरिचित है; हम इसे ठीक अर्थ देने के लिए अपने साधन का प्रयोग कर सकते हैं।

प्रथम सोमवार को स्थापित कीमत-निकाय को निर्धारित करने के साथ साथ हम उस योजनाओं के निकाय को निर्धारित कर लेंगे जो कि आगे आने वाले सप्ताह में साधनों के वितरण को नियन्त्रित करेगा, अगर हम इन योजनाओं के पूर्ण होने का अनुमान करते हैं तो वे उन साधनों की मात्रा का निर्धारण करते हैं जो कि, दूसरे सोमवार को लिए जाने वाले निर्णयों के लिए आधार के रूप में काम करने के लिए सप्ताह के अन्त में छोड़ दिए जायेंगे। दूसरे सोमवार को कीमतों का एक नया निकाय निर्मित होगा जो कि पहले सोमवार को स्थापित कीमत-निकाय से न्यूनाधिक भिन्न हो सकता है।

संस्थिति का विस्तृत अर्थ—जैसा कि अस्थिर संस्थिति से—जो किसी भी वर्तमान सप्ताह में होनी चाहिए, विभेद करने के लिए इसे हम समयपर्यन्त संस्थिति कह सकते हैं—स्वयं तब सूचित होता है जब हम दो तिथियों पर कीमत-स्थितियों की तुलना करने लगते हैं। एक स्थैतिक स्थिति, न केवल तब जब कि सद्यः स्थापित कीमतों पर माँगें पूर्तियों के बराबर हों अपितु तब भी जब वही कीमतें सभी तिथियों में स्थित रहती हैं—जब कीमतें समयपर्यन्त स्थिर हों—सदैव संस्थिति में रहती है। प्रथम तो यह सोचा जा सकता है कि यही मापदण्ड (कीमतों की स्थिरता) परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था के लिए भी लागू होगा; किन्तु वास्तविकता यह नहीं है।[3] क्योंकि मात्र गणितात्मक समानता या अन्तर की अपेक्षा एक अधिक महत्वपूर्ण कसौटी है जो स्थैतिक स्थिति में तो स्थिर कीमतों को सूचित करती है किन्तु परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था में स्थिर कीमतों का अनिवार्यतः संकेत नहीं करती है। यह शर्त है कि दूसरे सोमवार को वसूल की हुई कीमतें वही हों जो कि पहले से उस तिथि पर होने के लिए प्रत्याशित थीं।

वास्तव में, एक परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था में भी व्यक्ति स्थिर कीमतों की प्रत्याशा कर सकते हैं किन्तु यदि वे ऐसा करते हैं तो उनकी प्रत्याशाओं के सही न होने की बहुत संभावना है। सामान्यतया परिवर्तनशील कीमतों की प्रत्याशायें ही सही होंगी। संस्थिति में, कीमतों में वह परिवर्तन होता है जो प्रत्याशित होता है। अगर रुचियाँ और साधन भी वही रहते हैं जिनके रहने की प्रत्याशा की गई थी तो संस्थिति में ऐसी कोई बात नहीं हुई होगी जो पहले सोमवार को तैयार

की हुई योजनाओं में बाधा डाले। जहाँ तक देखा जा सकता है किसी ने कोई गलतियाँ नहीं कीं और योजनाओं का कार्यान्वित होना बिना किसी संशोधन के जारी रह सकता है। एक अर्थव्यवस्था जो समयपर्यन्त पूर्णसंस्थिति में है, फॉस्ट के सूर्य के समान है जो कि बादलों, गड़गड़ाहट और चमक के साथ भी निरन्तर चलता रहता है। असंस्थिति की मात्रा जितनी अधिक होती है उतना ही हम कह सकते हैं कि प्रत्याशायें गलत हुईं और योजनायें बिगड़ गईं।

कोई भी आर्थिक निकाय समयपर्यन्त पूर्णसंस्थिति का प्रदर्शन कभी नहीं कर सकता है; फिर भी कुछ समयों में अन्य समयों की अपेक्षा आदर्श की अधिक सान्निध्यता प्राप्त की जाती है। निःसन्देह इसकी अधिकतम सान्निध्यता तब प्राप्त होती है जब दशायें लगभग अत्यधिक स्थैतिक होती हैं : जब व्यक्ति कीमतों के स्थिर रहने की प्रत्याशा करते हैं और वे स्थिर रहती हैं। जो भी हो, जब हम याद रखते हैं कि साहसोद्यमियों की प्रत्याशायें वास्तव में विशिष्ट कीमतों की यथार्थ प्रत्याशायें नहीं हैं अपितु अधिकांश संभाविता बंटन के समान है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वसूल की हुई कीमतें असंस्थिति की किसी भी तरह की तीव्र भावना को पैदा किए बिना, उन कीमतों से जिनकी अत्यधिक संभावना प्रत्याशित है, कुछ हद तक भिन्न हो सकती हैं। व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, समय-पर्यन्त संस्थिति की आदर्श दशा की काफी ढीले ढाले तौर पर व्याख्या की जा सकती है। जब भी कीमतें काफी स्थिर हों, निकाय के पर्याप्त रूप से संस्थिति में होने की संभावना है। मुख्य रूप से द्रुत कीमत-परिवर्तन के समयों में तीव्र असंस्थिति के आने की संभावना होती है।

इस विचार के व्यावहारिक प्रयोग के संबंध में इस उदारता के होने पर भी सैद्धान्तिक रूप से ठीक व्याख्या हेतु यही मानना महत्वपूर्ण है कि प्रत्याशित और प्राप्त कीमतों का अंतर ही असंस्थिति का द्योतक है। जब कभी उपर्युक्त दोनों कीमतों में अंतर आता है तो इसका तात्पर्य होता है (पूर्वयोजना के समय से ही) कि दुर्विनियोग हुआ है और उसके परिणामस्वरूप व्यर्थ हानि साधन इस तरह से प्रयुक्त हुए हैं कि यदि भविष्य और अधिक यथार्थता से देखा गया होता तो वे उस तरह प्रयुक्त न होते; आवश्यकतायें, जिनकी पूर्व जानकारी होने पर तुष्टि हो जाती अब संतुष्ट न हो पायेंगी या अपूर्णरूप से संतुष्ट हो पायंगी। यह असंस्थिति बरबादी और उत्पादन की अपूर्ण कुशलता का चिन्ह है। अब प्रश्न है कि असंस्थिति कैसे उत्पन्न होती है?

(३) हमारा विश्लेषण असंस्थिति के बहुत से संभव कारण प्रस्तुत करता है।

एक तो (जो स्यात् बहुत ही कम महत्वपूर्ण है) तब उठता है जब विभिन्न व्यक्तियों की कीमत-प्रत्याशायें असंगत हों। यदि एक व्यक्ति यह प्रत्याशा करता है कि किसी विशिष्ट वस्तु की कीमत को इस सोमवार और अगले सोमवार के बीच गिरना चाहिए और दूसरा व्यक्ति बढ़ने की प्रत्याशा करता है; तो वे दोनों सही नहीं हो सकते। किन्तु निश्चित प्रत्याशाओं के मामलों को छोड़कर इस तरह से हुई असंस्थिति के बहुत गंभीर होने की संभावना नहीं है।

दूसरे, यद्यपि कीमत प्रत्याशायें संगत हैं, योजनायें असंगत हो सकती हैं। यद्यपि सभी क्रेता और विक्रेता एक वस्तु की एक कीमत की प्रत्याशा करते हैं फिर भी दूसरे सप्ताह में जिस परिमाण को खरीदने के लिए क्रेतावर्ग अपनी योजना बनाता है, हो सकता है कि यह परिमाण उस परिमाण के बराबर न हो जिसको बेचने की योजना विक्रेतावर्ग बनाता है। अगर योजनाबद्ध पूर्ति योजनाबद्ध माँग से अधिक है तो दूसरे सोमवार के दिन कीमत प्रत्याशित - कीमत की अपेक्षा कम होगी। असंस्थिति का यह स्पष्टतया एक सशक्त कारण है; यह स्यात् सर्वाधिक रोचक कारण है।

तीसरे, यद्यपि कीमत-प्रत्याशायें संगत हैं और योजनायें भी संगत हैं तब भी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं का गलत पूर्व अनुमान कर सकते हैं या उत्पादन के प्राविधिक प्रक्रमों के परिणामों का गलत अनुमान कर सकते हैं। यदि ऐसा होता है तो दूसरे सोमवार को मालों की उस मात्रा को, जिसे उन्होंने खरीदने या बेचने की योजना बना ली है, खरीदने और बेचने में अपने को अनिच्छुक या असमर्थ पायेंगे। इस प्रकार एक बार फिर प्राप्त कीमतें प्रत्याशित कीमतों से भिन्न होंगी। और कुछ व्यक्तियों की अपूर्ण दूरदर्शिता दूसरों को भी असंस्थिति ला देगी।

ऐसी अर्थव्यवस्था में जहाँ सभी प्रत्याशायें निश्चित हों, यही असंस्थिति के प्रकार हैं जो पैदा हो सकते हैं; किन्तु वास्तविक संसार में जहाँ व्यक्ति 'स्यात्' की प्रत्याशा करते हैं, एक चौथा प्रकार भी है जो कभी उठ सकता है। चूंकि यह उन कीमत-प्रत्याशाओं, जिनपर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं, के विचार में निहित संदिग्धता पर निर्भर करता है अतः यह असंस्थिति की अपेक्षा एक प्रकार के अपूर्ण स्थिति के रूप में उपयुक्त समझा जा सकता है। प्रत्याशाओं के स्वभाव के विवाद में हमने देखा कि जब जोखिम विद्यमान होता है तो व्यक्ति सामान्यतया उस कीमत पर कार्य नहीं करेंगे जिसकी वे अधिकतम संभाव्य होने की प्रत्याशा करते हैं अपितु इस तरह कार्य करेंगे मानो कि वह कीमत कुछ उनके विपक्ष में हट गयी हो। अब इसका तात्पर्य है कि यद्यपि उपर्युक्त किसी भी अर्थ में असंस्थिति

विद्यमान नहीं है, कीमत-प्रत्याशायें संगत हैं, योजनायें संगत हैं और रुचियों में कोई अदृष्ट परिवर्तन नहीं होते हैं तथा प्राविधिक प्रक्रमों के परिणाम भी अदृष्ट नहीं हैं, फिर भी हो सकता है कि साधनों की आवश्यकताओं से पूर्णतया सामंजस्य न हो सके। निकाय संस्थिति में इस अर्थ में हो सकता है कि वास्तविक कीमत वही हैं जिनके सर्वाधिक संभव होने की प्रत्याशा की गयी थी। फिर भी, जोखिम की भावना साहसोद्यमियों को निर्गत की वह मात्रा अथवा उस प्रकार के निर्गत पैदा करने से रोक सकती है जो कि उन्होंने पैदा किए होते यदि वे अपनी प्रत्याशाओं के सही होने में अधिक विश्वस्त होते। इस प्रकार से उपरोक्त किसी प्रकार की असंस्थितियों के प्रश्न उठने के बिना ही निकाय की क्षमता को गंभीर क्षति पहुँच सकती है। यह अपव्यय का संभव स्रोत है; किन्तु वास्तव में अपनी भविष्य दृष्टि में विश्वास की कमी अनिवार्यतः अपव्यय का स्रोत नहीं है। हानि तभी होती है जब कि अंततोगत्वा प्रत्याशायें सही होतीं। अच्छे निर्णयों में अपर्याप्त विश्वास रखना अदक्षता का स्रोत है, किन्तु बुरे निर्णयों पर संशय, निहित विश्वास से अच्छा हो सकता है। फिर भी, हम जैसे आगे बढ़ेंगे वैसे पायेंगे कि इस शंका के करने के कुछ कारण हैं कि अत्यधिक विश्वास की अपेक्षा अविश्वास से आर्थिक निकाय अधिक हानि उठाता है।

(४) असंस्थिति के कारणों के इस वर्गीकरण की आर्थिक-संगठनों के विभिन्न प्रकारों की सापेक्षिक दक्षता से संबंधित बड़े झगड़े पर स्पष्ट छाप है। व्यर्थहानि का तीसरा और चौथा स्रोत प्रत्येक संभव आर्थिक व्यवस्था में पाया जाना चाहिए चाहे वह पूँजीवादी हो या समाजवादी, उदार हो या सत्तावादी। यहाँ तक कि रॉबिन्सन क्रूसो भी उनसे मुक्त न होगा; वह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि वह कब बीमार पड़ जाय और कब उसकी फसलें नष्ट हो जायँ; और वह साधनों और उद्देश्यों के बीच सर्वाधिक पूर्ण समायोजन की खोज में भविष्य की घटनाओं की अनिश्चतताओं द्वारा परेशान हो जायगा। सर्वाधिक पूर्ण संगठित आर्थिक व्यवस्था भी (वह चाहे जैसी हो) फसलों की अस्थिरता, आविष्कारों और राजनीतिक उथल-पुथल द्वारा अपने मार्ग से हट जायेगी। दूसरी तरफ, पहली बार देखने पर यह प्रतीत होगा कि पहले और दूसरे स्रोत निजी साहसोद्यम की व्यवस्था की विशेषता हैं। पूर्ण रूप से केन्द्रीकृत व्यवस्था में वे समाप्त हो जायेंगे। किन्तु पूर्णरूप से केन्द्रीकृत निकाय केवल एक काल्पनिक मनगढ़ंत मात्र है; प्रत्येक सरकार कुछ हद तक अपनी शक्ति प्रत्यायुक्त करती है। इस प्रकार व्यवहार में राज्य को मशीन के विभिन्न भाग उसी तरह परिपाटी के बाहर जा सकते हैं जिस तरह साहसोद्यमी।

पूँजीवाद समाजवाद की अपेक्षा कम दक्ष है या अधिक यह समाजवाद की दक्षता पर निर्भर करता है। वह अब भी एक खुला प्रश्न है।

यह अधिकतर माना जाता है कि पूँजीवाद योजनाओं का उचित रूप से समायोजन करने वाले किसी भी संगठन से पूर्ण रूप से वंचित है; किन्तु बात पूर्णतः ऐसी नहीं है। निजी साहसोद्यम के क्षेत्र में एक ऐसा रास्ता है जिससे प्रत्याशाओं और योजनाओं को (कम से कम आंशिक रूप से) संयोजित किया जा सकता है। यह अग्रवर्ती-व्यापार की विधि है (इसमें न केवल सामान्यतः तथाकथित वायदा-बाजारों के लेन-देन ही सम्मिलित हैं अपितु अग्रिम औडेरी तथा सब दीर्घकालीन संविदें भी शामिल हैं)। इस स्थिति में भी इस तरह के संगठन की कार्यप्रणाली पर ध्यान देना और यह देखना कि यह अधिक दक्ष क्यों नहीं है और इसका विस्तार वास्तविकता की अपेक्षा अधिक फैला क्यों नहीं है, बहुत शिक्षाप्रद है।

निजी साहसोद्यम में एक ऐसा निकाय पूर्णरूप से मान्य है जिसमें कोई भी अग्रवर्ती व्यापार न हो, सभी सौदे तात्कालिक डिलीवरी (स्पौट) के हैं। इस तरह की तात्कालिक अर्थव्यवस्था' में कुछ भी पहले से निश्चित न किया जायगा और सामंजस्य बहुत कुछ संयोग के ऊपर छोड़ दिया जायेगा। केवल वर्तमान माँगें और पूर्तियाँ बाजार में बराबर की जायँगी; व्यक्तियों को अपनी भावी कीमतों की प्रत्याशाओं को अपनी योग्यता के अनुसार वर्त्तमान कीमतों और अन्य प्राप्त सूचनाओं पर आधारित करना पड़ेगा। वास्तव में ऐसा होने पर भी असंस्थिति की संभाव्य मात्रा का अधिक होना अनिवार्य नहीं है। अगर योजनायें अधिकतर काफी स्थैतिक प्रकार की हैं जिससे अधिकतर व्यक्ति भविष्य में बहुत कुछ वही मात्रा खरीदने और बेचने की योजना बना रहे हैं जो वर्तमान में है तो जहाँ तक वे वर्तमान कीमतों के बनी रहने की ही प्रत्याशा करते हैं असंगति के कारण अधिक असंस्थिति पैदा न होगी। यद्यपि योजनायें स्थैतिक न हों वरन् वे मात्रायें, जिन्हें व्यक्ति खरीदने और बेचने की योजना बनाते हैं, भविष्यकाल में घटने बढ़ने की प्रवृत्ति रखती हों, तब भी, यदि लोग अन्य व्यक्तियों की प्रासंगिक योजनाओं का अच्छा अनुमान लगा सकें, यह अनिवार्यरूपेण असंगत असंस्थिति को नहीं ला सकता। इसके संबंध में अभी बहुत कुछ जानने को बाकी है किन्तु फिर भी व्यापारी के वर्तमान व्यवहार का निरीक्षण उनकी योजनाओं का मार्ग दर्शाता है जिससे स्यात् इस तरह की कोई चीज कुछ हद तक सामने आती है। जब फर्में अपने कार्यों के अधिक विस्तार की योजना बनाती हैं तो उन्हें पूर्णरूप से छिपाए रखना असंभव हो जाता है। किन्तु यह आगे बढ़ने के लिए पर्याप्त नहीं है। जब दशायें कुछ भी

अस्थिर हो जाती हैं तात्कालिक अर्थव्यवस्था के काफी हद तक संस्थिति से अलग हो जाने की प्रत्याशा करनी चाहिए।

दूसरी चरमसीमा पर ऐसी अर्थव्यवस्था की अवधारणा करना संभव है जिसमें भविष्य के काफी समय के लिए सब कुछ पहले से निश्चित हो। अगर वस्तुयें वायदा के रूप में बेची और खरीदी जायँ तो न केवल वर्तमान माँगें और पूर्तियाँ बराबर हो जायँ वरन् योजनाबद्ध माँगें और पूर्तियाँ भी बराबर हो जायँ। इस तरह की वायदे वाली अर्थव्यवस्था में पहले दो प्रकार की असंस्थितियाँ उपस्थित रहेंगी। योजनायें उचित रूपसे समायोजित की जायँगी ; और व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, प्रत्याशायें भी ठीक रूप से समायोजित होंगी। (वह कीमत जो कि किसी विशिष्ट भावी सप्ताह के लिए फर्म के योजनाबद्ध निर्गत को निश्चित करेगी, वायदा-कीमत होगी न कि इसकी स्वयं की व्यक्तिगत कीमत प्रत्याशा।) इस प्रकार असंगत असंस्थिति भी समाप्त हो जायगी; किन्तु आवश्यकताओं या साधनोंमें अप्रत्याशित परिवर्तनों के द्वारा उत्पन्न असंस्थिति की संभावना दूर नहीं होगी। दूसरे सोमवार को व्यक्ति कुछ मालों को खरीदने और बेचने के लिए एक संविदे से बँधे होंगे। किन्तु जब दूसरा सोमवार आता है तो वे संविदाकृत वस्तुओं की मात्रा को खरीदने या बेचने में असमर्थ या अनिच्छुक हो सकते हैं। तब वे अतिरिक्त तत्क्षण बिक्री या खरीद करने को या अपने संविदों को तात्कालिक सौदों से बदलने को विवश हो जायेंगे। इस प्रकार एक तात्कालिक बाजार का उदय होगा और उसकी तात्कालिक कीमत स्यात् वायदा कीमत से, जो कि पहले से उस सोमवार के लिए निश्चित हुई थी, भिन्न होगी।

अब लोग जानते हैं कि वे तीसरी प्रकार की असंस्थिति से अग्रवर्ती व्यापार द्वारा बच नहीं सकते; और अंत में यही उस सीमा को निर्धारित करता है जहाँ तक कि व्यवहार में अग्रवर्त्ती व्यापार को बढ़ाया जा सकता है। वे जानते हैं कि वे माँगें और पूर्तियाँ जो पहले से किसी विशिष्ट तिथि के लिए निश्चित कर दी जाती हैं, उन माँगों और पूर्तियों से, जो कि उस तिथि को वास्तव में होती हैं, किंचित संबंध ही रखती हैं; और विशिष्ट रूप से वे यह भी जानते हैं कि वे यह भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि भविष्यकाल में बेचने या खरीदने के लिए ठीक कितनी मात्रा चाहेंगे। परिणामस्वरूप साधारण व्यापारी अग्रवर्ती व्यापार में तभी प्रविष्ट होगा अगर ऐसा करने से वह क्षति के विरुद्ध सुरक्षा (क्षति-अवरोध) कर सके—अर्थात् यदि वायदे के सौदे उसकी स्थिति के जोखिम को कम करते हों। यह निम्नलिखित स्थितियों में ही होगा : अगर वह किसी भी तरह से उक्त

तिथि पर बिक्री या खरीद करने के लिए बाध्य हो; अगर वह इस तरह की बिक्री या खरीद की योजना पहले ही बना चुका हो और अगर वह कोई ऐसा कार्य कर चुका हो जो कि उसकी योजनाओं के बदलने के कार्य को कठिन कर दे। अब यह निश्चित करने के लिए कि बहुत से साहसोद्यमी इस कारण से अपनी बिक्री का क्षति-अवरोध करना चाहेंगे, उत्पादन प्रक्रम में काफी पर्याप्त प्राविधिक कठोरतायें उठती हैं। निकट भविष्य की पूर्तियाँ अधिकांशतः भूतकाल में लिए हुए निर्णयों द्वारा निश्चित होती हैं जिससे यदि ये योजनाबद्ध पूर्तियाँ वायदे की बिक्री द्वारा रक्षित हो सकें तो जोखिम कम हो जाता है। यद्यपि कभी-कभी यही बात योजनाबद्ध क्रयों के साथ भी होती है किन्तु यह लगभग अनिवार्य रूप से विरल ही है। प्राविधिक दशायें साहसोद्यमी को निर्गतों (साधारण व्यापारिक अर्थ में जिनका उत्पादन प्रक्रम प्रारंभ हो चुका हो) को पूरा करने की अपेक्षा आगतों (जिनकी अधिकतर नए प्रक्रमों को प्रारंभ करने के आवश्यकता पड़ती हैं) के संचय में काफी अधिक मुक्तहस्त कर देती हैं। इस प्रकार जब कि योजनाबद्ध खरीदों के क्षति-अवरोधों की कुछ इच्छा की संभावना है किन्तु इसकी प्रवृत्ति योजनाबद्ध विक्री के क्षति-अवरोध की इच्छा की अपेक्षा कम तीव्र होने की होती है। यदि अग्रवर्ती बाजार केवल क्षति-अवरोधकों से भरा पड़ा हो तो माँगपक्ष की सदैव अपेक्षाकृत कमजोर होने की प्रवृत्ति होती है; योजनाबद्ध विक्री की अपेक्षा योजनाबद्ध खरीदों का कम अनुपात अग्रवर्ती-संविदों में आयेगा।[४]

किन्तु इसी कारण विशेष से अग्रवर्ती बाजार मात्र क्षति-अवरोधकों से विरुद्ध ही भरा रहता है। वायदा कीमत (एक महीने की डेलीवरी वाली) जो क्षति अवरोधकों के सौदों से ही बनेगी; उन कारणों से निर्धारित होगी जिनका साधारणतया बाजार-कीमत निर्धारण करने वाले कारणों से कोई संबंध नहीं है;अतः यह उस तात्कालिक कीमत से भिन्न होगी जिसकी एक महीने के समय में रहने की प्रत्याशा कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति करेगा और उस प्रत्याशित कीमत से काफी नीचे होगी। अतः वायदा कीमत लगभग सदैव उन सटोरियों द्वारा आंशिक रूप से तै की जाती है जो, जब वायदा-कीमत संबंधित तिथि पर रहने वाली प्रत्याशित तात्कालिक कीमतों से कम होती है, वायदा वस्तुओं को खरीद कर लाभ करना चाहते हैं ; उनके कार्य की प्रवृत्ति वायदा कीमत को अधिक उचित स्तर तक ले जाने की होती है। किन्तु क्षति अवरोध के विपरीत सट्टा का सार यह है कि सटोरिया अपने को अग्रवर्ती व्यापार के फलस्वरूप अधिक जोखिमपूर्ण स्थिति में डालता है—उसे अग्रवर्ती लेन-देन में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी और यदि उसने ऐसा न किया होता

तो वह अधिक सुरक्षित रहता । अतः वह तभी तक वायदा वस्तुओं को खरीदने का इच्छुक रहेगा जहां तक उनकी कीमत निश्चित रूप से उसके द्वारा प्रत्याशित तात्कालिक कीमत से कम रहती है ; क्योंकि इन कीमतों के अन्तर को ही वह अपने जोखिम उठाने के प्रतिफल के रूप में पाने की प्रत्याशा करता है और यदि आशान्वित प्रतिफल बहुत कम है तो उसके लिए जोखिम उठाना उचित न होगा ।

अपने "ट्रीटीज ऑन मॅनी" के एक महत्वपूर्ण अंश में केन्स ने इसके परिणामों का उल्लेख किया है । 'सामान्य' दशाओं में जब मांग और पूर्ति दशाओं के अपरिवर्तित रहने की प्रत्याशा की जाती है और जिससे तात्कालिक कीमत के एक महीने में लगभग वही जो कि आज है, बने रहने की प्रत्याशा की जाती है तो एक महीने की डेलीवरी वाली वायदा-कीमत तात्कालिक कीमत से, जो कि इस समय है, अनिवार्य रूपेण कम होगी । इन दोनों कीमतों (वर्तमान तात्कालिक कीमत और वर्तमान वायदा कीमत) के अन्तर को मि० कीन्स ने 'सामान्य पिछड़न'[१] कहा है । यह उस मात्रा को मापता है जिसे क्षतिअवरोधक, सटोरिये को इसलिए देता है ताकि वह कीमत अस्थिरता के जोखिम को उठा ले । अतः अन्ततोगत्वा अग्रवर्ती-व्यापार द्वारा प्राप्त एकीकरण की लागत को यह मापता है ; अगर लागत बहुत भारी है तो संभावी क्षति अवरोधक क्षति अवरोध न करना पसंद करेंगे ।

इसी प्रकार के विचार सौदों के उन अन्य प्रकारों को सीमित करते हैं जिन्हें हम अग्रवर्ती व्यापार के प्रकारों की तरह वर्गीकृत कर चुके हैं, यद्यपि वे अधिकतर ऐसे नहीं माने जाते हैं । उदाहरणार्थ अधिकतर यह नियुक्त के हित में होता है कि वह अपने श्रम की भावी बिक्री का क्षति अवरोध करे : वह ऐसा ही करेगा यदि वह दीर्घकाल के लिए व्यवसाय सुरक्षित कर चुका हो । किन्तु इस तरह के संविदें करना नियोक्ता के हित में नहीं हैं जब तक कि वह ऐसा करने से कोई विशिष्ट लाभ न पाता हो —जैसा कि वह तब करेगा जब इस विशिष्ट नियुक्त को स्थानान्तरित करने में कठिनाई हो । इस प्रकार हम दीर्घकालीन संविदें के उस विशिष्ट प्रकार को अपनी व्याख्या में फिट कर सकते हैं जो (लगभग) वेतन-उपार्जक को मजदूरी-उपार्जक से भिन्न करता है ।[६]

(५) तब साभान्यतया भविष्य की अनिश्चितता और उस अनिश्चितता को पूरा करने के लिए स्वयं को स्वतंत्र रखने की इच्छा पूंजीवाद में अग्रवर्ती व्यापार को सीमित करती है ; पहली दो प्रकार की असंस्थितियां अधिक कुशलता से क्यों समाप्त नहीं की जा सकतीं इसका मूल कारण तीसरे और चौथे प्रकार की असंस्थिति का अनिवार्य अस्तित्व है । किन्तु ये वे प्रकार हैं जो किसी भी तरह के समाज में उपस्थित

हो सकते हैं ; किसी भी तरह के समाज में यह संभव है कि अनिश्चितता 'योजना-विहीनता' पैदा करे । जब समाज के उद्देश्य निश्चित होते हैं तो एक सीमा तक त्रुटि की गुंजाइश रखने की आवश्यकता पर कम ध्यान देकर और योजनाओं को यथासंभव दृढ़ता और प्रत्यक्ष रूप से समायोजित करनेवाले समाजवादी संगठन की (दक्षता के आधार पर) वांछनीयता बढ़ जाती है ; परन्तु शान्तिकालीन आर्थिक कल्याण को प्राप्त करने में तत्क्षणीय उद्देश्यों के बहुत कम निश्चित होने की संभावना है, क्योंकि आर्थिक नीति स्वाभाविक रीति मूल और सुधार की होती है । इस परिस्थिति में बुद्धिमान-समाजवादी-अधिनायक अपने को उसी प्रकार की अनिश्चितताओं से घिरा हुआ पाता है जो पूंजीवाद के अन्तर्गत समायोजन कार्य को अवरुद्ध करती हैं ; और यह संभव है कि उक्त अधिनायक एक प्रकार के ढीले और विकेन्द्रित संगठन को चुनें। भले ही ऐसा करने से वह योजना-विहीनता के दोष का भागी हो जाय और भले ही इस कार्य में उद्देश्यों के प्रति साधनों को समायोजित करने की शक्ति का पूर्ण क्षमतापूर्वक उपयोग न हो पाय ।

इस चर्चा के साथ हम इस बड़े वादविवाद से अलग हो सकते हैं ; इसका अधिक निरीक्षण हमें उन मामलों से, जो हमारे वर्तमान विषय हैं, हटा देगा । मैं सोचता हूँ कि पूंजीवाद और समाजवाद के अन्तर्गत योजनाओं की समस्याओं के बीच संबंध दिखाना उपयोगी होता ; निःसन्देह दोनों मामलों में सूक्ष्म विभिन्नतायें हैं, किन्तु सदृश प्रश्न दोनों में आते हैं ।

हमारे निजी उद्देश्यों के लिए, वर्तमान अध्याय में विवेचित विषयों का भिन्न महत्व है । जैसे हम आगे बढ़ेंगे हम पायेंगे कि तात्कालिक और वायदा लेन देन के बीच, दोनों के सामान्य अर्थ में, विभेद को ध्यान में रखना अत्यन्त महत्वपूर्ण है । वास्तव में होने वाले सौदों के एक निश्चित अनुपात (पूर्णरूप से या आंशिक रूप से) को वायदा सौदों के रूप में माना जाना चाहिए ; उनका स्थान इस तरह की व्याख्या में, जैसी हमने अपनाने का निर्णय किया है तात्कालिक सौदों से अवश्य ही भिन्न है । अतएव हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि वायदे के व्यापार का ध्यान छोड़ कर विश्लेषण करना सरल होगा और इसलिए हम ऐसी अर्थव्यवस्था का अध्ययन करेंगे जहां केवल तात्कालिक सौदे का ही ध्यान रखना है । हम ऐसे मॉडेल से पहले से ही परिचित हो चुके हैं—वह हमारी "तात्कालिक अर्थव्यवस्था है।" वायदा सौदों की सीमाओं के कारण यह मॉडल वास्तव में वास्तविकता का बहुत तीव्र सरलीकरण नहीं है । यदि हम न चाहते हों, तो हमें इस मॉडल पर रुकने की आवश्यकता नहीं है ; हम वायदा बाजारों के बारे में इतना अधिक सीख चुके हैं कि काम पड़ने पर

उन्हें ध्यान में रख सकते हैं।

अपनी शुद्ध "तात्कालिक अर्थव्यवस्था' के दूसरी सीमा पर हमारे पास दूसरा मॉडल है—शुद्ध अग्रवर्ती अर्थव्यवस्था'। इसका वास्तविकता के अच्छी तरह सन्निकट होना कोई अनिवार्य नहीं है, क्योंकि यह उसी संसार में होगा जहां अनिश्चितता न हो और सभी प्रत्याशायें निर्णीत हों और प्रत्येक वस्तु पहले से निश्चित की जा सके।[७] फिर भी शुद्ध 'अग्रवर्ती अर्थव्यवस्था' के कुछ सैद्धान्तिक लाभ हो सकते हैं। यह देखकर कि कीमत का कौन सा निकाय एक अग्रवर्ती अर्थव्यवस्था में निश्चित होगा हम यह जान सकते हैं कि परिवर्तनशील दशाओं की श्रेणी दी हुई होने पर कीमतों का कौन-सा निकाय समयपर्यन्त संस्थिति रक्खेगा। अर्थशास्त्रियों ने अधिकतर ऐसे निकाय के साथ खिलवाड़ किया है जहां सभी व्यापारी 'पूर्ण दूरदर्शिता' रखते हों। यह कठिन तार्किक कठिनाइयों की ओर ले जाता है[८] किन्तु वह उद्देश्य, जिसके लिए उन्होंने ऐसे निकायों को खोजा, हमारी अग्रवर्ती-अर्थव्यवस्था द्वारा पूरा हो सकता है। जब कभी यह प्रश्न उठे कि किस प्रकार के कीमत परिवर्तन, यदि उनकी प्रत्याशा की जा सकती, करने पर बिना असंस्थिति के व्यवस्था हो सकती थी तो उत्तर इसी ढंग पर दिया जा सकता है।

अध्याय ११

ब्याज

(१) पूर्व अध्याय के विवेचन के पश्चात् ब्याज की समस्या का मूल अध्ययन स्वाभाविक रूप से स्वयं सामने आ जाता है। तिथि के, जिन पर उन्हें कार्यान्वित किया जाना है, अनुसार हम सौदों का विभेद करना सीख चुके हैं। तात्कालिक सौदे तुरंत कार्यान्वित करने होते हैं—अर्थात् वर्तमान सप्ताह में, जिसमें कि वे तय किए गए हैं। अग्रवर्ती सौदे पूर्णरूप से भावी तिथि पर कार्यान्वित किए जाते हैं—सौदे के दोनों पक्ष एक ही भावी सप्ताह में कार्यान्वित होते हैं। किन्तु सौदे के दोनों पक्ष एक ही सामान्य तिथि पर क्यों कार्यान्वित किए जाते हैं, इसके लिए कोई तर्क नहीं है। इस तरह हमारे समक्ष एक तीसरा प्रकार भी आता है—उधार सौदे जो कि ऐसे होते हैं कि सौदे का मात्र एक पक्ष तत्क्षण कार्यान्वित किया जाता है और दूसरा पक्ष किसी भावी तिथि—अथवा स्यात् क्रम से भावी तिथियों पर कार्यान्वित किया जाता है। उधार सौदों की अनिवार्य विशेषता यह है कि इसको समय के विभागों में कार्यान्वित किया जाता है।

भविष्य में वस्तुओं या सेवाओं को देने के वायदे से वर्तमान वस्तुओं या सेवाओं के विनिमय का आर्थिक रूप ऋण की तरह होता है ; किन्तु प्रयोग में एक ऐसा मुख्य उपभेद, जिसमें सौदे के दोनों पक्ष मुद्रा के रूप में होते हैं, उधार सौदों के सम्पूर्ण समूह पर प्रतिष्ठित है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यही एक ऋण का ऐसा प्रकार है जो प्रयुक्त होता है। भावी वास्तविक वस्तुओं से वर्तमान वास्तविक वस्तुओं का प्रत्यक्ष विनिमय उस कारणवश कठिन है जिससे किसी एक तरह की वर्तमान वास्तविक वस्तु का किसी दूसरी तरह की वर्तमान वास्तविक वस्तु से विनिमय कठिन है : इसी का नाम अदल बदल की असुविधा है। किन्तु व्यक्ति साधारणतः वर्तमान वस्तुओं का भविष्य में मुद्रा देने के वायदे से विनिमय कर लेते हैं (भावी भुगतान); या इसके विपरीत, वे मुद्रा का भविष्य में वस्तुयें देने के वायदे से विनिमय करते हैं

(पूर्व भुगतान)। ऐसा नहीं है कि ऐसे सौदे प्रयोग में नहीं लाए जाते हैं किन्तु इसका यह अर्थ लागाना स्वाभाविक है कि इनको तात्कालिक सौदे और मौद्रिक ऋण में विभाजित किया जा सकता है। वास्तव में किसी भी उधार सौदे का इस तरह से विभाजन किया जा सकता है।

यहां तक कि वर्तमान वस्तुओं की भावी वस्तुओं से शुद्ध अदल बदल (मान-लीजिए वर्तमान कॉफी का एक वर्ष बाद की कॉफी से विनिमय) का इसी तरह से तात्कालिक अग्रवर्ती सौदा और एक मौद्रिक ऋण के रूप में विभाजन किया जा सकता है। जहां अग्रवर्ती बाजार हैं वास्तविक रूप में व्याज की दरें हमेशा आन्तरिक रूप से स्थापित रहती हैं। मान लीजिए एक वर्ष के ऋण के लिए मौद्रिक ब्याज की दर पांच प्रतिशत है और बारह महीने की डेलीवरी के लिए कॉफी की भावी कीमत तात्कालक कीमत से तीन प्रतिशत अधिक है ; तो एक साल के लिए कॉफी को ऋण के रूप देना काफी का तात्कालिक सौदा करना बिक्री से प्राप्त रुपये उधार देना और कॉफी की बिक्री को अग्रवर्ती बाजार में क्रय द्वारा सुरक्षित करने से संभव हो सकता है। सौदों की पूर्ण श्रृंखला कॉफी के रूप में पूर्णरूप से निश्चित ब्याज की दर को स्थापित करती है। अब कॉफी की एक इकाई एक वर्ष में डेलीवर की जानेवाली कॉफी की १०५।१०३, इकाई से विनिमय होती है जिससे निश्चित की हुई ब्याज की दर कॉफी के रूप में लगभग दो प्रतिशत है।[१] (कॉफी दर, और मुद्रा-दर तभी समान होंगी जब कॉफी की तात्कालिक कीमत और अग्रवर्ती कीमत बराबर हों।)[२]

अतः हमारे लिए ब्याज की वस्तु-दरें प्रत्यक्ष रूप में बहुत कम महत्व की हैं ; वे उस निकाय का अंग है जिस पर हम जोर नहीं देते, ठीक उसी तरह जिस तरह हम तैयार सौदों में दो वस्तुओं के बीच विनिमय दर पर जोर नहीं देते जबकि दोनों में से एक भी वस्तु आधार वस्तु न हो। मुद्रा की विशेषताओं की जितनी परिकल्पना हम इस समय तक कर चुके हैं (कि यह मूल्य के आधार के रूप में चुनी हुई एक वस्तु है) उससे अधिक परिकल्पना किए विना हम यह कह सकते हैं कि सभी ऋण मुद्रा के रूप में होते हैं ; क्योंकि अन्य किसी भी उधार सौदे का, जो दूसरे प्रकार का होता है, सदैव तात्कालिक सौदा और अग्रवर्ती सौदे से संयुक्त मौद्रिक ऋण के रूप में विभाजित किया जा सकता है।

(२)　इस प्रकार हम अपने को व्याज की मौद्रिक दरों के अध्ययन तक सीमित कर सकते हैं ; किन्तु उसी क्षेत्र के अन्दर भी हमें एक अजीब उलझन का सामना करना है। एक ही तिथि के विभिन्न ऋणों के लिए दी हुई व्याज की मौद्रिक दरों में मुख्यतः दो कारणों से अन्तर होता है : (१) ऋणों की समयावधि में और समयावधि में

पुनर्अदायगी के विस्तृत होने के ढंग में अन्तर होने के कारण; (२) ऋणकर्त्ता द्वारा अदायगी न करने में निहित जोखिम की भिन्नता के कारण। ऋण की शर्तों में अन्य अंतर भी कभी कभी कुछ महत्व के हो सकते हैं, किन्तु यही मुख्य बातें हैं जिन्हें ध्यान में रखना है।

भिन्नता के इन दोनों कारणों की विवेचना में जोखिम के प्रश्न समक्ष आ जाते हैं किन्तु यह दूसरा कारण ही है जो ब्याज की दर में सामान्यतया समझे जाने वाले 'जोखिम प्रतिफल' के तत्व के लिए उत्तरदायी है। जब किसी ऋणकर्त्ता की साख कमजोर होती है तो लोग उसके भविष्य में अदायगी के (कुछ रकम के) वायदे के लिए उतनी ही कीमत देने को तत्पर न होंगे जितनी कि तब होते जबकि उसकी साख अच्छी होती। इसके लिए दो कारण हैं जो कि अलग किए जा सकते हैं। प्रथम, एक पूर्णरूप से विश्वसनीय ऋणकर्ता वायदे की रकम की अदायगी का पूर्ण विश्वास देता है; इस प्रकार ऋणदाता वास्तविक रूप से दूसरे उदाहरण की अनिश्चित आशा की अपेक्षा एक निश्चित आशा प्राप्त करता है। दूसरे यद्यपि अविश्वसनीय माना हुआ ऋणकर्त्ता अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करता है, वह जितना उसको देने को बाध्य किया जा सकता है उस से अधिक अदायगी नहीं करेगा; यह ऋणदाता द्वारा प्रत्याशित प्राप्ति की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देता है; इससे सभी संभव परिवर्तन एक ही दिशा में होंगे। इसका तात्पर्य यह है कि संभाव्य फलों का औसत मूल्य विश्वसनीय ऋणकर्ता वाले मामले से कम होगा; अन्य मान्यता का तात्पर्य है कि संभाव्य फलों का प्रसरण अधिक है। यह दोनों बातें ऋण दाता को निरुत्साहित कर सकती हैं; जिससे कि कम विश्वसनीय ऋणकर्ता को उधार देने के लिए तभी उद्यत होगा जब उसे अपेक्षाकृत अच्छी शर्तें दी जायं।

ऋणों के बाजार में इस जोखिम के तत्व की क्रिया का पूर्ण विश्लेषण बहुत ही उलझा हुआ हो जायगा ; हम यहां इसे अधिक आगे बढ़ाने की चेष्टा नहीं करेंगे। एक विचारणीय बात, यह तथ्य है कि ऋणकर्ता की साखक्षमता ऋणदाताओं के व्यक्तिगत अनुमानों के लिए एक विषय है ; और इन व्यक्तिगत अनुमानों के भिन्न होने की संभावना है। इस प्रकार यदि एक उद्यम को पूंजी की छोटी सी मात्रा इकट्ठा करने की आवश्यकता है तो यह संभाव्य ऋणदाताओं के केवल उस आंतरिकमंडल से आवेदन कर सकता है जिसके साथ उसके अच्छे संबंध हैं और अतएव जिनसे यह प्रत्याशा की जा सकती है कि वह अपेक्षाकृत अनुकूल शर्तों पर ऋण देने को तत्पर होंगे। यदि उक्त उद्यम की इच्छा अधिक पूंजी इकट्ठा करने की है तो या तो इसे सीधे बाजार के एक अपेक्षाकृत कम विश्वास करने वाले पक्ष के पास आवेदन

करना होगा (जिसके लिए इसे अपेक्षाकृत अच्छी शर्तें रखनी पड़ेंगी) या इसे ऐसे आन्तरिक मंडल की आवश्यकता होगी जो इसके लिए जमानत कर दे (या तो स्वयं ऋण लेकर और उसकी प्राप्ति को उसे पुनः ऋण के रूप में देकर या किसी गारंटी या स्वीकृति की रीति से)। किन्तु यदि उक्त आंतरिकमंडल के कुछ सदस्य इसके लिए राजी हो जाते हैं तो इसका तात्पर्य है कि वे स्वयं को एक अतिरिक्त जोखिम में डाल रहे हैं जिसके लिए वे क्षति पूर्ति चाहेंगे।

एक विशिष्ट ऋणकर्ता किसी विशिष्ट ऋणदाता से जितनी पूंजी उधार ले सकता है वह अंशतः ऋणदाता के साधनों की सीमा से सीमित है किन्तु स्यात् इससे भी अधिक तत्काल उस जोखिम से सीमित है जो एक ऋणदाता अपने साधनों का अत्यधिक भाग एक दिशा में विनियोग करके—'अपने सभी अंडे एक ही टोकरी में रखकर'—लेता है। अच्छी शर्तें रखने पर (जिससे यह समझा जा सकता है कि ब्याज की दर अपेक्षाकृत ऊंची सिद्ध होगी, किन्तु इसका वह प्रकट रूप लेना अनिवार्य नहीं है) यह संभव हो सकता है कि ऋणदाताओं से व्यक्तिगत रूप में अधिक ऋण प्राप्त कर लिया जाय; और उन कारणों से जो कि हम अभी देख चुके हैं यह अधिकतर संभव होगा कि नए ऋणदाताओं को राजी करके, सम्पूर्ण बाजार से अधिक ऋण लिया जा सके। इस प्रकार कोई भी ऋणकर्त्ता ऋणपूंजी के पूर्ति वक्र को उसी प्रकार का पाता है जैसा अन्य कारकों का पूर्तिवक्र उस समय होता है जब उत्पादक 'एकाधिक्रेता समान' (या एकाधिकारी क्रेता) होता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यह वक्र पूर्ण रूप से लोचदार होगा, कम से कम इकट्ठी की जाने वाली पूंजी की मात्रा में बड़े परिवर्तनों के लिए तो नहीं होगा। यह विचार ब्याज के सिद्धान्त में उस प्रकार के प्रश्नों को लाता है जिनकी व्याख्या लेखकों द्वारा अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में की जा चुकी है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्याज के एक सर्वांगीण सिद्धान्त में विधिवत उनका भी ध्यान रखा जाना चाहिए।[3] मैं उसे यहां नहीं ले सकता हूँ किन्तु इन मामलों को हमें अपने मस्तिष्क से बिल्कुल निकाल नहीं देना चाहिए।

(३) ऋणों की अवधि में अंतर के कारण उठने वाले ब्याज की दरों के अंतर के संबंध में हम अपनी वर्तमान रीति के सहारे अवश्य कुछ अधिक कह सकते हैं। यह अंशतः जोखिम का भी विषय है; किन्तु वे अन्य विचारों से भी प्रभावित होते हैं।

दीर्घकालीन ऋण संविदों और वस्तुओं और सेवाओं की डेलीवरी के लिए उन दीर्घकालीन संविदों के मध्य स्पष्ट सादृश्य है जो (जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं) तात्कालिक और अग्रवर्ती व्यापार के संयोग के रूप में लाये जा

सकते हैं। यदि कोई संविदा ऐसा है कि उसके अंतर्गत महीने महीने कर के ६ महीने में वस्तु की डेलीवरी पूरी की जायगी तो उसको एक तात्कालिक सौदा तथा अग्रवर्ती सौदे की एक शृंखला के रूप में समझ सकते हैं ; इसी प्रकार ६ मास के ऋण को यह समझ सकते हैं कि एक महीने का ऋण दिया गया और साथ में अग्रवर्ती-उधार सौदे किए गए, प्रत्येक उधार सौदा ऋण को एक अगले मास के लिए बढ़ा देगा (अर्थात् या तो मूलधन को या मूलधन और ब्याज को मिलाकर पुनः ऋण रूप में दे दिया जायगा)। यदि हम समय की कोई ऐसी न्यूनतम अवधि मान लें कि जिससे कम अवधि के लिए दिए ऋण की उपेक्षा कर दें तो किसी भी अवधि के किसी भी ऋण को प्रामाणिक रूप दिया जा सकता है— अर्थात् एक ऋण न्यूनतम अवधि के लिए और साथ में भविष्य के लिए उसी अवधि वाले निर्धारित संख्या के नवीकृत अग्रवर्ती सौदे यदि हम इस न्यूनतम अवधि को एक सप्ताह मानें तो स्पष्ट है कि यह हमारी सामान्य रीति के अत्यन्त अनुरूप होगा।

इस प्रकार देखने पर दो सप्ताह के ऋण पर, जिसका आरंभ हमारे पहले सोमवार से होता है, दी जाने वाली ब्याज की दर को दो ब्याज की दरों का योग कह सकते हैं—एक सप्ताह के ऋण की तात्कालिक ब्याज की दर और दूसरे सप्ताह में लिए जाने वाले ऋण पर एक सप्ताह की अग्रवर्ती ब्याजदर। यदि पूर्ण सौदे के खतम होने तक कोई ब्याज नहीं दिया जाता है तो मिश्रधन को या तो हम उस निधि के बराबर रख सकते हैं जिसकी प्राप्ति दो सप्ताह वाली ब्याज की दर पर दो सप्ताह बाद होती अथवा उस निधि के बराबर जिसकी प्राप्ति पहले सप्ताह में एक सप्ताह वाली ब्याज की दर पर और दूसरे सप्ताह में ब्याज की अग्रवर्ती दर के आधार पर होती है। अंततोगत्वा दोनों सौदे अभिन्न हैं। अब यदि हम चालू दो सप्ताह, तीन सप्ताह, ...की ब्याज की दरों (दीर्घकालीन दरों) को $ई_२$, $ई_३$, .. लिखें और अग्रवर्ती, अल्पकालीन दरों को $इ_२$, $इ_३$,... लिखें तथा एक सप्ताह के लिए चालू दर को $इ_१$ (अथवा $ई_१$) लिखें (क्योंकि यह तात्कालिक और अग्रवर्ती दोनों बाजारों के लिए समान होगी) तब निम्नांकित समीकरण प्राप्त होते हैं—[४]

$$१ + ई_१ = १ + इ_१,$$

$$(१ + ई_२)^२ = (१ + इ_१)(१ + इ_२)$$

$$(१ + ई_३)^३ = (१ + इ_१)(१ + इ_२)(१ + इ_३)$$

यदि प्रथम सन्निकटन हेतु हम सरल ब्याज की स्थिति मान लें तो उक्त संबंध सरल रूप में निम्न प्रकार से रक्खे जा सकते हैं।

$ई_1 = ई_1$

$२ई_2 = इ_1 + इ_2$

$3ई_3 = इ_1 + इ_2 + इ_3$

दीर्घकालीन ब्याज की दर अल्पकालीन ब्याज की दर और संबद्ध अग्रवर्ती अल्पकालीन ब्याज की दरों[१] का समान्तर औसत है।

(४) इस प्रकार विभिन्न अवधिवाले ऋणों के ब्याज की दरों के निकाय को हम सदैव एक प्रमाणित अल्पकालीन दर (एक सप्ताह के ऋण की ब्याज की दर) और अग्रवर्ती अल्पकालीन दरों की एक शृंखला के युग्म के रूप में देख सकते हैं। एक सप्ताह के ऋणों की दरों का उपयोग चालू सप्ताह में नहीं अपितु किसी भावी सप्ताह में होगा। यह बाद की दरें दृढ़ता से उन भावी कीमतों के अनुरूप हैं जिनकी हमने पिछले अध्याय में व्याख्या की थी और लगभग ठीक उसी प्रकार निर्धारित होती हैं।

दीर्घकालीन ऋणों के बाजार को क्षति अवरोधकों और सटोरियो से संबद्ध करके समझना सामान्य नहीं है, किन्तु वह भेद यहां संगत है। अन्य बातें समान रहें तो दीर्घकालीन ऋण संविदा करने वाला व्यक्ति संविदा न करने की स्थिति की अपेक्षा अपने को अधिक जोखिम में फंसाता है; किन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति (और संस्थायें) होते हैं जिनके लिए यह सत्य नहीं है क्योंकि वे पहले से ही विस्तृत भावी अवधियों के लिए ऋण पूंजी की आवश्यकता रखते हैं। यह संभव है कि वे ऐसे कार्य आरंभ करने जा रहे हों जिनको पूरा करने में काफी समय लगता है, अथवा वे निरंतर उत्पादन (आयोजित आगतों और निर्गतों की एक दीर्घकालीन शृंखला के रूप में) की मात्र ऐसी योजनायें बना रहे हों जिसके अन्तर्गत किसी समय विशेष पर काम बन्द करना सरल न होगा। ऐसे व्यक्ति ऋण-पूंजी की भावी पूर्तियों का उसी प्रकार क्षति-अवरोध करना चाहेंगे जिस प्रकार अपने कच्चे माल की भावी पूर्ति का। दीर्घकालीन ऋण लेने की उनकी प्रवृत्ति प्रबल होगी।

बाजार के दूसरे पक्ष में ऐसी कोई सदृश प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती यद्यपि एक महत्वपूर्ण परिस्थिति है जिसकी ओर ध्यान देना चाहिए। वास्तव में किसी सौदे को करने के लिए कुछ समय लगता है और कुछ परेशानी भी होती है; उधार सौदे इस नियम के अपवाद नहीं हैं। किन्तु अति अल्पकालीन ऋण से प्रत्याशित लाभ की मात्रा बहुत कम है और इसलिए वह तब तक ऋण की व्यवस्था करने के झंझट को संतुलित नहीं करेगी जब तक ऋणदाता अल्पकालीन बाजार में भली प्रकार स्थित न हों। आधुनिक काल में बैंकों के विकास के कारण यह कठिनाई बहुत कुछ दूर हो गई है: बैंक अपने जमाखातों पर जो ब्याज देता है वह वास्तव में छोटे विनियोक्ता

के लिए अल्पकालीन ब्याजदर के समान है। (इसका वास्तव में अल्पकालीन बाजार होना बैंक के इस अधिकार से स्पष्ट है कि वह जिस ब्याज की दर को देता है उसे बदल सकता है।) तथापि अल्पकालीन ऋण देने की कठिनाई के कारण कभी कभी उधारदाता दीर्घकालीन बाजार में चले जायेंगे ।[६]

इन बातों को देखते हुए यह अब भी प्रतीत होता है कि ऋणों के अग्रवर्ती बाजार के (वस्तुओं के वायदे बाजार के सदृश) संबंध में भी यह प्रत्याशा की जा सकती है कि उनके एक पक्ष में एक संघटनात्मक कमजोरी होगी—ऐसी कमजोरी जो सट्टेबाजी को अवसर देती है। यदि दीर्घकालीन ऋणों के लिए कोई अतिरिक्त प्रतिफल नहीं दिया जाता है तो अधिकांश व्यक्ति (और संस्थायें) कम से कम इस अर्थ में कि वे किसी न किसी प्रकार से अपनी मुद्रा को जमा के रूप में रखना श्रेयस्कर समझेंगे, अल्पकालीन ऋण देना पसंद करेंगे। किन्तु इस स्थिति के कारण दीर्घकालीन ऋणों की मांग का एक बड़ा भाग पूरा नहीं किया जा सकेगा। इसलिए ऋणकर्ता ऋणदाताओं को दीर्घकालीन बाजार में लाने के लिए (अर्थात् अग्रवर्ती बाजार में प्रवेश के लिए) अधिक प्रतिफल देने की प्रवृत्ति रक्खेंगे। वह ऋणदाता जो ऐसा करेगा वस्तु बाजार के किसी भी सटोरिए के ही ठीक समान होगा। वह तभी दीर्घ-कालीन बाजार में आएगा जब वह इस कार्य द्वारा लाभ की प्रत्याशा रखता हो और यह भी कि वह निहित जोखिम को पूरा करने के लिए पर्याप्त प्रतिफल प्राप्त कर लेगा।

किसी विशिष्ट भावी सप्ताह की ब्याज की अग्रवर्ती दर (जिसे हम एक इकाई स्वरूप मान चुके हैं जिससे दीर्घकालीनब्याज-दरों का निर्माण होता है) किसी भी वस्तु की अग्रवर्ती कीमत के सदृश उसी स्तर पर निर्धारित होती है जो सटोरियों को पर्याप्त संख्या में अग्रवर्ती संविदा करने के लिए आकर्षित कर लेती है। यह सटोरिए उस सप्ताह में ब्याज की जिस अल्पकालीनदर की प्रत्याशा करते हैं उससे उक्त ब्याज की दर अधिक होगी क्योंकि अन्यथा सटोरियों को उस जोखिम के लिए जिसे वे उठाने जा रहे हैं कोई क्षतिपूर्ति नहीं मिलेगी ; वास्तव में उक्त ब्याज की अग्रवर्ती दर को इस दर से भी इतना पर्याप्त अधिक होना पड़ेगा कि सीमान्त सटो-रिया जोखिम वहन करने के लिए तैयार हो जाय। इस प्रकार प्रत्याशित अल्पकालीन दर पर अग्रवर्ती अल्पकालीन-दर का आधिक्य जोखिम प्रतिफल के बराबर होगा और यह जोखिम प्रतिफल वस्तु बाजार केसामान्य पिछड़न के ठीक समकक्ष होगा। यदि भविष्य में अल्पकालीन दररों के परिवर्तन की प्रत्याशा नहीं है तो अग्रवर्ती-दर और चालू अल्पकालीन दल का अन्तर केवल यही जोखिम प्रतिफल होगा। यदि अल्प-

कालीन दरों के बढ़ने की प्रत्याशा है तो आधिक्य उक्त सामान्य प्रतिफल से अधिक होगा : केवल जब अल्पकालीन दरों के गिरने की प्रत्याशा की जाती है तभी अग्रवर्ती दर चालू-दर से कम हो सकती है ।

यही नियम उन दीर्घकालीन दरों पर भी लागू होना चाहिए कि (जैसा हम पीछे—३ में देख चुके हैं) यथार्थ में अग्रवर्ती-दरों का औसत है । यदि अल्पकालीन दरों में परिवर्तन की प्रत्याशा है तो अल्पकालीन दर पर दीर्घकालीन दर का आधिक्य सामान्य-जोखिम प्रतिफल के बराबर होगा । यदि चालू अल्पकालीन-दर को असामान्य रूप से कम समझा जाता है तो निश्चय ही दीर्घकालीन दर उससे अधिक होगी; अल्पकालीन दर दीर्घकालीन दर से केवल तभी अधिक हो सकती है जब चालू अल्प-कालीन-दर को असामान्य रूप से ऊंचा माना जाय ।७

(५) ब्याज की अल्प व दीर्घकालीन दरों के संबंध की यह व्याख्या ही स्पष्ट हमारी नीति के उस निर्णय के लिए महत्वपूर्ण है जो हमने पिछले अध्याय के अंत में लिया था ; वास्तव में उस संबंध में यह कुछ चिन्ता पैदा करती है । उस समय ऐसा प्रतीत हुआ था कि आगे विश्लेषण हेतु यह सुविधाजनक और सरल होगा यदि हम शुद्ध तात्कालिक अर्थव्यवस्था की ओर ध्यान देकर अध्ययन आरंभ करें : परिभाषा स्वरूप तात्कालिक अर्थव्यवस्था ऐसी थी कि उसमें सभी मालों और सेवाओं के तात्कालिक सौदे होते हैं और कोई अग्रवर्ती व्यापार नहीं होता है । जहां तक किसी वस्तु विशेष के व्यापार का संबंध है यह सरलीकरण काफी उचित प्रतीत होता था ; वास्तव में वस्तुओं के अग्रवर्ती बाजार इतने अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते हैं कि यह कहा जा सके कि उनका ध्यान छोड़कर हम कोई बड़ी गलती करते हैं । किन्तु अब दीर्घ-कालीन ऋण देना एक गुप्त प्रकार के अग्रवर्ती-व्यापार के रूप में दिखाई पड़ता है ; और इसलिए यह प्रतीत होगा कि शुद्ध तात्कालिक अर्थव्यवस्था से दीर्घकालीन ऋण देने की बात को भी निकाल देना चाहिए । ऐसा करना बहुत तीव्र प्रथक्करण होगा । आइए, हम इसको समझने का प्रयत्न करें ।

शुद्ध तात्कालिक अर्थव्यवस्था में जहां केवल अल्पकालीन ऋण दिए जाते हैं किसी वस्तु का अग्रवर्ती क्रय-विक्रय नहीं होता है और सभी ऋण न्यूनतम अवधि अर्थात् एक सप्ताह के होते हैं । फलतः जब पहले सोमवार को बाजार खुलते हैं यह मानना चाहिए कि पिछले सप्ताह के सब ऋणों का भुगतान हो चुका है ताकि कोई भी पुराने संविदे बाकी न हों । दूसरी ओर, क्योंकि अब कोई भी अग्रवर्ती संविदे नहीं किए जा सकते हैं, साहसोद्यमियों को (और प्रत्येक अन्य व्यक्ति को) भावी कीमतों (ब्याज की भावी अल्पकालीन दर सहित) संबंधी निजी प्रत्याशाओं के आधार

पर अपनी सभी योजनायें बनानी पड़ेंगी। प्रत्येक सोमवार को सभी संविदे साफ हो जाने पर और यदि दीर्घकालीन ऋण द्वारा साहसोद्यमी को सुरक्षा की प्राप्ति के अभाव में यह मॉडल अति अवास्तविक दिखाई देगा। यद्यपि यह संभव है कि हम बाद में इन कमियों की ओर ध्यान देकर मॉडल को समायोजित कर लें, किन्तु यह काफी लाभजनक होगा यदि हम किसी ऐसे समान रूप से सरल मॉडल को ढूंढ निकालते जो वास्तविक दशाओं के अधिक निकट होता।

हमारे पहले मॉडल का जिसे हम बनाए रखना चाहते हैं सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें व्यवहार में भिन्न अवधिवाले ऋणों की ब्याज-दरों का जो जटिल निकाय होता है उसके स्थान पर केवल एक दर में घटित हो जाता है। (यदि हम ऋण अदा न होने के जोखिम की उपेक्षा कर दें तब केवल एक ही दर का विचार करना रहता है।) अर्थशास्त्रियों ने ब्याज की समस्या की व्याख्या करते समय अक्सर एक विशिष्ट ब्याज की दर के निर्धारण की बात की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ध्यान में भी किसी ऐसे ही योग्य करने की बात रही होगी; तथापि जिस ब्याज की विशिष्ट दर की वे व्याख्या करते हैं वह अधिकतर दीर्घकालीन होती है।[८]

आइए ऐसे अर्थतंत्र के कार्य का विचार करें जिसमें अब भी माल और सेवाओं के अग्रवर्ती व्यापार नहीं होते और केवल एक ही प्रकार के ऋण दिए जाते हैं। किन्तु अब वह एक प्रकार का ऋण देना केवल एक सप्ताह के लिए न होकर (जैसा हमारी पहली तात्कालिक अर्थव्यवस्था में था) हम यह मानेंगे कि अनिश्चित अवधि के लिए होते हैं। प्रत्येक निकाय में केवल एक प्रकार की प्रतिभूति है। पूर्व विचारित अल्पकालीन ऋणवाली तात्कालिक अर्थव्यवस्था में प्रतिभूति तो एक हुंडी थी (सप्ताह के अंत में अमुक पूंजीराशि के भुगतान करने का वायदा) किन्तु हमारे नए माडेल में—दीर्घकालीन ऋणवाली तात्कालिक अर्थव्यवस्था में—प्रतिभूति का रूप बिना किसी तिथि वाले डिबेंचर का है (अमुक निधि ऋण पर ब्याज स्वरूप नियमित अवधि-अन्तरों पर देने का वायदा)।

यदि बाजार में स्थापित ब्याज की दर केवल अनिश्चित अवधि वाले ऋण की दर के रूप में है तो इस अर्थव्यवस्था में किसी भी सीमित अवधिवाले ऋण के लिए जो ब्याज की दर देनी पड़ेगी वह सदैव कल्पना का विषय होगी। यहां तक कि एक सप्ताह वाले ऋणों की ब्याज दर भी (वह दर जो हमारे पहले मॉडल में निर्धाय थी) इस दीर्घकालीन ऋणवाली तात्कालिक अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत पूर्व अनुमान का विषय बन जाती है। यदि कोई व्यक्ति एक सप्ताह के लिए उधार लेने की इच्छा करता है तो वह अब ऐसा केवल इस प्रकार से कर सकता है; वह चालू

ब्याज की दर ई पर अनिश्चित अवधिवाले ऋण को ले (अर्थात् प्रतिभूति बेंचे*) और तब सप्ताह के अंत में उस समय चालू बाजार कीमत पर, जो कि ब्याज की दूसरे सप्ताह की दर ई' पर निर्भर होगा, पुनः ऋण लौटाने की योजना बनाए। इस प्रकार एक सप्ताह के ऋण की प्रभावी दर ब्याज की भावी दर ई' संबंधी ऋणकर्त्ता की प्रत्याशा पर निर्भर है। ऋण का पूंजीकृत मूल्य सप्ताह भर में ई/ई' के अनुपात में बदल जायगा। इस प्रकार वह प्रभावी दर जो उसको देनी पड़ेगी निम्नांकित होगी

$$ई + \frac{ई}{ई'} - १,$$

जो ई से कम होगी, यदि ई' ई से अधिक है। इस प्रकार वह दर जिस पर लोग अल्प अवधियों के लिए ऋण देने या लेने के लिए प्रत्याशा कर सकते हैं उनकी बाजारदरों की भावी मात्रा के पूर्व-अनुमानों पर निर्भर होगी ; यदि बाजार दर की बढ़ने की प्रत्याशा है तो यह चालू बाजार दर से कम होगी, और इसके विपरीत अधिक ।

दीर्घकालीन ऋणवाली तात्कालिक अर्थव्यवस्था में यह आवश्यक नहीं है कि ऋणों का भुगतान सप्ताह के आरंभ में किया जाय ; इसलिए हम मान सकते हैं कि ऐसा टिपिकल व्यक्ति भी हो सकता है जिसके पास पहले सोमवार के दिन कुछ प्रतिभूतियां हों, ऐसे ऋण जो दूसरों ने भूतकाल में कुछ तिथियों पर निर्गमित किए थे, अथवा उसके निजी कुछ ऐसे ऋण हों जिन्हें उसने भूतकाल में लिया था और जिनका वह दूसरों को भुगतान करेगा। यदि सप्ताह के बीच वह उधार लेने का निर्णय करता है तो ऐसा करने के लिए वह या तो अपने पास की कुछ पुरानी प्रतिभूतियों को बेच सकता है या वह कुछ नयी प्रतिभूतियों को निर्गमित कर सकता है। इसी प्रकार पुरानी और नई प्रतिभूतियों को प्राप्त करना ऋण देने के समान समझा जायगा। पुरानी प्रतिभूतियों की कीमतें नई प्रतिभूतियों के ब्याज की दरों से समायोजित होंगी (अथवा, हम यह भी कह सकते हैं कि पुरानी प्रतिभूतियों की कीमतों से नई प्रतिभूतियों के ब्याज की दर समायोजित होगी) ; क्योंकि यदि ऋण-व्यतिक्रम का जोखिम समान हो तो व्यक्ति इस बारे में तटस्थ होगा कि वह नयी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करे अथवा पुरानी प्रतिभूतियों का। पुरानी प्रतिभूतियों की कीमतों और ब्याज की दर के मध्य इस शुद्धतः गणितीय संबंध के कारण यह मानना आवश्यक नहीं है कि अन्य कीमतों के साथ पुरानी प्रतिभूतियों की कीमतों को भी निर्धारित करना है। तब यथार्थ में निकाय के अन्तर्गत ब्याज की केवल एक बाजार दर है।

(६) इस प्रकार ब्याज की केवल एक बाजार-दरवाली अर्थव्यवस्था की कल्पना करने के दो संभव मार्ग हैं ; प्रत्येक के अपने अपने लाभ हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस प्रकार वैकल्पिक मार्गों के रहने से स्पष्ट सुविधा होती है ; कुछ बातें एक रास्ते को पकड़ने से अधिक स्पष्ट होती हैं और कुछ दूसरे रास्ते से। इसलिए कुछ समय तक हम अपना अध्ययन दोनों के माध्यम से करेंगे।

हम देख चुके हैं कि अल्पकालीन दर को इकाई मान कर ब्याज दरों के पूर्ण निकाय का निर्माण संभव है। यदि दीर्घकालीन ऋणवाली तात्कालिक अर्थव्यवस्था भी एक उपयोगी यंत्र हो तो यह संभव होगा कि हम दीर्घकालीन दर से चलकर भी पूर्ण निकाय का निर्माण कर लें। परन्तु क्या ऐसा किया जा सकता है ? हम देख चुके हैं कि व्यवहार में केवल अल्पकालीन ऋण वाला निकाय टूट जायगा क्योंकि बहुत से ऋणकर्ता दीर्घकालीन अवधियों के ऋणों में निहित अतिरिक्त सुरक्षा की इच्छा करेंगे और ऋणदाता कूछ अधिक ब्याज की दर लेकर इस सुरक्षा को देने के लिए तैयार होंगे। यदि निकाय में केवल अनिश्चित दीर्घकालीन ऋण हों तो कैसा रहेगा ?

ऐसा निकाय ऋणकर्ताओं के एक विशेषवर्ग के लिए तो—ऐसों के लिए जो निरंतर उत्पादन करने जा रहे हैं—काफी संतोषजनक होगा। ऐसे ऋणकर्त्ता भी जो काफी अनिश्चित काल के लिए उधार लेना पसंद नहीं करेंगे, स्यात असंतुष्ट न हों यदि उनके उधार की अवधि सुदूर भविष्य तक हो। बहुत संभव है कि औद्योगिक ऋणों (मोटे तौर पर वे ऋण जो अचल पूंजी में विनियोग हेतु हैं) का एक बड़ा अंश इन दो वर्गों में आता है। दूसरी ओर ऋणदाताओं का एक वर्ग हो सकता है जो अनिश्चित काल के ऋण से संतुष्ट हों—ऐसे ऋणदाता जिनका ध्येय मात्र अपनी पूंजी से नियमित आय प्राप्त करना है और जो कोई और विचार नहीं रखते। यह वर्ग कितना बड़ा है, इस संबंध में विवाद हो सकता है (बड़े ऐतिहासिक आन्दोलनों ने संभवतः इसके आकार को बुरी तरह परिवर्तित कर दिया है); तथापि किसी भी हालत में यह विशेषता महत्वपूर्ण है कि वे कोई अन्य विचार नहीं रखते। जैसे ही ऋणदाता इस संभावना की बात सोचता है कि कुछ कल्पित दशाओं में वह अपनी पूंजी को वापिस चाह सकता है—और यह विश्वास करना कठिन है कि इसका सदैव पूर्णतया अभाव रहता है—असीमित दीर्घकालीन ऋणों की कमी स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि हम देख चुके हैंकि बिना किसी तिथि वाले डिबेंचरों में विनियोग करके हन निश्चित अवधि वाले ऋण पर जो ब्याज की दर प्राप्त कर सकते हैं वह सदैव अतिकल्पित होती है। यदि ब्याज की दीर्घकालीन दर में गंभीर रूप से वृद्धि

हो तो यह संभव है कि वास्तविक प्रत्युपलब्धि नितान्त शून्य हो जाय। परन्तु यदि प्राप्त की हुई प्रतिभूति के पकने की निश्चित अवधि है तो ऐसा होने की संभावना बहुत कम है, हम भले ही प्रतिभूति को भुगतान की तिथि से भिन्न तिथि पर बेच दें।

इस प्रकार ऋणदाताओं की सदैव यह प्रवृत्ति होगी कि वे अपने जोखिम को घटाएँ और इसलिए, यदि संभव हो तो, अपेक्षाकृत दीर्घकालीन ऋण के स्थान पर अल्पकालीन ऋणों को प्रतिस्थापित करें यद्यपि जिस सीमा तक वे ऐसा करने के लाभ को मानेंगे वह भिन्न समय पर भिन्न हो सकती है। साधारणतया हम मान सकते हैं कि वे अधिक सुरक्षाप्राप्ति हेतु ब्याज का कुछ त्याग (जो अधिक भी हो सकता है और कम भी) करने के लिए तैयार होंगे। हम देख चुके हैं कि बिना तिथि वाले डिबेंचरों में विनियोग करके निश्चित अवधिवाले ऋणपर यथासंभव ब्याज की दर को किस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं। यह प्रत्याशा की जा सकती है कि ऋणदाता इससे कुछ कम ब्याज लेंगे जिससे उन्हें अल्पकालीन ऋणों से संबंधित अधिक सुरक्षा मिल सके। इस प्रकार अल्पकालीन (और मध्यमकालीन) ब्याज की दरें निर्धारित होंगी। यह दरें ऋण की अवधि में प्राप्त होने वाले बिना तिथि के डिबेंचरों की सर्वाधिक संभव ब्याज की दर से कम होंगी; दोनों का अंतर एक प्रकार से सामान्य जोखिम-प्रतिफल के बराबर होगा जिसकी मात्रा सुरक्षाजनित लाभ के अनुमान पर निर्भर होगी।

जैसा हम देख चुके हैं किसी निश्चित अवधि में बिना तिथि वाले डिबेंचरों के विनियोग की सर्वाधिक संभव उपलब्धि किसी निर्धारित समयावधि में चालू (दीर्घकालीन) बाजार-दर से कम होगी, यदि भविष्य में इस दर के बढ़ने की प्रत्याशा है: विपरीत दशा में यह अधिक होगी। इस प्रकार स्थायित्व की दशाओं में, जब दीर्घकालीन दर के स्थायी रहने की प्रत्याशा की जाती है, सामान्य जोखिम प्रतिफल की सीमा तक अल्पकालीन दर दीर्घकालीन दर से कम हो सकती है; जब दीर्घकालीन दर की वृद्धि की प्रत्याशा है, तब अल्पकालीन दर उससे और भी कम होंगी। केवल जब दीर्घकालीन दर के गिरने की प्रत्याशा है तभी अल्पकालीन दर दीर्घकालीन दर से अधिक हो सकती है।

हम देखेंगे कि यह निष्कर्ष हमारी पहली रीति से निकाले निष्कर्षों से पूर्णतया संगत है। दोनों में केवल यह अंतर है कि जहां पहले हमने ब्याज की दरों के फैलाव को अल्पकालीन दरों की भावी मात्रा की प्रत्याशाओं के पदों में विश्लेषित किया है, उसकी व्याख्या इस समय हमने दीर्घकालीन दर के भावी स्वरूप संबंधी प्रत्याशाओं

के पदों में की है। व्यवहार में संबंधित प्रत्याशायें निःसन्देह ब्याज की दरों के पूर्ण निकाय के भावी स्वरूप की प्रत्याशायें होती हैं ; किन्तु (यदि वे काफी संगत हों) तो वे उपर्युक्त दोनों में से किसी के पद में रक्खी जा सकती हैं। अल्पकालीन दर दीर्घकालीन दर से केवल तभी अधिक हो सकती है जब अल्पकालीन पर असामान्य रूप से ऊंची हो और दीर्घकालीन दर भी ऐसी ही हो ; किन्तु यह दोनों घटनायें यथार्थ में परस्पर संगत हैं और वास्तव में एक की दूसरे को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रखती हैं। अस्थायी संस्थिति की ऐसी दशा जिसमें यह प्रत्याशा की जाती है कि निकट भविष्य में दीर्घकालीन दर काफी गिरेगी, मात्र तभी उठ सकती है जब प्रतिभूतियों के मूल्यों की वृद्धि की प्रत्याशा से लाभ उठाने की स्वार्थसिद्धि हेतु उन प्रतिभूतियों को तुरंत खरीदने से सटोरियो को रोका जाय—उसी प्रकार रोका जाय जैसा तब होगा जब अल्पकालीन दर इतनी अधिक हो कि पूर्व अनुमानित लाभ शून्य हो जायें। किन्तु उसी समय (दूसरी ओर से दृष्टि डालने पर) अल्पकालीन ऊंची दर की प्रवृत्ति दीर्घकालीन दर को सामान्य स्तर से ऊंचा उठाने की है; दीर्घकालीन दर चालू और अग्रवर्ती की अल्पकालीन दरों का औसत है और यह औसत कुछ बढ़ जाता है। दोनों ही दृष्टिकोणों से अल्पकालीन और दीर्घकालीन दरों की एक ही दिशा में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है किन्तु अल्पकालीन दरों की गति में अधिक आयाम होता है।

---

*अनुवादक की ओर से।

अध्याय १२

व्याज की दर का निर्धारण

(१) अब हम उन प्रश्नों में से एक पर पहुंचते हैं जो आधुनिक मौद्रिक सिद्धान्त के विवेचन में प्रमुख रहे हैं। वह क्या है जिससे व्याज की दर निर्धारित होती है ? कुछ ही समय पूर्व तक अर्थशास्त्री एक मत होकर उत्तर देते कि इसका निर्धारण 'पूंजी' की मांग और पूर्ति द्वारा होता है। किन्तु, क्योंकि पूंजी से उनका ठीक तात्पर्य क्या है, इस पर वे निश्चित न थे, अतः उनका मतैक्य वास्तविक की अपेक्षा दिखावटी अधिक था। क्या पूंजी का तात्पर्य ठोस वस्तुओं और उनकी एक दी हुई मात्रा को बेच लेने की सामर्थ्य के अर्थ में 'वास्तविक पूंजी' से है ? यदि यह व्याख्या मान ली जाय तो व्याज की दर को निश्चित करने वाली शक्तियां उन्हीं प्राविधिक और मनोवैज्ञानिक कारकों तक सीमित रह जाती हैं जो वर्तमान और भविष्य की वस्तुओं की आवश्यकताओं की सापेक्षिक आग्रहओं को प्रभावित करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हम एक ऐसा सिद्धान्त पाते हैं जैसा कि बॉम-बॉवर्क ने विस्तृत रूप से प्रवर्तित किया था। अथवा क्या 'पूंजी' का तात्पर्य उधार देने योग्य निधियों (अर्थात् दी हुई मुद्रा की मात्रा को बेचने की सामर्थ्य) के अर्थ में 'मुद्रा पूंजी' से है ? इससे व्याख्या में भारी अंतर पड़ता है कि हम कौन सा अर्थ अपनाते हैं।

मतों का यह प्रथम विभाग गंभीर है ; यह एक वास्तविक विवाद है जिसमें एक पक्ष सही होना चाहिए और दूसरा गलत, यद्यपि सहीपन या गलती अन्ततोगत्वा निरपेक्ष न होकर विशिष्ट समस्याओं के लिए केवल सापेक्षिक हों किन्तु वास्तविक विवाद हाल में ही एक बनावटी विवाद द्वारा जटिल हो गया है यह उनके द्वारा खड़ा किया गया है जो मौद्रिक उपागम को मानते हैं।[1] क्या व्याज की दर उधारक्षम निधियों की मांग और पूर्ति (अर्थात्, ऋण लेने और देने से) से निर्धारित होती है; या, यह स्वयं मुद्रा की मांग और पूर्ति से निर्धारित होती है ? यह अन्तिम विचार केन्स द्वारा उनकी 'जेनेरल थिअॅरी' में सामने लाया गया है। मैं यह दिखाने की आशा

करूंगा कि चाहे हम इसे स्पष्ट करने का केन्स का रास्ता अपनायें या उन लेखकों का जो उस विचार को मानते हैं जो इस समय विरोधी प्रतीत हो रहा है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। ठीक अनुसरण करने पर दोनों रीतियां एक ही परिणाम पर पहुंचाती हैं।

(२) दो कठिनाइयां पहले ही हमारी पिछली व्याख्या द्वारा रास्ते से हटा दी गई हैं जो अन्यथा हमारे लिए काफी परेशानी पैदा कर देतीं। सर्वप्रथम यह स्पष्ट है कि कोई भी व्याख्या संपूर्ण अर्थतंत्र का विश्लेषण करने का उपक्रम करती है (और ऐसी ही सामान्य व्याख्याओं के साथ मतवैभिन्य संबंधित है) ब्याज की दर को पृथक् मान ही नहीं सकती है। यह अन्य कीमतों की तरह एक कीमत है और आपस में अन्योन्याश्रित निकाय के एक अंश के रूप में उनके साथ निर्धारित होनी चाहिए। समस्या शून्य में ब्याज की दर के निर्धारण की नहीं है अपितु वास्तव में एक ऐसी अर्थव्यवस्था में कीमत निर्धारण की सामान्य समस्या है जहां ऋण का लेन-देन होता है और इसलिए जिसमें ब्याज की दर सामान्य कीमत-निकाय का एक मौलिक अंग है। इसे समझने का यह तरीका समस्या को उलझाता हुआ प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में यह इसे समझने के लिए काफी आसान कर देता है।

दूसरे, हम ऐसे अर्थतंत्र को छोड़कर जहां केवल एक ही ब्याज की दर है एक विशिष्ट ब्याज की दर का निर्धारण नहीं कर सकते; अन्य किसी स्थिति में हमें ब्याज की दरों के सम्पूर्ण निकाय को लेना पड़ेगा। हम दो भिन्न सरल मॉडलों से जिनमें कि केवल एक ही ब्याज-दर है पहले ही परिचित हो चुके हैं—अल्पकालीन ऋण देने से युक्त तात्कालिक अर्थव्यवस्था और दीर्घकालीन ऋण देने से युक्त तात्कालिक अर्थव्यवस्था जिनका वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है। जिस समस्या पर हमें यहां विचार करना है वह इन सरलीकृत स्थितियों में परिणित हो जाती है; क्योंकि हम पर्याप्त मात्रा में सीख चुके हैं कि एक बार आधारभूत दरों के विशिष्ट अल्पकालीन दर या विशिष्ट दीर्घकालीन दर—निर्धारित हो जाने पर ब्याज की दरों के निकाय को कैसे निर्धारित कर सकते हैं।

इस प्रकार एक विशिष्ट समस्या जो यहां विवेचन के लिए हमारे पास रह जाती है एक विशिष्ट सोमवार को स्थापित होने वाली तात्कालिक कीमतों के निकाय के निर्धारण की है, और अल्पकालीन उधार और दीर्घकालीन उधार की हमारी परिकल्पना के अनुसार यह उक्त समस्या दो भागों में विभक्त हो जाती है। ये दोनों प्रश्न हम बारी से लेंगे।

(३) अल्पकालीन उधार की तात्कालिक अर्थव्यवस्थाओं में जैसे ही बाजार खुलता

है सभी पुराने संविदे समाप्त हो चुके होते हैं और नए संविदों के लिए रास्ता खुला रहता है। केवल वस्तुओं और सेवाओं की तात्कालिक कीमतें और एक सप्ताह के ऋणों अर्थात् इस सोमवार से अगले सोमवार तक के ब्याज की दर निर्धारित करनी है। ये वर्तमान मांग और वर्तमान पूर्ति से निर्धारित होते हैं। वर्तमान कीमतों की किसी भी श्रेणी के आधार पर (ब्याज की वर्तमान दर सहित) साहसोद्यमी और निजी व्यक्ति समान रूप से योजनायें बनाते हैं, यद्यपि यह योजनायें न केवल बर्तमान कीमतों और ब्याज की वर्तमान दर से अपितु उन प्रत्याशाओं से कि भविष्य में ब्याज की दर और कीमतें क्या होंगी, भी नियंत्रित होंगी। वर्तमान मांगें और पूर्तियां साधारणतया इन योजनाओं के पहलू हैं, क्योंकि योजना के अन्तर्गत वर्तमान नीति के निर्णय और साथ ही भावीनीति के काम चलाऊ निर्णय रहते हैं। किन्तु एक तत्कालिक अर्थव्यवस्था में केवल वर्तमान नीति के निर्णय कार्यान्वित किए जाते हैं; इस प्रकार केवल वर्तमान मांगें और पूर्तियां बाजार में संतुलित की जाती हैं। यदि प्रथम प्रस्तावित कीमतों का निकाय एक ऐसी योजनाओं की श्रेणी को पैदा नहीं करता जो वर्तमान मांगों और पूर्तिओं को बराबर करता है तो इसे तब तक व्यवस्थित करना होगा जब तक अल्पकालीन संस्थिति न आ जाय। अल्पकालीन संस्थिति का तात्पर्य है कि वर्तमान मांगें और पूर्तियां बराबर कर दी गयी हैं।

इस निकाय की आन्तरिक संगति के संबंध में अपने को संतुष्ट करने के लिए यह अनिवार्य है कि निर्धारित की जाने वाली कीमतों की संख्या और उन्हें निर्धारित करने के लिए प्राप्त मांग और पूर्ति समीकरणों की संख्या की जांच की जाय, जैसा कि हमने तब किया था जब हम स्थैतिक निकायों की व्याख्या कर रहे थे।[2] अनुमान कीजिए कि 'न' तरह के विनिमय योग्य माल और सेवायें हैं; तो कुल मिलाकर 'न' कीमतें निर्धारित करनी हैं।[3] परन्तु मालों में वह माल भी है जिसे कीमत का आधार (मुद्रा) माना है। अतः इसके आधार पर अन्य मालों और सेवाओं की न—१ कीमतें और एक ब्याज की दर (यहां एक सप्ताह के ऋणों की दर) हमारे समक्ष रह जाती हैं। इस प्रकार कुल 'न' कीमतें होती हैं। 'न' कीमतों को निर्धारित करने के लिए हमारे पास न—१ वस्तुओं के लिए (मुद्रा को छोड़कर) मांग और पूर्ति के न—१ समीकरण हैं, एक समीकरण ऋणों की मांग और पूर्ति के लिए और एक मुद्रा के लिए। इस प्रकार कुल मिलाकर न—१ (समीकरण) होते हैं। जो भी हो, वालराकृत निकायों के अनुसार, जिनसे हम पहले से परिचित हैं, न + १ में से एक समीकरण अन्यों से निकल आता है। इससे हमारे पास 'न' कीमतों को

निर्धारित करने के लिए 'न' समीकरण रह जाते हैं। यह निकाय न तो अति और न ही न्यून निर्धारित है।

(न + १) वां समीकरण का जिस ढंग से निराकरण किया जा सकता है उसका भी सावधानी से निरीक्षण करना ठीक होगा। क्योंकि सभी व्यापार मौद्रिक मूल्यों का तुल्य मौद्रिक मूल्यों में विनिमय है, अतएव एक निजी व्यक्ति अपनी उपलब्धि से अधिक खर्च तभी कर सकता है जब वह उधार ले या अपना संचित रोकड़ घटाए ; वह अपनी प्राप्ति से कम खर्च तभी कर सकता है जब वह उधार दे या नकद शेष बढ़ाए। इस प्रकार हम किसी भी निजी व्यक्ति के लिए लिख सकते हैं,

व्यापार द्वारा नकद संग्रह = उपलब्धि—खर्च—ऋणदान (यह ध्यान में रहे कि इनमें से कुछ मद नकारात्मक हो सकते हैं)। यही समीकरण साहसोद्यमियों के निजी खाते के लिए सही होगा। अतः यह एक साथ लिए गए सभी व्यक्तियों के (साहसोद्यमियों सहित) निजी खातों के लिए भी सही होगा।

फर्म का मामला अपेक्षाकृत अधिक उलझा हुआ है पिछले सप्ताह के ऋणों को अदा करके। प्रारंभ में यह अपने संचित रोकड़ में क्षति कर लेगा ; किन्तु यह प्रत्याशा की जा सकती है कि फर्म कुछ हद तक पुनः उधार लेकर इसे पूरा (या स्यात् उस से भी अधिक) कर लेगा। यह अपने संचित रोकड़ को उत्पादन के कारकों को खरीद कर घटा लेगा, और उत्पादों की बिक्री द्वारा बढ़ा लेगा। अन्त में यह साहसोद्यमियों को जो कुछ लाभांश देगा उससे भी उसका संचित रोकड़ घट जायगा।

इस प्रकार एक फर्म के लिए,

व्यापार द्वारा प्राप्त नकद = निर्गत का मूल्य—आगत का मूल्य

—पुराने ऋणों की पुनर्अदायगी + नया उधार—लाभांश।

यही समीकरण सभी फर्मों को एक साथ लेने पर भी सही होता है। पुनः जब कि समीकरण संपूर्ण उद्योग के लिए प्रयुक्त होता है वे सभी अर्द्धनिर्मित माल जो अन्य फर्मों को बेच दिए जाते हैं, बहिर्गत किए जा सकते हैं। इन मालों के मांग और पूर्ति समीकरणों के एक बार स्थापित हो जाने पर उन्हें रद्द हुआ समझा जा सकता है। आगत, जिसकी गणना की जानी है, निजी व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त भौतिक सम्पत्ति और श्रम का आगत मात्र है ; निर्गत निजी व्यक्तियों को बेचे हुए तैयार माल का निर्गत मात्र है।

इसी तरह, निजी व्यक्तियों की उपलब्धियों का एक अंश अन्य निजी व्यक्तियों

के खर्च के कारण स्वरूप होता है ; इसे भी सभी निजी खातों को एक साथ लेने पर रद्द समझा जा सकता है। तब निजी व्यक्तियों की निवल प्राप्ति फर्मों के आगत से, उनके ऋणों की पुनर्अदायगी से और उनके लाभांशों की अदायगी से होती है। अगर आगत-बाजारों में मांगें और पूर्तियां बरावर हों तो यह दोनों योग मूल्य के रूप में बराबर होते हैं (पुनर्अदायगी पेशगी में की जाती है और लाभांश अविहित होते हैं)। इसी तरह यदि निर्गत-बाजारों में मांगें पूर्तियों के बराबर हो तो उद्योग के निर्गत का मूल्य निजी व्यक्तियों के निवल खर्च के बराबर हो जायगा। अगर ऋण-बाजार में मांग पूर्ति के बराबर हो जाय तो उधार लेना और देना बराबर हो जायगा।

अतः, पूरे समाज के लिए,

व्यापार के द्वारा नकद की निवल प्राप्ति = (निर्गत का मूल्य—निजी व्यक्तियों द्वारा निवल खर्च) + (निजी व्यक्तियों की निवल उपलब्धि
—आगत का मूल्य—लाभांश-पुराने ऋणों की पुनर्अदायिगी)
+ (लिया उधार—दिया उधार)
= ०

सम्पूर्ण समाज को लेकर, यह कहना कि व्यापार द्वारा मुद्रा का निवल संग्रह शून्य है, वही बात है जैसे कि यह कहना कि मुद्रा की मांग और पूर्ति बराबर हैं। परिणामतः यदि मालों और सेवाओं के बाजार में और ऋणों के बाजार में संस्थिति है तो मुद्रा के बाजार में भी संस्थिति होनी चाहिए। 'न' कीमतों को निर्धारित करने के लिए केवल 'न' स्वतंत्र समीकरण हैं, अतः निकाय पूर्णरूप से संगत है।

(४) इसके तात्पर्यों पर विचार करने से पूर्व हम इसी तरह अपना दूसरा मॉडल बनाने के लिए सन्नद्ध हों। एक ऐसी तात्कालिक अर्थ व्यवस्था में, जिसमें दीर्घकालीन ऋण दिए जाते हैं, पहले की तरह 'न' कीमतें हैं (न—१ कीमतें मालों और सेवाओं की और एक कीमत अनावधि के डिबेंचरों पर व्याज की वर्तमान दर)। यदि हम चाहते तो इनके अतिरिक्त सभी पुरानी प्रतिभूतियों की कीमतें भी दे सकते थे; किन्तु उन्हें सामान्य नियम के अनुसार व्याज की नयी दर के साथ प्रत्यक्ष रूप से समायोजित अनुमान करना अपेक्षाकृत अधिक सरल मालूम पड़ता है। नयी या पुरानी कोई भी प्रतिभूति, इस संसार में, एक सतत क्रम में दी हुई मात्रा की मुद्रा-राशि को अदा करने का वायदा है; (मान लीजिए) एक पौन्ड प्रतिवर्ष अदा करने के वायदे को 'प्रतिभूति' की एक इकाई मान कर हम उन सब को एक समान वस्तु के जिसकी कीमतें वर्तमान ब्याजदर की व्युत्क्रम है, रूप में परिणित कर सकते हैं।

(वास्तव में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कीमत निर्धारण के लिए हम इस व्युत्क्रम को लेते हैं या स्वयं ब्याज की वास्तविक चालू दर को।)

पहले की तरह हमारे पास न–१ मालों और सेवाओं द्वारा, प्रतिमूर्तियों द्वारा और मुद्रा द्वारा दिए हुए न–१ मांग और पूर्ति समीकरण हैं। पहले की तरह एक समीकरण का निरसन कर सकते हैं। किन्तु इस बार निरसन कुछ दूसरी तरह से चलेगा, क्योंकि एक ओर बाजार के खुलने पर अब ऋणों की कोई पुनर्अदायगी नहीं होती और दूसरी ओर उधार लेना, पुरानी प्रतिभूतियों के बेचने और साथ ही नयी प्रतिभूतियां देने का रूप ले सकता है। निरसन की सामान्य रूपरेखा इस तरह है—

किसी भी निजी व्यक्ति के लिए

नकद की प्राप्ति = उपलब्धियां (निजी प्रतिमूर्तियों पर ब्याज सहित)—खर्च-प्राप्त की हुई नई प्रति प्रतिभूतियों का मूल्य।

किसी फर्म के लिए

प्राप्त नकद=निर्गत का मूल्य–आगत का मूल्य–ऋणों पर ब्याज–लाभांश
+निर्गमित (या बिक्रीत) प्रतिभूतियों का मूल्य।

सम्पूर्ण समुदाय के लिए

निजी व्यक्तियों द्वारा निवल व्यय = निवल निर्गत का मूल्य

निजी व्यक्तियों द्वारा निवल प्राप्ति = निवल आगत का मूल्य + लाभांश + दिया गया ब्याज,

खरीदी हुई प्रतिभूतियों का मूल्य = विक्रीत (या निर्गमित की हुई) प्रतिभूतियों का मूल्य।

अतः पहले की तरह, व्यापार द्वारा नकद की निवल प्राप्ति = ०। पहले की तरह निकाय 'न' अज्ञातों और 'न' स्वतंत्र समीकरणों के साथ निर्धारित होता है।

(५) यह हमारे लिये विचार करने का समय है कि इस 'एक' समीकरण के निरसन से क्या तात्पर्य निकलना है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि एक ऐसा कीमतों का निकाय स्थापित होता है जो प्रत्येक न–१ मालों और सेवाओं की मांग और पूर्ति को बराबर करता है तो मुद्रा की मांग पूर्ति के बराबर होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि वह समीकरण हमें आगे कुछ नहीं बतला सकता। किन्तु यह समझ लिया जाना चाहिए कि यह तर्क हमें न+१ समीकरणों में से केवल एक का निरसन करने में समर्थ करता है; कौन सा समीकरण हम निरसन करने के लिए चुनते हैं इसका कोई महत्व नहीं है। यदि हम मुद्रा समीकरण का निरसन करने का निर्णय करते हैं तब हम कीमतों और ब्याज का मालों और सेवाओं के

बाजार में तथा ऋणों के बाजार में निर्धारित होना सोच सकते हैं। मुद्रा समीकरण हमें कुछ नहीं बता सकता और वह पूर्ण निरर्थक हो जाता है। किन्तु हमें इस तर्क को दूसरी तरह रखने मात्र से अन्य किसी भी एक समीकरण का इच्छानुसार निरसन कर सकते हैं। यदि हम किसी दूसरे समीकरण का निरसन करना चाहते हैं तो मुद्रा समीकरण को पुनः अपना स्वत्व प्राप्त हो जायेगा; दूसरा समीकरण निरर्थक हो जाता है, जब कि मुद्रा-समीकरण कीमत-निकाय के निर्धारण में प्रभावयुक्त स्थान प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार, जब भी मुद्रा समीकरण कीमत-निर्धारण की यंत्र प्रणाली में एक महत्वपूर्ण अंश की तरह प्रयुक्त होता है यह निहित रहना चाहिए कि कोई अन्य समीकरण निरसन के लिए चुन लिया गया है। मुद्रा के मात्रा-सिद्धान्त के अधिक विकसित रूप में जहां कीमत स्तर का निर्धारण करने के लिए मुद्रा समीकरण को प्रयुक्त किया जाता है, यह माना जाना चाहिए कि अन्य माल और सेवाओं के सापेक्षिक मूल्य स्वतंत्र रूप से निर्धारित होते हैं; मुद्रा समीकरण की आवश्यकता केवल उनके मौद्रिक मूल्य के निर्धारण के लिए होती है। जो भी हो, किसी आधार वस्तु के पदों के सिवाय सापेक्ष कीमतों का भी निर्धारण करना असंभव है। इस प्रकार माल और सेवाओं की कीमतों को पहले किसी सहायक आधारवस्तु (क्लासिकल विचारधारा के अनुसार अकुशल श्रम, और आधुनिकतर लेखकों के अनुसार, प्रतिनिधि उपभोगवस्तु) के रूप में निश्चित हो जाना चाहिए; और तब सहायक आधारवस्तु का मौद्रिक मूल्य अर्थात् मुद्रा का मूल्य निर्धारित करने के लिये मुद्रा समीकरण प्रयुक्त होना चाहिए। तब भी एक अनावश्यक समीकरण रह जाता है, किन्तु यह समीकरण सहायक आधार की मांग और पूर्ति का समीकरण है, मुद्रा का नहीं।

स्वयं में यह एक पूर्णरूप से उचित अध्ययन का मार्ग है; किन्तु इसमें एक बड़ा खतरा है जो कि वास्तव में इस सब मामले में पैदा होने वाली सर्वाधिक आपत्ति का स्रोत है। यदि निरसन करने के लिए चुना हुआ समीकरण सहायक आधारवस्तु वाला समीकरण है तो यह प्रतीत होता है कि सापेक्षिक कीमतों का संपूर्ण निकाय 'वास्तविक' पदों में अनुगणित किया जा सकता है और मुद्रा के मूल्य का प्रश्न बाद में लाया जा सकता है। वस्तुओं के (सापेक्षिक) मूल्य और मुद्रा का मूल्य पूर्णरूप से भिन्न प्रश्न हो जाते हैं, यहां तक कि पूर्ण भिन्न विषय हो जाते हैं। उन्हें अध्ययन के लिए और पढ़ाने के लिए भी विभिन्न विशेषज्ञों को दिया जा सकता है और दिया गया है। किन्तु यदि यह द्विधात्व रक्खा जाता है तो ब्याज की दर पर क्या बीतती है?

मुद्रा-समीकरण के सहारे कीमत-स्तर का निर्धारण करने के लिए इच्छुक मुद्रा-विशेषज्ञ उस समीकरण को सुधारता है; और यह कार्य करते समय वह ब्याज का (यथा, बैंक दर के रूप में) सामना करने से बच नहीं सकता। किन्तु वह इस ब्याज को मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण करने वाला कारक मानता है (कुछ अर्थों में) और हो सकता है कि वह इसे सामान्य ब्याज की समस्या से संबंधित न करे। दूसरी तरफ 'वास्तविक अर्थशास्त्र' का विशेषज्ञ समझता है कि ब्याज की दर का निर्धारण उसके क्षेत्र में आता है; क्योंकि केवल मुद्रा समीकरण ही मुद्रा-विशेषज्ञ को हस्तांतरित किया गया है—अन्य सभी जीवित समीकरण इस योजना में ऋण-पूंजी का मांग और पूर्ति का समीकरण जीवित समीकरण हैं) 'वास्तविक अर्थशास्त्र' विशेषज्ञ के क्षेत्र में आते हैं। किन्तु 'वास्तविक अर्थशास्त्र' विशेषज्ञ, जो अपनी सहायक आधारवस्तु की सहायता से अध्ययन कर रहा है, मूल्यों को केवल उसी के पद में निर्धारित कर रहा है और मुद्रा के मूल्य पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है, ब्याज की दर को अपनी पकड़ में नहीं ला सकता। जब तक वह बहुत सतर्कता से नहीं देखता कि वह कहां जा रहा है वह अपने को ब्याज की सही दर का जो (जैसा कि हम देख चुके हैं) मुद्रा-दर है, नहीं अपितु ब्याज की उस दर का निर्धारण करता हुआ पायेगा जो उनके सीमित निकाय के अंदर है—एक ऐसी दर जो सहायक आधारवस्तु के चालू डेलीवरी के पदों में उसी सहायक आधारवस्तु की भावी डेलीवरियों के मूल्य का निर्देश करती हैं।

ऐसा कोई तर्क नहीं है कि हम यह कह सकें कि ब्याज की यह 'प्राकृतिक' दर (जैसा कि हम इसे विक्सेल[४] का अनुसरण करते हुए कह सकते हैं) ब्याज की सही मुद्रा-दर के बराबर होगी। जैसा कि हम देख चुके हैं कि वे एक समान तभी होंगी जब सहायक वस्तुओं की अग्रवर्ती-कीमतें तात्कालिक कीमतों के समान ही हों।[५] यह शर्त तभी पूरी होगी जब मुद्रा के मूल्य के (या सहायक आधार-वस्तु का मुद्रा-मूल्य) थोड़े भी परिवर्तित होने की प्रत्याशा न हो और यदि यह प्रत्याशा बिल्कुल निश्चित हो जिससे जोखिम उपस्थित न हो। (यह शर्त कुछ अन्य विशिष्ट दशाओं में भी पूरी हो सकती है किन्तु ये स्पष्टतया यहां प्रासंगिक नहीं है।) मुद्रा के मूल्य के स्थिर रहने की परिकल्पना इस तर्क को बुरी तरह सीमित कर देती है; किन्तु जोखिम न रहने की परिकल्पना सीमासे अधिक है—यह वास्तविक त्रुटि का स्रोत है।

वास्तव में हमें इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करने की संभावना से इन्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं है; एक बार स्पष्ट रूप से यह अनुभव हो जाने

पर कि सहायक आधार के रूप में व्याज की दर और व्याज की मुद्रा-दर इन दोनों के एक ही होने की संभावना नहीं है, वास्तविक पदों में कार्य करने की सामान्य रीति अब भी प्रयुक्त की जा सकती है। किन्तु व्याज की समस्या की व्याख्या करने के लिए इस रीति का अधिक महत्व नहीं रह जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि एक भिन्न समीकरण का निरसन करना श्रेयस्कर होगा।

(६) अपनी 'जेनरल थिअंरी ऑफ एम्पल्वॉयमेंट' में वास्तविक और मौद्रिक अर्थशास्त्र के द्विधात्मक वर्गीकरण के विपक्ष में केन्स ने बहुत कुछ कहा है, कुछ तो इसके ब्याज की दर के मिथ्याकरण के कारण और कुछ उन कठिनाइयों के कारण जिनका इसे तव सामना करना पड़ता है जब कि मौद्रिक रूप में निश्चित रूढ़ कीमतों के अस्तित्व का विचार किया जाता है।[६] यह ध्यान देने की वात है कि ये आक्षेप बिल्कुल स्वतंत्र हैं; मौद्रिक मजदूरियों की कठोरता के संवंध में किसी का कुछ भी मत हो ब्याज का आक्षेप महत्व रखता है। व्याज-दर-निर्धारण के कार्य को 'वास्तविक' अर्थशास्त्र को हस्तांतरित करने से संबंधित कैन्स की अस्वीकृति को न्याययुक्त ठहराने के लिए यह आक्षेप स्वयं काफी पर्याप्त है।

किन्तु इस बात का निश्चय करने के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि व्याज के दर-निर्धारण की सर्वोत्तम व्याख्या क्या है। यदि हम सहायक आधार को भी छोड़ दें तब भी यह समस्या रहेगी कि किस समीकरण का निरसन किया जाय। अगर हम चाहें तो मुद्रा-समीकरण का निरसन कर सकते हैं जिसका अर्थ- होगा कि वस्तुओं की कीमतें उनकी मांग और पूर्ति द्वारा और ब्याज की दर उधार देय-निधियों की मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होंगी। यह अध्ययन का सबसे स्वाभाविक मार्ग है, और इसके प्रति कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। एक और विकल्प है : केन्स की भांति हम , अपनी विशेषता के कारण दूसरों से भिन्न ऋण लेने और देने के समीकरण को अथवा प्रतिभूतियों के क्रय और विक्रय समीकरण को निरसित कर सकते हैं। अगर यह हो जाता है तो न—१ साधारण कीमतें और एक व्याज की दर मुद्रा सहित 'न' वस्तुओं की मांग और पूर्ति के 'न' समीकरणों द्वारा निर्धारित होती हैं। वास्तव में हमेशा की तरह प्रत्येक समीकरण सभी कीमतों के निर्धारण में अपना भाग पूरा करता है किन्तु, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की कीमत को उसी वस्तु की मांग और पूर्ति के समीकरण से 'संबंधित' करना स्वाभाविक है, अतः यह भी स्वाभाविक है कि व्याज की दर मुद्रा की मांग और पूर्ति के समीकरण से संबंधित की जाय।

मुझे प्रतीत होता है कि इनमें से प्रत्येक रीति पूर्णरूप से उचित है; उनके

बीच चुनाव पूर्णरूप से एक सुविधा का मामला है। उस रीति की पृष्ठभूमि पर जिसमें आर्थिक सिद्धान्त विकसित हुआ है, केन्स की रीति का यह लाभ है कि यह मौद्रिक विशेषज्ञों का स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखती है; उन्हें सामान्य अर्थशास्त्री बनने के लिए बाध्य नहीं करती जैसा कि दूसरी रीति के अन्तर्गत होता, यह केवल उनके ध्यान को कीमत-स्तर के निर्धारण से ब्याज की दर के निर्धारण की ओर फेरती है। यदि हम दूसरी रीति अपनाते हैं तो हमें सदैव मौद्रिक कारकों को मस्तिष्क में रखने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। दूसरी तरफ केन्स की रीति सुविधा में कुछ खो देती है जब हम एक ब्याज-दर युक्त तात्कालिक अर्थव्यवस्था को छोड़ देते हैं और ब्याज की दरों के निकाय के साथ अपना संपर्क रखना प्रारंभ कर देते हैं। प्रतिभूतियां वास्तव में एक समान वस्तु नहीं हैं जिससे यदि वे निर्धारक समीकरणों से बिल्कुल निरसित कर दी जाती हैं तो उनके अन्तर को अपर्याप्त ध्यान मिलने की आशंका है। (जहां तक विभिन्न अवधि की प्रतिभूतियों का संबंध है यह एक गंभीर आक्षेप नहीं है; हमने पिछले अध्याय में देखा था कि विभिन्न अवधियों वाले ऋणों पर ब्याज की सापेक्षिक दरों के निर्धारण को ब्याज की दर की भावी गति संबंधी सट्टे के रूप में देखा जा सकता है। व्यतिक्रम-जोखिम के कारण हुए अंतर अधिक गंभीर हैं किंतु स्यात् किसी प्रकार इनकी व्याख्या करने की रीतियां पाई जा सकती हैं।) जो भी हो, ये सभी लाभ और हानियां विचार के मामले हैं; ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम अपने को एक अथवा अन्य रीति के लगातार प्रयोग तक सीमित रक्खें। यह वास्तव में बहुत उपयोगी है कि पड़ताल के रूप में काम करने को दो रीतियां रखी जायं।

जो केन्स स्वयं इसे अपने ढंग पर प्रस्तुत करने के कारण जो महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त करते हैं वह यह है कि वे मुद्रा और ब्याज के बीच संबंध की निकटता पर जोर देने का बहुत अच्छा अवसर पा जाते हैं। अब समय आ गया है कि हम भी उसी विषय का अध्ययन करें।[७]

अध्याय १३

ब्याज तथा मुद्रा

(१) निश्चित ब्याज वाली प्रत्येक प्रकार की प्रतिभूति (बिल, बॉन्ड या डिबेंचर) भविष्य में मुद्रा की एक निश्चित निधि का भुगतान करने का वादा है; परन्तु कुछ ऐसे भी प्रतिज्ञा-पत्र हैं जो सामान्यतः प्रतिभूतियां नहीं माने जाते परन्तु जो मुद्रा के प्रकार में अनुगणित होते हैं और प्रतिभूतियों के ही वर्ग में रक्खे जाते हैं। आज-कल बैंक-जमा जो सामान्यतया मुद्रा माना जाता है भविष्य में मुद्रा भुगतान करने का वादा है। बैंक द्वारा निर्गमित नोट भी मुद्रा देने के वायदे हैं। बैंक के नोट का यह रूप स्पष्ट है और सामान्य विवेक को रुचिकर है जब कि बैंक नोट के बदले दूसरे प्रकार की मुद्रा देने की प्रतिज्ञा होती है (स्वर्ण या किसी उच्चकोटि के बैंक के नोट के रूपमें) परन्तु जब उच्चकोटि की मुद्रा तिरोहित हो जाती है तो परिस्थिति बहुत विरोधाभासी हो जाती है। यह विरोधाभास संयोगजन्य नहीं है अपितु यह समस्या के एक महत्वपूर्ण भाग को दर्शाता है; बैंक ऑफ इंग्लैंड के एक पौंड के नोट पर यह लिखा होना कि "इसके धारक को मांगने पर एक पौंड की निधि देने का वायदा करते हैं" एक प्रकार से सदैव के लिए हमें समस्या का स्मरण कराता है और यह ठीक भी है।

वे प्रतिभूतियां जो मुद्रा हैं उन प्रतिभूतियों से जो मुद्रा नहीं हैं इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनपर ब्याज नहीं मिलता; अन्य शब्दों में उनका वर्तमान मूल्य उनके सांकेतिक मूल्य के बराबर है और वह उससे कम नहीं होता जैसा कि बैंक बिलों का होता है। इस प्रकार देखने पर मुद्रा साधारणतया सबसे पूर्ण प्रकार की प्रतिभूति मालूम पड़ती है; अन्य प्रतिभूतियां कम पूर्ण होती हैं और इस अपूर्णता के कारण उनकी कम कीमत होती है। इन प्रतिभूतियों पर चलने वाली ब्याज की दर उनके अपूर्ण मुद्रा होने का माप है, अतएव मुद्रा का स्वरूप और ब्याज का स्वरूप बहुत कुछ एक ही समस्या है। जब हम यह जान जायेंगे कि व्यक्ति अन्य

प्रतिभूतियों की अपेक्षा–जो मुद्रा नहीं मानी जाती हैं उन प्रतिभूतियों के लिए अधिक क्यों देते हैं जो मुद्रा मानी जाती हैं तब हमको यह भी पता चल जायगा कि ब्याज क्यों दिया जाता है।

हम ब्याज शीर्षक वाले पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि वास्तविक प्रतिभूतियों पर दिए गए ब्याज के एक अंश का कारण व्यतिक्रम–जोखिम है, और ब्याज का एक दूसरा अंश, कम से कम दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के संबंध में, ब्याज की दर के भावी परिवर्तनों की अनिश्चितता के कारण उदय होता है। यह दोनों शुद्धतः जोखिम के तत्व हैं; यदि ब्याज में केवल यही तत्व होते तो यह कहना सही होता कि अन्ततोगत्वा सभी ब्याज केवल जोखिम के प्रतिफल हैं और कुछ नहीं। मेरी समझ में यही केन्स का दृष्टिकोण है; उनका 'तरलता अधिमान' का सिद्धान्त ब्याज को इन्हीं दो जोखिम तत्वों में परिणत करता प्रतीत होता है ।[1] परन्तु यह कहना कि पूर्णतया सुरक्षित प्रतिभूतियों पर दिया जाने वाला ब्याज केवल भावी ब्याज दरों की अनिश्चितता द्वारा निर्धारित होता है, ब्याज को स्वयं सिद्ध मानने के समान है। हमारे अन्दर एक ऐसी दृढ़ भावना उठती है कि उसमें इसके अतिरिक्त भी कुछ और है। आइए हम खोज करें कि वह क्या हो सकता है।

(२) यदि हम उस संबंध के बारे में विचार करें तो मुद्रा तथा उस प्रतिभूति के बीच में है जो मुद्रा के अतिनिकट होते हुए भी यथार्थतः मुद्रा नहीं है तो हम ब्याज के सही स्वरूप को लगभग समझ जायेंगे। ऐसी प्रतिभूति अत्यल्पकालीन बिल है जिसका अतिनिकट भविष्य में भुगतान किया जायगा और जो व्यतिक्रम संबंधी जोखिम से पूर्णतया सुरक्षित है। यदि हम किसी कारण का पता लगा सकते ऐसे बिल का मूल्य उसके सांकेतिक मूल्य से कम क्यों है अर्थात् उसी अंकित मूल्य वाली मुद्रा से कम क्यों है। तो हमको शुद्ध ब्याज के अस्तित्व का कारण मालूम हो जायगा।

आइए हम अपने अब तक के प्रयुक्त मौडल पद्धति की पृष्ठभूमि में इस समस्या पर विचार करें (वास्तव में यह उन प्रश्नों में से एक नहीं है जिसकी हमारे मौडल पद्धति की पृष्ठभूमि में पूरी व्याख्या की जा सकती है तब भी उस पद्धति के द्वारा संतोषजनक रूप में आरंभ करना संभव है)।

यदि सभी बाजार केवल प्रत्येक सोमवार को खुलें और यदि किसी बिल की अल्पतम अवधि एक सोमवार से दूसरे सोमवार तक ही हो तो क्या यह संभव है कि मुद्रा की अपेक्षा वह बिल कम मूल्यवाला सिद्ध हो? (अब तक हमलोगों ने यह मान लिया है कि ऐसा संभव है परन्तु अब इस मान्यता के संबंध में प्रश्न उठाना चाहिए।) यदि बिल कम मूल्यवाले सिद्ध होते हैं और यदि फलस्वरूप उन पर

ब्याज चलता है तो क्या कोई ऐसी चीज है जो किसी व्यक्ति को अपनी कुल बचत को ऐसे बिलों में विनियोग करने और उस सप्ताह भर उसी (मुद्रा) रूप में रखने से रोक सकती है ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो बिलों की अपेक्षा मुद्रा में कोई श्रेष्ठता नहीं है और इसलिए वह बिलों की अपेक्षा अधिक मूल्यवाली नहीं हो सकती सकती। अतः ब्याज की दर शून्य होनी चाहिए।

मुद्रा को हाथ में रखने की मात्र संभव प्रेरणा नहीं है जिसका संकेत पिछले एक अध्याय में हम कर चुके हैं; परन्तु हमको अब उसकी अधिक खोजबीन करनी चाहिए। यदि व्यक्ति चीजोंको बेचकर उनका भुगतान मुद्रा के रूप में लेते है तो इस मुद्रा को बिल के रूप में बदलने के लिए एक अलग सौदे की आवश्यकता पड़ेगी और इस सौदे को करने का कष्ट ब्याज के रूप में मिलने वाले लाभ को मिटा सकता है। यदि यह अड़चन दूर की जा सकती अर्थात् यदि सुरक्षित बिलों को बिना किसी कष्ट के प्राप्त किया जा सकता तभी व्यक्ति अपनी मुद्रा को किसी भी ब्याज की दर पर बिलों में परिवर्तित करने के लिए राजी हो जाता। अपने मॉडल की परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि सौदे करने का कष्ट ही ब्याज की अल्पकालीन दर का हेतु है।

ब्याज की दर का वह स्तर निधि विनियोग करने के कष्ट का, सामान्य तो नहीं लेकिन सीमान्त ऋणदाता के लिए, माप है। इस बात को मानने का कोई कारण नहीं है कि ऐसे विनियोग की लागत भिन्न ऋणदाताओं के लिए समान होगी। सामान्यतः बड़े सौदे छोटे सौदों की अपेक्षा बहुत कम अधिक कष्ट से ही किए जा सकते हैं लेकिन बड़ी निधि पर दिया कुल ब्याज छोटी निधि पर दिए कुल ब्याज से काफी अधिक होता है। अतएव छोटे पूंजीपतियों की अपेक्षा बड़े पूंजीपति अधिक सरलता से ऐसे बिलों को क्रय करने के लिए आकर्षित होंगे। यदि एक सप्ताह की अवधि वाले ऋण की मांग इतनी कम है कि बड़े पूंजीपति ही उसे पूरी कर लेंगे तो इन ऋणों पर ब्याज की दर यथार्थतः बहुत कम होगी, लगभग शून्य। परन्तु यदि छोटे पूंजीपतियों की निधि की आवश्यकता हुई तो यह प्रत्याशा की जा सकती है कि एक सीमा के बाद ब्याज की दर तेजी से बढ़ेगी।

ब्याज की अल्पकालीन दर के निर्धारण की व्याख्या का यह एक ढंग है, परन्तु हमारे मौडल पद्धति की पृष्ठभूमि में भी यह पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। निधि को विनियोग करने की लागत बिलों को प्राप्त करने के मार्ग में एक यथार्थमय बाधा सिद्ध हो, इस हेतु यह आवश्यक है कि बिलों को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों कोअलग से सौदा करना पड़े। लेकिन ऐसा सौदा उन्हें तभी करना पड़ेगा जब, जो

को प्रभावित करती हैं सट्टेवाले तत्वों से मिश्रित हो उठती हैं। व्यवहार में कोई ऐसी अल्पकालीन दर नहीं होती जो सट्टेवाले तत्वों से अछूती हो, और न ही कोई ऐसी दीर्घकालीन दर होती है कि उसपर नकद की अपेक्षा अन्य रूप में निधि को हाथ में रखने के आकर्षण का प्रभाव न पड़े।

कोई व्यक्ति जो न्यूनतम से अधिक अवधिवाले बिल को खरीदता है (व्यवहार में इसका अर्थ हुआ कि कोई भी बिल खरीदता है) इस संभावना को ध्यान में रखता है कि बिल के अवधिपूर्ण होने के दिवस से पूर्व भी वह अपनी निधि को काम में लाने की इच्छा कर सकता है। यदि ऐसा हुआ तो उसे अपने बिल का पुनर्बट्टा कराना पड़ेगा; निःसन्देह पुनर्बट्टे में कष्ट निहित है, उतना ही (या स्यात् उससे भी अधिक) जितना प्रथम विनियोग के समय हुआ; इसमें यह अतिरिक्त जोखिम भी हो सकता है कि यदि इस बीच में व्याज की दर में वृद्धि हो गई हो तो उसको घाटा उठाकर पुनर्बट्टा कराना पड़ेगा। बिल पकने के लिए जितना अधिक समय शेष होगा उतना ही अधिक यह जोखिम हो सकता है, और इस तरह, जैसा कि हम पहले अपनी दीर्घकालीन व्याज-दर की व्याख्या में देख चुके हैं, सामान्यतः दीर्घकालीन दर और अल्पकालीन दर के बीच जोखिम प्रतिफल के बराबर अन्तर होगा : इस जोखिम प्रतिफल का कार्य उस संभव क्षति की पूर्ति करना है जो उपर्युक्त व्याज-दरों की हानिकारक प्रगति के कारण होगी। दीर्घकालीन और अल्पकालीन दरों का अंतर समझने के लिए इस प्रकार का जोखिम-प्रतिफल आधारभूत महत्व रखता है; परन्तु बिल पकने की शेष अवधि जितनी ही कम होगी तो बहुत संभव है कि ऐसे जोखिम का महत्व भी उतना ही कम होगा। यदि बिल का पुनर्बट्टा कराना पड़ा तो सामान्यतः मुख्य घाटा उसको पुनर्बट्टा कराने के कष्ट के कारण ही होगा; ऐसे कष्ट उठाने का जोखिम ही वह मुख्य जोखिम है जिसको ध्यान में रखना पड़ता है।

संक्षेप में हमारे निष्कर्ष यह हैं। उन प्रतिभूतियों पर जो ऋण के भुगतान में सामान्यतः स्वीकार नहीं की जाती हैं कुछ व्याज चलता है क्योंकि वे अपूर्ण मुद्रा हैं। यदि वास्तविक ऋणदाता व्यतिक्रम लौटाने के खतरे की संभावना को ध्यान में न रखे तब भी यदि निधि को मुद्रा की अपेक्षा प्रतिभूतियों के रूप में रक्खा जाता है लागतें और जोखिम बने रहते हैं; और इस हेतु ऋणदाताओं को कुछ क्षतिपूर्ति चाहिए। (१) ऐसे बिल में, जिसकी अवधि इतनी कम है कि उसका पुनर्बट्टा कराने की संभावना नहीं होती, केवल यही कमी है कि विनियोग करने में लागत लगती है और इसलिए बिल पर चलने वाली व्याज की दर सीमान्त ऋणदाता के विनियोग

लागत के बराबर होगी। (२) अपेक्षाकृत अधिक अवधिवाले बिलों के लिए, पुनर्बट्टा कराने की संभावना को भी ध्यान में रखना पड़ेगा । इस पर जो ब्याज की दर होगी उसमें कुछ प्रतिफल उसको पुनर्बट्टा कराने की आवश्यकता आ पड़ने से संबंधित जोखिम का होगा। अर्थात् यह प्रतिफल उस कष्ट की क्षतिपूर्ति करेगा जो पुनर्बट्टा कराने की दशा में उठाना पड़ेगा। (३) इससे भी अधिक अवधि वाले बिलों के लिए, सामान्यतः दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के लिए और (कभी कभी) अल्पकालीन बिलों के लिए उस अतिरिक्त जोखिम का भी विचार करना होगा कि पुनर्बट्टा कराने की दशा में ऐसा पुनर्बट्टा घाटे पर कराना पड़ेगा। परन्तु यह अतिरिक्त जोखिम जो कि दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के संबंध में सदैव महत्वपूर्ण होता है अल्पकालीन प्रतिभूतियों के लिए तभी महत्वपूर्ण होता है जब पुनर्बट्टा कराने के कष्ट से संबंधित जोखिम स्वयं भी अधिक होता है; अतः अधिक तनाव की दशाओं में ही—बहुत कुछ संकट की दशाओं में ही—दूसरे प्रकार के अतिरिक्त जोखिम का प्रभाव ब्याज की अल्पकालीन दर पर पड़ता है।

(४) मुद्रा सहित हम जिन विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों पर विचार कर रहे हैं उनका उसी प्रकार का व्यवहार होता है जैसा प्रतिस्थापन वस्तुओं (यथा, भिन्न किस्म के गेहूं या चीनी) की श्रृंखला के मध्य होता है । मुद्रा स्वभावतः सबसे उच्च श्रेणीकी है और इसी कारण मुद्रा की अपेक्षा अन्य श्रेणियों पर बट्टा होता है।[2] क्योंकि मुद्रा और प्रतिभूतियां प्रतिस्थापन्न होती हैं, ब्याज की दरें सामान्यतया धनात्मक होती हैं; और इसी कारण (केवल उसी परिस्थिति को छोड़कर जब व्यतिक्रम का खतरा बहुत अधिक होता है) वे सामान्यतया बहुत कम होती हैं—प्रतिवर्ष केवल कुछ दशमलव प्रतिशत।

समाज की प्रारंभिक अवस्थाओं में सर्वोच्चकोटि की मुद्रा सामान्यतः किसी प्रकार की टिकाऊ भौतिक वस्तु होती है। जब तक यह परिस्थिति थी उस वस्तु की मुद्रा के रूप में मांग और उसकी टिकाऊ उपभोग वस्तु के रूप में मांग के बीच भेद करना सरल नहीं था—यह भी कहना सरल नहीं था कि मुद्रा के रूप में उसकी मांग का क्या अर्थ है। जब किसी प्रकार के मुद्रा भुगतान करने के वादे इस हद तक सामान्य स्वीकृत हो गए कि वे मूल मुद्रा के पूर्ण प्रतिस्थापन बन गए—और इस प्रकार मूल-मुद्रा के साथ सर्वोच्चकोटि में आ गए—यह स्पष्ट हो गया कि यथार्थ मौद्रिक मांग का स्वतंत्र अस्तित्व है। मुद्रा अपनी टिकाऊ उपभोग वस्तु वाली दशा से निकल कर शुद्ध मुद्रा के रूप में विकसित हो गई: अन्य शब्दों में यह सर्वाधिक परिपूर्ण प्रकार की प्रतिभूति ही है।

कम अवधिवाले बिल दूसरी श्रेणी में आते हैं : वे पूर्णतया मुद्रा नहीं हैं परन्तु तब भी उसके अतिनिकट प्रतिस्थापन्न हैं। वे कितने निकट हैं इसका ज्वलंत उदाहरण हम पा सकते हैं, यदि हम यह विचार करें कि (एक संगठित बाजार में) तीन मास की अवधिवाले अच्छे बिल के मौद्रिक मूल्य में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं और ऐसे परिवर्तनों की तुलना उन परिवर्तनों से करें जो किसी भौतिक वस्तु के भिन्न किस्मों के सापेक्ष मूल्यों में होते हैं। १०० पौंड वाले बिल की कीमत १०० पौंड होना एक असंभव ऊंची सीमा है और ९८ पौंड होना एक अति निचली सीमा; परन्तु दो भौतिक वस्तुओं का आपस में बहुत अच्छा प्रतिस्थापन्न समझते हैं, जब कि उनके सापेक्ष मूल्यों में इससे भी अधिक उतार चढ़ाव होता है ।

इससे भी निम्न श्रेणी में अपेक्षाकृत अधिक अवधिवाली प्रतिभूतियां आती हैं जो अपेक्षाकृत कम महत्व रखती हैं और––उनके मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों को देखते हुए वे—मुद्रा की और भी कम पूर्ण प्रतिस्थापन्न होती हैं। (अल्पकालीन प्रतिभूतियों पर वार्षिक व्याज के दर की अपेक्षा दीर्घकालीन प्रतिभूतियों पर, जो व्यतिक्रम के खतरे से मुक्त होती हैं, वार्षिक व्याज की दर में कम घटबढ़ हो सकती है; परन्तु दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के पूंजीगत मूल्यों में अधिक घटबढ़ होने की संभावना होती है।) तब भी मुद्रा और दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के मध्य प्रतिस्थापन होता है। इस प्रतिस्थापन के भिन्न रूपों को समझना उपयोगी होगा ।

प्रथम, उस सामान्य छोटे विनियोक्ता को लें जो दीर्घकालीन प्रतिभूतियों को इसलिए क्रय करता है कि उनसे प्राप्त होने वाले व्याज के बल पर अपना जीवन निर्वाह करे। वह ऐसा विनियोग कर सके इस हेतु उसे पहले एक सीमा तक मुद्रा संचय करना पड़ेगा क्योंकि विनियोग करने की लागत और कष्ट के कारण वह छोटी छोटी निधि का विनियोग नहीं करेगा। उसके दृष्टिकोण से विनियोग की लागत ही वास्तविक महत्व रखती हैं, स्यात् यही उस तिथि का मुख्य निर्धारक है जब वह अपनी मुद्रा से प्रतिभूतियां खरीदता है। इस प्रकार यहां बहुत अधिक प्रत्यक्ष प्रतिस्थापन नहीं हो सकता; व्याज की दर के परिवर्तन के कारण कभी कभी वह तिथि बदल सकती है जब विनियोक्ता प्रतिभूतियां क्रय करता है; परन्तु यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की सीमा को प्रभावित करने के लिए व्याज की दर में अधिक परिवर्तन होना पड़ेगा।

द्वितीय, हम उस विनियोक्ता को लें जो अधिक सट्टेबाज हो। यदि वह मुद्रा बाजार से इतना पर्याप्त संबंध नहीं रखता है कि सरलता से अल्पकालीन प्रतिभूतियों

तक उसकी पहुंच हो तो वह दीर्घकालीन प्रतिभूति बाजार को ही, अल्पकाल के लिए बेकार पड़ी निधि के कोष के काम में लाएगा। ऐसे वर्ग में वे सभी वैयक्तिक विनियोक्ता आते हैं जिन्हें अपनी प्रतिभूतियों के पूंजीगत मूल्यों की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है, क्योंकि वे उन्हें बेचकर सम्पत्ति (घर आदि) खरीदना चाहते हैं: और वे संस्थायें और कम्पनियां भी आती हैं जो अपनी निधि के एक अंश को प्रतिभूतियों में विनियुक्त करती हैं (आजकल ऐसी संस्थायें एक बहुत महत्वपूर्ण वर्ग की हैं) और अंत में संकुचित अर्थ में इस वर्ग में वे सट्टेबाज विनियोक्ता भी आते हैं जो सट्टे के आधार पर पूंजीगत लाभ प्राप्त करना चाहते हैं और जिन्हें फलस्वरूप पूंजीगत हानियों को भी उठाने के लिए तैयार रहना पड़ता है। इन सभी व्यक्तियों के लिए मुद्रा और प्रतिभूति का अंतर एक अति संवेदनशील अंतर होता है: वे पूंजीगत घाटे के महत्व के प्रति जितना अधिक चेतन होंगे उतनी ही सरलता से वे व्याज की दर के परिवर्तित होने पर प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय करेंगे।

तथापि इस दूसरे वर्ग के अधिकांश के लिए कम से कम एक प्रकार की अल्पकालीन प्रतिभूति उपलब्ध रहती है: वे अपनी निधि को किसी बैंक के जमाखाते में रख सकते हैं। इस प्रकार यह दूसरा वर्ग सूक्ष्म रूप में तीसरे वर्ग में बदल जाता है। स्वयं बैंक, वित्तगृह, सार्वजनिक संस्थायें, बड़े औद्योगिक और व्यापारिक फर्म, इन सबों के पास भिन्न-भिन्न अवधिवाली प्रतिभूतियों का एक पूरा समूह रहता है। इसलिए उनके द्वारा मुद्रा और दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के बीच किया जानेवाला प्रतिस्थापन मुख्यतः अपेक्षाकृत कम अवधिवाली प्रतिभूतियों और बिलों के माध्यम से होता है: यदि दीर्घकालीन ब्याज की दर इतनी कम है कि पूंजीगत घाटे के जोखिम को पूरा नहीं किया जा सकता है तो वे अल्पकालीन प्रतिभूतियां खरीदने लगते हैं। यदि अल्पकालीन दर अल्पकालीन प्रतिभूतियों में निहित जोखिम से संबंधित क्षतिपूर्ति से कम होती है तो वे नकद हाथ में रखते हैं, उन्हें ऐसा परिवर्तन करने के लिए अधिक प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। ये पेशेवर विनियोक्ता अपनी प्रतिभूतियों के सहारे छोटी छोटी व्याज दरों के छोटे छोटे अन्तरों पर अति निकट से ध्यान देते हैं जिनसे ब्याज निकाय के सर्वाधिक तर्क प्राप्त होते हैं (उसी तरह जिस तरह विदेशी विनिमय दरों के निकाय के तर्कों का उदय विदेशी विनिमय पत्रों के पेशेवर अन्तर्पणियों के कारण होता है)। यह मानना आवश्यक नहीं है कि छोटे विनियोक्ता को इस दिशा में अधिक करना पड़ता है। विशेषज्ञ यह काम स्वयं ही पर्याप्त रूप से कर सकते हैं।[3]

ब्याज दरों के निकाय की संपूर्ण कार्यप्रणाली प्रतिस्थापन के सामान्य नियम की

कार्यप्रणाली का एक उदाहरण है : यदि बाजार के एक महत्वपूर्ण अंग के लिए दो वस्तुएं आपस में निकट प्रतिस्थापन्न हैं तो वे संपूर्ण बाजार के लिए निकट प्रति-स्थापन की तरह कार्य करेंगी।

(५) इस अध्याय में मुद्रा की मांग के किसी पूर्ण सिद्धान्त की व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया गया है; व्याज की दरों के पूर्ण सिद्धान्त की बात तो और भी नहीं उठती। इस संबंध में अधिक विधिवत् व्याख्या चौथे भाग में की जायगी। परन्तु मुझे यह आभास होता था कि मुद्रा तथा व्याज के बीच संबंध का कुछ प्रारंभिक विहंगम अवलोकन कर लिया जाय और यहां पर उस दृष्टिकोण का कुछ प्रारंभिक संकेत कर दिया जाय जिससे हम मौद्रिक समस्याओं का अध्ययन करेंगे। यह तथ्य कि मुद्रा तथा प्रतिभूतियां निकट प्रतिस्थापन्न हैं प्रावेगिक अर्थशास्त्र के लिए नितान्त आधारभूत हैं; यदि हम शीघ्र से शीघ्र इसको न समझ लेते तो हमारा समय बेकार जाता।

हमारी बाद की खोजों में जिस वास्तविक मुद्रा की बात उठेगी उसका सबसे महत्वपूर्ण गुण इसी निकट प्रतिस्थापन्नता में बहुत कुछ निहित है। शेष अनुसंधान को विशेष हानि न होगी यदि हम मुद्रा के संबंध में उसी तरह सोचते रहें जैसा पिछले अध्यायों में सोचा है—एक आधारवस्तु के रूप में, ऐसी वस्तु जो मूल्य के मान के रूप में काम आने के लिए चुनी गई है। क्योंकि वास्तविक मुद्रा का एक गुण यह है कि उसका उपयोग मूल्य के मान के रूप में किया जाता है, पिछले अध्यायों में आधारवस्तु के संबंध में जो विभिन्न निष्कर्ष स्थापित किए गए हैं वे वास्तविक मुद्रा के संबंध में भी सत्य हैं; वे केवल मुद्रा के संबंध में ही सही नहीं हैं अपितु वे किसी अन्य वस्तु के संबंध में भी सही होंगे जिसे हम तर्क के लिए मूल्य का मान समझ लें। (यह इसी बात से स्पष्ट है कि हम सरलता से उस आधारवस्तु को बदल सकते हैं जिसे हमने चुना था।) वास्तविक मुद्रा मूल्य का मान होती है परन्तु उसमें अन्य गुण भी होते हैं—कुछ परिचित गुण 'विनिमय का माध्यम' और 'मूल्य का संचय' हैं। इन गुणों की ओर प्रस्तुत अध्याय में हमने पहली बार ध्यान दिया है। कीमत-निकाय के कार्यान्वीकरण हेतु इनका महत्व केवल इतना है कि उनसे पता चलता है कि मुद्रा और प्रतिभूतियों के मध्य क्यों इतना निकट प्रतिस्थापन संबंध है; अर्थात् वे व्याज—मौद्रिक व्याज के तत्व को समझाते हैं।

अध्याय १४

आय

(१) हम अपने ब्याज की विवेचना कर चुके और इस प्रकार हम वह सब कुछ भी कह चुके जो प्रावेगिक अर्थशास्त्र के मूलाधारों के संबंध में बताना अतिआवश्यक है। यदि हम चाहते तो प्रावेगिक पद्धति के व्यवहार की तुरन्त उसी प्रकार व्याख्या आरंभ कर देते जैसी हमने भाग दो में स्थैतिक पद्धति के व्यवहार की की थी। अन्त में हम ऐसा ही करेंगे किन्तु इस बीच पाठक एक शंका कर सकता है कि भूतकाल में प्रावेगिक सिद्धान्त के मूलाधारों के रूप में सामान्यतः कौन से विचार रक्खे गए थे। हमने इस संबंध में अभी तक कुछ नहीं बताया है। आय, बचत, घिसावट और विनियोग (और विनियोग महत्वपूर्ण है) के संबंध में कुछ नहीं कहा गया। यह वे शब्दावलियां हैं जिनको लेकर व्यक्ति सोचता है, वे यहां पर किस प्रकार फिट होती है?

पिछले पांच अध्यायों में मैं जानबूझकर इन विचारों से दूर रहा हूँ। मेरा ऐसा विश्वास है कि प्रचलित होते हुए भी वे किसी ऐसी विश्लेषण के लिए उपयुक्त उपकरण नहीं हैं जिसका ध्येय तर्कसंगत निश्चितता हो। ये विचार बहुत कुछ बहु-अर्थात्मक हैं और अत्यंत क्लिष्ट प्रयत्न करके भी इस दोष को दूर नहीं किया जा सकता। आधारतया वे किसी तर्कयुक्त वर्ग में नहीं आते, वे मोटे अनुमान हैं और व्यापारी ही अपनी परिस्थिति में होने वाले भ्रामक परिवर्तनों का सामना करने के लिए उन्हें काम में लाता है। ऐसे काम के लिए अति तर्क प्रधान विचारों की आवश्यकता नहीं पड़ती और यथार्थ में कुछ मोटे विचार ही श्रेयस्कर होते हैं। परन्तु जिस प्रकार की खोज हम यहां कर रहे हैं उसके लिए यदि हम उन विचारों या शब्दों को काम में लायें तो हम उनको ऐसे परिष्कारों से युक्त कर लेते हैं जिनको वह सहन न कर सकेंगे।

मेरा विचार है कि कोई भी व्यक्ति, जो आधुनिक काल के सैद्धान्तिक विवादों से

परिचित है, मेरे इस दृष्टिकोण पर आश्चर्य करेगा। हम कतिपय प्रख्यात विचारकों को जानते हैं जिन्होंने बचत और आय की भिन्न परिभाषायें, जो न आपस में ही पर्याप्त संगत थीं न पर्याप्त संतोषजनक, अपनाकर न केवल दूसरों को भ्रमित किया है वरन् स्वयं भी आपस में भ्रमजाल में पड़ गए। जब ऐसी बात होती है तब ऐसे भ्रम का सामान्यतया कोई कारण होता है। आगे बढ़ने से पहले इस कारण को समझ लेना आवश्यक है।

(२) यद्यपि अपने प्रावेगिक सिद्धान्त की व्याख्या में हमने अब तक आय शब्द का प्रयोग नहीं किया है, पाठक को यह ध्यान होगा कि स्थैतिक स्थिति की व्याख्या में हमें ऐसी कोई बाधा नहीं थी। उस दशा में आय संबंधी कठिनाई नहीं उठती है। किसी व्यक्ति की आय बिना शर्त उसकी प्राप्ति (श्रम की कमाई या जायदाद से लगान) के बराबर मानी जा सकती है। गड़े मुर्दे उखाड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रावेगिक अर्थशास्त्र के अंग अर्थात् स्थिर अवस्था के अर्थशास्त्र के संबंध में भी यही सत्य है परन्तु ऐसी स्थिति में (जैसी हम देख चुके हैं) कुछ सर्वाधिक महत्व-पूर्ण प्रावेगिक समस्यायें छूट जाती हैं। यदि कोई व्यक्ति आर्थिक दशाओं में किसी प्रकार के परिवर्तन की प्रत्याशा नहीं करता है, वरन् आय के एक स्थिर प्रवाह को प्राप्त करने की प्रत्याशा करता है (प्रत्येक भावी सप्ताह में वह उतना ही पाए जितना इस सप्ताह में) तो यह कहना तर्कयुक्त होगा कि यह प्राप्ति उसकी आय है। यदि वह भावी सप्ताहों में इस सप्ताह से कम निधि प्राप्ति की प्रत्याशा रखता है (यथा, इस सप्ताह की प्राप्ति में पिछले कई सप्ताहों के काम की मजदूरी और स्यात् हिस्सों पर मिला बोनस भी शामिल हो) तो हमको उसकी वर्तमान प्राप्ति के पूर्ण अंश को उसकी आय नहीं मानना चाहिए; उसका कुछ अंश पूंजीगत हिसाब के अंतर्गत गिना जायगा। इसी प्रकार यदि ऐसा हो कि वह प्रत्येक चौथे सप्ताह में मिलने वाले वेतन पर सम्पूर्णतया निर्भर है और यदि वर्तमान सप्ताह ऐसा था कि उसमें उसको वेतन नहीं दिया गया तो हमें इस सप्ताह की आय को शून्य नहीं मानना चाहिए। तब वह कितनी होगी? हम सामान्यतः आय के स्वरूप के बारे में स्पष्ट विचार के बिना इस प्रश्न का कोई सही उत्तर नहीं दे सकते।

व्यवहार में आय-अनुगणन का ध्येय यह है कि व्यक्तियों को उस निधि का संकेत मिल जाय जिसको वे उपभोग के लिए अपने को बिना निर्धन बनाए काम में ला सकते हों। इस विचार के अनुकूल चलने पर ऐसा प्रतीत होगा कि परिभाषा-स्वरूप मनुष्य की आय वह अधिकतम मूल्य होना चाहिए जिसका वह इस सप्ताह में उपभोग करे और तब भी सप्ताहांत में वह उतना ही सुखी रहने की प्रत्याशा

करे जितना कि वह आरंभ में था। अतः जब कोई व्यक्ति बचत करता है तो वह भविष्य में अधिक समृद्ध होने की योजना बनाता है ; और जब वह अपनी आय से अधिक खर्च करता है तो हम कह सकते हैं कि वह असमृद्ध होने की योजना बना रहा है। यह ध्यान रखते हुए कि आय का व्यावहारिक ध्येय बुद्धियुक्त आचरण हेतु मार्ग प्रदर्शन करना है, मेरी समझ में यह पर्याप्त स्पष्ट है कि यही इसका मुख्य अर्थ होना चाहिए।

तथापि व्यापारीगण और अर्थशास्त्री सामान्यतः इस मुख्यअर्थ को एक अथवा अन्य सन्निकटन अर्थ में ही प्रयुक्त करके संतुष्ट हो जाते हैं। आइए हम इनमें से कुछ सन्निकटन को देखें।

(३) पहिले सन्निकटन अर्थ के अन्तर्गत व्यक्ति की संभाव्य प्राप्तियों के पूंजीकृत मौद्रिक मूल्य पर सब कुछ निर्भर है। मान लीजिए कोई व्यक्ति पौंड 'म' का प्रतिभूतियों में विनियोग करता है और यह भी मान लीजिए कि इस प्रकार प्रति सप्ताह जो प्राप्तियां होती उन्हीं प्राप्तियों की वह व्यक्ति सप्ताह के प्रारंभ में प्रत्याशा करता है। अब यदि वह इस सप्ताह में कुछ व्यय न करे, प्राप्तियों का फिर से पुनः विनियोग कर दे और जो प्राप्तियां अभी नहीं मिली हैं उन्हें इकट्ठा होने दे तो वह यह प्रत्याशा कर सकता है कि सप्ताह के अंत में अब उसे जो प्राप्ति होगी उसमें पौंड 'म' पर एक सप्ताह के ब्याज बराबर वृद्धि हो जायगी। परन्तु यदि वह कुछ व्यय करता है तो सप्ताह के अंत की प्राप्ति का प्रत्याशित मूल्य उक्त निधि से कम होगा, व्यय की एक ऐसी राशि भी होगी जो उसके भावी आय के प्रत्याशित मूल्य को ठीक पौंड 'म' के बराबर छोड़ेगी। इस दृष्टिकोण से व्यय की यह राशि उसकी आय है।

यदि सभी प्राप्तियां केवल संपत्ति (यथा, प्रतिभूतियां, भूमि, गृह, आदि) से ही प्राप्त होती हैं तो स्पष्ट है कि उक्त परिभाषा बुद्धि संगत है। यदि सप्ताह के आरंभ में उस व्यक्ति के पास १०,०१० पौंड की संपत्ति है (और आय का अन्य कोई साधन नहीं है) और यदि ब्याज की दर १/१० प्रतिशत प्रति सप्ताह है तो साप्ताहिक आय १० पौंड होगी। और यदि १० पौंड व्यय किया जाय तो पुनः विनियोग करने के लिए १०००० पौंड बच रहेंगे और एक सप्ताह के बाद यह बढ़ कर पुनः १००१० पौंड अर्थात् प्रारंभ की निधि के बराबर हो जांयगे।

जहां कार्य से आय होती है उक्त परिभाषा स्पष्टतः कम समझ में आती है, परन्तु सामान्य व्यवहार से यह बहुत कुछ संगत है। क्योंकि अब गुलामों का बाजार तो है नहीं, अतः हम कार्य से प्राप्त होने वाली आय का पूंजीकरण करने के आदी नहीं हैं ; परन्तु जिस प्रकार के उदाहरण सामान्यतः आते हैं उनमें इसके कारण

कोई अंतर नहीं पड़ता है। कार्य से होने वाली प्राप्तिओं की घट-बढ़ की पहले से भविष्यवाणी करना साधारणतया सरल नहीं है; और कोई व्यक्ति जो प्राप्तियों के अपरिवर्ती प्रवाह की प्रत्याशा करता है (और व्याज की दरों में किसी परिवर्तन होने की प्रत्याशा नहीं करता है) उस अपरिवर्ती मात्रा को इस परिभाषा के अनुसार अपनी आय मानेगा। जहां घट-बढ़ का पूर्व अनुमान लगाया जा सकता है वहां लगभग सदैव वे समय के हिसाब से इतने पास होते हैं कि घट-बढ़ पर होने वाला ब्याज नगण्य होता है। ऐसे व्याज की उपेक्षा करने पर पूंजीकरण द्वारा गणित की क्रिया समयोपरान्त अंकगणितीय भाग देने की क्रिया मात्र रह जाती है। उदाहरण-स्वरूप चार सप्ताह वाले महीने के बीस पौंड की निधि प्रतिसप्ताह पांच पौंड की निधि के बराबर मानी जा सकती है।

तो पहले प्रकार की आय वह अधिकतम मात्रा हुई जो किसी अवधि में व्यय की जा सकती है यदि उसके साथ (मौद्रिक रूप में) संभाव्य प्राप्तियों का पूंजीकृत मूल्य अक्षुण्य बनाए रखने की प्रत्याशा बनी रहती है। स्यात् यह एक ऐसी परिभाषा है जिसे सबसे अधिक लोग निहित रूप में अपने निजी जीवन में काम में लाते हैं; परन्तु सभी परिस्थितियों के लिए यह हमारे मुख्य विचार का अच्छा सन्निकटन नहीं है।

(४) सोचिए कि यदि यह प्रत्याशा है कि ब्याज की दरें बदलेंगी तो क्या होगा। यदि किसी भावी सप्ताह में प्रत्याशित साप्ताहिक व्याज की दर वही नहीं है जो किसी अन्य भावी सप्ताह में प्रत्याशित हो तो मौद्रिक पूंजी की अपरिवर्तनीयता पर आधारित परिभाषा असंतोपजनक हो जाती है। (यदि हम अपना ऊपरवाला उदाहरण लें) मान लीजिए कि किसी सप्ताह में साप्ताहिक व्याज की दर १/१० प्रतिशत है और अगले सप्ताह इसके १/५ प्रतिशत होने की प्रत्याशा की जाती है और यह भी प्रत्याशा की जाती है कि यह ऊंची दर अनिश्चित समय तक के लिए चालू रहेगी। ऐसे स्थिति में वर्तमान सप्ताह में व्यक्ति १० पाउन्ड से अधिक व्यय नहीं करेगा यदि वह सप्ताह के अंत में १००१० पौंड की प्रत्याशा रखना चाहता है, परन्तु यदि दूसरे सप्ताह के अंत में भी वह इतनी ही निधि की इच्छा रखता है तो दूसरे सप्ताह में वह केवल १० नहीं अपितु लगभग २० पौंड व्यय कर सकेगा। इस प्रकार सप्ताह के प्रारंभ में उपलब्ध १००१० पौंड की निधि निम्नलिखित व्यय प्रवाह को संभव बनाती है

१० पौं०, २०पौं०, २० पौं०, २०पौं०, ...,

और यदि १००१० पौंड दूसरे सप्ताह के प्रारंभ में उपलब्ध हो तो व्यय का निम्नांकित प्रवाह संभव होगा

२०पौं, २० पौं, २०पौं, २०पौं,. . . ।
सामान्यतः यह कहना बुद्धिसंगत होगा कि इस दूसरी परिस्थिति वाला व्यक्ति पहली परिस्थिति पहली वाले से अच्छा है ।

यह बात हमको आय की दूसरी परिभाषा की ओर ले जाती है। अब हम आय को उस अधिकतम निधि के बराबर-परिभाषित करते हैं जो व्यक्ति इस सप्ताह व्यय करता है और उतना ही आने वाले प्रत्येक सप्ताह में व्यय करने की प्रत्याशा करता है। जब तक ब्याज की दर में किसी परिवर्तन की प्रत्याशा नहीं है इस दूसरी और पहली परिभाषा का एक ही अर्थ होता है; परन्तु जब ब्याज की दर में परिवर्तन की प्रत्याशा है तो वे दोनों समान नहीं रहतीं। तब आय की दूसरी परिभाषा, पहली परिभाषा की अपेक्षा हमारी प्रमुख कल्पना के अधिक निकट है ।

(५) यदि कीमतों में परिवर्तन होने की प्रत्याशा है तो क्या होगा ? इसके कारण परिभाषा में जो सुधार करना चाहिए वह स्वतः लगभग तुरंत ही स्पष्ट हो जाता है। तीसरी परिभाषा के अनुसार आय वह अधिकतम मौद्रिक निधि है जिसे व्यक्ति इस सप्ताह व्यय कर सकता है और जिससे आने वाले प्रत्येक सप्ताह में वास्तविक रूप में व्यय कर सकने की प्रत्याशा रख सकता है। यदि कीमतों के बढ़ने की प्रत्याशा है तो उस व्यक्ति को, जो प्रत्येक वर्तमान और प्रत्येक भावी सप्ताह में १० पौंड व्यय करने की योजना बनाता है, यह प्रत्याशा करना चाहिए कि सप्ताह के आरंभ की अपेक्षा सप्ताह के अंत में वह कम संपन्न होगा। प्रत्येक तिथि को वह यह आशा रख सकता है कि प्रत्येक भावी सप्ताह में उसे १० पौंड व्यय करने का अवसर प्राप्त होगा ; लेकिन प्रथम तिथि पर उसके १० पौंड की एक निधि एक ऐसे सप्ताह में व्यय होगी जिसमें कीमतें अपेक्षाकृत कम होंगी। अतः हम कह सकते हैं कि एक समय तो वह अनुकूल दशाओं में व्यय कर सकता है परन्तु दूसरे समय में यह स्थिति नहीं रहेगी ।

उदाहरण स्वरूप यदि इस सप्ताह उसकी आय १० पौंड हो जाय तो उसे तीसरी परिभाषा के अनुसार प्रत्येक भावी सप्ताह के व्यय के सम्बंध में यह प्रत्याशा करनी होगी कि वह १० पौंड नहीं वरन् उससे कम या अधिक निधि व्यय कर सकेगा— उस सीमा तक जिस सीमा तक प्रथम सप्ताह की अपेक्षा भावी सप्ताह विशेष में कीमतें बढ़ या घट गई हैं ।

इस प्रकार का कुछ सुधार स्पष्टतया वांछनीय है परन्तु 'वास्तविक पदों' में इसका क्या अर्थ है ? कीमतों का कौन सा देशनांक इस संबंध में उपयुक्त है? मेरा विश्वास है कि इस प्रश्न का कोई पूर्णतया संतोषजनक उत्तर नहीं है। जब कीमतों

के बदलने की प्रत्याशा है तब भी वास्तव में एक अति कष्टसाध्य कसौटी उपलब्ध है जिसके आधार पर यह जांचा जा सकता है कि किसी भी दिए हुए आयोजित व्ययों पर योजनाकार अपनी आय के अंदर रह रहा है या नहीं।[१] इस जांच के फलस्वरूप यदि यह पता चले कि व्यक्ति का व्यय उसकी आय के बराबर है तो अवश्य उसकी आय निश्चित की जा सकती है; परन्तु यदि ऐसा न हुआ तो उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह कहाँ तक अपनी आय के भीतर रह रहा है, और इसलिए उसकी आय का ठीक ठीक निर्धारण नहीं किया जा सकता है।

आय की तीसरी परिभाषा इस प्रकार अभी ही कुछ कुछ अनिधार्य हो उठतीहै; परन्तु हमारी कठिनाइयों का अभी अंत नहीं है। तीसरी परिभाषा भी आयकी हमारी कल्पना के मुख्य अर्थ के सन्निकटन ही है; यह मुख्य अर्थ नहीं है। एक बात अभी तक विचार में नहीं लाई गई है; ऐसा न करने के कारण यह तीसरी आय-परिभाषा भी अपूर्ण रह जाती है।

यह टिकाऊ उपभोग-मालों की बात है। वास्तव में 'बचत' आय और व्यय का अन्तर नहीं है: वह आय और उपभोग का अन्तर है। आय वह अधिकतम निधि नहीं है जिसे व्यक्ति व्यय कर सकता है जबकि वह यह प्रत्याशा करता है कि वह सप्ताह के अंत में उतना ही संपन्न होगा जितना आरंभ में; यह वह अधिकतम मात्रा है जिसका वह उपभोग कर सकता है। यदि उसके व्यय का एक अंश टिकाऊ उपभोग-मालों पर होता है तो इससे उसका व्यय उपभोग से अधिक हो जायगा; यदि उसके उपभोग में भूतकाल में खरीदे टिकाऊ उपभोग मालों का उपभोग सम्मिलित है तो उसका उपभोग व्यय से अधिक हो जायगा। यदि ये दोनों बातें बराबर पड़ें अर्थात् यदि नए टिकाऊ उपभोग-माल पुराने टिकाऊ उपभोग-मालों से संतुलित हो जायें तो हम उपभोग और व्यय को बराबर मान सकते हैं और पहले की भांति आगे बढ़ सकते हैं।

परन्तु यदि इनमें से ऐसा मेल न बैठ सके तो क्या किया जाय? और मुश्किल तो यह है कि यह हम कैसे कहेंगे कि उनमें मेल बैठ गया? यदि संबंधित मालों के लिए कोई पुरानी वस्तुओं की पूर्ण बाजार हो जिससे कि क्षति की हर विशिष्ट सीमा से संबंधित बाजार मूल्य ठीक ठीक अनुगणित किया जा सके तो उपभोग के कारण मूल्य-हानि का ठीक ठीक अनुगणन किया जा सकता है; परन्तु यदि ऐसा कुछ नहीं है तो मुख्य कल्पना पर लौट आने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। यदि व्यक्ति उपलब्ध टिकाऊ उपभोग-मालों के संग्रह का प्रयोग कर रहा है

और नए टिकाऊ उपभोग-मालों को प्राप्त नहीं कर रहा है तो वह सप्ताह के अंत में अपेक्षाकृत कम संपन्न होगा यदि वह तब उतने ही क्रय की योजना बना सके जितनी वह सप्ताह के आरंभ में बना सका था। यदि उसे अपनी आय के अंदर रहना है तो उसे ऐसे कदम उठाने पड़ेंगे कि वह सप्ताह के अंत में अधिक क्रय करने की योजना को कार्यान्वित कर सके; किन्तु कितना अधिक यह मात्र मुख्य कल्पना के आधार पर ही कहा जा सकता है।

(६) इस प्रकार हम बाध्य होकर मुख्य कल्पना पर लौट आते हैं, अर्थात् किसी व्यक्ति की आय वह है जिसका वह सप्ताह में उपभोग कर सकता है और तब भी यह प्रत्याशा रख सकता है कि सप्ताह के अंत में वह उतना ही संपन्न होगा जितना सप्ताह के आरंभ में। इस कसौटी से मिलते जुलते अर्थों पर विचार करने के फलस्वरूप हम यह जान गए कि यह कितनी जटिल है और सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह कितनी अनाकर्षक है। हम अब इस संदेह की ओर से मुंह मोड़ लें (भले ही वह अन्ततोगत्वा गवेषणा करने पर सही साबित हो) कि कहीं हम मृग-मरीचिका के फेर में तो नहीं पड़े थे।

सप्ताह के आरंभ में व्यक्तिविशेष के पास उपभोग मालों की एक मात्रा है और वह अन्य प्राप्तियों की प्रत्याशा रखता है जिनके माध्यम से उसे भविष्य में अन्य उपभोग-माल (टिकाऊ या नश्वर) प्राप्त हो सकेंगे। इसे पहली संभाव्य कहलें। सप्ताह के अंत में उसे पता चलता है कि उक्त संभाव्य का एक सप्ताह निकल गया। अब प्रत्याशित नये संभाव्य का, अपना नया पहला सप्ताह होगा जो कि पुराने संभाव्य का दूसरा सप्ताह होगा इत्यादि। इसको दूसरा संभाव्य कहलें। अब यदि पहले सोमवार को दूसरा संभाव्य ज्ञात होता तो व्यक्ति यह जान सकता था कि वह उस दिन पहले संभाव्य को वरीय समझता है या दूसरे को। इसी प्रकार यदि दूसरे सोमवार को पहला संभाव्य उपलब्ध होता तो व्यक्ति कह सकता था कि उस समय उसके लिए पहली संभाव्य वरीय है या दूसरी। परंतु यह पूछना कि पहले सोमवार का पहला संभाव्य श्रेयष्कर है अथवा दूसरे सोमवार का दूसरा संभाव्य मूर्खतापूर्ण है। उन दोनों के बीच कोई वरण करने की बात यथार्थ में नहीं उठ सकती। दोनों की तुलना करने का स्तर एक नहीं है।

निःसन्देह यह विचार अति बौद्धिक है तथापि इसका वैसा ही महत्व है जैसा हम उपयोगिता की अमापनीयता के संबंध में किसी पिछले अध्याय में व्यक्त कर चुके हैं।[२] आर्थिक सिद्धान्त में स्पष्ट निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए हमें ऐसी धारणाओं को लेकर चलना चाहिए जो व्यक्ति की केवल मनोवैज्ञानिक स्थिति संबंधी किसी

अस्पष्ट लक्षण पर नहीं वरन् उसकी अधिमानताओं के माप पर प्रत्यक्ष निर्भर हैं। उपयोगिता के विचार को छोड़कर हम अपने अर्थ-शास्त्रीय स्थिति विज्ञान संबंधी निष्कर्षों को अधिक स्पष्ट कर सके थे; और उसी कारण को लेकर यह अच्छा होगा कि अर्थशास्त्रीय प्रावेगिक विज्ञान में हम आय और बचत से बच कर चलें। वे अनुपयुक्त उपकरण हैं जो हमसे टूट जाते हैं।

(७) उपर्युक्त विचारों को एक और विचार से बल मिलता है। यह विचार तब उत्पन्न होता है जब वैयक्तिक आय जिससे हम अब तक संबद्ध थे से उठकर सामाजिक आय के विचार पर आते हैं। यदि हम वैयक्तिक आय के किसी सन्निकटन रूप (यथा, पहले प्रकार की आय जो अधिकांश समस्याओं के लिए पर्याप्त संतोषजनक है) से संतुष्ट हो जायं तब भी यह सत्य है कि आय एक आत्मगत धारणा है जो व्यक्ति विशेष की प्रत्याशाओं पर निर्भर है। जैसा हम देख चुके हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि भिन्न व्यक्तियों की प्रत्याशायें संगत होंगी। आर्थिक निकाय की असंस्थिति के मुख्य कारणों में से एक प्रत्याशाओं तथा योजनाओं के बीच संगतिहीनता का होना है।[3] यदि अ की आय अ की प्रत्याशाओं पर निर्भर है और ब की आय ब की प्रत्याशाओं पर और यदि ये प्रत्याशायें असंगत हैं (क्योंकि दोनों व्यक्ति किसी विशेष भावी तिथि पर एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतों की प्रत्याशा करते हैं अथवा क्योंकि वे ऐसी पूर्तियों और मांगों का नियोजन करते हैं जो बाजार में बराबर न हो सकें) तब उनकी आयों का योग कोई अर्थ नहीं रखता। उसका केवल इतना ही महत्व है कि वह अंकगणित के नियमों का पालन करता है।

यह निष्कर्ष अनिवार्य सा प्रतीत होता है, यद्यपि इससे स्थिति बिगड़ जाती है। वैयक्तिक आय संबंधी विचार के अंतिम अर्थ के संबंध में जो हमारे संदेह थे उससे भी कुछ अधिक गड़बड़ी स्यात् यहां उठती है। आधुनिक अर्थशास्त्र में सामाजिक आय का अत्यधिक महत्व है—न केवल प्रावेगिक व मौद्रिक सिद्धान्त के संबंध में (जिनको लेकर हम इस समय विचार कर रहे हैं) अपितु कल्याणकारी अर्थशास्त्र में भी—इतना अधिक महत्व, कि यह कल्पना करना कठिन है कि आय की धारणा के बिना हमारा काम चल जायगा। यह विश्वास करना कठिन है कि अर्थशास्त्री जिस सामाजिक आय को लेकर व्याख्यायें करते हैं वह स्यात् असंगत प्रत्याशाओं के मात्र योग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किन्तु यदि यह ऐसा नहीं है तो और क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमको वैयक्तिक आय के क्षेत्र में एक और भेद करना पड़ेगा। अब तक आय की सभी परिभाषायें जिनकी हमने व्याख्या की है

घटना-पूर्व की परिभाषायें हैं।[४] उन सब का संबंध उस मात्रा से है जो एक व्यक्ति सप्ताह भर में उपभोग कर सकता है और फिर भी पूर्व की भांति संपन्न बने रहने की प्रत्याशा कर सकता है। यहां इस प्रत्याशा के फलीभूत होने के संबंध में कुछ नहीं कहा गया है। यदि प्रत्याशा सही सही फलीभूत नहीं होती है तो सप्ताहांत में संभाव्य का मूल्य प्रत्याशित से कम या अधिक होगा अर्थात् उसे 'अप्रत्याशित' हानि या लाभ होगा।[५] यदि हम इस अप्रत्याशित लाभ को अपनी पूर्वोक्त आय की किसी परिभाषा में जोड़ दें (अथवा हानि हो तो घटा दें) तो परिभाषाओं का एक नया क्रम मिल जायगा। यह परिभाषायें अप्रत्याशित लाभयुक्त आय अथवा घटनोत्तर आय की होंगी। प्रत्येक घटना पूर्व आय की परिभाषा के अनुरूप आय की एक घटनोत्तर परिभाषा होगी ; परन्तु अधिकतर समस्याओं के लिए आय की पहली परिभाषा के अनुरूप परिभाषा ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। घटनोत्तर पहली आय वैयक्तिक उपभोग के मूल्य तथा सप्ताह में उपलब्ध संभाव्य के मौद्रिक मूल्य में होने वाली वृद्धि के योग के बराबर है ; यह उपयोग और पूंजी-संचय के योग के बराबर है।

इस अन्तिम विशिष्ट प्रकार की आय के अन्तर्गत एक अतिमहत्वपूर्ण विशेषता निहित है। जब तक हम केवल सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय का ही ध्यान रखते हैं और व्यक्ति की निजी अर्जन शक्ति के परिवर्तनों 'मानवीय पूंजी' में वृद्धि या ह्रास के कारण संभाव्यों के मूल्य में होने वाले घट-बढ़ का विचार छोड़ देते हैं तब तक घटनोत्तर पहली आय अन्य आयों की भांति आत्मगत विषय नहीं है ; यह लगभग पूर्णतया वस्तुगत है। सप्ताह के आरंभ में व्यक्ति की संपत्ति के पूंजीगत मूल्य को अनुगणित कर सकते हैं। ऐसा ही सप्ताह के अंत की संपत्ति के संबंध में भी अनुगणन किया जा सकता है। यदि हम यह मान लें कि उसके उपभोग का माप कर सकते हैं तो उसकी घटनोत्तर आय सीधे ही निकाली जा सकती है क्योंकि इस प्रकार व्यक्ति की घटनोत्तर आय एक वस्तुगत मात्रा हुई। समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों की घटनोत्तर आयों का योग बिना कठिनाई के किया जा सकता है। ऊपर हम व्यक्ति के संबंध में जो नियम बता चुके हैं कि घटनोत्तर पहली आय, उपभोग-पूंजी के बराबर होती है, वही नियम सारे समाज के लिए भी सही होगा।

यह अति सुविधाजनक गुण है। परन्तु इस कारण इसका अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त में विस्तृत उपयोग करना न्यायोचित नहीं है। अर्थशास्त्रीय तथा सांख्यिकीय इतिहासों में पूंजी-संचयन के घटनोत्तर अनुगणन का अपना स्थान है। वह आर्थिक प्रगति का एक उपयोगी मापदण्ड है। परन्तु इससे उस सैद्धान्तिक अर्थशास्त्री को कोई लाभ नहीं होता जो यह पता लगाने की चेष्टा करता है कि आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार

क्रियाशील होती है क्योंकि व्यवहार के लिए ऐसे अनुगणन का कोई महत्व नहीं होता है। किसी सप्ताह की घटनोत्तर आय सप्ताह के अंत के पहले अनुगणित नहीं की जा सकती है और तब यह प्रश्न उठता है कि तत्कालीन कीमतों की उन कीमतों से कैसे तुलना की जाय तो सर्वथा भूतकालीन हैं। 'भूतकाल को भूतकाल ही रहने दिया जाय' इस सामान्य सिद्धान्त के अनुसार ऐसा भूतकालीन अनुगणन वर्तमान निर्णयों के साथ समीचीन नहीं है। व्यवहार से समीचीन आय में से अप्रत्याशित लाभ को सदैव अलग रखना चाहिए ; यदि ऐसे लाभ होते हैं तो यह सोचना चाहिए कि उनके कारण (उन पर प्राप्त होने वाले व्याज की मात्रा के बराबर) भविष्य के सप्ताहों में आय बढ़ जायगी ; न कि यह कि वर्तमान सप्ताह की आय में वृद्धि हो गई। सिद्धान्त में घटनोत्तर आय और घटनापूर्व आय संबंधित भ्रम उसी प्रकार का है जैसे व्यवहार में आय और पूंजी संबंधी भ्रम।

ऐसा निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि सामाजिक आय के सांख्यिकीय अनुगणन करने की चेष्टा करने वाला व्यक्ति दुविधावद्ध होता है। जिस आय को वह अनुगणित करता है वह खोजी जाने वाली सत्य आय नहीं है। जिस आय को वह खोजता है उसका अनुगणन नहीं किया जा सकता : इस दुविधा से निकलने के लिए एक ही रास्ता है और उसे ही व्यवहार में पकड़ा जा सकता है। वह रास्ता यह है कि हम घटनोत्तर सामाजिक आय को लेकर चलें और किसी ढंग से जो संभव या युक्तियुक्त हो, उसमें उन पूंजीगत मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों के लिए समायोजन करें जो अप्रत्याशित स्वरूप वाले प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के अनुमान के ढंग सामान्य सांख्यिकीय ढंग हैं और अपने में ये पूर्णतया न्याययुक्त हैं। परन्तु इससे केवल सांख्यिकीय अनुमान प्राप्त हो सकता है। इसकी अपनी रचना के कारण यह किसी आर्थिक परिमाण का माप नहीं है।[६]

कल्याणकारी अर्थशास्त्र के संबंध में साधारणतया हम वास्तविक सामाजिक आय मापना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे अनुमान को उसी अर्थ में तीसरे प्रकार की आय के बराबर होना पड़ेगा जिस अर्थ में।[७] वाले उपर्युक्त अनुमान को पहली प्रकार की आय के बराबर दिया है। परन्तु यहां एक अतिरिक्त कठिनाई यह है कि तीसरी प्रकार की आय का घटनोत्तर मान भी वस्तुगत नहीं हो सकता क्योंकि तीसरे प्रकार की आय सदैव उपभोग-मालों की प्रत्याशित कीमतों पर निर्भर होती है। लेकिन तब भी कुछ उसी प्रकार की रचना संभव है। पूंजीगत मूल्यों को अनुगणित करते समय कीमतों के परिवर्तन का ध्यान किसी न किसी प्रकार छोड़ा जा सकता है ; सैद्धान्तिक रूप से एक सबसे अच्छा ढंग यह होगा कि सप्ताह के अंत

के वास्तविक पूंजीगत मालों को लें और उनका मूल्यांकन उन कीमतों पर करें जो सदृश वस्तुओं की सप्ताह के आरंभ में होती हैं। इस कसौटी पर कसा पूंजी का संचयन वास्तविक संचयन होगा। इसमें सप्ताह में किए उपभोग की मात्रा जोड़ देने पर हमको कम से कम एक अर्थ में घटनोत्तर वास्तविक आय ज्ञात हो जायगी। तत्पश्चात् इसमें अप्रत्याशित लाभ संबंधी सुधार कर लेने पर हमको वास्तविक सामाजिक आय का एक उपयोगी माप मिल जायगा।[७] परन्तु यह ठीक उसी प्रकार का अनुमान हुआ जैसा सामाजिक मौद्रिक आय की माप।

आशा है कि इस अध्याय से यह स्पष्ट हो गया होगा कि किस प्रकार वैयक्तिक आय संबंधी अनुगणन का व्यक्ति के आर्थिक व्यवहार पर महत्वपूर्ण प्रभाव संभव है; किस प्रकार सामाजिक आय के अनुगणन सामाजिक सांख्यिकी तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रख सकते हैं; और किस प्रकार तब भी आय का विचार ऐसा महत्व रखता है कि उसे सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र अपने तर्कों में लाकर केवल खतरा मोल लेता है। अर्थशास्त्री के लिए आय एक बहुत खतरनाक पारिभाषिक शब्द है और इससे बचा जा सकता है। जैसा हम आगे देखेंगे इसका प्रयोग किए बिना ही हम प्रावेगिक अर्थशास्त्र से संबंधित पूरा सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित कर सकते हैं। या यों कहें कि अपनी खोज के अन्तिम चरण में इसका उपयोग करना केवल उस समय आवश्यक होगा जब हम 'व्यक्ति को अपनी आय के अन्दर ही रहना चाहिए' इस व्यावहारिक उपदेश का आर्थिक विकास पर प्रभाव की परीक्षा करेंगे।[८] परन्तु ऐसी खोज के लिए आय की सही परिभाषा आवश्यक नहीं है; मोटे व्यावहारिक नियम के लिए कुछ मोटी सी परिभाषा पर्याप्त होगी।

अध्याय १४ की टिप्पणियाँ

आय के सिद्धान्त से संबंधित दो बातों की इस पुस्तक में व्याख्या की जानी चाहिए, यद्यपि पूर्व उल्लिखित कारणों से मैं उनको लेकर किसी जटिल व्याख्या में फंसना नहीं चाहता हूँ। पहला प्रश्न बचत और विनियोग के संबंध का है। पाठक यह अपेक्षा कर सकता है कि उस विवादग्रस्त विषय पर कुछ राय प्रकट की जाय। दूसरा प्रश्न ब्याज के परिवर्तनों का घिसावट के अनुगणन पर पड़ने वाले प्रभाव से संबंधित है। यह दूसरा प्रश्न कुछ निजी महत्व भी रखता है और इस ओर ध्यान देने पर यह लाभ भी होगा कि दो एक ऐसे विचार मिल जायंगे जिन्हें ध्यान में रखना बाद में एक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होगा।

अ—बचत और विनियोग।

बचत और विनियोग के संबंध में मुख्य कठिनाई इस बात से उठती है कि उनकी परिभाषायें कई प्रकार से दी जा सकती हैं। बहुत सी उलझी हुई और कम प्रचलित परिभाषाओं को छोड़ दें तब भी इतना तो है ही कि पिछले अध्याय में दी हुई आय की प्रत्येक परिभाषा के समानान्तर बचत की एक परिभाषा है। बचत की परिभाषा भी घटनापूर्व की या घटनोत्तर हो सकती है; यह परिभाषा पहली दूसरी और तीसरी प्रकार की आय की परिभाषा के अनुरूप हो सकती है। और बचत की प्रत्येक परिभाषा के अनुरूप विनियोग की एक परिभाषा होगी। इनके कारण हमारी व्याख्या के तर्क कई प्रकार से उलझ सकते हैं।

इन विभिन्न परिभाषाओं को खुलकर समझ लें तो यह कहना आसान होगा कि सामान्यतः यह प्रत्याशा करना तर्क युक्त नहीं है कि आय की किसी एक परिभाषा से संबंधित बचत का आय की किसी दूसरी परिभाषा से संबंधित विनियोग से कोई महत्वपूर्ण संबंध होगा। आय की भिन्न भिन्न परिभाषायें भिन्न स्तर पर हैं और उनमें भिन्न चीजों का समावेश है। अध्ययन की दृष्टि से आय की केवल एक ही परिभाषा से संबंधित बचत और विनियोग का अध्ययन करना उपयुक्त है।

उपर्युक्त स्पष्टीकरण के कारण बहुत सी संभव समस्यायें साफ हो जाती हैं

परन्तु तब भी काफी समस्यायें बच रहती है। हमको अब भी यह निश्चय करना होगा कि हम पहली प्रकार की आय को लेकर चलें अथवा दूसरी या तीसरी को और घटना पूर्व की आय को लेकर चलें या घटनोत्तर आय को। मेरी समझ में पहले प्रश्न का निर्णय बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, हम आय के विचार से मिलते जुलते किसी भी माप को लेकर व्याख्या आरंभ कर सकते हैं और हम देखेंगे कि निष्कर्ष लगभग एक से निकलते हैं। परन्तु घटना-पूर्व और घटनोत्तर का भेद निःसन्देह अति महत्वपूर्ण है।

संक्षेप में मैं केवल बचत और विनियोग की उन परिभाषाओं को लूंगा जो पहली प्रकार की आय के अनुरूप हैं। यदि मैं तीसरे प्रकार की आय को लेकर चलता तब भी तर्क वैसे ही होते परन्तु मैं सोचता हूँ कि इस बात की परीक्षा करना पाठक के लिए छोड़ दूं। पहली प्रकार की आय को लेकर हम किसी व्यक्ति की (घटनापूर्व की) बचत को सप्ताहगत यथार्थ उपभोग और उस उपभोग-स्तर का अंतर बता सकते हैं जिसको करने से किसी व्यक्ति के संभाव्य का प्रत्याशित मौद्रिक मूल्य सप्ताहांत में वही होगा जो सप्ताह के आरंभ में था। यदि सप्ताह को इतना छोटा मान लें कि सप्ताह में प्राप्त होने वाले ब्याज को छोड़ा जा सके तो हम कह सकते हैं कि सप्ताहगत नियोजित संभाव्य के मौद्रिक मूल्य में वृद्धि ही उसकी बचत है। इससे आगे यदि हम व्यक्ति की निजी अर्जन शक्ति में होने वाले परिवर्तन के कारण संभावी उसकी प्रत्याशाओं में परिवर्तन का ध्यान छोड़ दें तो उसकी बचत उसकी सम्पत्ति के मूल्य की नियोजित वृद्धि के बराबर भी लिखी जा सकती है। यह सब घटना-पूर्व की बचत है। घटनोत्तर बचत तो उसकी सम्पत्ति के मूल्य में हुई प्राप्त वृद्धि होगी।

समाज के सभी सदस्यों की घटनोत्तर बचत को जोड़ा जा सकता है। यह कुल योग सभी व्यक्तियों की संपत्ति के मौद्रिक मूल्य में होने वाली सप्ताह में प्राप्त कुल वृद्धि के बराबर होगा। संपत्ति तीन प्रकार की होती है—भौतिक वस्तु (वास्तविक पूंजी) या प्रतिभूतियां या मुद्रा। परन्तु जैसा हम देख चुके हैं मुद्रा या तो भौतिक वस्तु है (यथा, स्वर्ण) अथवा प्रतिभूति (यथा, नोट या बैंक जमा)। इस प्रकार हमारे तीन वर्ग घटकर दो रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिभूतियां भी एक व्यक्ति या संस्था से दूसरे व्यक्ति या संस्था को दिए हुए किसी न किसी प्रकार के ऋण मात्र हैं। और इसलिए जब सभी संपत्ति का योग किया जाता है तो प्रतिभूतियों का योग शून्य हो जायगा। इस प्रकार घटनोत्तर कुल बचत भौतिक पूंजी के मूल्य में वृद्धि मात्र है। और यही विनियोग (निःसन्देह घटनोत्तर विनियोग) का अर्थ प्रतीत होता है।

इस प्रकार सारे समाज के लिए घटनोत्तर बचत और घटनोत्तर विनियोग अनिवार्यतः बराबर हो जाते हैं। परन्तु ऐसी समता स्वयंसिद्ध सत्यता मात्र है। इससे केवल यह तथ्य स्पष्ट होता है कि अर्थव्यवस्था के सभी पूंजीगत माल किसी न किसी के स्वामित्व में होते हैं और यह विचार कोई बहुत बड़ा सैद्धान्तिक महत्व नहीं रखता।

घटना-पूर्व की बचत और घटना-पूर्व के विनियोग का संबंध अधिक रोचक है। सादृश्य के हिसाब से घटना-पूर्व का विनियोग वास्तविक पूंजी के (उत्पादक माल तथा टिकाऊ उपभोग-माल दोनों को लेकर) मूल्य की आयोजित वृद्धि के बराबर होना चाहिए। इस परिभाषा को लेकर चलें तो कोई व्यक्ति (या संस्था) किसी सप्ताह में आयोजित विनियोग से अधिक बचत का आयोजन तभी कर सकता है यदि वह उस सप्ताह अभौतिक प्रकार की (यथा, प्रतिभूतियां) संपत्ति प्राप्त करने की योजना बनाए। इसी प्रकार यदि वह अपनी प्रतिभूतियों की मात्रा कम करने की इच्छा रखता है तो वह आयोजित बचत से अधिक विनियोग करने की योजना बना सकता है। इस प्रकार आयोजित बचत और आयोजित विनियोग का अंतर प्रतिभूतियों की (मुद्रा को भी लेकर) आयोजित पूर्ति और आयोजित मांग के अंतर के बराबर है।

याद रहे कि जिस मॉडल को लेकर हम व्याख्या कर रहे हैं उसकी विशेष मान्यताओं में 'सप्ताह' अस्थायी संस्थिति की एक ऐसी अवधि है कि उसमें सभी मांग और उनके अनुरूप पूर्तियां बराबर होती हैं। ये नियम प्रतिभूतियों की मांग और पूर्ति पर भी लागू हैं। प्रतिभूतियों की आयोजित मांगें और पूर्तियां बाजारों में सोमवार को ही तत्काल वास्तविक बनी मान ली जाती हैं। इसलिए सारे समाज के लिए वे अनिवार्यतः बराबर हैं। अतएव सप्ताह में न केवल घटनोत्तर बचत घटनोत्तर विनियोग के बराबर है वरन् घटना-पूर्व की बचत घटना-पूर्व के विनियोग के बराबर है।[९]

घटनापूर्व की मात्राओं की यह उक्त समता घटनोत्तर मात्राओं की समता के समान स्वयंसिद्धसत्यता मात्र नहीं है। यह प्रतिभूतियों की मांग और पूर्ति के समीकरण का बोध कराती है और जैसा हम देख चुके हैं यह उन समीकरणों के निकाय का अंग है जो कीमत निकाय को निर्धारित करता है। मेरी समझ में यह आवश्यक नहीं है कि हम इस बचत विनियोग समीकरण का ब्याज की दर से कोई संबंध जोड़ें। जैसा हम देख चुके हैं[१०] एक अर्थ में ब्याज की दर मुद्रा को छोड़कर प्रतिभूतियों की पूर्ति और मांग के समीकरण के द्वारा निर्धारित होती है; परन्तु प्रस्तुत समी-

करण ऐसा है कि उसमें मुद्रा भी शामिल है और इसलिए उसका ब्याज की दर से कोई विशेष लगाव नहीं है क्योंकि मुद्रायुक्त प्रतिभूतियों के मांग और पूर्ति के समीकरण का अर्थ वही है जो सामान्यतः वास्तविक मालों (उत्पादक-माल+उपभोग-माल+उत्पादन कारक) की मांग और पूर्ति के समीकरण का है।[11] यदि हम बचत-विनियोग समीकरण को कीमत निकाय के किसी विशेष पहलू या अंग के निर्धारण से संबंधित करना ही चाहें तो सामान्य कीमत स्तर को चुनना चाहिए। तथापि जब हम यह याद करते हैं कि पूरा निकाय किस प्रकार परस्पर संबंधित है तब इस प्रकार विशेष समीकरण को विशेष कीमतों से संबंधित करना एक प्रकार से व्यर्थ प्रयास है।

इस प्रकार सप्ताह में घटनापूर्व की बचत घटनापूर्व के विनियोग के बराबर होती है; परन्तु याद रहे कि यह केवल सप्ताह की विशेषता है, किसी अन्य लम्बी अवधि की नहीं। हम कोई भी अवधि लें घटनोत्तर मात्रायें बराबर होंगी परन्तु घटना-पूर्व की मात्रायें केवल तभी बराबर होंगी जब योजनायें संगत हों। अतः घटना-पूर्व की बचत और घटना-पूर्व के विनियोग की समता समयोपरि संस्थिति की एक शर्त है। असंस्थिति की दशा में यह पूर्णतया संभव है कि यदि हम एक सप्ताह से अधिक लम्बी अवधि को लेकर विचार करें तो आयोजित बचत आयोजित विनियोग से अधिक होगी। और ऐसी असमता के कारण ही असंस्थिति प्रकट होती है। यदि योजना को बिना किसी समायोजन के कार्यान्वित किया जाता रहे तो वस्तुओं की पूर्तियां मांग से अधिक होने लगेंगी और (जहां तक हम वर्तमान दृष्टि से देख सकते हैं) कीमतों की प्रवृत्ति गिरने की होगी। इसी प्रकार यदि आयोजित विनियोग आयोजित बचत से अधिक होगा तो कीमतों के बढ़ने की प्रवृत्ति होगी।

यह कैसी धोखेवाली परिस्थिति है। केन्स ने अपने 'ट्रीटीज ऑन मॅनी' में कहा है कि बचत और विनियोग केवल संस्थिति की दशा में बराबर होते हैं और बचत से विनियोग अधिक होने पर कीमतें बढ़ती हैं तथा इसके विपरीत कीमतें घटती हैं। अपनी 'जेनरल थिअॅरी' में उन्होंने बताया है कि बचत और विनियोग सदैव बराबर होते हैं और यह समता स्वयंसिद्ध सत्यता मात्र है जिसका कीमत निर्धारण के लिए कोई महत्व नहीं है। जहां तक मैं समझ पाया हूं ऐसे समीचीन तथा महत्वपूर्ण आशय हैं जिनमें उपरोक्त चारों कथनों में से प्रत्येक सही भी होता है और गलत भी।

ब—ब्याज, और आय की अनुगणना।

(१) हम आय शब्द के तीनों सन्निकट मानों में से चाहे जिस को प्रयोग में लें, आय अनुगणन हेतु हम मूल्यों के ऐसे प्रमाणित प्रवाह को ज्ञात करेंगे जिसका वर्तमान

पूंजीकृत मूल्य पदार्थ में प्रत्याशित उपलब्धियों के प्रवाह के वर्तमान मूल्य के बराबर है। इस प्रवाह को इस आशय में 'प्रमाणित' कहेंगे कि इसमें एक प्रकार की स्थिरता रहती है जबकि वास्तव में प्रत्याशित प्राप्ति-प्रवाह, जो किसी भी प्रकार बदल सकता है, ऐसा नहीं है। किन्तु तीनों सन्निकटनों की स्थिरता भिन्न है। दूसरी प्रकार की आय के अनुरूप प्रमाणित प्रवाह गणितीय रूप में स्थिर प्रवाह है क्योंकि इससे प्रत्येक आने वाले सप्ताह के लिए बिलकुल समान मौद्रिक मूल्य आकलित होते हैं। तीसरी प्रकार की आय के अनुरूप प्रमाणित प्रवाह वास्तविक पदों में स्थिर है : अतः जिस अनुपात में कीमत-स्तर परिवर्तित होगा उसी में प्रत्येक सप्ताह का मौद्रिक मूल्य भी बदलेगा। यदि ब्याज की दर के स्थायी होने की प्रत्याशा न हो तो प्रथम प्रकार की आय के अनुरूप प्रमाणित प्रवाह के मौद्रिक मूल्य में भी परिवर्तन होंगे : इसका अनुगणन इस प्रकार होगा कि प्रत्येक भावी सप्ताह में (प्रमाणित प्रवाह में) भावी मूल्यों का पूंजीकृत मौद्रिक मूल्य समान रहे।

किन्तु प्रत्येक दशा में हम मोटे तौर पर एक ही बात करते हैं। हम वास्तव में प्रत्याशित प्रवाह के स्थान पर किसी ऐसे प्रमाणित प्रवाह को प्रतिस्थापित करते हैं जिसके समय पर्यंत वितरण का कोई निश्चित प्रमाणित स्वरूप हो। हम यह नहीं ज्ञात करते कि कोई व्यक्ति चालू सप्ताह में यथार्थ में क्या पाता है परन्तु यह कि यदि उसको वास्तव में प्रत्याशित प्राप्तियों के वर्तमान मूल्य के समान मूल्य रखने वाला प्रमाणित प्रवाह प्राप्ति होता तो उसकी प्राप्ति क्या होती यदि वही प्राप्ति उसकी आय है।

यदि किन्हीं भावी प्राप्तियों की उसकी प्रत्याशा बढ़ती है तो उसकी भावी प्राप्तियों के वर्तमान मूल्य वढ़ जायेंगे और वह पुराने प्रमाणित प्रवाह के वर्तमान मूल्य से अधिक होगा। समता बनाए रखने के लिए प्रमाणित प्रवाह को इस प्रकार सब जगह बढ़ाना पड़ेगा कि उसका स्वरूप बना रहे। इस प्रकार आय बढ़ जायगी।

जब ब्याज की दरें बदलती हैं तब स्थिति अधिक जटिल होती है। अब न केवल वास्तव में प्रत्याशित प्राप्ति-प्रवाह का वर्तमान मूल्य बढ़ जायगा वरन् पुराने प्रमाणित प्रवाह का वर्तमान मूल्य भी बदल जायगा। आय पर पड़ने वाले प्रभाव को ज्ञात करने के लिए हमको अब यह पता लगाना पड़ेगा कि दोनों में से कौन सा वर्तमान मूल्य अधिक प्रभावित होता है। यदि ब्याज-दरों के घटने से प्रमाणित प्रवाह के वर्तमान मूल्य की अपेक्षा वास्तविक प्रत्याशित उपलब्धियों के वर्तमान मूल्य में अधिक वृद्धि होती है तो इससे आय बढ़ेगी। ब्याज-दर की वृद्धि आय को बढ़ा देगी, यदि इससे वास्तविक प्रत्याशित प्रवाह के वर्तमान मूल्य की अपेक्षा प्रमाणित प्रवाह

के वर्तमान मूल्य में अधिक कमी आती है।

यदि हम अपना ध्यान केवल उन उदाहरणों तक रखें जिनमें सभी अवधियों के लिए ब्याज की दर समान होती है (और यह एक ऐसा सरलीकरण है जो आय-अनुगणन के लिए बहुधा या यहां तक कि सामान्यतः उचित है) उक्त संबंध का रेखाचित्रों द्वारा अध्ययन किया जा सकता है।

(२) मूल्यों के किसी भी प्रवाह का एक पूंजीकृत मूल्य होता है जिसे अब ब्याज की दर का फलन मान सकते हैं और तब इस फलन को वक्र के रूप में चित्रित कर सकते हैं। जैसा कि हम देखेंगे कि प्रथम दृष्टि में चित्रण का जो ढंग सर्वाधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है उससे कुछ भिन्न ढंग अपनाना सर्वाधिक सुविधाजनक है। हम पूंजीकृत मूल्यों को अनुभौमिक अक्ष पर मापेंगे[१२] और शीर्ष अक्ष पर ब्याज की दर को नहीं वरन् अपहरण अनुपात को मापेंगे : इसका अर्थ है वह अनुपात जिसमें मुद्रानिधि को घटा देना पड़ता है यदि उसको एक सप्ताह के लिए अपहरित करते हैं। (यदि प्रतिसप्ताह ब्याज की दर 'इ' हो तो अपहरण अनुपात (व) बराबर होगा $\frac{१}{१+इ}$ ।

दिए हुए प्रत्याशित प्राप्तियों के प्रवाह के अनुरूप हमारे पास एक पूंजी-मूल्य-वक्र ई ई है जिसका ढलान आरोही होगा क्योंकि अपहरण अनुपात में वृद्धि (अर्थात् ब्याज की दर में ह्रास) होने से पूंजीकृत मूल्य बढ़ता है। प्रत्येक विशिष्ट आय स्तर के अनुरूप (आय की उस परिभाषा के अनुसार जिसका हम प्रयोग कर रहे हैं) एक पूंजी-मूल्य वक्र होता है (रेखाचित्र में बिन्दुओं द्वारा निर्मित) जो विभिन्न अपहरण-अनुपातों पर उस विशिष्ट आय-स्तर से संबंधित प्रमाणित प्रवाह के वर्तमान मूल्य को दर्शाता है। इस तरह का वक्र आय के किसी भी स्तर के लिए खींचा जा सकता है। यदि अपहरण अनुपात 'ओ ह' है तो संभावी प्राप्तियों का वर्तमान मूल्य 'ह ऊ' है और आय स्तर वह है जो अ बिन्दु से गुजरने वाला बिन्दु युत वक्र स स द्वारा प्रदर्शित है।

यदि अपहरण-अनुपात बढ़ता है, ई ई के साथ साथ 'अ' बिन्दु दाहिने तरफ बढ़ेगा ; और रेखा चित्र से यह स्पष्ट है कि इसका अर्थ होगा एक अधिक-आय-संबंधित अन्य बिन्दु युत वक्र पर पहुंचना यदि, जैसा कि हमने उन्हें खींचा है, स स का ढाल ई ई की अपेक्षा अधिक प्रवण है—अथवा, अन्य शब्दों में यदि वक्र स स वक्र ई ई की अपेक्षा कम लोचदार है। इस प्रकार ई ई और स स वक्रों की सापेक्ष लोचों पर सब कुछ निर्भर करता है।

चित्र—२३
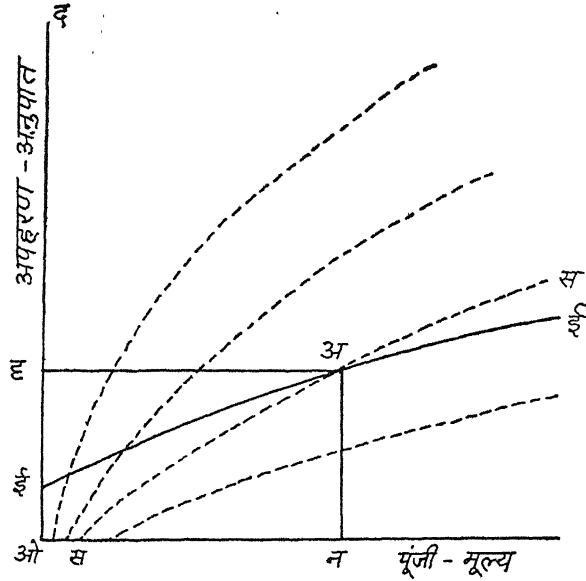
भुगतानों के एक प्रवाह ($क_0, क_1, क_2, \ldots क_व$) का पूंजी कृत मूल्य $क_0 + ब\,क_1 + ब^2 क_2 + \ldots + ब^व क_व$ है। ब अपहरण-अनुपात है, इससे संबंधित पूंजी मूल्य की लोच है—

$$\frac{ब\,क_1 + २ब^2 क_2 + ३\,ब^3 क_3 + \ldots + व\,ब^व\,क_व}{क_0 + ब\,क_1 + ब^2 क_2 + ब^3 क_3 + \ldots ब^व\,क_व}$$

(क्योंकि एक योग की लोच इसके हिस्सों की लोचों का औसत है)। जब हम इस लोच के स्वरूप की ओर ध्यान देते हैं तो हमको पता चलता है कि इसे प्रवाह की औसत अवधि कहना, बहुत उचित होगा; क्योंकि यह उस समय की औसत अवधि है जिससे विभिन्न भुगतानों को वर्तमान में होने से टाल दिया गया है : यह एक भारित औसत है जिसमें टालने के समय को भुगतानों के अपहरित मूल्यों से भारित किया गया है। (संभव है कि पाठक के मस्तिष्क में औसत-अवधि का भिन्न अर्थ हो अतएव स्यात् वह "औसत अवधि" का इस संख्या के लिए प्रयोग के कारण मेरे

प्रति रुष्ट हों । तथापि बाद में मैं यह प्रदर्शित करने की आशा करता हूँ कि मैं इसका जो अर्थ लगा रहा हूँ वह परम्परागत अर्थ का संतोषजनक प्रसरित रूप है।)[13]

इस सबसे तुरंत यह समझ में आता है कि यदि प्राप्तियों के प्रवाह की औसत अवधि प्रमाणित प्रवाह की औसत अवधि से जिसके साथ हम इसकी तुलना कर रहे हैं, अधिक है तो ब्याज की दर में ह्रास होने पर प्रमाणित प्रवाह के पूंजीकृत मूल्य की अपेक्षा प्राप्ति प्रवाह के पूंजी कृत मूल्य में अधिक वृद्धि होगी और इसलिए आय बढ़ेगी । किन्तु यदि प्राप्तियों के प्रवाह की औसत अवधि प्रमाणित प्रवाह की औसत अवधि की अपेक्षा कम है तो केवल ब्याज की दर की वृद्धि होने पर आय बढ़ेगी ।

(३) औसत अवधियों पर आधारित यह परीक्षण गणित की दृष्टि से काफ़ी सही है किन्तु जिस साधारण बुद्धि वाले परीक्षण को हम सामान्यतया काम में लायेंगे उससे यह अजीब भिन्नता रखता है । यदि किसी क्षत होने वाली सामग्री से जो कभी भी भविष्य में खतम हो सकती हैं कोई व्यक्ति उपलब्धियां प्राप्त करता है तो हम कहेंगे कि उसकी आय से उसकी प्राप्तियां अधिक हैं और उनका अन्तर घिसावट हेतु अलाउन्स समझ लिया जायेगा । इस हालत में यदि व्यक्ति को अपनी आय से अधिक उपभोग नहीं करना है तो उसको अपनी प्राप्तियों का एक भाग पुनः ऋण के रूप में देना होगा ; ब्याज की दर जितनी कम होगी उसको अपनी प्राप्तियों का उतना ही अधिक भाग पुनः ऋण के रूप में देना होगा ताकि भविष्य में क्षतिग्रस्त सामग्री की घटती हुई प्रत्याशित उपलब्धि को पूरा किया जा सके । इस प्रकार यदि भविष्य में प्राप्तियों के घटने की प्रत्याशा है तो ब्याज की दर जितनी कम होगी आय भी उतनी ही कम होगी । इसके विपरीत जिस व्यक्ति को प्राप्तियों के भविष्य में बढ़ने की प्रत्याशा है (अर्थात् जिसको अपनी आय के बराबर जीवन स्तर बनाए रखने के लिए ऋण लेना पड़ेगा अथवा प्रतिभूतियां बेचनी पड़ेंगी) उसकी आय उतनी ही अधिक होगी जितनी ब्याज की दर कम होगी ।

क्या औसत अवधियों वाले परीक्षण की इस प्रकार व्याख्या करना संभव है कि वह साधारण बुद्धि वाले परीक्षण से मेल खा जाए ? यह निम्न प्रकार से किया जा सकता है ।

हम केवल उस उदाहरण पर विचार करेंगे जिसमें न तो ब्याज की दरों और न ही कीमतों में परिवर्तन की प्रत्याशा है, जिससे आय के तीनों सन्निकटन एक रूप हो जायं और फलतः जिससे उनमें से किसी से भी संबंधित प्रमाणित प्रवाह ऐसा प्रमाणित प्रवाह हो जो सप्ताह प्रति सप्ताह मुद्रा के रूप में स्थिर हो ।

यह याद रखते हुए कि प्राप्तियों के संभावी प्रवाह और वह प्रमाणित प्रवाह

जिससे आय अनुगणित की जाती है इन दोनों का पूंजीकृत मूल्य समान होना चाहिए तब यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि प्रमाणित औसत अवधि की अपेक्षा प्राप्तियों की औसत अवधि अधिक हो, तो निकट भविष्य में संभावी प्रवाह की प्रमाणित प्रवाह से कम रहने की प्रवृत्ति होगी और कुछ अधिक दूर के भविष्य में इसको क्षति पूर्ण करने के लिए अधिक होना पड़ेगा। पूरी बात को देखते हुए हम कह सकते हैं कि इसकी वृद्धि की ओर प्रवृत्ति होगी ; अन्य शब्दों में कहें तो संभावी प्रवाह की अधिकतम सीमा की ओर प्रवृति होगी। अतः औसत अवधि केवल मूल्यों के प्रवाह की ऊर्ध्वता (या ह्रास) को मापने का एक सही ढंग ही सिद्ध होता है।

वास्तव में निरंतर उसी ब्याज की दर पर अपहरित समान मात्रा वाले और असीम अवधिवाले प्रवाह की औसत अवधि क्या है ? यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि यह ब्याज की दर के व्युत्क्रम (अर्थात् क्रय-वर्षों) के बराबर है।[१४] यदि ब्याज की दर ५ प्रतिशत वार्षिक है तो प्रमाणित प्रवाह की औसत अवधि २० वर्ष होगी। यदि किसी अन्य प्रवाह की औसत अवधि २० वर्ष से अधिक निकलती है तब हम केवल एक ही अर्थ निकाल सकते हैं कि यह प्रवाह ऊर्ध्वमुखी है : यदि अवधि २० वर्ष से कम निकलती है तो प्रवाह ह्रासमुखी है। औसत अवधि का यही अर्थ है।[१५]

मूल्यों के प्रवाह की उपनति नापने की इस विधि का किसी भी प्रवाह के संबंध में प्रयोग किया जा सकता है। अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के दृष्टिकोण से अन्य किसी विधि की अपेक्षा यह अधिक महत्वपूर्ण है। जब हम उत्पादन के संगठन पर पड़ने वाले ब्याज-परिवर्तनों के प्रभाव का विचार करेंगे तब उक्त औसत अवधि की पुनः चर्चा करेंगे ।

चतुर्थ विभाग

प्रावेगिक पद्धति की कार्यप्रणाली

अनिश्चितता और प्रत्याशा जीवन के आनन्द हैं ।

(कॉन्ग्रीव : लव फॉर लव)

अध्याय १५

उत्पादन आयोजन

(१) वह कार्यक्रम जिसे कि हमें इस चौथे और अन्तिम भाग में पूर्ण करना है पहले से ही निश्चित हो चुका है। हमें प्रवेगिक निकाय को लेना है, जिसकी सामान्य विशेषतायें हमने भाग तीन में पढ़ी थीं और इसे उसी तरह की व्याख्या में रखना है जैसी हमने भाग दो में स्थैतिक निकाय के लिए प्रयुक्त की थी। अतः हमारे विचाराधीन समस्याओं की श्रेणी ठीक उस श्रेणी के समान है जिनपर हम इस पुस्तक के पहले भागों में विचार कर चुके हैं। हमें पुनः व्यक्ति की स्थिति पर विचार करना है और उसके व्यवहार के नियम ढूंढना है ; हमें केवल अब अधिक चीजों को ध्यान में रखना है। हमें उन रास्तों पर विचार करना है जिनमें उसका व्यवहार न केवल वर्तमान कीमतों से अपितु ब्याज की दरों से भी और कीमत-और ब्याज-प्रत्याशाओं से भी प्रभावित हो सकता है ; हमें न केवल पहले की तरह उसकी वस्तुओं के लिए मांग और पूर्तियों का परीक्षण करना है अपितु प्रतिभूतियों की (उस विशेष प्रतिभूति की भी जो मुद्रा है) मांग और पूर्ति का भी परीक्षण करना है। हमें इसी तरह की खोज फर्म के संबंध में भी करनी है। तब वस्तुओं, प्रतिभूतियों और मुद्रा की मांग और पूर्ति नियमों की प्रतिष्ठा करके हमें उन नियमों का समन्वय करना है ताकि हमें सम्पूर्ण कीमत निकाय की कार्यप्रणाली के नियम प्राप्त हो जायें। प्रारंभ में हम केवल उन नियमों को प्राप्त करने की प्रत्याशा करते हैं जो किसी विशिष्ट 'सप्ताह' में कीमत निकाय की कार्य प्रणाली के नियम हैं; और प्रवेगिक सिद्धान्त के संबंध में हमें जो कुछ जानना चाहिए उसका यह प्रारंभ मात्र है। (जो भी हो, इस तरह की अल्पकालिक संस्थिति व्याख्या बहुत से महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक निष्कर्ष देती है जब वे सतर्कता से निकाले जाते हैं।) इस स्थिति के आगे बढ़ना बहुत कठिन है ; परन्तु इस विषय का उपसंहार करने के पहले हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि समयोपरान्त कीमत निकाय के विकास के नियमों के संबंध में क्या कहा जा सकता है।

सबसे पहिले एक व्यक्ति और एक फर्म के व्यवहार का अध्ययन करना है। हमने स्थैतिकी के अन्तर्गत जिस अध्ययन क्रम को अपनाया था उसको हम उलट देंगे और व्यक्ति के स्थान पर फर्म को लेकर अध्ययन आरंभ करेंगे और इसका एक कारण भी है। व्यवहार में स्यात् फर्में अपनी उत्पादन-योजना को निजी व्यक्तियों की व्यय योजना की अपेक्षा अधिक पूर्णता से तैयार करती हैं; क्योंकि हमें किसी न किसी मौके पर योजना के निर्धारण की स्पष्ट विधिवत् व्याख्या देनी पड़ेगी, अतः इसे व्यक्ति के मामले की अपेक्षा, जहां यह बहुत वास्तविक नहीं है, फर्म के मामले में जहां कि यह काफी वास्तविक है देना अच्छा रहेगा। हमारे फर्म के विश्लेषण द्वारा योजना निर्धारण के सामान्य सिद्धान्तों के साथ एक बार परिचित हो जाने पर हम, जब हमें निजी व्यक्ति के साथ व्यवहार करना पड़ेगा, इन सिद्धान्तों को जितना उचित प्रतीत होगा उतना अधिक या कम ध्यान में रखेंगे। इस रीति के लाभ, जैसे जैसे आगे बढ़ेंगे, स्पष्टतर होते जायेंगे।

(२) आर्थिक प्रावेगिक विज्ञान की अन्य शाखाओं के सदृश, उत्पादन का प्रावेगिक सिद्धान्त भी बहुत मतवैभिन्य का कारण रहा है। वास्तव में, जो प्रसंग यहां उठते हैं, वे स्यात् अन्य सबों की अपेक्षा अधिक क्लासिकल-विवादीय प्रसंग हैं; पूंजी के सिद्धान्त में ये बड़े प्रश्न हैं जिन्होंने भूतकाल में अर्थशास्त्रियों को उद्विग्न किया। आज वे प्रश्न अन्य प्रश्नों से छा गए हैं जो स्यात् और भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। किन्तु छाए जाने पर भी उनका समाधान नहीं किया गया है; यदि उनका समाधान करना हमारी शक्ति के अन्दर है तो हमें इस कार्य के लिए इन्कार नहीं करना चाहिए।

आज भी अर्थशास्त्र के इस विभाग में बॉन बॉवर्क का बड़ा नाम है। ऐसा इसलिए नहीं है कि उसका सिद्धान्त सामान्यतः स्वीकार किया जाता है (उसका सिद्धान्त उसी के समय में भी सामान्य रूप में स्वीकृत नहीं था, और हम लोगों के समय में तो और भी कम इसके अनुमोदक हैं) अपितु इसलिए कि यह एक चुनौती है जिसका किसी तरह सामना करना है। लगभग जो भी पूंजी के अध्ययन के लिए आता है हरेक किसी न किसी अवस्था पर बॉम बॉवर्क के सिद्धान्त का शिकार हो जाता है।[१] पूंजीवादी उत्पादन की परिभाषा समय लेने वाले उत्पादन के रूप में; नियोजित पूंजी की मात्रा की परिभाषा नियोजित समय की मात्रा के सूचक के रूप में; ब्याज ह्रास के उत्पादन-संगठन पर पड़ने वाले प्रभाव की परिभाषा नियोजित समय की मात्रा की वृद्धि के रूप में; यह सभी विचार विषय को स्पष्टता का आभास देते हैं जो प्रथम दृष्टि में अनिवार्य प्रतीत होता है। अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट

आक्षेपों के जो कि इसके विरुद्ध लगाए जा सकते हैं, सामना करने में यह सिद्धान्त काफी अच्छी तरह दृढ़ रहता है ; फिर भी, जैसे हम आगे बढ़ते जाते हैं कठिनाइयां बढ़ती जाती हैं । 'उत्पादन हेतु लगने वाले समय' की परिभाषा कठिन होती जाती है ; जिससे अंत में अनेक व्यक्ति अपने को यह सिद्धान्त छोड़ने के लिए बाध्य पाते हैं यद्यपि वे इसकी जगह और कोई महत्वपूर्ण सिद्धान्त न रख सके ।

इस 'आस्ट्रियाई' सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप सशक्त रूप में प्रोफेसर नाइट की हाल ही की लेखमाला में बार बार बताए गए हैं। इन लेखों ने पुराने बॉम बॉवर्कीय विवाद को फिर से उभाड़ा है,[२] किन्तु मुख्य प्रसंग अब भी अनिश्चित पड़ा हुआ है । इन लेखों के पठन से पाठक के मन में इस प्रकार वर्ग भावना उठती है : 'स्पष्टतया बॉम बॉवर्क गलत था ; किन्तु जो कुछ उसने कहा उसमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य होना चाहिए ; अन्य इस तरह का स्पष्ट सिद्धान्त बिना किसी आधार के नहीं बना सकते ।' इसके पूर्व कि हम पूंजी के सन्तोषजनक सिद्धान्त को पाने का वास्तविक दाव करें,आस्ट्रियाई सिद्धान्त में निहित सत्यांश के खोज निकालने की आवश्यकता है ।

मैं यह दिखाने की आशा करता हूँ कि कठिनाई यह है कि जब हम कृत्रिम सरल उदाहरणों से आगे बढ़ते हैं (जिनसे कि स्वाभाविक रूप से पूंजी का सिद्धान्त प्रारंभ होता है किन्तु जो विक्सेल के भी साथ कभी आगे नहीं बढ़ा) तो मुख्य साध्यों के स्वरूप महत्वपूर्ण रूप से बदल जाते हैं । आस्ट्रियाई सिद्धान्त सीमित उदाहरण के रूप में ही सही रहता है जो कि बहुत महत्वपर्ण नहीं है । सामान्य सिद्धान्त बॉम बॉवर्क के सिद्धान्त से कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं में भिन्न है ।

(३) जैसा कि हम कई बार देख चुके हैं, उस निर्णय को जो किसी विशिष्ट साहसोद्यमी के सम्मुख किसी तिथि पर (मान लीजिए हमारे 'प्रथम सोमवार' पर) आता है उत्पादन-योजना की स्थापना के रूप में माना जा सकता है । पूर्ण रूप में लिखे जाने पर उत्पादन-योजना इस तरह दिखाई पड़ेगी :

$अ_0, अ_1, अ_2, अ_3, \ldots अ_न$

$ब_0, ब_1, ब_2, ब_3, \ldots, ब_न$

....

$क_0, क_1, क_2, क_3, \ldots क_न$

$ख_0, ख_1, ख_2, ख_3, \ldots ख_न$

....

'अ', 'ब',.. विभिन्न प्रकार के आगत हैं; 'क', 'ख',...विभिन्न प्रकार के निर्गत हैं और यह मान लिया जाता है कि साहसोद्यमी अपनी योजना 'न' भावी सप्ताहों की अवधि के लिए बनाएगा। आग त वह उपकरण है जो उत्पादन के लिए खरीदा जाता है, निर्गत वह वस्तुएं हैं जो बेची जाती हैं । इस प्रकार, यदि पूरे फर्म को बंद ही करना होता और इसकी सभी यंत्र सामग्री बेच दी गयी होती तो यह सामग्री उस तिथि का जिस पर बिक्री हुई हो, निर्गत माना जा सकता है—अन्य सभी आगे वाले निर्गत शून्य होंगे । यह विचार हमें यह सोचने देता है कि साहसोद्यमी आगे की सीमित अवधि तक ('न' सप्ताह) की योजना बना रहा है ; क्योंकि हम उस प्लांट को, जिसे वह उस समय के अंत में बच जाने की योजना बनाता है, एक विशिष्ट प्रकार का निर्गत (मान लीजिए $झ_न$) मानते हैं, एक ऐसा प्रकार जो कि केवल अन्तिम सप्ताह में ही पैदा किया जा सकता है ।

यह पता चलेगा कि निर्गत का एक ही भौतिक प्रकार का (मान लीजिए क) होने पर भी उत्पादन-योजना के अन्तर्गत विभिन्न निर्गत आ जाते हैं (विभिन्न तिथियों पर क) जिनमें कि अब विभेद करना है । पाठक अब यह समझने लगेंगे कि क्यों अपने फर्म के स्थैतिक सिद्धान्त में हमने फर्म के ऐसे उदाहरण पर, जो कई तरह के उत्पाद पैदा कर रही है अत्यधिक विशिष्ट ध्यान देने का निर्णय किया था ।

जिस तरह उद्योग की स्थैतिक समस्या कारकों और उत्पादों की मात्रा के निश्चित समूह का वरण करना है, उसी तरह प्रावेगिक समस्या उन विकल्पों में से, जो उसके लिए खुले हैं, एक निश्चित उत्पादन-योजना का वरण करना है । स्थैतिकी की तरह, साहसोद्यमी के विकल्प पर प्राविधिक सीमाएँ हैं । कुछ निश्चित संख्या की ऐसी वैकल्पिक उत्पादन-योजनायें हैं जो प्राविधिक रूप से संभव हैं । यदि सभी आगतों की और एक को छोड़कर सभी निर्गतों की मात्रायें दी हुई हों तो यह प्राविधिक सीमा (या उत्पादन फलन) शेष तिथि पर संभव अधिकतम निर्गत बता देगी ; यदि सभी निर्गतों और एक को छोड़कर सभी आगतों की मात्रा दी हो तो यह शेष तिथि पर अनिवार्य न्यूनतम आगत बता देगी ।[3] क्योंकि साहसोद्यमी इस सीमा के अन्तर्गत कार्य करता है वह एक उत्पादन-योजना से दूसरी उत्पादन-योजना पर केवल या तो (१) एक निर्गत की कुछ मात्रा का दूसरे की कुछ मात्रा के लिए प्रतिस्थापन करके या (२) एक आगत का दूसरे के लिए प्रतिस्थापन करके और या (३) एक आगत और एक निर्गत को एक साथ घटाकर या बढ़ाकर के जा सकता है । यह संभव होना चाहिए कि उत्पादन-योजना के सभी परिवर्तन इन 'सरल परिवर्तनों' में से किसी एक या दूसरे अथवा इनके किसी संयोजन के रूप में परिणत किये जा

सकें। यह सब कुछ वैसा ही है जैसा कि स्थैतिकी के अन्तर्गत है।

(४) किन्तु कौन सी उत्पादन-योजना वरण की जायगी ? स्थैतिकी के अन्तर्गत हमने यह सोचकर संतोष कर लिया था कि साहसोद्यमी लागत पर अपनी प्राप्तियों के अतिरेक को सर्वाधिक बनाता है ; और इसमें हमें कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई थी। किन्तु जब हम समस्या को प्रवेगिक दृष्टिकोण से देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि साहसोद्यमी अब किसी एक अतिरेक की नहीं अपितु अतिरेकों के प्रवाह की (क्योंकि प्रति सप्ताह अतिरेक होंगे) प्रत्याशा कर सकता है। यदि अतिरेकों के दो प्रवाह ऐसे हों कि एक प्रवाह का प्रत्येक अतिरेक दूसरे प्रवाह के संगत अतिरेक से अधिक हो तो यह निर्णय करने में कोई कठिनाई न होगी कि कौन सा प्रवाह बड़ा है। किन्तु यदि यह शर्त पूरी नहीं होती (और कोई ऐसा तर्क नहीं है कि यह सदैव अथवा अधिकतर भी, पूरी ही हो) तो किसी कसौटी की आवश्यकता पड़ेगी जिससे हम यह निर्णय कर सकें कि कौन सा प्रवाह अपेक्षाकृत बड़ा माना जाय।

सामान्य रूप से इस कसौटी को स्थापित करने के लिए कुछ अर्थशास्त्रियों को तनिक कठिनाई हुई है ; यद्यपि वास्तव में कोई कारण नहीं है कि कठिनाई उठनी चाहिए। कसौटी को कई रूपों में रक्खा जा सकता है ; किन्तु उपयुक्त विचार के बाद सभी रूपों को एक रूप में परिणत किया जा सकता है।

कसौटी को परिभाषित करने का सर्वाधिक आधारभूत ढंग उसको अतिरेक प्रवाह का पूंजीकृत मूल्य मानना है—इसको हम उत्पादन-योजना का पूंजीकृत मूल्य भी कह सकते हैं। यदि हम मान लें कि दी हुई बाजार की दरों पर साहसोद्यमी स्वतंत्रता के साथ ऋण दे और ले सकता है और यह मान लें कि वह आय प्राप्त करने के लिए ही व्यापार करता है तब वही उत्पादन-योजना वरण की जायगी जिसका वर्तमान पूंजीकृत मूल्य अधिकतम है।

हमारी परिभाषा के अनुसार किसी सप्ताह का अतिरेक उस सप्ताह[४] के आगत के मूल्य पर निर्गत के मूल्य के आधिक्य की मात्रा के बराबर है। इस प्रकार यदि कीमतें और कीमत-प्रत्याशायें दी हुई हों तो उत्पादन-योजना निर्धारित करते ही यह अतिरेक भी निर्धारित हो जाता है और यदि ब्याज की दरें और ब्याज प्रत्याशायें दी हुई हों तो इसका वर्तमान मूल्य भी निर्धारित हो जाता है।

किसी अगले सप्ताह में साहसोद्यमी की भावी निवल प्राप्ति को परिभाषा स्वरूप उसके पूर्व अनुमानित अतिरेक में से भूतकाल के विदों के फलस्वरूप देय भुगतानों (यथा, डिबेंचर पर ब्याज) को घटाकर निकाला जा सकता है। क्योंकि ये भुगतान उसके वर्तमान निर्णयों से स्वतंत्र हैं, योजना में परिवर्तन करके इन्हें बदला नहीं जा

सकता। और जैसे ही व्याज को पूर्वनिश्चित मान लेते हैं इन भुगतानों का पूंजीकृत मूल्य निश्चित हो जाता है; इस प्रकार साहसोद्यमी की भावी निवल प्राप्तियों और उसके भावी अतिरेकों के पूंजीकृत मूल्य में एक स्थायी अंतर रह जाता है और इसलिए जब एक अधिकतम होगा तो दूसरा भी अधिकतम होगा।

यह सिद्ध करना सरल है कि साहसोद्यमी की भावी निवल प्राप्तियों के पूंजीकृत मूल्द में वृद्धि का सदैव यह अर्थ होगा कि वह पहले से अधिक वांछित स्थिति में आ गया। यदि वह किसी निजी उद्योग का मुखिया है जिससे व्यापार प्राप्तियां सीधे उसकी जेब में जाती हैं तब तो उक्त साध्य प्रत्यक्ष स्पष्ट है; पूंजीकृत मूल्य की वृद्धि के कारण वह सदैव इस स्थिति में होगा कि व्यय की (अपने वैयक्तिक हिसाब में) पूर्ववत् योजना बना सके और तब भी उसके पास कुछ बच जाय। यदि वह किसी कम्पनी का प्रशासक है तब स्यात् उक्त साध्य कम प्रत्यक्ष है; किन्तु यह अब भी सत्य है कि कम्पनी की भावी निवल प्राप्तियों के वर्तमान मूल्य की वृद्धि की दशा में वह फिर भी लाभांशों के पूर्ववत् प्रवाह की योजना बना सकेगा और तब भी कुछ बचा लेगा—जिससे वह किसी न किसी तिथि पर, जो भी सुविधा-जनक प्रतीत हो, अधिक लाभांश दे सकेगा।

इसी बात को दूसरी तरह से देख सकते हैं और स्यात् यह स्पष्टतया अधिक व्यावहारिक हो। इसमें आय की धारणा का उपयोग करते हैं। हम देख चुके हैं[१] कि किसी व्यक्ति की आय उस प्रमाणित प्रवाह का स्तर मानी जा सकती है जिसका वर्तमान मूल्य वही है जो उसकी भावी प्राप्तियों का वर्तमान मूल्य है। यही बात फर्म के संबंध में लागू होती है। उसकी आय (अथवा लाभ) प्रमाणित प्रवाह का वह स्तर है जिसका वर्तमान मूल्य इसकी भावी निवल प्राप्तियों के वर्तमान मूल्य के बराबर है। इस प्रकार हमको निम्नांकित संबंध मिल जाते हैं।

निवल प्राप्तियां=अतिरेक—भूतकालीन संविदों जनित भुगतान

लाभ (या आय)=निवल प्राप्तियां—घिसावट (अथवा+मूल्य वृद्धि)

जैसे ही एक बार कीमत और ब्याज-प्रत्याशायें दे दी जाती हैं और प्रयुक्त प्रमाणित प्रवाह (अर्थात् आय की परिभाषा) का प्रकार निर्णीत कर दिया जाता है, यह सभी चीजें पूर्णतया निर्धारित हो जाती हैं। अब हम जानते हैं कि जब यह चीजें दी हुई हैं तो प्रवाह के वर्तमान मूल्य में वृद्धि अपने अनुरूप प्रमाणित प्रवाह के स्तर को उठा देगी।[६] इस प्रकार भावी निवल प्राप्तियों के प्रवाह के वर्तमान मूल्य में तनिक भी वृद्धि के कारण लाभ बढ़ जाना चाहिये। हम यह कह सकते हैं कि या तो साहसोद्यमी अपने लाभ को अधिकतम बनाता है या अपनी भावी निवल प्राप्तियों

के वर्तमान मूल्य को, या अपने भावी अतिरेकों के वर्तमान मूल्य को। यह सभी परीक्षण एक से ही हैं ; किन्तु विश्लेषण की दृष्टि से इनमें से अन्तिम ही (जिसे हमने योजना का वर्तमान मूल्य कहा है) सर्वाधिक सुविधाजनक है।

(५) उत्पादन-योजना के वर्तमान मूल्य को अधिकतम करने की समस्या सैद्धान्तिक रूप से वही है जो स्थैतिकी के अन्तर्गत फर्म की लागतों पर उसकी प्राप्तियों के अतिरेक को अधिकतम करने की समस्या थी। भिन्न भिन्न तिथियों के निर्गतों को भिन्न भिन्न निर्गत मानेंगे और भिन्न-भिन्न तिथियों के आगतों को भिन्न भिन्न आगत। इसके बाद केवल एक छोटा सा अंतर बचता है। स्थैतिक दशा में यदि साहसोद्यमी किसी कारक की एक अतिरिक्त इकाई को नियुक्त करता है तो उस कारक की कीमत की निधि के बराबर उसका अतिरेक (वह चीज जिसे हमारे अनुसार वह अधिकतम बनाने की चेष्टा करता है) प्रारंभ में घटता है। किन्तु हमारी नयी समस्या में यदि हम यह मानें कि साहसोद्यमी किसी तिथि विशेष पर किसी कारक की एक अतिरिक्त इकाई को नियुक्त करने का निर्णय करता है तो उसके अतिरेकों के पूंजीकृत मूल्य में (वह चीज जिसे वह प्रभावी रूप से अधिकतम बनाने की चेष्टा कर रहा है) कारक की पूरी कीमत के बराबर (अथवा उसकी पूरी प्रत्याशित कीमत के बराबर भी) कमी नहीं होगी। उसकी योजना के वर्तमान मूल्य में भावी लागतों का केवल अपहरित मूल्य सम्मिलित होता है ; और यही बात भावी प्राप्तियों के संबंध में सत्य है। अतएव जब हम अपनी स्थैतिक विश्लेषण रीति का अनुकूलन करने जा रहे हैं हमको सदैव स्थैतिकी की कीमतों के स्थान पर अपहरित कीमतों को लाना चाहिए जिससे प्रावेगिक समस्या से विधि बैठ सके। इन समायोजनों के बाद फर्म का पूरा स्थैतिक सिद्धान्त यहां भी लागू हो जाता है। हमको उसका अनुवादमात्र करना है।

यहां भी संस्थिति की वही दशायें लागू होती हैं जो स्थैतिक उदाहरण में लागू होती थीं। परिवर्तन के तीनों सरल स्वरूपों के समकक्ष यहां भी तीन प्रकार हैं। (१) किन्हीं दो तिथियों के निर्गतों के बीच सीमान्त प्रतिस्थापन-दर उनकी अपहरित कीमतों के अनुपात के बराबर होनी चाहिए। (२) किन्हीं दो तिथियों के आगतों के मध्य सीमान्त प्रतिस्थापन-दर उनकी अपहरित कीमतों के अनुपात के बराबर होना चाहिए। (३) किसी आगत के किसी निर्गत में रूपान्तर की सीमान्त-दर उनकी अपहरित कीमतों के अनुपात के बराबर होना चाहिए।

पूर्व लेखकों द्वारा संस्थिति की जो विभिन्न दशायें प्रतिपादित की गई हैं वे इन सामान्य दशाओं के विशिष्ट उदाहरण मात्र हैं। उदाहरणार्थ, (१) अधिकतर उल्लि-

खित यह नियम कि मजदूरी की चालू दर चालू श्रम के सीमान्त उत्पादन का अपहरित मूल्य है, हमारी तीसरी दशा का विशेष उदाहरण है। जब भी विचाराधीन श्रम को ऐसे प्रक्रमों पर लगाया जाता है जिन्हें पूरा करने के लिए (प्राविधिक रूप से दिया) निश्चित समय लगता है, हमारी शर्त श्रम की मांग-कीमत को निर्धारित करने के लिए स्वयं पर्याप्त है। किन्तु यह याद रहे कि यह सामान्यतः सत्य नहीं है।

(२) विक्सेल का यह नियम कि ब्याज की दर प्रतीक्षा की सापेक्ष सीमान्त उत्पादकता[७] के बराबर होती है, हमारी प्रथम दशा का विशेष उदाहरण है। पहली दशा से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि किन्हीं दो क्रमागत सप्ताहों में किसी उत्पाद की कीमत बदलने की प्रत्याशा नहीं है तो इन दोनों तिथियों के बीच निर्गतों के मध्य सीमान्त-प्रतिस्थापन-दर उस अनुपात के बराबर होनी चाहिए जिसमें उन दोनों तिथियों की बीच की अवधि में मुद्रा को अपहरित करने की प्रत्याशा की जाती है। अतएव व्याज की प्रत्याशित दर उस अनुपात के बराबर होनी चाहिए जिसमें यह प्रत्याशा की जाती है कि यदि वस्तु का उत्पादन इनमें से एक सप्ताह से दूसरे सप्ताह को टाल दिया जाय तो उस की सीमान्त इकाई बढ़ जायगी।

(३) केन्स का यह नियम कि अल्पकालीन पूर्ति कीमत सीमान्त-कारक-लागत और सीमान्त-उपयोक्त-लागत[८] के बराबर है हमारी पहली और तीसरी दशाओं का सम्मिलित रूप है। केन्स य मान लेते हैं कि चालू निर्गत को बढ़ाना केवल तभी संभव है जब किसी विशेष निश्चित अनुपातों में चालू आगत (कारक-लागत) को बढ़ाया जाय और भावी निर्गत (उपयोक्ता-लागत) के स्थान पर चालू निर्गत को प्रतिस्थापित किया जाय।

(४) इसी प्रकार जब केन्स अपनी पूंजी की सीमान्त क्षमता[९] की व्याख्या करते हैं, वे यह मान लेते हैं कि आगत की वृद्धि के कारण संभव हुई निर्गत की वृद्धि को भावी अवधियों में किसी दिए हुए प्रकार से बांटना पड़ेगी। इसलिए आगत में एक इकाई की वृद्धि करने की लागत को उस वृद्धि के कारण संभव निर्गत वृद्धियों के प्रवाह के वर्तमान मूल्य के बराबर होना पड़ेगा। ब्याज की दर और पूंजी की सीमान्त-क्षमता की समता से उनका यही अर्थ है।

निश्चित अनुपातों के उदाहरण, जैसे कि केन्स के हैं, निःसन्देह अतिप्रचलित हैं। अधिकतर निर्गतों के ऐसे समूह होंगे और आगतों के समूह होंगे जिनके अन्दर कोई प्रतिस्थापन संभव नहीं होगा; और आगत-निर्गतों के भी ऐसे जोड़े होंगे जो नितान्त असंबंधित होंगे अर्थात् ऐसे होंगे कि तिथि $त_1$ पर की गयी थोड़ी आगत-वृद्धि तिथि $त_2$ के निर्गत की वृद्धि को सुलभ नहीं बनाएगी, जब कि दूसरी ओर $त^1$ के आगत

में थोड़ा ही ह्रास (भले ही त$_2$ के निर्गत को बिल्कुल छोड़ दिया जाय) अन्य सभी निर्गतों को अपरिवर्तित नहीं छोड़ेगा। क्योंकि ऐसे जोड़ों के मध्य कोई भी प्रतिस्थापन या रूपान्तर की सीमान्त दर नहीं होती है मात्र उन जोड़ों के कारण संस्थिति की किसी दशा का तब तक उदय नहीं होता जब तक उन्हें सम्मिलित रूप में न देखा जाय।

जो भी हो, जैसा हमने स्थैतिकी के संबंध में देखा था अपने अध्ययन के वर्तमान चरण में इन निश्चित अनुपात वाले उदाहरणों की ओर विशेष ध्यान देने से नगण्य लाभ है। बाद में वे सरलता से हमारे विश्लेषण में केवल संपूरकता के उदाहरण स्वरूप फिट हो जायंगे।

(६) यदि वरण की हुई उत्पादन योजना सर्वाधिक लाभ वाली है तो संस्थिति की उक्त तीनों दशायें सभी सीमान्त प्रतिस्थापनों और प्राविधिक रूप से संभव रूपान्तरों के लिए पूरी की जानी चाहिए। वे आवश्यक दशायें हैं अर्थात् योजना का वर्तमान मूल्य तभी वास्तव में अधिकतम होगा जब स्थायित्व की दशायें भी पूरी हों।

हमने फर्म की स्थैतिक संस्थिति के अन्तर्गत स्थायित्व की दशाओं को जिस रूप में देखा था उनका वही रूप यहां भी है। अर्थात् (१) निर्गतों के मध्य बढ़ती हुई सीमान्त प्रतिस्थापनदर (२) आगतों के मध्य घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन-दर और (३) इसी आगत के निर्गत में रूपान्तर की घटती हुई सीमान्त-दर। पुनः इस स्थैतिक दशा के कि अतिरेक धनात्मक होना चाहिए, समकक्ष प्रावेगिक दशा यह है कि अतिरेकों के प्रवाह का वर्तमान मूल्य धनात्मक होना चाहिए।

इन स्थायित्व की दशाओं के कारण अनिवार्यतः वही सब कठिनाइयां उठती हैं जो स्थैतिक दशा में उठती हैं। मेरी समझ में कोई अतिरिक्त कठिनाई नहीं उठती; किन्तु उत्पादन-योजना को समयावधि में फैला देने से पुरानी कठिनाइयां दूर नहीं होतीं। और भी एक प्रश्न फर्म के आकार से संबंधित है।

यह याद होगा कि स्थैतिक व्यवस्था में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत स्थायी संस्थिति के लिए आवश्यक क्रमागत ह्रासमान प्रत्युपलब्धियां पाने के लिए केवल यह मानना पर्याप्त था कि कुछ निश्चित (अचल) साधन अस्तित्व रखते हैं जिन्हें परिवर्तनीय कारकों को बढ़ाने के साथ बढ़ाया नहीं जा सकता और जिनकी क्षमता इस प्रकार सीमित होगी कि दूसरे कारकों की उपलब्धियां पर्याप्त मात्रा में ह्रासमान हो जायेंगी। स्थैतिकी में निश्चय ही यह बात कुछ विशेष विश्वसनीय नहीं थी ; प्रावेगिक पदों में परिस्थिति कैसी है, इसे देखना चाहिए।

सर्वप्रथम निम्न उदाहरणों में भेद करना आवश्यक है :—(१) जहां विचाराधीन तिथि पर साहसोद्यमी का पूर्वस्थापित व्यवसाय है; (२) जहां वह संभावी साहसोद्यमी है और यह सोच रहा है कि व्यवसाय स्थापित करूं या नहीं और यदि हां, तो किस प्रकार का। पहली हालत में, हम कह सकते हैं कि आवश्यक अचल साधन सुलभ प्रतीत होते हैं। पहले से ही साहसोद्यमी के नियंत्रण में वस्तुओं एक समूह अर्थात् फर्म की सामग्री है। जिसमें भूमि, इमारत, मशीन, औजार, कच्चे माल, बन रही वस्तुओं और प्राविधिक रूप से बन चुकी किन्तु अभी बेची नहीं गई वस्तुयें सम्मिलित हैं। यह मानना बुद्धिसंगत प्रतीत होता है कि यह सामग्री कुछ ऐसी अंगीय एकता पा चुकी है कि इसको तुरंत इसी रूप में दुगना नहीं किया जा सकता। यह भूतकाल से चली आई फर्म की विरासत है और इस रूप में हमारी समस्या के लिए संगत अर्थ में यह 'अचल साधनों' का निकाय है। इसको उत्पादन-योजना के आगतों की सूची में न रखना ठीक होगा। और वैकल्पिक उत्पादन-योजनाओं को इस प्रारंभिक सामग्री से उत्पन्न (निवल) निर्गत के वैकल्पिक प्रवाहों के रूप में देखना ठीक होगा इस प्रकार प्रारंभिक सामग्री की अचलता आवश्यक ह्रासमान प्रत्युपलब्धियां दे सकती हैं जो, यदि फर्म के अन्तिम आकार को नहीं तो कम से कम उसकी प्रसार की दर को सीमित करेंगी। हमारे वर्तमान अध्ययन के लिए इतना ही मानना पर्याप्त है।

यह सब कुछ ठीक है, किन्तु नई फर्म के संबंध में क्या होगा? उसके प्रसार को रोकने के लिए भूतकाल से प्राप्त ऐसी कोई विरासत न होगी। क्या कोई ऐसी चीज हो सकती है जो नई फर्म को असीमित रूप से बड़ी मात्रा हेतु आयोजित होने से रोक सके—कोई ऐसी चीज जो स्पर्द्धा की अपूर्णता और बाजार की सीमित अवस्था से भिन्न हो? साधारण बुद्धि कहती है कि ऐसा कुछ होना तो चाहिए; जो उद्योग लगभग पूर्णतया स्पर्धी प्रकार के प्रतीत होते हैं उनमें भी हम बृहत् आकार की नई फर्म को चालू होते नहीं देखते हैं, अपितु इसका उल्टा ही पाते हैं। तब तो कुछ बाधायें अवश्य ऐसी होंगी जो नई फर्मों के लिए भी विशेष रूप से अस्तित्व रखेंगी।

निस्सन्देह इनमें से एक बाधा तो वही है जिसका उल्लेख हमने स्थैतिक समस्या के संबंध में किया था अर्थात् बढ़ती हुई फर्म की व्यवस्था और नियंत्रण संबंधी बढ़ती हुई कठिनाई। एक नई फर्म में जहां सब बातों का प्रबंध प्रारंभ से करना पड़ता है और जिसमें बने नियमों के अधार पर चलने की संभावना नहीं रहती है वहां उक्त कठिनाई तो विशेष तीव्र होगी; और यह कुछ कुछ इस बात को समझाती हैं कि

साधारणतया फर्म छोटे आकार पर क्यों आरंभ की जाती हैं।

एक दूसरी कठिनाई, जो सामान्यतः रहती हैं किन्तु जो नयी फर्मों में विशेष रूप से उठती है, जोखिम का तत्त्व है। जैसे जैसे फर्म का आयोजित आकार बढ़ता है संभव हानियां भी क्रमशः बढ़ती जाती हैं, और वैसे ही वैसे साधारणतया लोग ऐसी हानि उठाने के लिए क्रमशः कम तत्पर होते जायेंगे। हम दिखा चुके हैं[10] कि इस बढ़ते हुए जोखिम-तत्व को प्रत्याशित कीमतों के परिवर्तनस्वरूप दर्शाया जा सकता है जो कि साहसोद्यमी के हित में नहीं होगा। (क्योंकि यह संभव है कि वास्तव में वह जिस दर पर उधार लें सकता है वह उसके प्रतिकूल हो जाय)। स्पष्ट ही यह बात प्रसार को रोकने में समर्थ है।

सब बातों को देखते हुए हमको प्रावेगिक दशाओं में पूर्ण स्पर्द्धा की मान्यता को मानने के लिए उतना संकोच नहीं करना चाहिए जितना स्थैतिक दशा में हमने किया था। फर्मों के आकार को सीमित करने वाले तत्व व्यवहार में बहुत कुछ प्रावेगिक तत्व होते हैं और इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि इस बात को लेकर स्थैतिक सिद्धान्त में काफी झंझट हुआ था।[11]

(७) उत्पादन योजना की एक अन्य विशेषता-जिसका भी स्यात् स्थायित्व की दशाओं में उल्लेख करना चाहिए---उपसंहार स्वरूप बताई जा सकती है। इतना ही आवश्यक नहीं है कि योजना का वर्तमान मूल्य धनात्मक हो अपितु साहसोद्यमी की यह भी प्रत्याशा होनी चाहिए कि जिस अवधि के लिए वह इस योजना को वना रहा है उसमें आने वाली सभी भावी तिथियों पर उसकी शेष योजना का पूंजीकृत मूल्य धनात्मक होगा। स्पष्ट है कि जिस तिथि के बाद उसकी योजना का पूंजीकृत मूल्य ऋणात्मक हो जायगा उसके बाद योजना को कार्यान्वित करना लाभकारी न होगा; और हम ऐसा मान सकते हैं कि साहसोद्यमी इस बात का पूर्व अनुमान लगाता है।

इस शर्त का महत्व बाद में पूरी तरह स्पष्ट होगा। यदि हम उप योजना तिथि से आगे आने वाले पहले, दूसरे, तीसरे,---सप्ताहों के अंत में उत्पादन योजना के प्रत्याशित पूंजीकृत मूल्य निकालें और उनके बराबर मूल्यों का एक उपसंगी प्रवाह लिखें तथा उस उपसंगी प्रवाह का वर्तमान मूल्य अनुगणित करें तो हम देखेंगे कि उस प्रवाह के वर्तमान मूल्य का योजना के वर्तमान मूल्य से जो अनुपात है वह वही है जिसे हमने अतिरेकों के प्रवाह की औसत अवधि कहा है।[12] इस विशेषता का निहित अर्थ यह है कि अतिरेक-प्रवाह की औसत अवधि धनात्मक होनी चाहिए। जब हम उत्पादन योजना पर पड़ने वाले ब्याज परिवर्तनों के प्रभाव की व्याख्या करेंगे तब इस औसत अवधि का महत्व स्पष्ट हो जायगा।

अध्याय १६

कीमतें और उत्पादन योजना

(१) पिछले अध्याय में हम संस्थिति की जिन शर्तों और स्थायित्व की जिन शर्तों का प्रतिपादन कर चुके हैं उनका वही स्थान है जो स्थैतिक सिद्धान्त की सदृश शर्तों का। अब हमने यह ज्ञात कर लिया है कि जब कीमत तथा कीमत प्रत्याशायें ब्याज और ब्याज-प्रत्याशायें दी हुई होती हैं तब किन सिद्धान्तों के आधार पर उत्पादन योजना का स्वरूप निर्धारित होता है। हमारा अगला कदम इन सिद्धान्तों की सहायता से यह पता लगाना है कि जब इनमें से कुछ प्रेरक शक्तियों में परिवर्तन होता है तो उत्पादन-योजना में क्या अंतर आता है। यह बात विशेष रूप से याद रहे कि जिन परिवर्तनों पर हम विचार करेंगे वे शुद्धतः काल्पनिक परिवर्तन होंगे। हम अपने 'प्रथम सोमवार' की स्थिति पर ही हैं और हम फर्म की यथार्थ उत्पादन-योजना (जिसमें उसका यथार्थ चालू व्यवहार भी योजना के एक अंग स्वरूप सम्मिलित है) और उस योजना के, जिसे प्रेरक शक्तियों के भिन्न होने की दशा में फर्म बनाती है, अंतर को खोज रहे हैं।

उत्पादन-योजना की प्रावेगिक समस्या के संबंध में जितना कहा जा चुका है वह इतना पर्याप्त है कि हम कह सकते हैं कि वह संबंधित स्थैतिक समस्या का केवल रूपान्तर है। इस सही सादृश्य के कारण हमको प्राविधिक प्रतिस्थापन और प्राविधिक संपूरकता संबंधित शुद्ध तार्किक लक्षणों का पुनर्विश्लेषण नहीं करना पड़ेगा। हम इन लक्षणों को दिया हुआ मान सकते हैं और केवल यह खोज कर संतोष कर लेंगे कि प्रावेगिक पदों में इनका क्या स्वरूप है। तब भी अनेक बातों की व्याख्या करनी है : विशेषतः ब्याज की बात उठाने से एक नयी और एक प्रकार से विकट जटिलता प्रकट होती है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि हम अपना अध्ययन अधिक सावधानी से आरंभ करें। हम इस अध्याय में यह व्याख्या करेंगे कि कीमतों और कीमत-प्रत्याशाओं में होने वाले परिवर्तनों का उत्पादन-योजना पर क्या प्रभाव पड़ता है और अगले

अध्याय में व्याज तथा व्याज-प्रत्याशाओं के परिवर्तन-प्रभाव का विचार करेंगे।

(२) फर्म के स्थैतिक सिद्धान्त को उत्पादन-योजना के प्रावेगिक सिद्धान्त का रूप देने के लिए केवल दो सुधार आवश्यक हैं। भिन्न तिथियों पर जो निर्गत और आगत बिक्री (अथवा खरीद) के लिए हैं उन्हें भिन्न उत्पाद अथवा कारक मानेंगे। यथार्थ कीमतों के स्थान पर (जब आवश्यक होगा) न केवल प्रत्याशित कीमतों को लेंगे अपितु उन प्रत्याशित कीमतों के अपहरित मूल्यों को लेंगे। जो भी हो, जब तक हम व्याज-परिवर्तनों से संबंधित समस्याओं को नहीं उठाते यह दूसरा सुधार विशेष चिन्ता का विषय नहीं है। यदि व्याज की दरें दी हुई मान ली जायं तो प्रत्याशित कीमत जिस अनुपात में परिवर्तित होगी उसी अनुपात में अपहरित मूल्य बदलेगा। सदैव दोनों साथ साथ चलेंगे और इसलिए अभी हम अपहरित करने की समस्या को बिल्कुल छोड़ सकते हैं।

स्थैतिक दशा में फर्म के व्यवहार को परिभाषित करने वाले प्रमाणीकृत साध्यों को सर्वाधिक सुविधापूर्वक लिखने के लिए हमने यह मान लिया था कि एक उत्पाद की कीमत में कुछ वृद्धि होती है और तब फर्म की सामान्य नीति पर पड़ने वाले इसके प्रभावों की परीक्षा की थी। इन सिद्धान्तों को सीधे प्रावेगिक पदों में रखने के लिए यह मान लेना होगा कि किसी विशेष भावी तिथिपर किसी विशेष उत्पाद की प्रत्याशित कीमत में (यथा, अब से 'त' सप्ताह बाद आरंभ होने वाले सप्ताह में 'क' वस्तु की प्रत्याशित कीमत में) कुछ वृद्धि होगी। हम इसको $क_{न}$ उत्पाद की कीमत की वृद्धि के रूप में देखेंगे। अब स्थैतिक नियमों के अनुसार हम कह सकते हैं कि $क_{न}$ उत्पाद के आयोजित उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए। इस हेतु या तो आगतों में वृद्धि होगी या अन्य निर्गतों में कमी या दोनों ही। संबंधित आगत प्रचलित हो सकते हैं अथवा केवल आयोजित। इसी प्रकार जिन निर्गतों में कमी आती है वे उसी वस्तु की किन्तु भिन्न तिथियों की मात्रायें $(क'_{न})$ अथवा अन्य वस्तु की मात्रा $(ख_{त}$ अथवा $ख'_{त})$ हो सकते हैं। यह भी संभव है कि कुछ ऐसे निर्गत हों जो $क_{त}$ के संपूरक हैं और इसलिए इसके साथ उनका उत्पादन बढ़ाया जायगा। इसी प्रकार यह भी संभव है (यद्यपि इसकी संभावना कम है) कि कुछ ऐसे आगत हों जिनका $क_{त}$ से ऋणात्मक संबंध हो और इसलिए उनकी मात्राएं घटाई जायं।

यहां तक तो बहुत ठीक है तथापि हमको इस बात को अध्ययन करने की

विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि किसी भावी तिथि विशेष पर किसी वस्तु विशेष की प्रत्याशित कीमत में परिवर्तन होने पर क्या होता है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां उक्त विश्लेषण बिल्कुल सही सिद्ध होता है: राज्याभिषेक की घोषणा जैसे अवसरों पर इस व्याख्या को बड़ी मात्रा में चरितार्थ होते देखा जा सकता है परन्तु यह टिपिकल उदाहरण नहीं है। हम अपने सिद्धान्त को एक दूसरे प्रकार से काम में लाना श्रेयस्कर समझते हैं।

स्थैतिकी के अन्तर्गत हमने जिन कीमत-परिवर्तनों के प्रभावों का विश्लेषण किया था वे वास्तविक कीमतों के—वास्तविक बाजारों की कीमतों के—परिवर्तन थे। यहां भी हम यह पसंद करेंगे कि केवल प्रत्याशाओं के परिवर्तनों के प्रभावों का अध्ययन करन के स्थान पर वास्तविक कीमतों के परिवर्तनों के प्रभावों का अध्ययन करें। बाजार-कीमतों के परिवर्तनों का एक ऐसा रूप है जिसका अध्ययन उपर्युक्त प्रमाणित सिद्धान्तों के सीधे प्रयोग द्वारा किया जा सकता है। चालू उत्पादन का अर्थ किसी विशेष तिथि का विशेष उत्पादन है और इसलिए चालू उत्पादन के कीमत में परिवर्तन के प्रभाव को इन्हीं नियमों द्वारा समझा जा सकता है। किन्तु यह ज्ञात रहे कि इस प्रकार जिस परिवर्तन को हम समझेंगे वह, अन्य बातें समान रहें तो, चालू कीमत का परिवर्तन है; वर्तमान संदर्भ में इसका अर्थ हुआ दी हुई कीमत-प्रत्याशाओं के पृष्ठभूमि में ही परिवर्तन का होना। चालू कीमत के परिवर्तन के फलस्वरूप कीमत प्रत्याशाओं को नहीं बदलने देना चाहिए—यहां तक कि इस कीमत का भी भविष्य में क्या होगा इसकी प्रत्याशायें भी न बदलने देना चाहिए। अर्थात् परिवर्तन को केवल अस्थायी परिवर्तन मानना चाहिए।

इस प्रकार यदि हम मुख्य स्थैतिक नियमों को सीधे रूपान्तरित करने की रीति को ही अपनायें तो बाजार-कीमतों में होने वाले परिवर्तनों में से केवल उन्हीं का विचार कर सकेंगे जिनके अस्थायी होने की प्रत्याशा है। हम ऐसी स्थिति में वर्तमान दशा के लोगों की प्रत्याशाओं पर पड़ने वाले प्रभाव का विचार नहीं कर सकते। तथापि, यदि हमारे सिद्धान्त से उपयोगी निष्कर्ष निकलने चाहिए तो ऐसे प्रभाव को ध्यान में लेना आवश्यक है।

(३) यह संभव प्रतीत होता है कि कीमत प्रत्याशाओं पर तीन प्रकार के प्रभावों का वर्गीकरण किया जा सकता है। एक प्रकार का प्रभाव पूर्णतया अन-आर्थिक है, यथा, मौसम, राजनैतिक समाचार, जनता के स्वास्थ्य का स्तर और उनकी मनोवैज्ञानिक दशा। दूसरा आर्थिक है किन्तु उनका इसका अब भी वास्तविक कीमत परिवर्तन से निकट संबंध नहीं है, इसके एक छोर पर बाजार संबंधी अंधविश्वास है और दूसरे

छोर पर फसल संबंधी रिपोर्ट जैसे समाचार हैं जो भावी मांग या पूर्ति से संबंधित हैं। तीसरे वर्ग में कीमतों से संबंधित वास्तविक अनुभव-भूतकालीन तथा वर्तमान-आते हैं। इसी तीसरे वर्ग के संबंध में ही हम बहुत कुछ कह सकते हैं।

अपने अध्ययन के लिए प्रथम दो वर्गों के कारणवश होने वाले कीमत-प्रत्याशाओं के परिवर्तनों को हम स्वतंत्र परिवर्तन मानेंगे। यथा, संभव है कि स्यात् चालू आर्थिक परिस्थिति की प्रक्रिया ऐसे परिवर्तनों से अप्रत्यक्ष और रहस्यमय ढंग से संबंधित हो, लेकिन हम इस संबंध में कुछ कह सकने की आशा नहीं रखते। हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि कीमत-प्रत्याशाओं पर उक्त स्वतंत्र कारणों का भी प्रभाव पड़ सकता है : अन्यथा हमें इन्हें यहीं पर छोड़ देना चाहिए।

यथार्थ कीमतों का कीमत प्रत्याशाओं पर जो प्रभाव पड़ता है उनका अधिक विश्लेषण किया जा सकता है। परन्तु यहां भी कोई सरल नियम प्रतिपादित नहीं किए जा सकते। स्वतंत्र परिवर्तनों को छोड़ देने के बाद भी दो बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—वर्तमान कीमतों का प्रभाव तथा भूतकाल की कीमतों का प्रभाव। इन दोनों के प्रभाव बहुत भिन्न ढंगों से पड़ते हैं अतएव इनमें से किसका सापेक्ष प्रभाव अधिक है इससे काफी अन्तर आ जाता है।

क्योंकि भूतकाल की कीमतें भूतकालीन हो चुकी हैं, अतएव वर्तमान स्थिति के लिए वे केवल दत्त-सामग्री हैं ; और यदि उनका प्रभाव ही पूर्णतया प्रबल है तो कीमत-प्रत्याशाओं को भी दत्त-सामग्री माना जा सकता है। इस बात को लेकर हमने विचार आरंभ किया है—प्रचलित कीमतों में परिवर्तन कीमत-प्रत्याशाओं को विचलित नहीं करता इसको बिलकुल अस्थायी माना जाता है। किन्तु जैसे ही भूत-कालीन कीमतों का महत्व कम हो जाता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम प्रत्याशाओं पर पड़ने वाले चालू कीमतों के प्रभाव को ध्यान में रखें। यहां भी यह याद रहे कि उक्त प्रभाव भिन्न तीव्रता रख सकता है और भिन्न प्रकार से कार्यान्वित हो सकता है।

इस समस्या के सामान्य आर्थिक विश्लेषण को आगे बढ़ाना अब संभव प्रतीत नहीं होता : हम केवल कुछ संभव उदाहरणों की सूची दे सकते हैं। यदि यह उदाहरणों की सूची क्रमबद्ध हो तो यह अधिक उपयोगी होगी। इसलिए आइए हम प्रति-क्रियाओं के एक माप की कल्पना करें। यदि हम इस संभावना को भूल जायं कि 'क' वस्तु की चालू कीमत के परिवर्तन का उसी वस्तु की भिन्न भावी तिथियों की प्रत्याशित कीमतों पर भिन्न भिन्न प्रकार से प्रभाव पड़ेगा और इस संभावना को भी कि अन्य वस्तुओं या कारकों (इन दोनों को भुलना खतरनाक है) की प्रत्याशित

भावी कीमत भी प्रभावित हो सकती है तो हम अपने उदाहरणों को प्रत्याशा की लोच के अनुसार वर्गीकृत कर सकते हैं। मेरी परिभाषा के अनुसार किसी व्यक्ति की वस्तु 'क' की कीमत-प्रत्याशा की लोच 'क' की प्रत्याशित भावी कीमतों की अनुपातिक वृद्धि और उसकी चालू कीमत की अनुपातिक वद्धि के अनुपात के बराबर है। इसलिए यदि प्रत्याशा दृढ़ रूप से पक्की तौर पर लोचरहित है (यदि लोच शून्य है) तो हमको दी हुई प्रत्याशाओं वाला उदाहरण मिल जाता है जिस पर हम विचार कर रहे हैं। यदि प्रत्याशा की लोच एक है तो चालू कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप प्रत्याशित कीमत में उसी दिशा में समानुपातिक परिवर्तन होगा : यदि पहले यह प्रत्याशा थी कि कीमत पुराने स्तर पर बनी रहेगी तो अब यह प्रत्याशा होगी कि वे नए स्तर पर अपरिवर्तित बनी रहेंगी। अर्थात् यह प्रत्याशा है कि कीमत-परिवर्तन स्थायी होगा। स्पष्टतः यह दोनों उदाहरण प्रमुख हैं, किन्तु बीच के उदाहरणों में जिनमें प्रत्याशा की लोच शून्य से अधिक और एक से कम है, और उन दोनों सीमान्त उदाहरणों में जिनमें से एक में लोच इकाई से अधिक है और दूसरे में ऋणात्मक भी भेद करना उपयोगी है। प्रत्याशा की लोच तब एक से अधिक होगी जब प्रचलित कीमतों के परिवर्तन के फलस्वरूप लोग यह समझें कि वे किसी उपनति को बता सकते हैं और इसलिए वे वाह्यकलन करने की चेष्टा करें। प्रत्याशा की लोच तब ऋणात्मक होगी जब लोग इससे विपरीत प्रकार का अनुमान लगाएं और परिवर्तन को अस्थिरता की पराकोटि मानें।

यद्यपि इन सभी संभावनाओं को ध्यान में रखना वांछनीय है, परन्तु प्रत्येक भिन्न प्रकार की सम्मुख आनेवाली प्रावेगिक समस्याओं में से प्रत्येक के संबंध में इन सभी वर्गों के अन्तर्गत अध्ययन करना स्पष्टतया असंभव (और अनावश्यक) होगा। प्रत्येक उदाहरण को समझने के लिए जिन सिद्धान्तों का उपयोग करना होगा वे शीघ्र हो जायेंगे। जो भी हो, दूसरी महत्वपूर्ण दशा—जिसमें प्रत्याशी की लोच एक है—स्पष्टतः इतना अधिक महत्व रखती है कि जब भी संगत हो हम को उसके व्यवहार को पूर्णरूपेण समझना चाहिए। आइए, हम प्रस्तुत समस्या को लेकर इसको समझें।

(४) यदि साहसोद्यमी की 'क' वस्तु संबंधित प्रत्याशा की लोच १ है (यहां कीमत परिवर्तन स्थायी मान लिए गए हैं) तो 'क' की चालू कीमत में वृद्धि के कारण उसकी सभी प्रत्याशित कीमतें उसी अनुपात में बढ़ जायेंगी। स्थैतिकी के अन्तर्गत हमने देखा था कि जब किसी वस्तु समूह की कीमत समान अनुपात बदलती है तो उस समूह को एक वस्तु समान माना जा सकता है और एक वस्तु से संबंधित आर्थिक

व्यवहार के सभी नियम इस पर लागू किए जा सकते हैं। ऐसा ही यहां भी है। यदि प्रत्याशा की लोच एक है तो 'क' की चालू (बाजार में इस समय घोषित) कीमत की वृद्धि के कारण 'क' वस्तु के सभी आयोजित उत्पादन में वृद्धि हो जायगी ; यहां समयोपरांत प्रतिस्थापन का अवसर नहीं है अतएव एक दृष्टिकोण से समय तत्व का ध्यान छोड़ा जा सकता है। उत्पादन-योजना के व्यवहार संबंधी नियम ठीक वही हैं जो स्थैतिक दशा में फर्म के व्यवहार के होते हैं। 'क' का उत्पादन बढ़ना चाहिए, चाहे वह किसी प्रकार के आगत में, इस समय या किसी समय, वृद्धि करके हो और चाहे अन्य उत्पादों के स्थान पर प्रतिस्थापन द्वारा (यहां अन्य उत्पादों से अर्थ यथार्थ में अन्य उत्पादों से है न कि उसी यथार्थ उत्पाद के भिन्न तिथियों के निर्गत से)।[1]

यदि हम स्थिति को पूर्ण रूप से लें तो 'क' के आयोजित उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए किन्तु निःसन्देह तर्क के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उत्पादन-वृद्धि सभी भावी समय में समान रूप से फैली हुई होगी। यथार्थ में ऐसे तर्क हैं जिनके आधार पर विपरीत दिशा में मान्यतायें रखी जा सकती हैं। चालू सप्ताह में जो अतिरिक्त उत्पादन किया जा सकता है अथवा निकट भविष्य के सप्ताहों में जिस अतिरिक्त उत्पादन की योजना बनायी जा सकती है वह साधारणतया काफी कम होगा। आयोजन-तिथि पर साहसोद्यमी के पास जो प्रारंभिक सामग्री होगी उसमें सामान्यतः वर्तमान और निकट भविष्य में संभव उत्पादन का अधिकांश प्रायः निर्मित रूप में सम्मिलित होगा। क्योंकि लगभग तैयार वस्तु केवल सीमित मात्र में हो सकती है, कीमत-परिवर्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप इस उत्पादन में अनिवार्यतः कम ही परिवर्तन किए जा सकते हैं। किन्तु सुदूर भविष्य के उत्पादनों के प्रसार पर ऐसी कोई रोक नहीं है, अथवा, स्यात् यों कहें कि जैसे जैसे भविष्य दूर होगा उक्त रोक की शक्ति क्रम से कम होगी।

निःसन्देह यहां मार्शल के अल्प और दीर्घकालों के सिद्धान्त को छोड़कर और कुछ नहीं है। और स्यात् यह रोचक होगा कि हम अपने अध्ययन को कुछ आगे बढ़ायें।

(५) मार्शल का प्रमाणित उदाहरण चित्र के रूप में निम्न प्रकार रक्खा जा सकता है। भावी समय को अनुभौमिक अक्ष पर लें और निर्गत को शीर्ष अक्ष पर और यह मान लें कि कीमतें ऐसी हैं कि साहसोद्यमी अ अ' द्वारा चित्रित उत्पादन के एक स्थिर प्रवाह की योजना बनाता है। अब यदि इस उत्पाद की कीमत बढ़ जाय, और स्थायी रूप से बढ़ गयी मानी जाय, तो (ऐसा प्रतीत होता है कि) वह किसी अन्य प्रवाह, जैसा वक्र ब ब' से चित्रित है, की योजना

बनाएगा। यह वक्र उस समय तक बढ़ेगा जब तक नई दशाओं की अनुरूप सामग्री समायोजित नहीं कर ली जाती है; किन्तु उसके बाद स्यात् यह एक नए संस्थिति स्तर पर स्थिर हो जायगा ।

चित्र २४
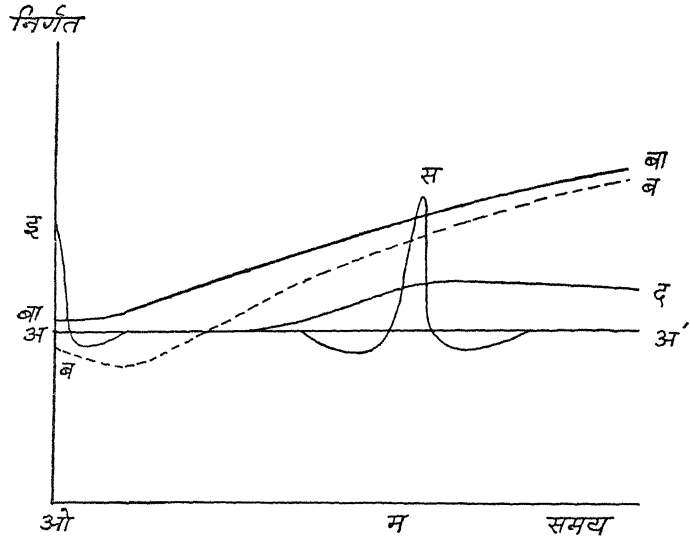
यह ज्ञात करने के लिए कि क्या निर्गत की वृद्धियों का उक्त समयोपरान्त वितरण अनिवार्य है, आइए हम यह विचार करें कि कीमत की स्थायी वृद्धि के प्रभाव का स्वरूप क्या है। प्रत्याशा की लोच एक होने का अर्थ है कि वस्तु की प्रचलित कीमत और उसकी सभी प्रत्याशित भावी कीमतें एक ही अनुपात में बढ़ती हैं। इसलिए कीमत वृद्धि का कुल प्रभाव दो प्रभावों का योग है—एक ओर (प्रत्याशित कीमत अपरिवर्तित मानकर) प्रचलित कीमत की वृद्धि का प्रभाव और दूसरी ओर (प्रचलित कीमत और अन्य प्रत्याशित कीमत अपरिवर्तित मान कर) प्रत्येक विशिष्ट प्रत्याशित कीमत की वृद्धि का प्रभाव। आइए, उसी चित्र में हम यह विचार करें कि इन आंशिक परिवर्तनों का उत्पादन-योजना पर क्या प्रभाव पड़ता है।

सर्वप्रथम, मान लो, कि (अन्य कीमतों के अपरिवर्तित रहने पर) 'त' तिथि की प्रत्याशित कीमत में वृद्धि होती है। इस परिवर्तन से निम्नांकित दो में से कोई एक प्रभाव प्रतिलक्षित होगा :

(१) यह संभव हो सकता है कि—कम से कम आंशिक रूप में—समयोपरांत प्रतिस्थापन द्वारा समस्या का हल किया जा सकता है। उक्त आलोच्य तिथि से पहले के निर्गत घटा दिए जांय (यथा, अब से आगे के निर्गत कम कर दिए जायं ताकि उक्त तिथि पर बेचने के लिए माल एकत्र हो जाय) अथवा बाद के निर्गत कम कर दिए जांय (यथा, उत्पादन को तीव्रतर करके अर्थात् मशीनों पर चढ़े माल की पूर्ति बढ़ाकर जिससे उक्त तिथि पर यथासंभव अधिक माल तैयार मिले) अथवा स्यात् दोनों ही उपाय अपनाए जायें। ये उपाय कहां तक अपनाए जा सकते हैं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि वस्तु का प्राविधिक स्वरूप क्या है तथा प्रारंभिक सामग्री का प्राविधिक स्वरूप क्या है ; उत्पाद कहां तक टिकाऊ है ; इसके अर्द्ध-निर्मित उत्पाद कहां तक टिकाऊ हैं ; ऐसे अर्द्धनिर्मित उत्पादों की मात्रा प्रारंभिक सामग्री में कितनी है, आदि। जो भी हो, यदि यह उपाय काम में लाए जाते हैं तो हम कह सकते हैं कि इस प्रकार की प्रत्याशा-वृद्धि के फलस्वरूप वैसा होगा जैसा चित्र में अ स अ' रेखा द्वारा दिखाया गया है।

(२) दूसरी ओर जब ऐसे सीधे समयोपरान्त प्रतिस्थापन के अवसर कम होते हैं तब प्रतिस्थापन की प्रवृत्ति एक विपरीत प्रवृत्ति से दब सकती है। यदि उत्पाद टिकाऊ नहीं है और यदि उत्पाद के लिए आवश्यक सामग्रियां टिकाऊ नहीं हैं तब समयोपरान्त प्रतिस्थापन नहीं किए जा सकते। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि विचाराधीन उत्पाद के उत्पादन हेतु कुछ स्थायी यंत्रों की आवश्यकता पड़े। इसलिए किसी विशेष तिथि को होने वाला उत्पादन उस तिथि को उपलब्ध स्थायी यंत्रों की मात्रा के कारण सीमित हो जायेगा। यदि कीमत की प्रत्याशित वृद्धि काफी अधिक है तो यह काफी लाभकारी सिद्ध हो सकता है कि ऐसे स्थायी यंत्र की अधिक मात्रा लगा ली जाय जिससे विचाराधीन तिथि पर उत्पादन बढ़ाया जा सके ; किन्तु ऐसा करने से अन्य तिथियों पर भी अधिक उत्पादन करना सुलभ हो जायगा। यह समयोपरान्त संपूरकता का उदाहरण है। यदि भिन्न तिथियों के निर्गत संपूरक हैं तो (तिथि 'त' पर अधिक कीमत की प्रत्याशा के कारण) आयोजित उत्पादन प्रवाह का रूप ऐसा होगा जैसा वक्र अ द द्वारा दर्शाया गया है।*

(अन्य बातों को समान मान कर) त तिथि पर प्रत्याशित कीमत वृद्धि के प्रभावों के संबंध में जो भेद हमने ऊपर किए हैं वही उस हालत में भी लागू हैं जब हम प्रचलित कीमत की वृद्धि के (जिसके आगे बने रहने की प्रत्याशा नहीं है) प्रभावों का विचार करते हैं। किन्तु जब हम इसका हिसाब लगाने बैठते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी वृद्धि का प्रभाव प्रायः बहुत कम होगा। जहां संपूरकता

होती है वहां यह प्रभाव अनिवार्य रूप से लगभग शून्य होता है। कीमत के पुनः सामान्य बन जाने से पहले इतना समय नहीं रहेगा कि अतिरिक्त यंत्र लगाए जा सकें और इसलिए उन्हें लगाए जाने की प्रेरणा नहीं होगी। प्रतिस्थापन वाली दशा में प्रभाव इतना नगण्य नहीं होगा तथापि यह समझना महत्वपूर्ण है कि प्रतिस्थापन का अब केवल एक ढंग हो सकता है। उदाहरण की दशा में देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि चालू निर्गत के पक्ष में प्रतिस्थापन करना हो तो कम से कम इस तिथि से पहले के निर्गत में कमी नहीं की जा सकती ; अन्य शब्दों, में यदि मांग-वृद्धि की पूर्व सूचना न हो तो स्टॉक इकट्ठा नहीं किए जा सकते। अतः केवल उत्पादन को तीव्र करने की संभावना बचती है अर्थात् भविष्य के स्थान पर वर्तमान निर्गत को प्रतिस्थापित कर दें (निःसन्देह इस उत्पादन को तीव्र तर करने के लिए कुछ अतिरिक्त आगतों की आवश्यकता हो सकती है)। फलस्वरूप या तो निर्गत-प्रवाह में कोई परिवर्तन नहीं होगा या निर्गत-प्रवाह का रूप ऐसा होगा जैसा चित्र में इ अ' द्वारा दिखाया गया है।

(६) जब कीमत-वृद्धि के स्थायी होने की प्रत्याशा होती है तो आयोजित निर्गत-प्रवाह पर जो कुछ प्रभाव पड़ता है वह इन आंशिक प्रभावों के योग द्वारा अनुगणित किया जा सकता है। संपूरकता की दशा में (अन्य बातें समान हों) जब वर्तमान कीमत-वृद्धि के प्रभाव लगभग शून्य हैं और प्रत्याशित भावी कीमतों की वृद्धि के कारण वक्र अ द द्वारा चित्रित निर्गत-वृद्धि के प्रवाह का उदय हो सकता है तब, यह सरलता से समझा जा सकता है कि कुल प्रभाव वही होना चाहिए जैसा बाबा' रेखा द्वारा दर्शाया गया है—यह वही वक्र है जो हमने मार्शल के उदाहरण को लेकर खींचा था। प्रत्येक अंग लगभग इसी रूप का है : फलतः अंतिम परिणाम भी इसी रूप का होना चाहिए। इस उदाहरण में कोई अपवाद नहीं उठता।[२]

दूसरी ओर प्रतिस्थापन वाली दशा में आंशिक प्रवाहों का स्वरूप पहले से कहीं कम सरल है और उनका योग करने से प्राप्त परिणाम उतना निश्चित भी नहीं है। किसी दी हुई तिथि पर जो निर्गत होता है उस पर पड़ने वाला कुल प्रभाव कुछ तो निर्गत बढ़ाने वाली शक्तियों पर निर्भर रहता है और कुछ उसे घटाने वाली शक्तियों पर। ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम कह सकें कि ये परिणाम किसी सरल प्रकार का होगा और न ही यह कह सकते हैं कि जो शक्तियां निर्गत की वृद्धि लाती हैं वे प्रत्येक तिथि पर प्रमुख होंगी। सब बातों को सोचते हुए यह अब भी संभव है कि निर्गत की मुख्य वृद्धि और अधिक भावी तिथियों पर हो : इसलिए परिणाम

का बा बा रेखा के अनुरूप होना अब भी सर्वाधिक संभव है। किन्तु इस प्रमाणित स्वरूप से अंतर होना बहुत कुछ संभव है। इस प्रकार यह संभावना उल्लेखनीय है कि उत्पादन योजना ब ब के समान हो जिसके कुछ वास्तविक निर्गत पूर्व प्रवाह के संगत निर्गतों से कम हों।

जो भी हो, एक अन्य विशेषता है, जिसकी खोज हमने उत्पादन के स्थैतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत की थी और जिसका उल्लेख यहां संगत है। यदि उद्योग के निश्चित साधन अतिमहत्वपूर्ण नहीं हैं तो इस बात की प्रवृत्ति होती है कि जो वस्तुएँ तैयार की जाती हैं और जो कारक नियुक्त किए जाते हैं वे दो भिन्न वर्गों में पड़ें और उनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत संपूरकता ही प्रमुख संबंध हो : यद्यपि तज्जनित प्रभाव को संतुलित करने के लिए एक वर्ग से दूसरे वर्ग में तीव्र मात्रा का रूपान्तरण (जो एक प्रकार का प्रतिस्थापन ही है) संभव रहता।[3] जैसा कि दूसरे स्थैतिक सिद्धान्तों के संबंध में सत्य है, इस विशेषता का महत्व भी स्थैतिक मान्यताओं से परे भी है। यदि फर्म की प्रारंभिक सामग्री का संभव उत्पादन-योजनाओं को सीमित करने में बहुत बड़ा हाथ नहीं है तो यही संभावना अधिक है कि निर्गतों के मध्य संपूरकता (समयोपर्यन्त संपूरकता भी) हो, न कि अधिक प्रतिस्थापन्नता ! अतएव ऐसे असामान्य प्रभाव जिन्हें चित्र में ब ब द्वारा दिखाया है, केवल उन्हीं दशाओं में उदित हो सकते हैं जहां प्रारंभिक सामग्री का संपूर्ण परिस्थिति पर प्रमुख हाथ हो।

उपर्युक्त आवश्यकताओं के अनुरूप यदि कोई ऐतिहासिक उदाहरण देना हो तो हम सन् १९३४-३५ के दक्षिण-अफ्रीकी स्वर्ण-खनन का उल्लेख कर सकते हैं। 'कीमतों की वृद्धि के साथ रेन्ड स्थित उत्पादन कुछ गिरा था क्योंकि निचले किन्तु अधिक समृद्ध खनिज पदार्थ को खोद निकालने की अपेक्षा, उपलब्ध यंत्रों को कम स्वर्णवाले खनिजपदार्थों को कूटने पीसने से अधिक लाभ होता था। इसी बीच जो नए यंत्र लगाए गए हैं वे शीघ्र ही चालू हो जायंगे।[4] मैं इस विवाद में नहीं पड़ूंगा कि हमने जो कुछ कहा है उससे घटना की सही व्याख्या होती है या नहीं। मेरा यहां पर इस उल्लेख से केवल इतना ही आशय है कि यह बता दूं कि ऐसा कोई सैद्धांतिक कारण नहीं है जिससे हम कह सकें कि ऐसा नहीं होना चाहिए था।

(७) निःसंदेह आगत-कीमतों में परिवर्तन के प्रभावों से संबंधित सामान्य सिद्धान्त निर्गत-कीमतों में परिवर्तन के प्रभावों से संबंधित सामान्य सिद्धान्तों के बिल्कुल विपरीत है। यदि किसी कारक 'अ' की क़ीमत बढ़ती है और यदि यह प्रत्याशा है कि वह बढ़े स्तर पर बनी रहेगी तो उस कारक की कुल आयोजित आगत-मात्रा घटनी चाहिए। यहां भी यह आवश्यक नहीं है कि यह कमी भिन्न भावी अवधियों

में समान रूप से की जाय । यहां भी ऐसे तर्क हैं (निर्गत-पक्ष वाले तर्क से कम शक्तिशाली परन्तु तब भी उल्लेखनीय) जिनके आधार पर हम यह मान सकते हैं कि चालू-आगत और निकट भविष्य के आगत पर पड़ने वाले प्रभाव की अपेक्षा सुदूर भविष्य के आयोजित-आगतों पर अधिक प्रभाव पड़ेगा ।

पहले की भांति ही इसका मुख्य कारण प्रारंभिक सामग्री का विशिष्ट स्वरूप है । प्रारंभिक सामग्री में अधिकतर अर्धनिर्मित माल होंगे, ऐसी सामग्री पर उन्हें किसी प्रकार के अंतिम रूप देने की दृष्टि से कुछ काम किया जा चुका होगा ; यदि ये कार्य काफी आगे बढ़ चुका है तो वह सीमा जहां तक अन्तिम स्वरूप वाली वस्तुओं की मात्रा बदली जा सकती है, सीमित होगी । हम देख चुके हैं कि किस प्रकार यह विशेषता दी हुई सामग्री से प्राप्त हो सकने वाले निकट भविष्य के निर्गत प्रवाह के स्वरूप और समय को सीमित करती है । क्योंकि इन निर्गतों को पूरा करने के लिए सामान्यत: अधिक आगतों की आवश्यकता होगी इसलिए एक प्रकार से निकट भविष्य का भावी आगत-प्रवाह भी सीमित हो जाता है । यदि आगत-कीमत अप्रत्याशित रूप से बढ़े तब भी जितना कार्य आरंभ हो चुका है उसको अधूरा छोड़ने के स्थान पर पूरा करना तब तक लाभकारी होगा जब तक आगत-कीमतों की वृद्धि बहुत अधिक न हो । यद्यपि यह संभव हो सकता है कि पहले की योजना को ही कार्यान्वित करके और काम को बिल्कुल रोक देने के मध्य का कोई रास्ता निकाल लिया जाय, तथापि साहसोद्यमी को नयी परिस्थिति का यथार्थ में पूरी तौर से सामना करने योग्य बनने में कुछ समय तो लग ही जायगा ।

जब हम कारक की कीमत में कमी का विचार करते हैं तब भी सामान्यत: ऐसी ही स्थिति होगी किन्तु अब एक नयी संभावना भी उठती है । यह संभव है कि उत्पादन का एक पूर्णतया नया प्रक्रम चालू किया जाय (या तो एक नई फर्म स्थापित करने या स्यात् पुरानी फर्म द्वारा नया प्रक्रम लगा कर के—हम इसे नया प्रक्रम कह सकते हैं, यदि यह पहले प्रक्रमों से बहुत अधिक समानता नहीं रखता) । लेकिन इस प्रकार का नितान्त नया प्रक्रम भी प्राविधिक अनम्यताओं द्वारा प्रभावित हो सकता है—यह दृढ़तायें नि:सन्देह उसी समयोपरान्त संपूरकता के स्वरूप हैं जिनकी ओर होने वाली प्रवृत्ति का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं । यह बात नहीं है कि नवीन आगत-प्रवाह का समय-संबंधी स्वरूप शुद्ध प्राविधिक दत्त सामग्री है किन्तु इसके बनावट के प्राविधिक कारक संभवत: बहुत महत्वपूर्ण होंगे । नि:सन्देह यह तो संभव है कि प्राविधिक कारकों के कारण आगत प्रवाह किसी भी प्रकार के हों; हो सकता है कि आरंभ में आगतों की बहुत अधिक मात्रा की आवश्यकता हो और

उसके बाद वह कम हो जाय। अथवा, वे आरंभ में बहुत कम हों बाद में बढ़ जायें। किन्तु सामान्य अनुभव स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि किसी न किसी चरण में सामान्यतः आगतों का प्रवाह अधिकतम होता है और सामान्यतः यह अधिकतम प्रवाह प्रक्रम के आरंभिक चरण के बाद ही घटित होता है। (साधारण भाषा में हम इसे इस प्रकार कहते हैं कि चालू होने से पहले अधिकांश प्रक्रमों के लिए एक तैयारी की अवस्था अनिवार्य होती है।) यह तर्क वास्तव में अर्थशास्त्रीय की अपेक्षा प्राविधिक अधिक है किन्तु इसके अर्थशास्त्रीय परिणाम इतने महत्वपूर्ण हैं कि किसी भी अच्छे आर्थिक सिद्धान्त में इसे स्थान देना आवश्यक है।

मार्शल द्वारा प्रतिपादित अल्प और दीर्घकालीन सिद्धान्त के कारण हम निर्गत पक्ष में पश्चता के विचार से परिचित हैं। खेद है कि आगत पक्ष में ऐसी ही पश्चताओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। उनका कुछ उन व्यापी सामाजिक समस्याओं से निकट संबंध है जिनका अर्थशास्त्री अध्ययन करता है, यथा, बेकारी और बेकारी को हल करने की जटिलता। इस संबंध में प्रतिपादित कोई भी सिद्धान्त जिसमें आगत-पश्चताओं की संभावना को स्थान नहीं मिलता, संभवतः अतिभ्रामक सिद्ध होगा।

---

* स्यात् 'अ द' रेखा को बीच में स बिन्दु तक अवश्य उठाना चाहिए, क्योंकि अधिक यंत्र लगा करके यह स्थिति तो बनी ही रहती है कि त तिथि पर निर्गत स तक पहुँच जाय। प्रसंगवश यह भी ज्ञातव्य है कि अतिरिक्त यंत्रों के लगवाने के कारण वक्र अ द आरंभ से ऊपर की ओर न चढ़कर अ स अ' की अपेक्षा कुछ अधिक काल बाद अ अ' स्तर से नीचे की ओर उतर जाय और तत्पश्चात् 'त' तिथि पर 'स' तक बढ़ जाय। तिथि के पश्चात् उसका रूप हिक्स द्वारा दिखाए 'अ द' वक्र के समान हो सकता है।

(अनुवादक की ओर से)

अध्याय १७

ब्याज और उत्पादन-योजना

(१) अब हम वास्तव में विवादास्पद प्रश्न पर आते हैं। जहां तक उत्पादन-योजना पर कीमत-परिवर्तनों के प्रभावों का संबंध है हमें किसी नए मुख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करना है, उस क्षेत्र में महत्वपूर्ण बातें कम से कम मार्शल के समय से परचित रही हैं। दूसरी तरफ, ब्याज-परिवर्तनों के सिद्धान्त में नियमों का कोई ऐसा समूह नहीं है जो निश्चित और सामान्य रूप से मान्य हो ; एक क्लासिकल सिद्धान्त है (बॉम बॉवर्क का), किन्तु इसकी सत्यता विस्तृत रूप से संदिग्ध है ; विरोधी सिद्धान्त की भी एक रूपरेखा है (प्रोफेसर नाइट व उनके अनुयायियों द्वारा प्रवर्तित) किन्तु विरोध का मुख्यतः अभी तक समाधान नहीं हुआ है ; अतः हम लोगों के लिए एक नए सिद्धान्त को खोजने की चेष्टा के लिए क्षेत्र खुला हुआ है जिसके द्वारा इन विरोधी तत्वों को उचित स्थानों पर प्रतिष्ठित किया जा सके।

मुझे विश्वास है कि मैंने ऐसे सिद्धान्त को खोज लिया है और मैं इसे इस अध्याय में प्रतिपादित करना चाहता हूँ। इस सिद्धान्त का कुछ आभास अब तक पाठकों को मिल चुका होगा क्योंकि पीछे जिन अनुसंधानों को हम करते रहे हैं वे इस प्रकार प्रतिपादित किए गए थे कि हम विचाराधीन लक्ष्य की ओर बढ़ें। उदाहरणार्थ, कीमत-परिवर्तनों की योजना पर पड़ने वाले प्रभावों की ऐसी खुलकर व्याख्या की थी (अन्यथा तत्संबंधी वास्तविक महत्वपूर्ण निष्कर्ष तो पहले से ही परिचित थे) जिससे ब्याज-परिवर्तनों की विश्लेषण की भूमि तैयार हो सके। अपनी रीति को अब हमें केवल ब्याज-परिवर्तनों के प्रति लागू करना है और हम देखेंगे कि समाधान प्राप्त हो जायेंगे।

कीमत-परिवर्तनों के सिद्धान्त की अपेक्षा ब्याज-परिवर्तनों के सिद्धान्त के कठिन होने का कारण यह है कि जब हम कीमत पर विचार करते हैं तब यह संभव होता है कि हम सीधे सबसे अधिक रोचक दशा कीमत-परिवर्तन की वह दशा जिसमें परिवर्तन के स्थायी होने की प्रत्याशा होती है पर आ सकते हैं। (हम देख चुके हैं

कि ऐसा क्यों है । कीमतों में स्थायी परिवर्तन का अर्थ होता है कि चालू कीमत और कीमत-प्रत्याशाओं में अनुपातिक परिवर्तन, जिसके फलस्वरूप विभिन्न तिथियों पर बेंची या खरीदी जाने वाली वस्तुओं को हम समान वस्तु मानकर स्थैतिक रीति को अपना सकते हैं।) जब हम ब्याज की दर की व्याख्या करते हैं तब हम ऐसे सुविधाजनक सरलीकरण का प्रयोग नहीं कर सकते। ब्याज की दरों में परिवर्तन का जिनके स्थायी होने की प्रत्याशा है, का यह अर्थ होता है कि सभी अवधियों वाले ऋणों के लिए प्रति सप्ताह अपहरण अनुपात में समानुपातिक परिवर्तन हुआ । किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि योजना-निर्धारण के लिए जो कीमतें संगत हैं उनके अपहरित रूप में भी समानुपातिक परिवर्तन होता है । यह सत्य है कि अप-हरित-कीमतों में एक क्रमबद्ध परिवर्तन होता है किन्तु यह परिवर्तन समानुपातिक नहीं होता। अधिक अवधि से परे के आगत और निर्गतों की अपहरित-कीमतें निकट भविष्य की अपहरित-कीमतों की अपेक्षा निरंतर अधिक प्रभावित होती हैं । इस विशेषता के फलस्वरूप हम ज्ञात स्थैतिक सिद्धान्तों का उपयोग करके ब्याज-सिद्धान्त संबंधी किसी महत्वपूर्ण निष्कर्ष की ओर सीधे नहीं बढ़ सकते । अध्ययन की केवल संभव रीति यही है कि ब्याज-दरों के सामान्य परिवर्तन को हम कुछ विशेष दरों के विशेष परिवर्तन के रूप में विभाजित करें (उसी प्रकार जिस प्रकार हमने कीमतों और कीमत-प्रत्याशाओं के सामान्य परिवर्तनों को विभिन्न प्रत्याशा के विशेष परिवर्तन के रूप में विभाजित किया था) । जब हम कीमतों की व्याख्या करते थे तब हमें उनके प्रभाव को कई भागों में विभाजित करने पर कुछ प्रकाश मिला था यद्यपि उसकी विशेष अवश्यकता नहीं थी। प्रस्तुत प्रसंग में हमारे सामने व्याख्या का केवल यही एक मार्ग है ।

(२) हम यह मान कर चलेंगे कि प्रत्येक अवधि के ऋणों के लिए बाजार में एक भिन्न ब्याज की दर है और सर्वप्रथम हम यह अध्ययन करेंगे कि यदि किसी एक दर में परिवर्तन होता है तो क्या प्रभाव पड़ता है। अन्य सभी ब्याज की दरों को अपरिवर्तित मान लेंगे, और (निःसन्देह) सभी कीमतों और कीमत-प्रत्याशाओं को भी ।

यदि 'त' सप्ताहों के ऋण के ब्याज की दर में परिवर्तन होता है तो योजना-तिथि से (त+१) वें सप्ताह के विक्रयार्थ सभी निर्गतों की अपहरित-कीमतों पर प्रभाव पड़ेगा और इसी प्रकार का प्रभाव उस सप्ताह में क्रय किए जाने वाले सभी आगतों की अपहरित-कीमतों पर भी पड़ेगा। अन्य सभी अपहरित कीमतें अप्रभावित रहेंगी ।

त सप्ताहों के ऋणों की ब्याज की दर में कमी आने पर $क_त$ $ख_त$—,... (त सप्ताह से अगले सप्ताहों में आयोजित निर्गत) और $अ_त$ $ब_त$....(त सप्ताह से अगले सप्ताह में आयोजित आगत) की अपहरित-कीमतों में वृद्धि होगी। इसका सबसे स्वाभाविक प्रभाव यह होगा कि $क_त$, $ख_त$...,के आयोजित-निर्गतों की मात्रा बढ़ जायगी और आयोजित आगतों $अ_त$, $ब_त$..की मात्रा घट जायगी। इसके संतुलन स्वरूप अन्य सप्ताहों के आयोजित-आगतों में वृद्धि होनी चाहिए, या निर्गतों में ह्रास, या दोनों।

जो भी हो, क्योंकि $क_त$ की निर्गत-वृद्धि के (जो उसकी अपहरित कीमत के कारण है) कारण $ख_त$ का उत्पादन घट सकता है अथवा संबंधित आगत $अ_त$, $ब_त$, ...की मांग में वृद्धि आ सकती है (और इसी प्रकार अन्य आगतों और निर्गतों के लिए भी सही हो सकता है), यह नितान्त निश्चित नहीं है कि किसी विशेष निर्गत के अनुकूल (या विशेष आगत के प्रतिकूल) पड़ने वाले सीधे प्रभाव विपरीत दिशा में अप्रत्यक्ष रूप से पड़ने वाले प्रभाव द्वारा कट नहीं जायगा। फलतः यह नितान्त निश्चित नहीं है कि विचाराधीन तिथि पर किसी विशेष निर्गत की मात्रा बढ़ेगी और न ही यह कि किसी विशेष आगत की मात्रा घटेगी। ऐसे उदाहरणों की कल्पना की जा सकती है जिनमें किसी विशेष निर्गत या विशेष आगत पर इससे विपरीत दिशा में प्रभाव पड़े। किन्तु क्योंकि विचाराधीन सभी निर्गत और आगत समसामयिक हैं, ब्याज की दर का परिवर्तन उन सभी की अपहरित-कीमतों में समानुपातिक परिवर्तन लाएगा और यह नियम कि समान अनुपात में जिन वस्तुओं की कीमत बदलती है उनको एक वस्तु समान समझा जा सकता है यहां भी लागू होगा। यह सही है कि जब हम कुछ आगतों और निर्गतों को इस प्रकार एक वस्तु के रूप में संजो लेते है तो हमको यह याद रखना पड़ेगा कि आगतों और निर्गतों में चिन्ह (+या−)का भेद है (आगतों के संबंध में जो नियम लागू होते हैं उनसे ठीक विपरीत नियम निर्गतों के संबंध में लागू होते हैं) इससे उनको व्यवहार में एक वस्तु मानने में कोई अंतर नहीं पड़ता है; नियम केवल निर्गतों तथा आगतों के मूल्यों के अंतर पर लागू होता है। 'त' सप्ताह की अवधि वाले ऋणों की ब्याज की दर में कमी के कारण उदय होने वाले प्रभाव के संबंध में बिना किसी अपवाद के नितान्त निश्चित रूप में जो नियम निकलता है वह केवल यह है कि (त + १) वें सप्ताह में आयोजित अतिरेक की मात्रा बढ़नी चाहिए।

यह सिद्धान्त सामान्य रूप में पर्याप्त है। इसके कारण हमको एक ऐसी सुविधा-जनक संक्षिप्त रीति मिल जाती है जो आगे की व्याख्याओं में उपयोगी सिद्ध होगी। जब तक कीमत-प्रत्याशायें दी हुई हों व्याज की दरों में होने वाला कोई परिवर्तन सभी सम-सामयिक निर्गतों और आगतों में समानुपातिक परिवर्तन लाएगा। फलतः ब्याज-परिवर्तनों की अपनी पूरी व्याख्या में हम, जब भी चाहें, सम-सामयिक सभी निर्गतों और आगतों को एक साथ इकट्ठा कर एक वस्तु के रूप में देख सकते हैं। हम उत्पादन-योजना की समस्या को इस सरल रूप में देख सकते हैं कि हमको केवल कुछ संभव अतिरेक-प्रवाहों में से सर्वाधिक लाभपूर्ण प्रवाह चुनना है। संभव प्रवाहों की सूची प्राविधिक दशाओं द्वारा निश्चित हो जाती है और दी हुई कीमतों और कीमत-प्रत्याशाओं के कारण इसको मौद्रिक रूप में बदल सकते हैं। तब ब्याज-परिवर्तनों के प्रभाव को अतिरेकों के परस्पर प्रतिस्थापन स्वरूप समझा जा सकता है और निर्गतों और आगतों के मध्य होने वाले प्रतिस्थापन तथा रूप परिवर्तन (जिनके आधार पर अतिरेकों का उदय होता है) के लिए इस संक्षिप्त रीति का उपयोग कर सकते हैं। 'त' सप्ताह के अपहरण अनुपात (वह अनुपात जिसमें मुद्रा को 'त' सप्ताह के लिए अपहरित करने हेतु घटाना पड़ेगा) को तब (त + १) वें सप्ताह के अतिरेक की कीमत-स्वरूप मान सकते हैं। यदि इस अपहरण-अनुपात में वृद्धि होती है तो उसको हम इस उक्त अतिरेक की कीमत की वृद्धि स्वरूप मानेंगे। इस प्रकार जिस उदाहरण की हम व्याख्या कर रहे हैं उसके संबंध में हम कह सकते हैं कि त+१ वें सप्ताह के आयोजित अतिरेक में वृद्धि होनी चाहिए; कि अन्य अतिरेकों को प्रतिस्थापित करके ही ऐसा होगा (केवल यही संभव है कि कुछ अन्य अतिरेकों को घटा कर एक अतिरेक विशेष को बढ़ाया जाय); [१] यद्यपि यह भी संभव है कि सीमित संख्या में कुछ अतिरेक उक्त (त+१) वें अतिरेक के संपूरक हों और इसलिए वे भी बढ़ेंगे।

(३) जब व्याज में होने वाले किसी विशेष परिवर्तन को प्रभाव के इस प्रकार रखा जाता है तब इसका सुगमता से इस प्रकार व्यापकीकरण हो सकता है कि इससे हम व्याज की दरों के सामान्य परिवर्तन के प्रभाव को मालूम कर सकें। यदि सभी अवधि वाले ऋणों के लिए साप्ताहिक ब्याज की दर घटती है तो सभी भावी अति-रेकों से संबंधित (अपहरण-अनुपात अन्य शब्दों में उनकी 'कीमतें') बढ़ेंगे: और इसके कारण ही चालू-अतिरेक के विपक्ष में और भावी अतिरेकों के पक्ष में प्रतिस्थापन की प्रत्यक्ष प्रवृत्ति का उदय होगा। तथापि विचाराधीन परिवर्तन का रूप सभी भावी अतिरेकों की कीमतों में केवल समानुपातिक नहीं है: प्रत्येक कीमत अपने से पहले

वाली (समय के अर्थ में) कीमत की अपेक्षा अधिक प्रभावित होगी और बाद की कीमतों (समय के अर्थ में) की अपेक्षा कम । प्रत्येक अतिरेक पर इस प्रकार दो प्रभाव पड़ते हैं—एक ओर उसकी स्वयं की कीमत बढ़ जाने से अनुकूल प्रतिस्थापन होता है और दूसरी ओर अन्य कीमतों की वृद्धि के कारण साधारणतया इसके विपरीत प्रतिस्थापन होता है । जो भी हो, शृंखला में यह जितने बाद में आता है उतनी ही प्रसार संबंधित शक्तियां अधिक शक्तिशाली होती हैं और संकुचन करने वाली शक्तियां स्वभावतः कम शक्तिशाली होती हैं । इस प्रकार हम यह प्रत्याशा कर सकते हैं कि जो अतिरेक समय के अर्थ में सबसे दूर हैं उनमें सबसे अधिक प्रसार होगा और जो सबसे अधिक निकट हैं उनमें सबसे अधिक संकुचन । अतिरेकों के प्रवाह पर पड़ने वाले कुल प्रभाव को इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रवाह का मोड़ बदल जाता है एक छोर पर यह झुक जाता है और दूसरे पर उठ जाता है ; यह किसी मध्य बिन्दु के बल पर घूमता प्रतीत होता है ।

क्योंकि किसी भी अतिरेक में वृद्धि या तो संबंधित निर्गतों का प्रसार करके या संबंधित आगतों का संकुचन करके ही की जा सकती है, उपर्युक्त मोड़ निर्गत और आगत प्रवाहों में निम्न प्रकार से प्रतिलक्षित होगा । निर्गत प्रवाह ऊपर की ओर इस प्रकार उठ जायंगे जैसा कि नीचे संकेत किया गया है :—

$$\underset{\downarrow}{क_0}, क_1, क_2, \overset{\uparrow}{क_3}, \ldots क_न$$

(यह ठीक उसी प्रकार होगा जिस प्रकार अतिरेकों के प्रवाह का परिवर्तन होता) । किन्तु आगत प्रवाह विपरीत दिशा में बदलेंगे ।

$$\overset{\uparrow}{अ_0}, अ_1, अ_2, \underset{\downarrow}{अ_3}, \ldots अ_न \text{ ।}$$

यह प्राविधिक दशाओं पर निर्भर होगा कि अतिरेकों का उतार-चढ़ाव निर्गत प्रवाहों और आगत प्रवाहों में किस प्रकार बंटेगा ।

यह तो स्मरण होगा ही कि पहले भी हम निर्गत-प्रवाहों में उतार-चढ़ाव की इस घटना से परिचित हो चुके हैं । किसी विशेष निर्गत की कीमत-वृद्धि के जिसके स्थायी होने की प्रत्याशा की जाती है, कारण ही निर्गत-प्रवाह ऊपर की ओर उठ जाता है (तुलना कीजिए चित्र संख्या—२४ में वक्र बा बा से) । किन्तु उस उतार-चढ़ाव का कारण बिल्कुल भिन्न था । किसी निर्गत की कीमत की प्रत्याशित-स्थायी-

वृद्धि स्वयं ही सभी अवधियों के निर्गतों को बढ़ाने में समान प्रेरणा देती है : केवल इन प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया निकट भविष्य की अपेक्षा सुदूर भविष्य में अधिक होती है क्योंकि प्राविधिक अनम्यताएं बनी रहती हैं और प्रारंभिक-यंत्र-सामग्री की विशिष्टता भी। यहां व्याज की दर की कमी अधिक भविष्य की तिथियों के निर्गत में वृद्धि करने की प्रेरणा अधिक देती है। उतार-चढ़ाव प्राविधिक अनम्यताओं के कारण नहीं होता : यह तो ब्याज का मूल स्वरूप ही है।

जो भी हो, प्राविधिक अनम्यताएं और संपूरकतायें यहां भी अपना स्थान रखती हैं। यद्यपि चालू उत्पादन को घटाने की प्रेरणा विद्यमान रहती है, यह बहुत संभव नहीं है कि प्रेरणा प्रभावशाली होगी क्योंकि चालू उत्पादन बहुत कुछ पूर्व-निर्धारित है। चालू आगत में वृद्धि करने की प्रेरणा भी एक प्रकार से अप्रभावी हो सकती है और इसके वैसे ही कारण होंगे जिन्हें हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं ; आयोजित आगतों की वृद्धि का मुख्य भार बहुत संभव मध्य-भविष्य में उठ सकता है। नयी उत्पादन-योजना का समयोपरि जो वितरण होगा वह प्राविधिक दशाओं पर निर्भर होता है क्योंकि उन्हीं के आधार पर यह निश्चित होता है कि कब भविष्य के उत्पादनों को बढ़ा सकेंगे और कब भविष्य के आगतों को घटा सकेंगे। किसी भी दी हुई तिथि के निर्गत या आगत् के (या अतिरेक के भी) संबंध में कोई दृढ़ नियम प्रतिपादित करना संभव नहीं है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि मोटे तौर पर अतिरेकों का प्रवाह ऊपर की ओर उठना चाहिए।

क्या हम इस मोटे आशय को सही रूप से परिभाषित कर सकते हैं ?

(४) हमको योजना के स्वरूप के एक ऐसे आंकिक सूचक की आवश्यकता है जिसके संबंध में यह विश्वास हो कि वह ब्याज की दर में परिवर्तन होने पर स्वयं दी हुई दिशा में परिवर्तित हो जायगा ; यद्यपि स्यात् हमको ऐसे सूचक से भी संतोष हो जाय जिसके परिवर्तन की दिशा लगभग विश्वसनीय है (ऐसी अधिकांश समस्याओं में हम विरले अपवादों को छोड़ने की आशा नहीं कर सकते : यह उसी सदृश है जैसा हमने पीछे की ओर न त मांग वक्र के संबंध में देखा था)।

ऐसे सूचक की खोज स्वरूप ही बॉम बॉवर्क और उसके अनुयायियों ने अपने 'उत्पादन की औसत अवधि' अथवा 'विनियोग की औसत अवधि' की कल्पना प्रतिपादित की थी। जिन सरल परिस्थितियों की उन्होंने व्याख्या की थी उनमें यह सोचना स्वाभाविक प्रतीत होता था कि चालू आगत की एक विशेष इकाई भविष्य में निर्धारित तिथियों पर भावी निर्गतों के एक निश्चित प्रवाह को जन्म देती है। एक निश्चित समय के पश्चात् 'मध्यस्थ-उत्पाद' (अथवा हम कह सकते हैं, सामग्री),

जो प्रारंभिक आगतों के प्रत्यक्ष फलस्वरूप प्राप्त होते हैं, वे या तो घिसपिट कर बराबर हो जायंगे या अंत में तैयार माल का रूप ले लेंगे। प्रारंभिक आगत से तैयार निर्गत-प्राप्ति हेतु जिन जिन समयावधियों तक रुकना अनिवार्य होता है उनका औसत ही आस्ट्रियाई अर्थशास्त्रियों की 'उत्पादन की औसत अवधि' है ।

परन्तु यह किस प्रकार का औसत है ? इसके भार क्या हैं ? आप सोच सकते हैं कि इस बात की ओर तो ध्यान दिया जा चुका होगा तथापि आश्चर्य है कि इस ओर कितना कम ध्यान दिया गया है। जहां तक कोई सोच समझ सकता है निर्गतों की मात्रायें ही भार हैं अथवा अधिक से अधिक निर्गतों के मूल्य ।

जब 'औसत अवधि' को इन आशयों के किसी भी रूप समझते हैं तब कई विकट विरोध उठते हैं। प्रोफेसर नाइट ने यह दिखाया है कि किसी विशेष चालू आगत से इस प्रकार के निर्गतों की निश्चित श्रृंखला को संबंधित करना कितना असंभव है। साधारणतया यह आशय होता है कि चालू आगतों के पश्चात् भावी आगतों का एक असीम प्रवाह होगा और फलतः भावी निर्गतों का असीम प्रवाह प्राप्त होगा। यह संभव नहीं है कि हम कह सकें कि प्रवाह के अमुक निर्गत चालू-आगत के कारण ही उत्पन्न होते हैं। यदि चालू-आगत वापस लिए जायं तो भावी-निर्गतों में कुछ कमी अवश्य आती (इस शर्त के साथ कि भावी-आगतों की वृद्धि न की जाती) ; किन्तु यह कमी एक ही समय आ सकती है या किसी अन्य समय या भिन्न भावी तिथियों पर भिन्न प्रकार से वितरित हो सकती है।

यदि हम इस प्रकार विशेष आगत से निर्गतों के प्रवाह को संबंधित करने का प्रयत्न छोड़ भी दें और फर्म की पूरी उत्पादन-योजना पर ही ध्यान दें तब भी इस कठिनाई से बचना संभव नहीं है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम कह सकें कि उस उत्पादन-योजना का अंत इस प्रकार होगा। जैसा इस प्रयोजन के लिए विशेषता रखता है। साहसोद्यमी जितनी दूर के भविष्य के बारे में सोचता है उतने तक वह यह आयोजना बनाता है कि एक आगत के बाद दूसरा आगत आएगा और निर्गत के बाद निर्गत ।

इसलिए आस्ट्रियाई अर्थशास्त्रियों की 'अवधि' से काम नहीं चल सकता ; तथापि वॉम बॉवर्क ने नितान्त अनर्गल बातें नहीं कीं। जिन मामलों पर वह विचार कर रहा था उनके संबंध में उनका सिद्धान्त काफी लागू था। एक ऐसा व्यापक पारिभाषिक शब्द खोज निकालना संभव होना चाहिए जिससे प्रो० नाइट के विरोधों का सामना कर सके और बॉम बॉवर्क के विचार विशेष उदाहरण के रूप में लागू हो सकें।

ऐसी कल्पना के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं है ; वह पहले से ही

हमारे पास है। अपने विश्लेषण के मध्य हम एक ऐसी औसत-अवधि की बात कर चुके हैं जो इन विरोधों से परे हैं। हम यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि आस्ट्रियाई अर्थशास्त्री यथार्थ में इसी की खोज कर रहे थे।

यदि हम अतिरेकों और घाटों के प्रत्याशित प्रवाह को लें (अर्थात् क्रमागत अवधियों में निर्गत के मूल्य और आगत के मूल्यों के अंतर को) और प्रवाह की औसत-अवधि निकालने की अपनी रीति से अपहरित मूल्यों को भार मान कर इसकी औसत अवधि का अनुगणन करें तो एक ऐसा हल निकल आता है जो आस्ट्रियाई अर्थशास्त्रियों की 'अवधि' की अपेक्षा अधिक फलदायक प्रतीत होता है। इस परिभाषा के अनुसार असीम अवधि वाले प्रवाह की भी एक निश्चित औसत अवधि होगी और इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि हम यह पता लगायें कि कौन से भावी निर्गत चालू आगत से संबंधित हैं। हम अपना ध्यान अतिरेकों के प्रवाह की औसत अवधि-अन्य शब्दों में पूरी योजना की औसत अवधि की ओर दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि इस अध्याय में अपने अनुसंधान के मध्य साहसोद्यमियों के निष्कर्षों के लिए सदैव अपहरित मूल्य ही (न कि अनपहरित मूल्य) संगत है। साहसोद्यमी जब अपना निर्णय लेता है तब वह कभी भी भिन्न तिथियों के अनपहरित मूल्यों की (चाहे वे निर्गत के हों या आगत के) तुलना नहीं करता। फलतः जिस माप में यह मात्रायें प्रवेश करती हैं उसके संबंध में यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती है कि उसका व्यवहार एक निर्धारित ढंग पर होगा, अथवा, यथार्थ में वह किसी निश्चित अंत तक पहुंचायेगा।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अपने माप के भी एक घातक विरोध का सामना करना पड़ेगा। जब ब्याज की दर बदलती है, भले ही उत्पादन-योजना बिल्कुल न बदले, हमारी औसत अवधि में भी परिवर्तन होगा। ब्याज की दर गिरने पर सुदूर भविष्य के अतिरेकों के अपहरित मूल्य बढ़ जायंगे फलतः लगभग अनिवार्य रूप से औसत अवधि भी बढ़ जायगी, भले ही अगतों या निर्गतों में कोई परिवर्तन न हो। क्योंकि हम औसत अवधि को योजना के परिवर्तनों के माप स्वरूप काम में लाना चाहते हैं, अवधि के इस प्रकार के परिवर्तन हमारे लिए पूर्णतया असंगत हैं।

किसी प्रवाह की औसत अवधि (जैसा कि याद होगा, हम इस कृति के प्रारंभ में समझ चुके हैं)[२] प्रवाह के समय संबंधी रूप की एक संतोषजनक सूचक तभी होगी जब इसका अनुगणन एक दी हुई ब्याज की दर पर किया जाय। अनुगणन में भिन्न भिन्न ब्याज की दरों के प्रयोग के कारण एक ही प्रवाह की अपनी भिन्न औसत अवधियों की एक पूरी शृंखला होगी। यदि ब्याज की दर अपरिवर्तित रहने

पर भी औसत अवधि बदलती है तो इसका संकेत यह होना चाहिए कि प्रवाह में परिवर्तन हुआ : किन्तु जब ब्याज की दर बदलती है और औसत अवधि भी बदलती है तो यह आवश्यक नहीं है कि प्रवाह किंचित मात्र भी बदले ।

फलस्वरूप जब हम ब्याज की दर के परिवर्तनों का उत्पादन योजना पर पड़ने वाले प्रभाव का विचार करते हैं तब भी हमको उस ब्याज की दर में परिवर्तन नहीं करना चाहिए जिसके आधार पर हम परिवर्तित की जाने वाली औसत अवधि का अनुगणन करते हैं ।[3] हमको विश्लेषण का आरंभ दी हुई ब्याज की दर, उसके प्रसंग में बनाई निश्चित उत्पादन-योजना और उक्त ब्याज की दर के आधार पर अनुगणित उस उत्पादन-योजना की औसत अवधि के आधार पर ही करना चाहिए । उसके बाद हमको यह मानना चाहिए कि ब्याज की दर गिरती है और फलतः उत्पादन-योजना में परिवर्तन किया जाता है । अंत में पुराने ब्याज की दर पर ही नयी योजना की औसत-अवधि निकालनी चाहिए । तब हमारा साध्य है कि इस प्रकार अनुगणित नई औसत अवधि पुरानी की अपेक्षा लम्बी होनी चाहिए ब्याज की दर की कमी औसत अवधि की लम्बाई बढ़ा देती है ।

(५) मुझे इस साध्य को सिद्ध करने का कोई अति सरल ढंग नहीं मालूम है । मेरी खोजी हुई सबसे सरल विधि निम्न प्रकार की है । यदि हम पुराने ब्याज की दर पर आयोजित अतिरेकों के प्रवाह की ($स_०, स_१, स_२, स_३, स_{न},$) नए ब्याज की दर पर आयोजित प्रवाह ($स_०', स_१' स_२' स_३' \ldots स'_{न}$) से तुलना करें तो हम सरलता से एक सीमान्त प्रवाह की पहचान कर सकते हैं—

$स_०' - स_०, स'_१ - स_१, स'_२ - स_२, स'_३ - स_३, \ldots स'_{न} - स_{न}$ । इनमें यह ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक अंतर का उपयुक्त (धनात्मक अथवा ऋणात्मक) चिन्ह लगाया जाय । तब हम नए प्रवाह को पुराने प्रवाह और सीमान्त प्रवाह के योगस्वरूप निर्मित कह सकते हैं । औसत अवधि के सूत्र के आधार पर यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है[४] कि यदि ब्याज की दर वही बनी रहे तो नए प्रवाह की औसत अवधि पुराने प्रवाह की औसत अवधि और सीमान्त प्रवाह की औसत अवधि—दोनों का औसत होती है । स्पष्ट समझने के लिए यदि प पुराने प्रवाह की औसत अवधि है और आयोजन तिथि पर उसका पूंजीगत मूल्य ज है; यदि सीमान्त प्रवाह के लिए हम क्रमशः प' तथा ज' लिखें तो नए प्रवाह की औसत अवधि (जप+ज'प') (ज+ज') होगी । औसत अवधियों का संकलन करने की यह रीति सामान्य रूप से लागू है ।

जब ब्याज की दर में कुछ ह्रास होता है तब आयोजित विशिष्ट सीमान्त प्रवाह का स्वरूप क्या होगा ? यह ऐसा होगा कि पुराने ब्याज की दर पर इसके पक्ष में निर्णय लेना लाभदायक न होगा ; किन्तु जैसे ब्याज की दर में थोड़ी कमी आती है इस सीमान्त प्रवाह हेतु निर्णय लेना लाभदायक मात्र हो उठता है।[५] अतः ब्याज की ऊंची दर पर इसका पूंजीगत मूल्य ऋणात्मक होना चाहिए और निचली दरों पर धनात्मक । किन्तु क्यों कि हम ब्याज की दर के ह्रास को जितना चाहे कम बना सकते हैं, उक्त दोनों मूल्य हमारी इच्छानुसार पास लाए जा सकते हैं। अन्य शब्दों में सीमान्त प्रवाहों के पूंजीकृत मूल्य ज' को हम जितना चाहें शून्य के नकट ला सकते हैं ।

दूसरी ओर ज' प' मात्रा निश्चय ही धनात्मक है और निश्चित रूप से परिमित भी । किसी पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि किसी प्रवाह की औसत अवधि तथा पूंजीकृत मूल्य के गुणनफल को हम एक उपसंगी प्रवाह के पूंजीकृत मूल्य के रूप में देख सकते हैं । प्रत्येक सप्ताह के अंत में उस सप्ताह के अतिरेक में से जो कुछ अगले सप्ताह के लिए बच जाता है उन्हीं के समूह द्वारा हमारा उपसंगी प्रवाह परिभाषित होता है।[६] हम यह भी देख चुके हैं कि ऐसे उपसंगी प्रवाह की प्रत्येक मद अवश्य धनात्मक होगी (अन्यथा प्रवाह के पीछे निहित उत्पादन-योजना को कार्यान्वित करना लाभदायक न होगा) । फलतः उपसंगी प्रवाह का पूंजीकृत मूल्य धनात्मक होना ही चाहिए ।

इस प्रकार जब हम उपर्युक्त सूत्र को नए प्रवाह की औसत अवधि का अनुगणन करने के काम लाते हैं तब हम ज' को नगण्य मान सकते हैं किन्तु ज' प' को नहीं। नयी औसत अवधि होगी

$$\frac{\text{ज प} + \text{ज}'\ \text{प}'}{\text{ज}} = \text{प} + \frac{\text{ज}'\ \text{प}'}{\text{ज}}$$

और यह अनिवार्य रूप से प से बड़ा है ।

मेरे विचार से अपने साध्य की यह संतोषजनक उपपत्ति है ; एक वैकल्पिक गणितीय उपपत्ति जिसमें मैं एक प्रकार से अधिक विश्वास रखता हूँ परिशिष्ट में दी हुई है ।[७]

(६) अब हम देख सकते हैं कि वॉम बॉवर्क ने कहां गलती की थी । उसने यह कल्पना तो सही की थी कि पूंजीवादी उत्पादन का प्रक्रम अनिवार्य रूप से समय के अर्थ में प्रक्रम है, ऐसा प्रक्रम, जिसमें निर्गतों का उदय उन तिथियों के बाद होता है जिनमें हेतुक आगत काम में लाए जाते हैं इस विचार से चलकर और उक्त उत्पादन

के मूलस्वरूप को यथासंभव स्पष्ट करने के संकल्प से उन्होंने अपना ध्यान ऐसे उदाहरण पर रक्खा जो इसका सबसे सरल रूप प्रतीत होता था : ऐसा उदाहरण जिसमें सभी आगत एक ही तिथि पर काम में आ जाते हैं और सभी निर्गत बाद में किसी दी हुई तिथि पर प्राप्त होते हैं । ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है । पूंजीवादी उत्पादन के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए प्रमाणित आस्ट्रियाई उदाहरण (शराब-संचय और वृक्षारोपण) निःसन्देह प्रकाश दायक है । किन्तु जब वे इस सरल स्थिति के सिद्धान्त को रचते हैं तब वे एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचते हैं जो केवल इसी उदाहरण के लिए सही है और जो इस प्रकार व्यापक नहीं है जिसकी प्रत्याशा की जाती थी । यदि किसी साहसोद्यमी के पास शराब की एक मात्रा पहले से एकत्र है अथवा पेड़ों की एक संख्या पहले से लगी हुई है तो यह सही है कि व्याज की दर में कमी होने पर वह जिस तिथि तक अपने प्रक्रम को पूरा करने की अपनी योजना बनाता उसकी तिथि को आगे बढ़ाने के लिए वह चेष्टा करेगा । यहां तक आस्ट्रियाई सिद्धान्त में कोई असंगत बात नहीं है । तथापि इस उदाहरण के फलस्वरूप अति स्वाभाविक रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ऐसे निष्कर्ष हैं जो सामान्य रूप से सत्य होने चाहिए यद्यपि यथार्थ में वे सामान्य रूप से सत्य नहीं होते। इस सरल उदाहरण में पूर्व-अनुमानित अतिरेकों के प्रवाह का केवल एक पद है—निर्माण कार्य समाप्त होने की तिथि पर उत्पाद का मूल्य ; इसलिए इस बात से कोई अन्तर नहीं आता है कि औसत अवधि के अनुगणन के लिए किन भारों का उपयोग किया गया है । हम चाहे जिस प्रकार इस औसत अवधि का अनुगणन करें, प्रवाह ही ऐसा है कि औसत अवधि उत्पादन की यथार्थ अवधि के बराबर ही निकलेगी अर्थात् उस समय के बराबर जो आगतों को लगाने और निर्गतों को प्राप्त करने के बीच गुजरता है । यहां तक आकर (और यहां तक तर्क में काई गलती नहीं है), यह लगभग अनिवार्य था कि एक गलती हो जाय । इस निष्कर्ष को निकालना अत्यधिक आकर्षक था कि, क्योंकि इस उदाहरण में व्याज-परिवर्तन के प्रभाव स्वरूप आगत और निर्गत के बीच व्यतीत होने वाली समय की यथार्थ अवधि बदल जाती है, अतः ऐसा ही कुछ सामान्यतः भी सही होना चाहिए । इस प्रकार सामानुमान द्वारा आस्ट्रियाई अर्थशास्त्रियों ने अपनी औसत अवधि की कल्पना---समय की एक वास्तविक अवधि की कल्पना—की थी ,जो उत्पादन प्रणाली की एक प्राविधिक विशेषता के रूप में उभरी थी, यथा, कृषि में एक वर्ष, मशीन के जीवन का पांच वर्ष, जहाज के जीवन का बीस वर्ष और इसी प्रकार अन्य भी । किन्तु सामानुमान द्वारा तर्क मिथ्यावभास था । उन्होंने यह निष्कर्ष एक प्रतिनिधि उदारहण से नहीं अपितु एक अपवाद स्वरूप उदाहरण

से निकाला था। इस अपवादस्वरूप उदाहरण को छोड़ कर सही औसत अवधि (एक सही औसत अवधि होनी ही चाहिए अन्यथा आस्ट्रियाई प्रारंभिक तर्क ऐसे सही नही हो सकते जैसे वे हैं) योजना के मोड़ की सूचक मात्र है : यह समय की वास्तविक अवधि किंचित् भी नहीं है।

सही औसत अवधि की निर्पेक्ष लम्बाई कोई भी महत्व नहीं रखती ; यह उत्पादन योजना के स्वरूप पर केवल आंशिक रूप में निर्भर है। यह नितान्त अविहित रूप में घट बढ़ जायगी, यदि हम एक ही योजना की विभिन्न ब्याज की दरों पर औसत अवधि का अनुगणन करें। औसत अवधि का परिवर्तन तो महत्वपूर्ण है, किन्तु स्वयं अवधि की लम्बाई नहीं। औसत अवधि केवल योजना की ऊर्ध्वता का माप है और इसका संबंध प्रयुक्त उत्पादन की प्राविधिक रीतियों से तनिक भी नहीं है।

योजना की औसत अवधि (जब यह उपयुक्त रूप से परिभाषित की जाती है) और उत्पादन की प्राविधिक रीतियों के मध्य संबंध का बिल्कुल न होना इसी बात से तुरंत स्पष्ट हो जाता है कि हमने मूलाधारीय साध्य कैसे स्थापित किए हैं। किन्तु तब भी यह उपयोगी होगा कि एक विशेष उदाहरण लेकर इसे समझा दें।[८] मान लीजिए किसी विशेष फर्म द्वारा उत्पादन का स्वरूप केवल यह है कि वह साथ साथ कुछ बिलकुल भिन्न प्रक्रमों को पूरा करती हैं और इनमें से प्रत्येक पर शुरू से अंत तक 'न' सप्ताह लगते हैं। यह भी मान लीजिए कि (प्रारंभ में) फर्म स्थैतिक संस्थिति में है और 'म न' प्रक्रम साथ साथ चल रहे हैं। प्रत्येक सप्ताह के आरंभ में पूरे हो चुके 'म' प्रक्रमों के स्थान पर 'म' नए प्रक्रम चालू किएजाते हैं। इस प्रकार समयोपरान्त कुल आगत और निर्गतों के प्रवाह स्थिर हैं। जोखिम के कारण फर्म केवल 'म न' प्रक्रमों से संतोष करती है ; उत्पादन की मात्रा बढ़ाने से जोखिम तो बढ़ते हैं : साहसोद्यमी अतिरिक्त प्रक्रमों को इसलिए नहीं चालू करता क्योंकि (जोखिम का ध्यान रखते हुए) उनका पूंजीकृत मूल्य ऋणात्मक होगा। अब मान लीजिए कि ब्याज की दर गिर जाती है तब किसी नए प्रक्रम का पूंजीकृत मूल्य बढ़ जायगा और यह लाभदायक हो सकता है कि कुछ ऐसे अतिरिक्त प्रक्रमों को कार्यान्वित किया जाय जो पहले लाभदायक नहीं थे। इस बात के लिए कोई तर्क नहीं है कि नए प्रक्रमों का ठीक ठीक वही प्राविधिक स्वरूप होगा जो पुरानों का था। तथापि ऐसा होते हुए भी क्योंकि वे नए प्रक्रम हैं, और केवल ब्याज की दर गिरने पर अपनाए गए हैं, उनको आरंभ करने का अर्थ होगा कि योजना की औसत अवधि बढ़ जायगी। ब्याज की दर के गिरने से पहले यह प्रत्याशा की जाती थी कि समयोपरि आयोजित अतिरेकों का प्रवाह समान बना रहेगा। जब ब्याज की दर गिरती है चालू अतिरेक घट जाता

है, कुछ बाद के अतिरेक बढ़ जाते हैं और प्रवाह ऊर्ध्व आरोही हो जाता है।

(७) इस अध्याय में हम केवल औपचारिक विशेषताओं में ही उलझे रहे हैं और जो कुछ मैं लिख चुका हूँ उसका सिंहावलोकन करने पर क्षमाप्रार्थी बनने की भावना उठती है क्योंकि मुझे डर है कि मेरे विरुद्ध शिकायत की जाय कि मैंने केवल सरल बातों को पेचीदा रूप में ही रक्खा है। जो भी हो, जो कुछ हम करते रहे हैं (यदि यह कुछ बेकार सा भी हो) उसका औचित्य पूंजी सिद्धान्त की वर्तमान दशा पर निर्भर करता है। हम बॉम बॉवर्क के सिद्धान्त को तब तक दूर करने (केवल वहीं तक जहां तक इसको दूर करने की आवश्यकता है) की आशा नहीं कर सकते जब तक हम यह न स्पष्ट कर दें कि उन्होंने कहां गलती की थी। मेरे विचार में बिना इतना खुल कर लिखे यह संभव नहीं था कि उनके सिद्धान्त के कौन से तथ्य पूर्णतया सही थे और कहां पर वह बिचार बुरी तरह फंदे में उलझ गए।

तब भी जैसे ही आस्ट्रियाई सिद्धान्त पीछे छूटता है महत्वपूर्ण बात जो हाथ आती है वह यह सामान्य निष्कर्ष है कि (जिसको औसत अवधियों की जटिलता में फंसे बिना लगभग सभी समस्याओं हेतु पर्याप्त स्पष्टता से लिखा जा सकता है) ब्याज की दर के परिवर्तन उत्पादन-योजना के मोड़ अथवा ऊर्ध्वता को प्रभावित करते हैं। उत्पादन-योजना पर पड़ने वाले ब्याज की दर के सभी संभव प्रभाव इसी प्रकार ज्ञात किए जा सकते हैं; और औपचारिक सिद्धान्त के रूप में इतना ही कहना पर्याप्त है।

तथापि अब निष्कर्ष में एक अन्य बात भी आनी चाहिए जिन बातों को अब तक हम लेकर चले हैं उनसे अधिक व्यावहारिक महत्व की बात। जब तक हम ब्याज के ऐसे परिवर्तनों को ध्यान में रखते हैं जो साधारण हैं (यथा, २ प्रतिशत और ७ प्रतिशत वार्षिक के बीच) तब तक निकट भविष्य की तिथियों के निर्गतों या आगतों की अपहरित कीमतों पर ऐसे परिवर्तनों का प्रभाव बहुत कम होगा। अधिकतर वे इतने कम होंगे कि व्यापारी वर्ग उनका पूर्णतया ध्यान छोड़ सकेगा; केवल विशेष दशाओं में यह संभव है कि उनका व्यापारिक नीति पर काफी प्रभाव पड़े। ऐसा ही कुछ सीमा के दूसरे सिरे पर सही है; जब निर्गत या आगत का आयोजन किसी अति दूर भावी तिथि हेतु होता है तब उसकी अपहरित कीमत ब्याज-दर के परिवर्तन के प्रति अति सुग्राही हो जाती है। फलस्वरूप योजना में अधिक दूर वाले जितने निर्गत या आगत सम्मिलित होते हैं, योजना ब्याज के प्रति उतनी ही अधिक सुग्राही होती है। यदि साहसोद्यमी की योजनायें केवल निकट भविष्य तक की होती है (यदि वे रोज कुंआ खोदने और पानी पीने के कहे अनुसार चलते हैं) तो ब्याज

की दर का उन पर नगण्य प्रभाव पड़ेगा। किन्तु यदि वे सुदूर की बात सोचते हैं तो ब्याज अति महत्वपूर्ण बन जाता है।

समय की जिस अवधि के लिए कोई साहसोद्यमी योजना बनाने के लिए तैयार होगा वह अंशत: तो प्राविधिक दशाओं पर (कुछ प्रकार के व्यापार में दूसरे व्यापारों की अपेक्षा पहले से योजना बनाना अत्यावश्यक होता है) निर्भर होती है किन्तु यह अवधि एक अतिमहत्वपूर्ण रूप से जोखिम पर भी निर्भर होती है। जैसा हम अक्सर देखते हैं भावी उत्पत्ति की प्रभावी 'प्रत्याशित कीमत' (वह कीमत जिसके आधार पर योजना हेतु निर्गत का अनुमान लगाते हैं) सर्वाधिक संभावित कीमत नहीं होती है किन्तु यह सर्वाधिक संभावित कीमत में से जोखिम हेतु कुछ राशि निकाल कर शेष के बराबर होती है। भावी निर्गत जितना ही दूर होगा, यह संभावना है कि भावी कीमत वृद्धियों की अनिश्चितता के कारण जोखिम हेतु की जाने वाली छूट उतनी अधिक होगी। इसलिए एक सीमा के बाद 'जोखिम हेतु छूट' इतनी अधिक हो जायगी कि कुछ भी संभव लाभ न बचेगा और तब प्रभावी प्रत्याशित कीमत शून्य हो जायगी। यही बात योजना का अन्त कर देती है और उसको अनिश्चित भविष्य तक प्रसरित होने से रोकती है। किन्तु न केवल एक अवधि के बाद की योजनायें कम कर दी जाती हैं अपितु सापेक्ष दूरी वाले निर्गत का भी जिनकी प्रत्याशित कीमत जोखिम के कारण बिल्कुल शून्य नहीं होती, योजना पर पड़ने वाला प्रभाव, जोखिम हेतु की गई इस कमी के कारण, बुरी तरह कम हो जाता है : यह जोखिम उस उत्पादन-सामग्री के जो उन निर्गतों के उत्पादन के लिए स्थापित किया गया है अप्रचलित होने) के कारण उदय होता है। किन्तु योजना के व्यापी समायोजन में ब्याज का हेतुक स्थान रखना है तो यही वे निर्गत हैं जिनकी शक्ति पर ब्याज को मुख्यतः आधारित होना चाहिए। अब हमको ज्ञात होता है कि हम इनके जितने शक्तिशाली होने की प्रत्याशा रख सकते थे, उससे काफी कम शक्तिशाली होने की ही संभावना है।

निकट भविष्य पर अधिक प्रभाव डालने के हेतु ब्याज अति कमजोर शक्ति है; और जहां तक सुदूर भविष्य का प्रश्न है, प्रभाव डालने में जोखिम इतना अधिक शक्तिशाली है कि संभवत: ब्याज को प्रभाव डालने का अवसर ही न मिले। तब इन द्विमुखी खतरों के बीच ब्याज का क्या स्थान बचता है ? इसका कहां तक स्थान हो सकता है, यह जोखिम की शक्ति पर निर्भर है और, जैसा हम देख चुके हैं, वह बहुत कुछ मनोविज्ञान का प्रश्न है। अति अविश्वास की परिस्थिति में लोग रोज कुंआ खोदने और पानी पीने की रीति अपनायेंगे। यदि वे ऐसा करते हैं तो ब्याज

की दर के परिवर्तनों का (हम साधारण परिवर्तनों की बात कर रहे हैं) उनके व्यवहार पर नगण्य प्रभाव ही पड़ सकता है। विश्वास की परिस्थिति में जोखिम हेतु कमी बहुत कम होती है और स्यात् दोनों सीमाओं के बीच, जहां व्याज अप्रभावी होता है, एक ऐसा क्षेत्र बच जायेगा जिसमें ब्याज का वैसा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा जैसा हमने इस अध्याय में विश्लेषित किया है।

व्यापारिक उतार-चढ़ाव के मध्य व्याजनीति के प्रश्न को लेकर उपर्युक्त इस व्याख्या का महत्व स्पष्ट है, किन्तु हम बाद में ही इसकी भली प्रकार विवेचना करने की स्थिति में होंगे।

अध्याय १८

व्यय करना और ऋण देना

(१) अब हम निजी व्यक्ति की प्रावेगिक समस्या को ले सकते हैं। यदि हम अपने अध्ययन की पूर्व परिचित रीति को ही अपनाएँ तो आगे की अध्ययन रीति स्पष्ट हो जाती है। फर्म की स्थैतिक समस्या यह थी कि वह दी हुई प्राविधिक दशाओं में एक उत्पादन-अवसर का लाभ उठाकर लागत पर प्राप्ति के आधिक्य को अधिकतम करे। उसके समकक्ष प्रावेगिक समस्या यह थी कि ऐसे ही अवसर का लाभ उठाकर उन अतिरेकों के प्रवाह के पूंजीकृत मूल्य को अधिकतम करना जिनकी प्राप्ति की वर्तमान और भविष्य में प्रत्याशा हो। व्यक्ति की स्थैतिक समस्या का स्वरूप यह था कि एक दी हुई मुद्राराशि से सर्वाधिक अधिमानता वाले वस्तु समूह को चुनना। इसी आधार पर उसकी प्रावेगिक समस्या यह प्रतीत होती है कि एक दी हुई आय-प्रवाह की प्रत्याशा की पृष्ठभूमि में वह भविष्य में जिन भिन्न वस्तु समूहों के प्रवाह को चुन सकता है उनमें से कौन सा सर्वाधिक अधिमान्य प्रवाह होगा। जहां एक ओर फर्म सर्वाधिक लाभवाली उत्पादन योजना चुनती है, व्यक्ति सर्वाधिक अधिमानता वाली व्यय योजना चुनता है ; स्थैतिक से प्रवेगिक दशा में संक्रमण दोनों उदाहरणों में एक समान है।

हम इस प्रकार की अध्ययन रीति से बंधे हुए प्रतीत होते हैं लेकिन तब भी इस समय काफी घबड़ाहट तो होती ही है। जब हम फर्म का उदाहरण लेते हैं जो कि केवल दी हुई परिस्थिति में लाभ को अधिकतम करने से ही संबंधित है तो यह मानना काफी तर्क युक्त होता है कि फर्म को उस ध्येय की प्राप्ति के लिए काफी निश्चित योजना बनानी पड़ेगी। उसकी परिस्थिति में निःसन्देह अनेक अनिश्चिततायें हैं—यथा, भावी प्राविधिक दशाओं की अनिश्चितता और भावी बाजार-दशाओं की अनिश्चिततायें—किन्तु यह इतनी पर्याप्त नहीं हैं कि योजना के विचार को अर्थ-हीन और उपयोगिताहीन बना देतीं। योजना के विचार को पूरी तौर से छोड़े बिना

पर्याप्त रूप में इन अनिश्चितताओं का विचार रक्खा जा सकता है। किन्तु जब व्यक्ति के उदाहरण पर आते हैं, जिसकी योजना (यदि उसकी योजना है) का मात्र ध्येय उसकी वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि करना होना चाहिए तब यह विचार, कि साधारणतया उसे यह ज्ञात नहीं होता कि उसकी भावी आव-आवश्यकायें क्या होंगी (और वह जानता रहेगा कि वह यह नहीं जानता है) हमको अतिविचलित करता है। जब किसी की योजना किसी दिए हुए ध्येय (यथा, लाभ) हेतु होती है तब पहले से योजना बनाना संभव होता है; किन्तु जब योजना के विषय अज्ञात हैं, तब पहले से योजना बनाना संभव नहीं है। इस कारण विश्लेषण की हमारी संपूर्ण विधि छिन्न-भिन्न होती दीख पड़ती है।

जो भी हो, इस विरोध को अधिक गंभीरता से लेना भी गलत होगा। यद्यपि लोग यह भली प्रकार जानते हैं कि वे अपनी भावी आवश्यकता को खुलकर नहीं जानते, उनका व्यवहार ऐसा नहीं होता जैसे वे अपनी भावी आवश्यकताओं के प्रति पूर्णतया अनभिज्ञ हों। कम से कम वे इस बात की अधिक संभावना को तो ध्यान में ले ही लेते हैं कि भविष्य में उनकी कुछ आवश्यकतायें होंगी और सामान्यतः वे इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। जब वे टिकाऊ उपयोग्य माल खरीदते हैं और वे साधारणतः केवल ऐसा, इस कारण नहीं करते कि उनको इन मालों की इच्छा वर्तमान में है अपितु वे यह भी प्रत्याशा करते हैं कि यह इच्छा की पुनरावृत्ति भविष्य में भी होगी। इसका अर्थ हुआ कि वे भावी आवश्यकताओं की प्रत्याशाओं को लेकर चलते हैं--निःसंदेह यह प्रत्याशा काफी निश्चित होती है। इसके अतिरिक्त एक सामान्य प्रकार से व्यक्ति सदैव यह समझता है कि वह अभी जितना अधिक खर्च करेगा उतना ही कम भविष्य में खर्च करने को उपलब्ध होगा। यदि भविष्य में व्यय हेतु कुछ निधि रखने का वह इरादा नहीं रखता, तो यह विचार उसके विचार पर प्रभाव नहीं डालेगा। इन भावी निधियों को घटाना त्याग स्वरूप समझा जायगा। अब यदि हम विचार करें तो इन बातों का यह अर्थ हुआ कि यद्यपि सभी भावी व्यय तो निश्चित रूप से आयोजित नहीं किए जाते तथापि जब भी कोई वर्तमान व्यय ऐसी संतुष्टियों से संबंधित होता है जो भविष्य में प्राप्त होंगी तब भावी नीति से संबंधित भाग लगभग स्पष्ट हो जाते हैं। व्यक्ति अपने सभी भावी व्ययों की योजना नहीं बनाते परन्तु वे अपने भावी व्यय के उन अंशों की योजना बनाते हैं जो चालू व्यय से संबंधित हैं। ऐसा वह न्यूनाधिक रूप में समझ बूझ कर और निश्चयता के साथ करता है। एक ओर ऐसी योजना में भावी व्यय के कुछ ऐसे विशेष मद शामिल रहते हैं जिनका चालू व्यय के विशेष मदों से निकट संबंध

होता है : और दूसरी ओर सभी भावी साधनों की मात्रा की उस सामान्य कल्पना का सम्मिलन रहता है जिसका संबंध चालू व्यय की कुल मात्रा के निर्धारण से होता है ।[1]

(२) यदि यह दृष्टिकोण सही है (जैसा कि यह प्रतीत होता है) तब हम अपनी कठिनाई के अधिक भाग से बच जाते हैं । यदि हम यह मान लें कि व्यक्ति पूर्णतया सूक्ष्मता के साथ और सुदूर भविष्य के लिए अपने व्यय की पूर्ण योजना बनाता है तो हम व्यक्ति के यथार्थ व्यवहार की काफी गलत मान्यता करेंगे ; किन्तु यदि हम इस मान्यता का उपयोग उसके उन क्रयों की व्यौरे के निर्धारण हेतु न करें जिनको वह भविष्य में करने की योजना बना सकता है (अथवा नहीं बना सकता है), किन्तु केवल उसके चालू व्यय के व्यौरे का निर्धारण करने के लिए करें तो हम किसी भी प्रकार की मूर्खतापूर्ण बात में न फंसेंगे । उसके चालू व्यय का निर्धारण ठीक इस प्रकार होगा मानो इस हेतु पूरी योजना उपलब्ध है । यदि हम पूरी योजना के अस्तित्व को इस प्रकार मान लें तो हम न्यूनतम कठिनाई के साथ चालू व्यय के निर्धारण में आगें बढ़ सकते हैं ।

मान लो, हम एक ऐसे व्यक्ति की बात कर रहे हैं जो योजना की तिथि पर टिकाऊ उपभोग मालों का एक निश्चित स्टॉक रखता है ; जो चालू सप्ताह में र मुद्रानिधि (अपने श्रम के प्रतिफल स्वरूप या अपनी प्रतिभूतियों पर ब्याज या लाभांश स्वरूप) प्राप्त करता है ; और जो इसी प्रकार अगले सप्ताहों में क्रमशः र^{1}, र^{2}, र^{3}, . . . राशियां प्राप्त करने की प्रत्याशा रखता है । उपभोग मालों की कीमत और उनकी भावी कीमतों के प्रति उस व्यक्ति की प्रत्याशायें दी हुई मानकर व्यक्ति क, ख, ग, आदि वस्तुओं की कुछ मात्राओं की चालू और आने वाले सप्ताहों में क्रय हेतु योजना बनाता है ; इन क्रयों के कारण (मुद्रा के रूप में) उसको ब$_{0}$, ब^{1}, ब^{2}, ब^{3}, . . . का क्रमशः व्यय करना पड़ेगा । प्राप्ति और व्यय के अन्तर को पूरा करने के लिए या तो उसके पास उपलब्ध मुद्राराशि या प्रतिभूतियों में परिवर्तन करना होगा । इस समय मैं यह मान लूंगा कि केवल प्रतिभूतियों में परिवर्तन होता है (और मुद्रा की मांग से संबंधित प्रश्न का अगले अध्याय में विचार किया जायगा) तब र$_{0}$ − ब$_{0}$, र$_{1}$ − ब$_{1}$, र$_{2}$ − ब$_{2}$ . . .,
के प्रवाह को दिए ऋणों का प्रवाह मान सकते हैं ।

हम यह मान लें कि विचाराधीन व्यक्ति एक सीमित समय के लिए ही (यथा 'न' सप्ताहों के लिए) अपनी भावी व्यय योजना बनाता है । इस प्रकार 'न' सप्ताह के बाद हम उसके प्राप्ति प्रवाह, व्यय प्रवाह और ऋण देने के प्रवाह का अंत मानेंगे ।

यदि इन 'न' सप्ताहों में वह कुल मिलाकर ऋण देने की योजना बनाता है तो वह यह प्रत्याशा कर सकता है कि इस समय के अंत में उसके ऋणों के फलस्वरूप उसके पास प्रतिभूतियों के रूप में $स_न$ पूंजी होगी जिसको वह सुदूर-भविष्य के लिए अपने साधनों में सम्मिलित समझ सकता है।[२] अपने योजनाकाल में वह जितना अधिक व्यय करता है उक्त पूंजी उतनी ही कम होगी ; इसलिए कालान्तर में पूंजी प्राप्त करना और योजनाकाल में व्यय करने के बीच वरण करने की वास्तविकता उठती है। यह वरण ठीक उसी वरण के सदृश है जो एक तिथि के व्यय और दूसरी तिथि के व्यय के बीच किया जाता है। फलतः अपने विश्लेषण के लिए यह सुविधाजनक होगा कि हम इस पूंजी-राशि को अंतिम सप्ताह में व्यय हेतु मान लें। यदि हम यह मान लें कि पूंजी-राशि ऐसी वस्तु है जिस पर योजना के अंतिम सप्ताह में व्यय किया जा सकता है तो हमको हिसाब समझने की एक ऐसी रीति प्राप्त हो जायगी जिसके कारण हम अपनी समस्या को 'न' सप्ताहों में व्यय-वितरण की समस्या के रूप में परिणत कर सकते हैं।

इस प्रकार समायोजित करने पर ऋण देने का प्रवाह निम्नांकित हो जाता है :

$र_० - ब_०, र_१ - ब_१, र_२ - ब_२, \dots, र_न - ब_न - स_न$।

इस प्रवाह में ऋण लेने और देने की राशियां बराबर हो जाती हैं क्योंकि यदि अंतिम सप्ताह में उपरोक्त राशि वास्तव में खर्च कर दी जाय तो अंतिम सप्ताह के बाद कुछ भी नहीं बचेगा। फलतः किसी भी समय यदि इस प्रवाह का पूंजीकृत मूल्य निकालें तो वह शून्य होगा। विशेष रूप से (योजना बनाने की तिथि पर इसका पूंजीकृत मूल्य अर्थात्) इसका वर्तमान मूल्य शून्य होना चाहिए। अतएव निम्नांकित सयायोजित व्ययों के प्रवाह का वर्तमान मूल्य

$ब_०, ब_१, ब_२, ब_३, \dots, ब_न + स_न$।

निम्नांकित प्राप्तियों के वर्तमान मूल्य के बराबर होगा—

$र_०, र_१, र_२, र_३, \dots, र_न$

इस सूत्र के आधार पर हम व्यय के आयोजन को (जैसा हमने उत्पादन के आयोजन के संबंध में किया था) ऐसी समस्या के रूप में देख सकते हैं जिसको हम स्थैतिक सिद्धान्त के अंदर हल कर चुके हैं।

(३) जैसा उत्पादन के संबंध में था हमको भिन्न-भिन्न तिथियों पर होने वाले सौदों में भेद करना है और यथार्थ कीमतों के स्थान पर अपहरित कीमतों को लेना

है। ऐसे परिवर्तन कर लेने के बाद मूल्य के स्थैतिक सिद्धान्त का पूर्णतया प्रत्यक्ष उपयोग किया जा सकता है । न संस्थिति की दशायें और न स्थायित्व की दशायें ही अब कोई कठिनाई लायेंगी । भावी तिथियों पर क्रय हेतु आयोजित दो वस्तुओं के प्रतिस्थापन की सीमान्त पर उनकी अपहरित कीमतों के अनुपात के बराबर होनी चाहिए। स्थैतिक दशा की भांति ही यहां भी प्रतिस्थापन की सीमान्तदर ह्रासमान होनी चाहिए : मात्र इतना ही कहना आवश्यक है ।

जैसा मूल्य के स्थैतिक सिद्धान्त के समय था, हम कीमतों के परिवर्तन के प्रभावों (यहां व्याज-दरों के भी प्रभावों को लेकर) को दो भागों में विभाजित करेंगे । एक तो भिन्न आयोजित क्रयों की सापेक्ष अपहरित कीमतों में परिवर्तन के कारण प्रतिस्थापन प्रभाव होगा ; और दूसरा प्रभाव संबंधित परिवर्तन के कारण व्यक्ति की स्थिति अधिक समृद्ध अथवा कम समृद्ध बनने की सीमा के आधार पर होगा और यह स्थैतिकी के 'आय-प्रभाव' के समकक्ष होगा । अधिक अथवा कम समृद्ध बनने के परीक्षण को पूरी व्यय-योजना की पृष्ठभूमि में लेना चाहिए । व्यक्ति की स्थिति हीनतर हो जायगी यदि नयी दशाओं के अन्तर्गत वह यह प्रत्याशा नहीं कर सकता कि वह सभी तिथियों पर मालों को पूर्ववत् मात्रायें क्रय कर सकेगा, और यदि इस कारण उसे कहीं कटौती करनी पड़े ; और वह उच्चतर स्थिति में होगा यदि पूर्ववत् आयोजित क्रम की योजना बनाने के बाद भी उसके पास कुछ बच रहता है । इसलिए विचाराधीन प्रभाव इस बात पर निर्भर होगा कि उसके पूर्व आयोजित व्यय-प्रवाह की पूंजीकृत कीमत और उसकी प्राप्तियों के प्रत्याशित-प्रवाह की पूंजीकृत कीमतों में क्या अंतर है । समस्या पर इस दृष्टिकोण से विचार करने पर इसको आय-प्रभाव की अपेक्षा स्यात् 'पूंजी-प्रभाव' या कुछ इसी तरह कहना अधिक तर्क युक्त होगा । जो भी हो ऐसी संगति कष्टदायक होगी और मेरे विचार में यह आवश्यक है । मेरी समझ में यदि हम, जैसा कि हम आदी हैं, आय-प्रभाव की ही बात करें तो किसी कठिनाई में नहीं पड़ेंगे । किन्तु हमको यह याद रखना चाहिए कि इस आय प्रभाव का प्रस्तुत प्रसंग में सही अभिप्राय क्या है ।

(४) यदि किसी वस्तु 'क' की कीमत में वृद्धि होती है और यदि उस वृद्धि के स्थायी होने की प्रत्याशा है तो (जैसा कि हम देख चुके हैं) 'क' की चालू कीमत और सभी प्रत्याशित भावी कीमतें समान अनुपात में बढ़ेंगी । यदि व्याज की दर अपरिवर्तित है तो सभी अपहरित-कीमतें भी समान अनुपात में बढ़ेंगी । इस लिए प्रस्तुत उदाहरण में भिन्न-भिन्न तिथियों पर 'क' की क्रय मात्राओं में भेद करने की आवश्यकता नहीं है : मांग के नियम ठीक वैसे ही होंगे जैसे स्थैतिकी में । 'क' के

विपक्ष में और अन्य वस्तुओं के पक्ष में एक प्रतिस्थापन प्रभाव होगा। और अब एक आय प्रभाव होगा : वह भी 'क' के विपक्ष में होगा, केवल उस अपवाद की अवस्था को छोड़कर जब 'क' घटिया वस्तु होती है। जैसा हम उत्पादन के संबंध में देख चुके हैं स्थैतिक मॉडल का एक व्यावहारिक औचित्य यह है कि कीमत के स्थायी परिवर्तनों की इन दशाओं में इसके नियम पूरी तौर से लागू होते हैं। किन्तु—और यह भी हम देख चुके हैं—ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है कि किस प्रकार मांग का ह्रास समयोपरि वितरित होगा। संभव है कि 'क' की चालू मांग में कमी आए, किन्तु हो सकता है कि ऐसा न भी हो।

यदि 'क' की कीमत बढ़ती है और इस वृद्धि के स्थायी होने की प्रत्याशा नहीं है तो सामान्यतः आय-प्रभाव का अतिकम, अथवा, यथार्थ में नगण्य होगा। तथापि यह प्रतिस्थापन-प्रभाव उस पिछले उदाहरण की अपेक्षा काफी अधिक हो सकता है, क्योंकि अब प्रतिस्थापन न केवल अन्य वस्तुओं के पक्ष में अपितु 'क' की भावी क्रय मात्राओं के पक्ष में भी हो सकता है। उक्त अस्थायी वृद्धि का मुख्य प्रभाव यह हो सकता है कि व्यय स्थगित कर दिया जाय।

यदि 'क' की कीमत बढ़ती है और यह प्रत्याशा की जाती है कि भविष्य में कीमत इससे भी अधिक बढ़ेगी (अर्थात् यदि प्रत्याशा की लोच एक से अधिक है) तो हमको यह ध्यान में रखकर विश्लेषण करना है कि चालू कीमत-वृद्धि के अनुपात से प्रत्याशित कीमतों की वृद्धि अधिक है। इस हालत में चालू कीमत वृद्धि के कारण 'क' की वर्तमान क्रय-मात्रा की कमी की पूर्ति वर्तमान क्रय के पक्ष में प्रतिस्थापन द्वारा हो सकती है—ऐसा प्रतिस्थापन प्रत्याशित कीमतों की अधिक वृद्धि से प्रेरित होगा। यदि प्रत्याशाओं की लोच काफी अधिक है तो यह संभव है कि आय-प्रभाव-जनित कमी भी दूर हो जाय ; और अन्तिम परिणामस्वरूप संभवतः 'क' की चालू मांग बढ़ जाय। यही सटोरियों की मांग वाला जाना पहचाना उदाहरण है।

(५) लगभग ठीक इसी प्रकार ब्याज की दरों के परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सकता है। उनके प्रभाव भी आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभावों में बंटते हैं (क्योंकि एक ओर वे व्यक्ति की हालत को अधिक अथवा कल समृद्ध बनाते हैं और दूसरी ओर वे सापेक्ष अपहरित कीमतों को बदल देते हैं)। यथा, ब्याज की दर में सामान्य वृद्धि वर्तमान क्रय की अपेक्षा भावी क्रय की अपहरित कीमतों को गिरा देती है और यही दशा निकट भविष्य के क्रय की अपेक्षा सुदूर भविष्य के क्रय के संबंध में सही है। इसके फलस्वरूप ठीक उसी प्रकार के सामान्य प्रतिस्थापन किए जायंगे जिनके संबंध में हम उत्पादन सिद्धान्त के अन्तर्गत पढ़ चुके हैं। अपहरित कीमतों के इस

क्रमबद्ध परिवर्तन का वास्तविक प्रभाव व्यय को सामान्य रूप से स्थगित करने की ओर होता है । सामान्यतः इसलिए वर्तमान व्यय के कम होने की प्रवृत्ति होगी । किन्तु याद रहे कि स्थिति को जटिल बनाने के लिए सभी प्रकार के विपरीत प्रभाव और संपूरकता प्रभाव के अवसरों की भरमार संभव है ।

आय-प्रभाव की दिशा इस बात पर निर्भर होती है कि प्राप्तियों के प्रवाह के पूंजीकृत मूल्य की अपेक्षा व्यय के प्रारंभ में आयोजित प्रवाह का पूंजीकृत मूल्य (जिसमें उक्त 'स' पूंजीनिधि जो अन्त में बचती है भी सम्मिलित है) किस प्रकार प्रभावित होता है । यदि ब्याज की दर बढ़ा दें तो यह दोनों पूंजीकृत मूल्य घट जायंगे ; परन्तु इनमें कौन अधिक घटेगा ? यह समस्या बिल्कुल उसी समस्या के समान है जो हमारे सम्मुख तब थी जब हम आय का अनुगणन कर रहे थे[3] और जिसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं । उस समय हमने देखा था कि जब ब्याज की दर परिवर्तित होती है तब दो प्रवाहों (जिनके पूंजीकृत मूल्य आरंभ ही में समान थे) के पूंजीकृत मूल्यों के सापेक्ष परिवर्तन उनकी सापेक्ष औसत अवधियों पर निर्भर होते हैं । जब ब्याज की दर में सामान्य वृद्धि होती है तब व्यक्ति की अवस्था अधिक समृद्ध होगी, यदि उसकी प्राप्तियों के प्रवाह की औसत अवधि उसके व्यय के प्रवाह की औसत अवधि से कम है ।

यदि प्राप्तियों की औसत अवधि से व्यय की औसत अवधि कम है तो इसका अर्थ होगा कि वह वर्तमान और निकट भविष्य में जितना प्राप्त करता है उससे कम व्यय करने की योजना बनाता है ताकि वह और अधिक दूर के भविष्य में प्राप्ति से अधिक व्यय कर सके (ध्यान रहे कि और अधिक भविष्य के व्यय में आयोजन-काल के अंत में एकत्रित 'स' पूंजीराशि सम्मिलित है ।) अतएव यह कहा जा सकता है कि वह ऋणदाता बनने के लिए योजना बना रहा है । ऐसे व्यक्ति की स्थिति ब्याज की दर बढ़ने पर अधिक समृद्ध होती है; आय-प्रभाव के कारण उसके व्यय में वृद्धि की प्रवृत्ति होती है और इसमें (स्यात्) उसका वर्तमान व्यय भी सम्मिलित रहता है । इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों के लिए आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव विरोधी दिशा में होते हैं और उनमें से कोई भी अपेक्षाकृत शक्तिशाली हो सकता है । अतः हम नहीं कह सकते हैं कि ब्याज की दर में वृद्धि होने से उनका वर्तमान व्यय घटेगा या बढ़ेगा ।

निःसन्देह यह वैसी ही बात है जैसी प्रारंभिक पाठ्य पुस्तकों में दी होती है अर्थात् ब्याज की दर बढ़ने पर कुछ लोग अधिक 'बचत' करेंगे (वे लोग जो प्रतिफल की ऊंचीदर के आकर्षण के कारण वर्तमान व्यय के स्थान पर भावी व्यय को प्रति-

स्थापित करते हैं) ; कुछ लोग कम 'बचत' करेंगे (यह वे लोग होंगे जो अपनी बचत के फलस्वरूप एक निश्चित आय की इच्छा रखते हैं और इसलिए अपने वर्तमान व्यय को बढ़ाकर अपनी स्थिति को सुधार लेंगे ।) अपने अनुसंधान के फलस्वरूप हम इन प्रवृत्तियों को कुछ अधिक सूक्ष्मता के साथ परिभाषित कर सकते हैं । यह समझा जा सकता है कि बचत के संबंध में विभिन्न व्यक्तियों की अनिश्चितता का कारण वैसा ही है जैसा मजदूरी-परिवर्तन का श्रम की पूर्ति पर पड़ने वाले प्रभाव के संबंध में था, अथवा, एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने पर दूसरी की मांग पर पड़ने वाले प्रभाव के संबंध में था । किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात जो सामने आती है वह यह है कि यह अनिश्चितता किस प्रकार इस मान्यता पर निर्भर है कि व्यक्ति ऋणदाता बनने के लिए योजना बनाता है । विपरीत दशा में क्या होगा ?

यदि व्यक्ति की प्राप्तियों की औसत अवधि की अपेक्षा व्यय की औसत अवधि कम है तब ब्याज की दर की वृद्धि से उसकी स्थिति कम समृद्ध हो जायगी । तब आय-प्रभाव और प्रतिस्थापन-प्रभाव दोनों एक ही दिशा में होंगे—दोनों ही चालू व्यय को घटाने की प्रवृत्ति रक्खेंगे । जब ब्याज की दर बढ़ती है तब ऐसे व्यक्ति के व्यय लगभग अवश्य ही घट जाने चाहिए ।

वे लोग कौन होते हैं जो ऋणी बनने के लिए योजना बनाते हैं ? अपव्ययी व्यक्तियों के अतिरिक्त, जिनका ध्यान छोड़ा जा सकता है, ऐसे व्यक्ति वे साहसोद्यमी होते हैं जो वास्तविक विनियोग करते हैं । ऋण के रूप में हुई प्राप्ति को वर्तमान प्रयोग के लिए प्राप्ति नहीं गिनना चाहिए : साहसोद्यमी की प्राप्ति तो उत्पादन से हुई प्राप्ति का भूतकालीन संविदों से संबंधित व्यय पर आधिक्य है ।[४] यह प्राप्तियां बहुधा चालू अवधि में ऋणात्मक होंगी । किन्तु (व्यक्तिगत हिसाब में) साहसोद्यमी का चालू व्यय ऋणात्मक नहीं होगा : वह यह प्रत्याशा रक्खेगा कि प्राप्ति पर व्यय के आधिक्य को वह बाद की अवधियों के दूसरी दिशा के आधिक्यों द्वारा संतुलित कर लेगा । इस प्रकार उसके व्यय की औसत अवधि उसकी प्राप्तियों की औसत अवधि से कम होगी ।

स्थैतिक सिद्धान्त संबंधी हमारे अनुसंधान के बीच हमने अक्सर यह पाया है कि जब बाजार के एक पक्ष में आय-प्रभाव महत्वपूर्ण होते हैं तब भी वे दूसरे पक्ष में (कम या अधिक) किसी न किसी प्रभाव को संतुलित करते हैं । जब हमारी रूचि यह पता लगाने में है कि वजार मांग और पूर्ति के अंतरों (और यही अंतर कीमत परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण हैं) के कारण क्या हैं तब हम देखते हैं कि सदैव प्रत्येक पक्ष में कोई आय-प्रभाव होता है और सामान्यतः यह आय-प्रभाव विपरीत

दिशाओं में होते हैं । ऐसी ही स्थिति यहाँ है ।

जबकि एक ओर ऋणदाता बनने की योजना बनाने वाले व्यक्ति आय प्रभाव के कारण ब्याज की दर बढ़ने पर अपने वर्तमान व्यय को बढ़ाते हैं दूसरी ओर ऋण लेने की योजना बनाने वाले अपने आय-प्रभाव के कारण इसे घटाते हैं । यदि यह दोनों आय-प्रभाव बराबर हों तो केवल दोनों ओर के प्रतिस्थापन-प्रभाव बच रहेंगे और प्रत्येक की प्रवृत्ति चालू व्यय को घटाने की होगी ।

क्या दोनों आय-प्रभाव बराबर हो सकते हैं ? एक मोटा कारण है जिसके आधार पर ऐसी प्रवृत्ति होगी, किन्तु उसमें दो प्रकार के अपवाद हैं । वह मोटा कारण यह है कि प्रतिभूतियों के बाजार में संस्थिति के हेतु यह आवश्यक है कि चालू ऋण देना और लेना बराबर हो । किन्तु यह तर्क इतना पर्याप्त नहीं है कि हम इससे यह निष्कर्ष निकाल सकें कि ब्याज की दर बढ़ने पर ठीक समान मात्रा में ऋण लेने वालों की स्थिति कम समृद्ध और ऋण देने वालों की स्थिति अधिक समृद्धि होगी । उनकी सामान्य भावी स्थिति पर पड़ने वाला प्रभाव उनकी औसत-अवधियों की सापेक्षता पर निर्भर है : अन्य शब्दों में, वह उनकी आयोजित ऋण देने और लेने की सापेक्षता पर और वर्तमान अवधि में दिए और लिए ऋण की सापेक्षता पर निर्भर है । क्योंकि ऋण देने और लेने की आयोजनायें मुख्यतः लोगों के मस्तिष्क में रहती है (और वहां भी वे बहुत निश्चित नहीं होती) बाजार में वे संतुलित नहीं हो सकतीं । किसी न किसी पक्ष की आयोजित मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होगी ही यद्यपि इसका अर्थ होगा योजनाओं में असंगति और परिणामस्वरूप संभावी असंस्थिति ।[५]

निःसन्देह इस अपवाद का उतना महत्व नहीं है जितना दूसरे का, जिसका कारण यह होता है कि अपनी संपत्ति में परिवर्तन होने पर ऋणकर्ता और ऋणदाता अपने वर्तमान व्यय की समायोजना काफी भिन्न ढंगों से करते हैं । यथार्थ में ये उस तीव्रता से संबंधित हैं जिससे वे अपने व्यय को नई दशाओं के अनुरूप समायोजित करते हैं । यदि ऋणदाताओं की अपेक्षा ऋणकर्ता अधिक शीघ्रता से समायोजन कर लेते हैं (मेरे विचार में व्यवहार में इसकी संभावना अधिक है) तो ऋणकर्ता के पक्ष में जो आय प्रभाव होगा वह ऋणदाता के पक्ष के आय-प्रभाव से संभवतः अधिक तीव्र होगा । इसके फलस्वरूप निवल आय-प्रभाव उसी दिशा में होगा जिस दिशा में कुल प्रतिस्थापन-प्रभाव, और समूचे बाजार के लिए हमारे इस निष्कर्ष को बल मिलेगा कि ब्याज की दर बढ़ने पर चालू व्यय घट जायंगे और ब्याज की दर घटने पर वे बढ़ जायगे ।

(६) यद्यपि यह निष्कर्ष उस निष्कर्ष से कहीं भिन्न प्रतीत होता है जिसके पाठक अधिकांश आधुनिक कृतियों में आदी हो गये होंगे (निःसन्देह) हम कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं कर रहे हैं ; हम केवल परिचित प्रतिक्रियाओं को अपरिचित ढंग से कह रहे हैं। ऐसा करना स्वयं में कष्टकारक है परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह आवश्यक है। हर समय हमारा प्रयत्न यह है कि हम स्थैतिकी के अन्तर्गत जिस प्रकार के तर्कों का उपयोग कर चुके हैं उन्हीं का सामान्य प्रावेगिक समस्या में भी उपयोग करें। तत्हेतु यह आवश्यक है कि संबंधित शक्तियों को एक विशेष रूप से वर्गीकृत करें और यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती कि सदैव वर्गीकरण वैसा ही होगा जिसके हम आदी हैं।

'ब्याज की दर में परिवर्तन वर्तमान व्यय को कैसे प्रभावित करता है ?' इस प्रश्न का परंपरागत उत्तर देने का ढंग इस प्रकार है—(१) यह पता लगाया जाय कि दी हुई आय से किए गए व्यय की मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ेगा और (२) (यदि गौण प्रश्न को न भूल जाँय तो) यह खोज करना कि आय के स्तर पर क्या प्रभाव पड़ेगा। आय के स्तर पर पड़ने वाला प्रभाव तनिक भी सरल नहीं है और यथार्थ में दो भिन्न स्थितियों के प्रभाव का योग है। (२ अ) एक ओर साहसोद्यमी की आय पर पड़ने वाला वह प्रभाव है जो तब भी पड़ेगा जब वे अपनी उत्पादन योजनाओं को पूर्णतया अपरिवर्तित रखते हैं और दूसरी ओर (२ ब) उनकी आय और अन्य लोगों की आय पर पड़ने वाला वह प्रभाव है जो उनकी उत्पादन योजनाओं में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। पहली (१) के अंतरगत परम्परागत उत्तर यह होगा कि ब्याज की दर बढ़ने से व्यय घट सकता है यद्यपि ऐसी शक्तियाँ हो सकती हैं जिनका प्रभाव विपरीत दिशा में हो ; और (२) के अन्तर्गत (२अ) तथा (२ब) में कोई अन्तर न करने पर यह कहा जायगा कि निश्चय ही आय घटेगी और निश्चय ही इस कारण व्यय घटेगा।

हम स्वयं आय की अवधारणा के प्रति संशयपूर्ण हो चुके हैं और किसी भी हालत में हमारी तरह के विश्लेषण के लिए पहली और दूसरी अर्थात् स्थिर आय और परिवर्तनीय आय में भेद करना उपयुक्त नहीं है। परन्तु हम (२ अ) और (२ ब) का भेद अत्यंत महत्व का है; हम अवश्य उन व्यय परिवर्तनों, जो उत्पादन योजनाओं के अपरिवर्तित रहने पर भी होते हैं, और उनमें जो उत्पादन योजनाओं के परिवर्तन पर निर्भर रहते हैं, भेद करना चाहते हैं। इस प्रकार हम (१) तथा (२अ) को साथ लेते हैं जैसा हमने पिछले सेक्शन में किया था। जब हम ऐसा करते हैं तब हम आय की अवधारणा पर निर्भर नहीं रहते हैं। हमारा निष्कर्ष यह निकलता है

कि दी हुई उत्पादन योजनाओं और दी हुई कीमतों के प्रसंग में व्याज-दर का परिवर्तन चालू व्यय की मात्रा पर विपरीत दिशा में प्रभाव डालेगा ।

निःसन्देह यह प्रभाव किस मात्रा का होगा यह एक दूसरी समस्या है । जिस प्रकार हमने उत्पादन के संबंध में देखा था ब्याज संबंधी परिवर्तन के प्रभावीकरण के प्रति भी सन्देह करने के लगभग वही कारण हैं । जो भी हो प्रभाव की दिशा काफी स्पष्ट प्रतीत होती है ।

अध्याय १९

मुद्रा की मांग

(१) पाठकों ने निःसन्देह यह अनुभव किया होगा कि व्यक्ति की व्यय-योजना के हमारी व्याख्या में एक गंभीर और महत्वपूर्ण कमी रह गई है। हम यह मानते आए हैं कि एक सप्ताह में उसकी प्राप्तियों के मूल्य और उसी सप्ताह गत उसके व्यय के अन्तर को उसकी प्रतिभूतियों में परिवर्तन लाकर पूरा किया जाता है (अर्थात् ऋण दे कर या ले कर), और ऐसा किया भी जाना चाहिए। यद्यपि यह मान्यता उस संदर्भ में काफी सुविधाजनक थी किन्तु बाद में जो प्रयोग हम करना चाहते हैं उसमें हमें यह हमारा साथ नहीं देगी। यह बहुत ही विशिष्ट उद्देश्यों को छोड़कर अन्य उद्देश्यों के लिए न्यायोचित नहीं है।

यदि व्यय से उपलब्धि अधिक है तो इस आधिक्य को या तो प्रतिभूतियों के संग्रह या मुद्रा के संग्रह के रूप में रखा जा सकता है। यदि प्राप्ति से व्यय अधिक है तो इस आधिक्य को या तो प्रतिभूतियों को बेच कर (अपने ऊपर प्रतिभूतियों के निर्माण सहित) या कुछ मुद्रा का त्याग करके पूरा किया जा सकता है। यह विषय अति महत्व का है कि उन दोनों (प्रतिभूति या मुद्रा) में से कौन संतुलन हेतु काम में लाया जाता है। हमें अपने सिद्धान्त के औपचारिक ढांचे के अन्दर एक ऐसे रास्ते की आवश्यकता है जो इन दोनों ढंगों के बीच भेद कर सके।

अगर मुद्रा को एक विशिष्ट प्रकार का टिकाऊ उपभोक्ता-माल माना जा सकता तो मुद्रा को, बिना किसी असुविधा के, हमारी पूर्व व्याख्या में स्थान दिया जा सकता था। व्यक्ति के लिए संस्थिति की एक दशा यह है कि दी हुई तिथियों पर किन्हीं वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त-दर उनकी अपहरित कीमतों के अनुपात के बराबर होनी चाहिए; यह नियम मुद्रा के ऊपर भी लागू माना जा सकता है। इस समय की मुद्रा और इस समय की अन्य किसी वस्तु के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उस वस्तु की वर्तमान कीमत के बराबर होगी। यह ठीक वैसा ही नियम है जैसा

हमने स्थैतिकी में आधारवस्तु के लिए पाया था); इस समय के मुद्रा-संग्रह और कुछ समय बाद के मुद्रा-संग्रह के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त दर स्थगन की अवधि-संबंधित अपहरण-अनुपात के बराबर होगी। इसका तात्पर्य है कि एक अवधि पर्यन्त लिया हुआ ब्याज उस त्याग के बराबर है जो मुद्रा की सीमान्त-इकाई की प्राप्ति को उस अवधि के अंत तक स्थगित करने में निहित है; यह उसी तरह का त्याग है जो (कीमत-परिवर्तनों के जोखिम के अतिरिक्त) किसी अन्य टिकाऊ-माल की उस अवधि के अन्त तक खरीद के स्थगन में निहित होता है। दूसरे शब्दों में ब्याज की दर मुद्रा को भविष्य में रखने की अपेक्षा इस समय रखने की अधीरता को मापेगा।

जैसा कि हम देख चुके हैं, (कीमतें अपरिवर्तित मानी जाये तो) ब्याज की दर में कुछ वृद्धि की प्रवृत्ति सामान्यतः वर्तमान वस्तुओं की मांग को कम कर देने की होती हैं; ठीक यही बात किसी भी विशिष्ट वर्तमान वस्तु के प्रति भी तब तक लागू होती है जब तक यह मानने का कोई कारण न हो कि यह उन भविष्य की वस्तुओं के साथ संपूरक है जिनकी योजनाबद्ध खरीद बढ़ जायगी। ठीक यही यहां मुद्रा की वर्तमान मांग के प्रति भी लागू होगा। हम यह प्रत्याशा कर सकते हैं कि ब्याज की दर में वृद्धि होने पर मुद्रा की मांग में ह्रास होगा। पुनः वस्तुओं की कीमतों में एक सामान्य वृद्धि (चाहे यह स्थिर रूप से बनी रहने के लिए प्रत्याशित हो या नहीं) उन वस्तुओं के पदों में मुद्रा के मूल्य के ह्रास के बराबर है और यह प्रतीत होगा कि इससे मुद्रा की मांग बढ़ जानी चाहिए।

ये मुद्रा के व्यवहार के वे नियम हैं जिनके लागू होने की कोई तभी प्रत्याशा करेगा जब यह संभावना हो कि मुद्रा को टिकाऊ-उपभोग-माल के एक विशिष्ट प्रकार से अधिक कुछ भी न माना जाय। ये बहुत ही बुद्धिसंगत नियम हैं; यह आश्चर्यजनक होगा यदि, मुद्रा के वास्तविक स्वभाव के बारे में अधिक सतर्कता से ध्यान देने पर, यह अनिवार्य हो जाय कि इन नियमों को काफी परिवर्तित किया जाय।

(२) जैसा कि हम इस विषय के अपने पहले की व्याख्या में देख चुके हैं,[१] मुद्रा (या कम से कम आधुनिक मुद्रा) एक टिकाऊ-उपभोक्तामाल नहीं है वरन् प्रतिभूति का एक प्रकार है। इसकी इच्छा, स्वयं में एक उद्देश्य की तरह नहीं की जाती है अपितु इस तरह की जाती है जैसे प्रतिभूतियों की, जिससे यह भविष्य के खर्चों को पूरा करने के साधन के रूप में उपलब्ध रहे। मुद्रा की मांग का विचार करने का सही रास्ता इसे अन्य व्ययों से आत्मसात् करना नहीं (जैसा कि हम अभी कर रहे थे) अपितु प्रतिभूतियों की मांग से आत्मीकरण करना है। व्यक्ति अपनी

वर्तमान प्राप्तियों से भविष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि की व्यवस्था या तो प्रति-भूतियों की प्राप्ति करके कर सकते हैं या मुद्रा को प्राप्त करके। जब मामले को इस दृष्टि से देखा जाता है तो हम एकाएक यह प्रश्न पूछने को बाध्य हो जाते हैं कि यह कैसे संभव है कि व्यक्ति मुद्रा को प्रतिभूतियों की अपेक्षा रखना पसंद करता है जब कि प्रतिभूतियां ब्याज कमाती हैं और मुद्रा नहीं। हम देख चुके हैं कि इस प्रश्न का उत्तर किस तरह दिया जाना चाहिए। सर्वाधिक सुरक्षित और सर्वाधिक आसानी से बेची जाने योग्य प्रतिभूति के जो कि मुद्रा नहीं है, धारकों को कुछ जोखिम रहता है और संग्रह करने और बेचने की लागत भी सहन करनी पड़ती है जिनसे मुद्रा मुक्त है। जब ऐसी प्रत्याशा (और एक विश्वस्त प्रत्याशा) हो कि कम से कम भविष्य में एक न्यूनतम समयावधि के लिए निधियों की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, तभी प्रत्याशित प्रत्युपलब्धि इन लागतों और जोखिमों को पूरा करने से अधिक होगी और इस कारण ऐसा करना उपयोगी होगा कि वह अपनी निधि को ऐसे रूप में रक्खे जिस पर ब्याज मिले। अन्यथा, उसे वास्तव में, मुद्रा में ही रखना श्रेयस्कर होगा।

इसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणामों में से एक की, अर्थात् मुद्रा-माँग की ब्याज-दर पर (बल्कि ब्याजदरों के निकाय पर) घनिष्ट निर्भरता की, हम पहले ही परीक्षा कर चुके हैं। ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि व्यापार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण से मुद्रा और प्रतिभूतियां विशिष्ट रूप से घनिष्ट प्रतिस्थापनों की भांति व्यवहार करती हैं; किन्तु हमें ऐसे काफी व्यक्ति और उद्योगों को पाने की प्रत्याशा करनी चाहिए जिनके लिए मुद्रा और प्रतिभूतियों के विभिन्न प्रकार वास्तव में बहुत घनिष्ट प्रतिस्थापनों के समूह स्वरूप होते हैं। समूची अर्थव्यवस्था के दृष्टि-कोण से मुद्रा और प्रतिभूतियों को बहुत घनिष्ट प्रतिस्थापनों के समान बनाने को यह पर्याप्त है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि, यदि मुद्रा को एक टिकाऊ उपभोक्ता-माल माना जाय, ब्याज की दर में वृद्धि, स्यात्, मुद्रा की मांग को घटा देगी; मुद्रा इस मामले में मुद्रा की प्रकृति का अपेक्षाकृत अच्छा निरूपण हमारे पहले सिद्धान्त को केवल इस हद तक संशोधित करता है कि हम इस प्रतिक्रिया पर अन्यथा जितना अधिक जोर डालते अब उससे अधिक जोर डालने को तैयार होंगे।[२]

यदि ब्याज की दरें दी हुई हों, तो यह किस प्रकार निर्धारित होता है कि कोई व्यक्ति अपनी निधियों को मुद्रा और प्रतिभूतियों के बीच कैसे विभाजित करेगा? यही मुख्य प्रश्न है जिस पर हमको विचार करना है। यदि हम बहुत से विशिष्ट उदाहरणों पर विचार करें तो हम इस प्रश्न की बहुत सरलता से विवेचना कर सकते हैं।

वित हो सकती है। (यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार की मुद्रा की मांग ब्याज के परिवर्तनों से अधिक प्रभावित नहीं हो सकती।)

जो भी हो, इस उदाहरण में भी, जिसमें प्राप्ति और व्ययों की मोटे तौर पर संतुलित होने की प्रत्याशा रहती है, मुद्रा रखने का एक अन्य कारण भी है। किसी व्यक्ति की व्यय-योजना कभी निश्चित नहीं होती ; ऐसी संभावना हमेशा बनी रहती है कि वह किसी भी क्षण कुछ अदृष्ट-व्ययों को करने की इच्छा करेगा। इस अदृष्ट व्यय को करने के लिए प्रतिभूतियों को मुद्रा में बदलने का खर्च काफी होगा और फलतः यह जोखिम कि ऐसा करना पड़ सकता है, ब्याज के सामान्य लाभ का निराकरण करने के लिए पर्याप्त होगा। अतः पास में मुद्रा रख कर संभव (न केवल पूर्व-अनुमानित) व्ययों के कुछ अंश को पूरा करने की संभावना रहती है ; यह अंश कितना अधिक होगा यह जोखिम के प्रति व्यक्ति के विचार और प्रतिभूति-विनियोग द्वारा मिलने वाले प्रतिफल की मात्रा पर निर्भर है। अतः मुद्रा की मांग का यह भाग ब्याज की दरों से प्रभावित हो सकता है, किन्तु जोखिम तत्त्व में होने वाले परिवर्तनों का भी इस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ेगा। इसका व्यय की कुल मात्रा से स्यात् काफी अपरिवर्तनशील संबंध है।

इस सम्बन्ध में भूतकाल में स्वीकृत देयों के कारण एक अन्य अति महत्वपूर्ण संभव व्यय होता है। हरेक उद्योग के प्रति सदैव कुछ ऐसे पावने होते हैं जिन्हें पूरा करने की मांग उससे ऐसे समय की जा सकती है जो निश्चितता के साथ पहले से नहीं जाना जा सकता है। निःसन्देह इसका स्पष्टतम उदाहरण बैंकों का है जिनकी जीविका ही ऐसे देयों को प्राप्त करने से होती है : और अतएव वे ऐसे देयों की अत्यधिक मात्रा रखते हैं। फिर भी, अपने देयों के प्रति बैंक जो नकद कोष रखते हैं वह साधारणतया अनिश्चित भावी-व्ययों के प्रति मुद्रा रखने का एक विशिष्ट उदाहरण मात्र है; ऐसा आचरण कुछ हद तक सभी उद्योगों और बहुत से व्यक्तियों भी करते हैं।

(४) मुद्रा रखने के यही मुख्य कारण हैं जो स्थैतिक दशाओं में, जहाँ प्राप्तियों और व्ययों के संतुलित होने का नियम था, भी विद्यमान रहेंगे। जब दशायें स्थैतिक न हों तो दो कारण और जोड़ने चाहिए। एक अर्थ में वे पहले बताए हुए कारणों का विस्तार हैं ; किन्तु यही ठीक प्रतीत होता है कि इनका अलग से वर्गीकरण किया जाय।

यदि एक व्यक्ति निकट भविष्य में अपने व्यय में काफी वृद्धि की आयोजना निश्चित रूप से कर रहा है तो यह अत्यंत संभव है कि वह इस हेतु अपने मुद्रा-जमा

को बढ़ायेगा। सामन्न्यतः वह यह नहीं जानेगा कि किस तिथि विशेष पर उसे अपनी निधि खर्च करनी होगी; और यदि वह यह जानता भी है, तो भी व्यय निश्चित रूप से कुछ समय ले सकता है और इसके लिए यह सरल होगा कि सभी आवश्यक निधियों को एक ही बार में मुद्रा में बदल लिया जाय। परिणामतः हम एक काफी व्यापक नियम बना सकते हैं कि निकट भविष्य के लिए आयोजित व्यय में वृद्धि सामान्यतः मुद्रा की वर्तमान मांग को बढ़ा देती है।[3]

यदि व्यक्ति, निकट भविष्य में, अपनी प्राप्तियों से अधिक खर्च करने योग्य होने के लिए वर्तमान प्राप्तियों से कम खर्च कर रहा है तब भी स्पष्टतः यही चीज लागू होती है। (वास्तव में यह उस पहले उदाहरण के ही समान है जिसकी हम '§३' में व्याख्या कर चुके हैं।) किन्तु यह तब भी सत्य हो सकता है—और यह एक दूसरी नयी बात है जिसका हमें अस्थैतिक दशाओं में ध्यान रखना है—जब वह अपनी प्रतिभूतियों का स्टाक बढ़ाने के लिए (जिससे वह किसी सुदूर और स्यात् कल्पित भावी तिथि पर अपनी प्राप्तियों से अधिक खर्च कर सकने में समर्थ हो सके) वर्तमान में अपनी प्राप्तियों से कम खर्च कर रहा है। यह प्रतिभूतियों में विनियोग करने की लागत के, जो कि अपेक्षाकृत अधिक निधि विनियोग की दशा में कम पड़ती है, कारण हो सकता है। इस उदाहरण में, नकद रखने का अन्तिम उद्देश्य इसे निकट भविष्य में व्यय करना नहीं है वरन् निकट भविष्य में प्रतिभूतियों में विनियोग करना है; इस नकद का विनियोग तत्क्षण इसलिए नहीं किया जाता क्योंकि कई 'सप्ताहों' की बचत को एक ही बार में प्रतिभूतियों में रूपान्तरित करना उन्हें अलग अलग सप्ताहों में, जिनमें वे की जाती हैं, विनियोग करने की अपेक्षा सस्ता पड़ता है।

मुद्रा को रखने के यही मुख्य कारण हैं। वे अपेक्षाकृत बेमेल हैं और उन्हें एक सुविधाजनक सूत्र में लाना आसान नहीं है। फिर भी हमको आगे की खोजों के लिए ऐसे सूत्र की आवश्यकता है, क्योंकि, हम इस अध्याय की पूर्ण व्याख्या को, जब भी इसे प्रयोग में लाना चाहें, दुहरा नहीं सकते हैं। यदि उपर्युक्त (बचत करने के प्रक्रम में मुद्रा के संचय को) अन्तिम बात को छोड़कर हम कहें कि मुद्रा की माँग ब्याज की दर पर और निकट भविष्य के (मुद्रा के पदों में) आयोजित व्यय की मात्रा पर—कुछ ध्यान इस विश्वास की ओर देकर कि यह प्रत्याशा की जाती है कि यही व्यय होगा इससे अधिक नहीं—निर्भर रहती है, तो हम अधिक गलत नहीं हो सकते। अन्तिम तर्क को छोड़कर मुद्रा के रखने के सभी कारण इसके अंतर्गत आ जाते हैं। हम अन्तिम कारण को तभी ध्यान में रख सकते हैं जब हम यह जोड़ें कि मुद्रा की माँग कभी कभी निकट भविष्य में आयोजित व्यय का वृद्धि द्वारा नहीं वरन् व्यक्तियों द्वारा आयोजित निकट

भविष्य में खरीदी जाने वाली प्रतिभूतियों की मात्रा में वृद्धि द्वारा बढ़ सकती है। यह एक भद्दा सा अपवाद है किन्तु इससे छुटकारा पाने के लिए मुझे इस नियम के पुनर्सूत्री-करण का कोई सुविधाजनक मार्ग नहीं दिखाई देता।

(५) हमारे दिए हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उपरोक्त सूत्र के अनुसार, व्यय के अन्तर्गत न केवल आगतों पर,जिनकी आवश्यकता एक उत्पादन-प्रक्रम को चालू रखने के लिए भी बढ़ाने के लिए होती है, होने वाला व्यय अपितु उपभोग मालों पर होनेवाला व्यय भी आ जाता है। वास्तव में हम साधनों के वितरण संबंधी मामलों पर व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार, करते करते दोनों, व्यक्ति और फर्म, के दृष्टिकोण से विचार करने लगे हैं; यह ऐसी स्थिति है जिससे एक तरह से साधारणतया हम बच नहीं सकते थे। उपसंहार में, यह विचार करना भी उपयोगी होगा कि यह कैसे हुआ।

जब हमने १५ से १७ अध्यायों में फर्म के कार्यों की व्याख्या की थी, तब उसको हमने एक शुद्धतः प्राविधिक इकाई माना था; यह कुछ आगतों को आत्मसात् करती थी और कुछ निर्गतों को बेचती थी; यह मान लिया गया था कि इसकी निवल प्राप्तियाँ (किसी विशिष्ट सप्ताह में, निश्चित व्ययों के घटाने के पश्चात् आगतों और निर्गतों के मूल्य में अन्तर) साहसोद्यमी के निजी खाते में स्थानाँतरित होती हैं। यदि यह निबल प्राप्तियाँ धनात्मक होतीं तो साहसोद्यमी उन्हें व्यक्तिगत रूप में, या तो निजी व्यय में, निजी नकद-जमा के निर्माण में, या प्रतिभूतियों के संग्रह में लगा सकता है; यदि वे नकारात्मक हैं तो उसे अपने निजी व्यय के लिए कुछ भी उपलब्ध करने के लिए या तो उधार लेना पड़ेगा (या प्रतिभूतियाँ बेचनी पड़ेंगी) या अपने नकद-जमा को कम करना पड़ेगा।

इसका तात्पर्य यह है कि फर्म के कार्यों का संपूर्ण वैत्तिक पक्ष साहसोद्यमी के निजी खाते में स्थानान्तरित मान लिया गया है; यद्यपि इस मान्यता में कुछ सैद्धान्तिक सुविधा हो जाती है, किन्तु, स्पष्टतः यह अत्यन्त अवास्तविक तरीका है। निजी फर्म में भी, जब कि साहसोद्यमी एक वैधानिक कल्पना नहीं वरन् एक वास्तविक व्यक्ति होता है, वह व्यवहार में सामान्यतया दो खाते रखता है। (यह सत्य है कि निजी फर्म में यह पृथक्करण बहुत दिखावटी व अविहित होता है जिससे सैद्धान्तिक उद्देश्यों के लिए इसकी उपेक्षा करना स्यात् उचित है।) किन्तु जब यह उदाहरणगत फर्म मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी हो जाती है तो पृथक्करण बनावटी नहीं रह जाता। वहाँ विभाजन की एक वास्तविक रेखा होती है; फर्म की क्रियाओं का वैत्तिकपक्ष स्वयं की सत्ता रखता है जो हिस्सेदारों के निजी खातों से पूर्णतया पृथक है—एक ऐसा पृथकत्व जिसे सीमित देयता के वैध सिद्धान्त द्वारा बनाये रखते हैं।

किन्तु, यद्यपि विभाजन दिखावटी नहीं रह जाता, यह अविहित बना ही रहता है। परिस्थिति का सामना करने का स्वाभाविक तरीका फर्म के वैत्तिक खाते को निजी खाते का एक विशिष्ट प्रकार मानना है (ऐसा कोई अनिवार्य तर्क नहीं है जिससे हम यह मानने को बाध्य हों कि 'व्यक्तियों' में केवल पृथक् पृथक् आदमी आते हैं); फर्म की निबल प्राप्तियाँ ही इस खाते की निवल प्राप्तियाँ कहलायेंगी और फर्म के लाभांश भुगतान इसका 'व्यय' होगा। इस अध्याय की व्याख्या इस खाते पर पूर्णतया लागू होगी (यद्यपि इस संबंध में यह स्पष्ट रहना चाहिए कि जिसे हम अब ऋणात्मक प्राप्तियाँ कहते उसकी गणना मुद्रा की माँग के दृष्टिकोण से एक तरह के खर्च में ही होगी-- यह फर्म के योजित व्ययों की कुल राशि है (न कि केवल इसके योजित उन लाभांशों के वितरण की) जो फर्म के नकद जमा की मात्रा से संबंधित है)। यह सब फर्म के वैत्तिक खाते को एक स्वतंत्र 'निजी' खाते के रूप में मानकर पूर्णरूप से किया जा सकता है। किन्तु तब भी एक कठिनाई है।

निर्धारण का कोई ऐसा स्पष्ट सिद्धान्त नहीं रह जाता कि किस मात्रा में लाभांश दिये जायं अर्थात् कितना वर्तमान समय में लाभांश के रूप में दे दिया जाय और कितना व्यापार में पुन: विनियुक्त कर दिया जाय। न ही कोई एसा सैद्धान्तिक उपाय दिखाई पड़ता है जिससे यह अविहितता दूर की जा सके; यह एक वास्तविक अविहितता है; यह मिश्रित पूंजीवाली कम्पनी की एक वास्तविक विशेषता है। इसके बहुत से निहित अर्थ हैं, किन्तु हम यहाँ उनका अध्ययन नहीं कर सकते। सामान्य प्रावेगिक सिद्धान्त के लिए मात्र एक मान्यता, जिसका अब हमें विचार करना है, यह है कि हमें लाभांश-नीति को कुछ समय के लिए एक मुक्त-चर के रूप में मानने को तैयार रहना चाहिए।

अध्याय २०

संपूर्ण निकाय की स्थायी-संस्थिति

१. इसकी अपूर्ण स्थिरता।

(१) इस पुस्तक में हम जिस विश्लेषण रीति को लेकर चले हैं उसकी यह एक अति प्रोत्साहिक विशेषता है कि अकेली फर्म अथवा व्यक्ति के व्यवहार के सूक्ष्म अध्ययन संबंधी छोटी छोटी समस्याओं से उठकर पूर्ण अर्थ शास्त्रीय निकाय की सम्पन्नता या विपन्नता से संबंधित विशद समस्याओं, यहाँ तक कि उसके अस्तित्व और विनाश, के संबंध में विचार करना संभव हो जाता है। व्याख्या संबंधी इस सरलता का आधार (स्थैतिकी के संबंध में पहले से ही ज्ञात) यह सरल सिद्धान्त है कि व्यक्ति या फर्म के समूह का व्यवहार उन्हीं नियमों से बद्ध है जिनसे किसी एक अकेली इकाई का व्यवहार। यदि (अन्य कीमतें अपरिवर्तित मानकर) किसी वस्तु की कीमत के परिवर्तन स्वरूप यह सिद्ध किया जा सके कि एक प्रतिनिधि व्यक्ति द्वारा की गई उस वस्तु की माँग बढ़ जायगी, तब हम कह सकते हैं कि उसकी जैसी स्थिति वाले सभी व्यक्तियों के लिए उस वस्तु की माँग बढ़ जायगी। (हम यह पहले सीख चुके हैं कि किस प्रकार आय-प्रभावों के माध्यम से हम उन व्यक्तियों की स्थितियों में भेद कर सकते हैं जो संबद्ध बाजारों में क्रेता और विक्रेता के रूप में आते हैं।) बाजार-व्यवहार के जिन नियमों को हमने पर्याप्त कष्ट उठाकर नगण्य प्रतिनिधि व्यक्ति व प्रतिनिधि फर्म के लिए स्थापित किया है, वे अपने उसी स्वरूप में आर्थिक इकाइयों के बड़े समूहों के व्यवहार के नियम बन जाते हैं, और हम उनसे सरलतापूर्वक परस्पर संबंधों के नियम, कीमत व्यवहार के नियम और सम्पूर्ण निकाय की कार्यप्रणाली के नियम निकाल सकते हैं।

हमारी खोज के प्रारंभिक चरण में यह बताया जा चुका है कि किसी एक विशेष 'सप्ताह' में पूर्ण अर्थतंत्र की संस्थिति (अस्थायी संस्थिति) की सामान्य शर्तें क्या हैं।[1] संक्षेप में वे प्रत्येक प्रकार के मालों और सेवाओं, प्रतिभूतियों एवं मुद्रा की माँग

और पूर्ति के नियम हैं। क्योंकि प्रतिनिधि आर्थिक इकाइयों के व्यवहार से संबंधित खोज करने से पहले ही इन संस्थिति समीकरणों को लिखना संभव था, हमने उन्हें पहले ही लिख दिया (और यह भी दिखा दिया कि किस प्रकार उनमें से एक समीकरण फालतू है) जिससे बाद में जब भी हमको आवश्यकता हो हम उनका हवाला दे सकें। यथार्थ में, अब वह स्थिति आई है जब हम उन समीकरणों को कार्यरत होने दे सकते हैं। वे संस्थिति-समीकरण उन कीमतों को निर्धारित करते हैं जो दी हुई दशाओं में (अर्थात्, प्रस्तुत प्रसंग में, दी हुई रुचियों, साधनों और प्रत्याशाओं के साथ) निश्चित होंगी। अब हमें यह विवेचना करनी है कि यदि इनमें से कुछ तथ्य बदल जायं तो क्या होगा।

ऐसी विवेचना के लिए हमें ठीक वैसा ही कार्यक्रम बनाना होगा जैसा हमने स्थैतिक कीमत-निकाय की विवेचना के साथ बनाया था। किन्तु संबंधित स्थैतिकी की दशा में और वर्तमान परिस्थिति में एक महत्वपूर्ण अंतर है, जिसपर तत्काल ध्यान देना आवश्यक है। स्थैतिकी में हमारा अंतिम ध्येय स्थैतिक कीमत-निकाय की कार्यप्रणाली से संबंधित नियमों को खोज निकालना रहता है; किन्तु प्रावेगिक में अस्थायी संस्थिति-निकाय की कार्य-प्रणाली से संबंधित नियम के संबंध में ऐसी कोई अंतिम स्थिति नहीं मानी जा सकती है। यह जोर देकर स्पष्ट करना आवश्यक है कि तथ्यों के जिन परिवर्तनों का हम अध्ययन करेंगे वे शुद्धतः काल्पनिक परिवर्तन हैं। हम किसी सप्ताह में यथार्थ-रूप-से-निश्चित कीमतों के निकाय की तुलना कीमतों के उस दूसरे निकाय से करते है, जो उसी सप्ताह तथ्यों (रुचियों, साधनों अथवा प्रत्याशाओं) के भिन्न होने पर निश्चित हो जाता। यह एक महत्वपूर्ण समस्या है, पर वह चरम प्रावेगिक समस्या नहीं है। अस्थायी-संस्थिति-निकाय की कार्य-प्रणाली को पूर्णतया समझ लेने पर भी हम न तो कीमत-परिवर्तन के प्रक्रम का वर्णन कर सकेंगे और न तथ्यों के परिवर्तन के गूढ़तम प्रभावों की समीक्षा कर सकेंगे। यही वे चरम बातें हैं जिनके संबंध में हम जानना चाहते हैं यद्यपि यह संभव है कि अन्त में हम निराशाजनक निष्कर्ष पर आवें कि उनके बारे में सामान्य रूप में कुछ अधिक कहा नहीं जा सकता है। तथापि, जब तक हम किसी सप्ताह में अर्थ व्यवस्था की कार्य-प्रणाली के संबंध में खोज न कर लें, हम आगे की इन समस्याओं के बारे में कुछ नहीं कर सकते।

यह सत्य है कि अस्थायी-संस्थिति के सिद्धान्त में चरम प्रावेगिक समस्याओं का हल नहीं मिलता, किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष व्यावहारिक महत्व नहीं है। अनेक कार्यों के लिए हम केवल इतना जानना चाहते हैं कि अस्थायी-संस्थिति का सिद्धान्त क्या अर्थ रखता है, अर्थात्, तथ्यों में विशिष्ट परि-

वर्तन होने पर घटनाक्रम में 'तुरंत' क्या परिवर्तन होंगे। इसके आगे, जब हम यह ध्यान में रखते हैं कि हमारे 'सप्ताह' की लम्बाई काफी अविहित है (और यह कि हम जहाँ तक न्यूनाधिक सही निष्कर्ष निकालना चाहते हैं वहाँ तक, छोटी या बड़ी की जा सकती है), तब यह स्पष्ट हो उठता है कि जैसा हम चाहें वैसा ही 'तुरंत' शब्द का अर्थ हम न्यूनाधिक दृढ़ता से लगा सकते हैं। ऐसी मुख्य समस्यायें, जहाँ एक सप्ताह से अधिक समय पर ध्यान देना आवश्यक है, वही हैं जिनमें हम पूंजी के संचयन या असंचयन के फलों को विशेष रूप से जानना चाहते हैं। परन्तु इन प्रश्नों को बाद के लिए टाला जा सकता है, क्योंकि वे प्रावेगिकी के जिस भाग में उठते हैं वह अस्थायी संस्थिति सिद्धान्त के बाहर है।

अपनी अध्ययन-रीति के अनुसार हम अब भी यह मान लेंगे कि कीमत-परिवर्तनों के फलस्वरूप सतर्क हो उठने और अपनी योजनाओं में परिवर्तन करने के लिए साह-सोद्यमियों (और दूसरों) को जितने समय की आवश्यकता होती है उसकी उपेक्षा की जा सकती है। व्यवहार में अनेक व्यक्ति इस प्रकार की प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने में काफी शिथिल होते हैं और इसलिए हमारी इस मान्यता का आवश्यक निहित अर्थ यह हुआ कि व्यवहार में हमारे सप्ताह की लम्बाई बढ़ गई; और इसलिए प्रारंभिक परिवर्तन-स्वरूप व्यक्तियों की (स्यात्, देर से हुई) प्रतिक्रियाओं के प्रभाव भी सप्ताह के अन्दर ही प्रतिलक्षित माने जायेंगे। निःसन्देह, व्यवहार में पूंजी-संचयन के महत्व-पूर्ण प्रभाव अनेक लोगों के सतर्क होने से पहले ही प्रतिलक्षित हो उठते हैं। यह आव-श्यक है कि हम अपनी रीतियों की इस त्रुटि को जान लें। इसका अर्थ यह हुआ कि अपनी अध्ययन रीति के अन्तर्गत हम दो प्रकार के प्रभावों को, जो यथार्थ में साथ साथ प्रतिलक्षित होते हैं, क्रमिक मानेंगे। किन्तु यह अवगुण अपने में कुछ लाभ भी संजोए है। एक प्रकार से यह भेद कर लेना लाभजनक है कि प्रारंभिक परिवर्तन के फलस्वरूप ऐसे कौन से प्रभाव उदित होते हैं जिनका आधार उन प्रारंभिक प्रभावों के प्रति सतर्क हो उठता है (जो उनकी न्यूनाधिक सतर्कता के साथ क्रमशः न्यूनाधिक तेजी से घटते है)। दूसरी ओर यह जान लेना भी लाभदायक है कि वे कौन से प्रभाव हैं जो पूंजी-संचयन पर निर्भर हैं और जिनके फलीभूत होने की तिथि उत्पादन-यंत्रों में परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक प्रक्रमों की प्रविधि द्वारा निश्चित अवधि के आधार पर ही लगभग दृढ़ता के साथ निर्धारित होती है। हम अपने अध्ययन में यह मान लेंगे कि पहले प्रकार का प्रभाव अधिकतम तेजी से घटित होता है; यदि साधारण समय में यह प्रभाव उतने धीरे धीरे फलीभूत हो जितना दूसरा प्रभाव तो यह सदैव संभव है कि इसकी तीव्रता को पर्याप्त रूप से बढ़ाया जा सकता है और इस बात को ध्यान

में रखना वाँछनीय है। यह तथ्य, कि यह प्रभाव स्वभावतः अपेक्षाकृत धीरे धीरे प्रतिलक्षित होता है, यथार्थ में हमारे लिए किसी विशेष कठिनाई का कारण न बन सकेगा।

(२) अस्थायी-संस्थिति-विश्लेषण के अन्तर्गत जिन विशेष समस्याओं का अध्ययन करना है वे बहुत कुछ सामयिकी रोचक समस्यायें हैं, यथा, वचत और विनियोग का व्याज की दर पर क्या प्रभाव पड़ता है और मौद्रिक मजदूरी में होने वाले सामान्य परिवर्तनों के क्या प्रभाव होते हैं। मुझे आशा है कि हम जो अध्ययन करेंगे उसके फलस्वरूप यह समस्यायें काफी स्पष्ट हो जायंगी, क्योंकि, मुझे न केवल इन प्रश्नों के सही उत्तर देने की आशा है अपितु यह भी बता देने की आशा है कि सही उत्तरों को देना क्यों कठिन है। यदि एक शब्द में इस कारण को बताऊं तो मैं इसे इस अध्याय के शीर्षक रूप में लिख चुका हूँ:––अस्थायी संस्थिति निकाय की प्रवृत्ति अपूर्ण स्थायित्व की होती है।

इस बात के महत्व को समझने के लिए यह स्मरण कर लेना आवश्यक है कि विनिमय के स्थायित्व के संबंध में हमने क्या विवेचना की थी। (२) कोई भी बहु-विनिमय निकाय (और अस्थायी-संस्थिति-निकाय, बहु-विनिमय-निकाय का एक प्रसरित रूप ही तो है) तभी पूर्णतया स्थायी हो सकता है जब आगे दी हुई शर्तें पूरी हों। किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर उस वस्तु की पूर्ति माँग से अधिक हो जानी चाहिए, यदि (अ) अन्य सभी कीमतें दी हों (ब) कुछ अन्य कीमतें इस प्रकार समायोजित हो सकें कि उनके बाजारों में उनकी माँग और पूर्ति बराबर बनी रहे और (स) अन्य सभी कीमतें भी इसी प्रकार समायोजित हो उठें। यदि इनमें से अंतिम शर्त पूरी नहीं होतीं तो निकाय बिल्कुल भी स्थायी नहीं हो सकता और तनिक से भी विघ्न के कारण छिन्न भिन्न हो जायगा। यदि कुछ स्थायित्व संबंधी शर्तें पूरी नहीं होतीं, भले ही (अनिवार्य अंतिम शर्त को लेकर) अन्य शर्तें पूरी हो जाय, तो निकाय अपूर्णतया स्थायी रहेगा। क्योंकि, अन्त में यह स्थायी है इसलिए यह छिन्न भिन्न तो नहीं होता परन्तु इसकी कार्यप्रणाली के फलस्वरूप अजीब असंगतियाँ उदित हो सकती हैं।

जब हमने स्थैतिकी के अन्तर्गत कुछ निकायों (यथा, बहु-विनिमय-निकाय और उत्पादन-युक्त-विनिमय-निकाय) को इन कसौटियों पर कसा था तो हमको कोई ऐसा महत्वपूर्ण तर्क नहीं मिला था जिससे हम यह सोचते कि इनके कारण कोई विशेष कठिनाई उठेगी। अतः, सामान्य विश्वास के साथ हमने इन स्थैतिक-निकायों को पूर्णतया स्थायी मानकर अध्ययन किया और इस स्थायित्व से ही हमने यह खोज निकाला कि इनपर किन आर्थिक नियमों के लागू होने की हम प्रत्याशा कर सकते हैं। परन्तु,

जब हम इन्हीं कसौटियों पर प्रावेगिक निकाय—अथवा अस्थायी-संस्थिति के निकाय को कसते हैं तो क्या पता चलता है?

इस प्रश्न का उत्तर देने का सबसे सरल ढंग यही है कि हम यह विचार करें कि क्या अस्थायी-संस्थिति-निकाय की किसी ऐसी विशेष दशा की कल्पना करना संभव है जिसके वैसे ही लक्षण हों जो स्थायी स्थैतिक-निकायों के थे। यदि ऐसा करना संभव है तो अपनी इस विशेष दशा में अस्थायी-संस्थिति-निकाय पूर्णतया स्थायी होगा। तब इस विशिष्ट दशा की सामान्य दशा से तुलना करके हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि क्या सामान्य दशा में ऐसी कोई चीज है जो उसके स्थायित्व को उलट दे—और यदि है तो वह कौन सा तत्व है।

(३) विनिमय और उत्पादन के स्थैतिक-निकाय और किसी प्रावेगिक-निकाय में अति स्पष्ट अंतर यही है कि एक में ऋण का लेन-देन नहीं होता और दूसरे में होता है। स्थैतिकी के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति की प्राप्ति और व्यय में जो अंतर होगा वह केवल उसकी निजी मुद्रा-निधि में होने वाले अंतर के बराबर होगा। प्रावेगिकी के अन्तर्गत यह अंतर (निवल) प्रतिभूतियों में परिवर्तन के रूप में भी उपलब्ध हो सकता है। हम भली प्रकार यह विचार कर चुके हैं कि ऋण की लेन-देन वाली दशा का समावेश कर लेना कितना महत्वपूर्ण है, तथापि, प्रस्तुत प्रसंग में इसका कोई अनिवार्य महत्व नहीं है। प्रतिभूतियां बेची और खरीदी जाती हैं। अतः, वे वस्तु का एक प्रकार हैं और उन्हें स्थान देकर हम निकाय के लक्षणों में केवल इस सीमा तक परिवर्तन करते हैं जिस सीमा तक व्यवहार के स्थैतिक नियम इस विशेष प्रकार की वस्तु (प्रतिभूति) के प्रति लागू नहीं होते।

जैसा हम एक बार पहले देख चुके हैं, यह स्थैतिक नियम तब तक लागू होते हैं जब तक व्यक्ति की अधिमान्यताओं का माप बाजार में निर्धारित कीमतों से स्वतंत्र होता है। [३] यह शर्त प्रावेगिक निकाय में भी तब तक लागू होगी जब तक प्रत्याशाओं की लोच शून्य है, अर्थात्, जब तक कीमत-प्रत्याशायें और ब्याज-प्रत्याशायें दी हुई हैं। यदि प्रत्यायें दी हुई हैं तो हम प्रतिभूतियों की मांग को भविष्य में पूर्ति रूप में रखी जानेवाली भौतिक वस्तुओं की निश्चित मात्राओं की मांग के समान मान सकते हैं। और इन वस्तुओं की कीमत (कीमत के केवल वह भाग जो परिवर्तित हो सकता हैं) ब्याज की दर होगी। [४] चालू सप्ताह में कीमतों के निर्धारण की समस्या के लिए इस तथ्य की कोई संगति नहीं है कि प्रस्तुत वस्तुओं का केवल भावी तिथि पर उपभोग किया जा सकता है। व्यक्ति तो ठीक उसी प्रकार व्यवहार करता है कि मानो वह वस्तु को अभी खरीद रहा हो। इसी प्रकार जब कोई फर्म ऋण लेती है तो वह ठीक इसी

प्रकार व्यवहार करती है कि मानो उसने भावी तिथि पर डेलीवर की जाने वाली वस्तुओं को ऐसी कीमत पर बेचा है जिनका निर्धारण भी ब्याज की दर से होता है। इस प्रकार प्रतिभूतियां सामान्य वस्तुओं के समान हो जाती हैं और स्थैतिक सिद्धान्त की किसी वस्तु के स्थान पर इस विलक्षण वस्तु को रख लेने से निकाय के आधार के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

हम इस बात को और अधिक सही रूप में इस प्रकार रख सकते हैं। मान लो, हम ऐसी तत्कालीन अर्थव्यवस्था का अध्ययन कर रहे हैं जिसमें अल्पकालीन ऋण[५] दिये जाते हैं और सभी ऋण एक न्यूनतम काल अर्थात् एक सप्ताह के लिए होते हैं। तब बाजार में ब्याज की जिस दर का निश्चय होगा वह एक सप्ताह की ब्याज-दर होगी। निःसन्देह तब भी यह बात रहेगी कि व्यक्तियों के व्यय और उत्पादन-योजनायें ब्याज की उन दरों पर निर्भर होंगी जिनकी वे भावी सप्ताहों में प्रत्याशा करते है। यदि ये प्रत्याशित व्याज की दरें दी हुई है और यदि सभी भावी सप्ताहों के लिए सभी वस्तुओं की प्रत्याशित-कीमतें भी दी हुई हैं तब हम यह कह सकते हैं कि सभी भावी वस्तुओं की अपहरित-कीमतें दी हुई हैं : यहां अपहरित का अर्थ चालू सप्ताह से संबंधित न होकर अगले सप्ताह से संबंधित होगा या उस सप्ताह से जब सभी चालू ऋणों का भुगतान करना पड़ता है। इन कीमतों को चालू सप्ताह में अपहरित करने के लिए हमें प्रत्येक को चालू सप्ताह से संबंधित अपहरण-अनुपात से गुणा करना पड़ेगा (जो कि दिया हुआ नहीं है, क्योंकि, यह ब्याज की चालू दर पर निर्भर है) : इस पर भी हम कह सकते हैं कि अपहरित कीमतों के अनुपात अप्रभावित रहेंगे। किन्तु जब अनेक वस्तुओं की अपहरित-कीमतों के अनुपात दिए होते हैं तो हम जानते हैं कि उनको एक-वस्तु-समान मान सकते हैं। यहां हम केवल यही कर रहे हैं कि उस वस्तु को 'प्रतिभूतियों' की संज्ञा दे रहे हैं। इसे हम अपने स्थैतिक निकाय में उसी प्रकार स्थान दे सकते हैं जिस प्रकार किसी साधारण वस्तु को । यह केवल ऐसी वस्तु है जिसकी कीमत एक सप्ताह का अपहरण - अनुपात है।

यह पर्याप्त स्पष्ट है कि अल्पकालीन ऋणयुक्त तत्कालीन अर्थव्यवस्था की विशेष शर्तें पूरी न होने पर यही सिद्धान्त लागू होगा। यदि दीर्घकालीन ऋण भी दिए जाते हैं तो भिन्न अवधिवाले ऋणों के व्याज की दरों को एक सप्ताह के ऋणों के ब्याज की दर में होनेवाले परिवर्तन के अनुरूप समायोजित करना पड़ेगा : इसके अतिरिक्त भूत-कालीन संविदों के कारण उत्पन्न आय-प्रभावों के एक नये समूह का भी विचार करना पड़ेगा। किन्तु ऐसा मानने का कारण कोई नहीं है कि यह गम्भीर रूप से अस्थिरता लायेंगे।

अब हम अपने विवेचन के प्रथम चरण को संक्षेप में कह सकते हैं। जब तक प्रत्याशाओं की लोच शून्य है, अस्थायी-संस्थिति-निकाय ठीक एक स्थैतिक-निकाय के समान कार्यान्वित होता है और उतना ही स्थायी होता है। यह एक अति सूझ-बूझ का निष्कर्ष है जैसा कि एक अन्य दृष्टिकोण से जांच-पड़ताल करनेपर पाया जाता है। जब तक चालू कीमतों के सभी परिवर्तन अस्थायी माने जाते हैं, चालू कीमतों में परिवर्तन होने पर कतिपय बाजारों में अत्यधिक प्रतिस्थापन-प्रभाव प्रेरित होंगे। कीमत-वृद्धि होने पर जनता अपने व्यय को आगे के लिए रोक देगी। साहसोद्यमी आगतों को स्थगित कर देगा और निर्गत को वेगवान कर देगा। कीमत में कमी विपरीत दिशा में चरितार्थ होगी। समय पर्यन्त होने वाले यह प्रतिस्थापन अतिदृढ़ स्थायित्व लानेवाले होंगे। कीमतों में थोड़ी सी वृद्ध होने पर ही मांग से पूर्ति अत्यधिक बढ़ जायगी और स्थायित्व लाने वाली शक्तियां स्यात् इतनी शक्तिशाली होंगी कि कीमत-निकाय पर कोई विशेष प्रभाव डालने के लिए प्राप्त सामग्री में अति तीव्र, उथल-पुथल का होना आवश्यक होगा।

(४) यह समझ लेने के बाद कि पूर्णतया स्थायी परिस्थिति में स्थिरता का मुख्य कारण समयपर्यन्त होनेवाली प्रतिस्थापनायें हैं, यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि यदि ऐसे प्रतिस्थापन के अवसर न हों तो क्या निकाय तब भी स्थायी होगा। यदि चालू कीमतों के परिवर्तन के फलस्वरूप प्रत्याशित कीमतों के परिवर्तन उससे कम अनुपात में होते हैं, अर्थात्, यदि प्रत्याशाओं की लोच एक से कम है तो समय पर्यन्त प्रतिस्थापन के अवसर बने रहेंगे। जब सभी प्रत्याशाओं की लोचें एक के बराबर होती हैं तब समय पर्यन्त प्रतिस्थापन हेतु कोई अवसर नहीं बचता। इसलिए यह एक नाजुक मामला है।

यदि समस्या पर हम अपने वर्तमान दृष्टिकोण से विचार करें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं प्रतीत होती है कि, प्रत्याशाओं की इकाई लोचों वाला उदाहरण बहुत रहस्यात्मक है। इसका ऐसा होना निश्चय ही बहुत विघ्न पैदा करता है। अति संभव प्रतीति के कारण यह मानना अति साधारण है कि प्रत्याशाओं की लोचें '१' हैं, अर्थात्, यह प्रत्याशा की जाती है कि चालू कीमत का परिवर्तन स्थायी परिवर्तन होगा। यह मान्यता इतनी संभव प्रतीत होती है कि अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने इसे दिया हुआ मान लिया है और वे इसका प्रत्यक्ष उल्लेख भी नहीं करते : अपितु अधिकतर उन्होंने इसे निहित रूप में ही माना है।[६] इसी कारण इस मान्यता को लेकर हम अधिक झंझट में पड़ते हैं। यह अजीब बात है कि जो मान्यता प्रावेगिक समस्याओं के संबंध में अतिस्वाभाविक है वही अति खतरनाक मान्यता सिद्ध होती है;

क्योंकि यह स्थायित्व और अस्थायित्व की सीमा भूमि से संलग्न है। प्रावेगिकी के क्षेत्र में किये गए अर्थशास्त्रियों के आरंभिक अध्ययनों को इस अस्थिर भूमि पर करने के फलस्वरूप वर्तमान शताब्दी के मौद्रिक सिद्धान्त इतनी परेशानी लिए हुए हैं।

वास्तव में, इस शताब्दी के आरम्भ से ठीक पहले ही विक्सेल् ने यह संकेत किया था कि कहीं कुछ गड़बड़ है। [७] जब वह ब्याज की मौद्रिक-दर की तुलना, वास्तविक पदों में मानी गई "स्वाभाविक दर" से (कोई स्वाभाविक आधार पर वास्तविक पूंजी के ऋण देने के रहस्यमय प्रक्रम के संबंध में चाहे जो समझे) करता है तभी यह बात खुल जाती है कि वह उस परिस्थिति को ले रहा है जब प्रत्याशाओं की लोचें इकाई हैं। मोटे तौर पर उसका मुख्य तर्क निम्नांकित है। संस्थिति में ब्याज की एक दी हुई दर पर सामान्य-चालू-कीमतों और सामान्य-प्रत्याशित-कीमतों में एक विशिष्ट संबंध होता है। यदि ब्याज की दर कम कर दी जाय तो चालू कीमतें बढ़ जायेंगी; परन्तु, यदि प्रत्याशित कीमतें अपरिवर्तित बनी रहें तो संस्थिति पुनः स्थापित हो जायगी और इसमें चालू-कीमतों का प्रत्याशित-कीमतों से अब पहले से अधिक अनुपात होगा। किन्तु, यदि साथ-साथ प्रत्याशित-कीमतें भी बढ़ जायं तो संस्थिति की प्रवृत्ति पराजित हो जाती है। चालू कीमतें कभी भी प्रत्याशित कीमतों को नहीं पा सकतीं। सारी व्यवस्था सुप्रसिद्ध "संचयागत प्रक्रम" में ग्रस्त हो जाती है।

तथापि, आइए इस परिस्थिति को और पास से देखें। विक्सेल् की व्याख्या का प्रमुख लक्षण यह है कि वह मौद्रिक पद्धति के स्थान पर एक शुद्ध-साख-पद्धति को मानता है। [८] वह यह मान लेता है कि सभी सौदों का भुगतान साख द्वारा, अर्थात्, ब्याज-युक्त विनिमयपत्रों द्वारा होता है। उसकी पद्धति में ब्याज-हीन मुद्रा का कोई स्थान नहीं है; न इसकी मांग की जाती है, न पूर्ति। फलस्वरूप, अस्थायी-संस्थिति वाले हमारे निकाय की अपेक्षा विक्सेल् के निकाय में एक समीकरण कम है। मान लीजिए, न–१ प्रकार की वस्तुएं (वास्तविक माल और सेवायें, जिनमें प्रतिभूतियां या मुद्रा शामिल नहीं हैं) हैं, तब हममें से प्रत्येक को 'न' कीमतों (न–१ वस्तुओं की मौद्रिक कीमतें और एक ब्याज की दर) का निर्धारण करना पड़ेगा। हमारे अस्थायी-संस्थिति वाले निकाय में न–१ समीकरण हैं (न–१ वस्तुओं के लिए पूर्ति और मांग समीकरण, एक समीकरण प्रतिभूतियों के लिए और एक समीकरण मुद्रा के लिए)। इनमें से एक समीकरण शेष समीकरणों से निकल आता है, इसलिए जैसा हम जानते हैं हमारे पास अंत में 'न' समीकरण बचते हैं और अज्ञात चर भी 'न' ही हैं।

दूसरी ओर, विक्सेल् ने मुद्रा संबंधी समीकरण को छोड़ दिया है। उसके निकाय में किसी वास्तविक मुद्रा का प्रचलन नहीं है और इसलिए न उसकी पूर्ति हो सकती

है और न मांग। अतः उसके पास 'न' समीकरण बच रहते हैं, जिनमें से एक शेष समीकरणों से निकल आता है (क्योंकि हिसाब अब भी बराबर होने चाहिए)। अतः केवल न–१ समीकरण बच रहते हैं। लेकिन, न–१ समीकरण 'न' अज्ञात चरों को हल करने के लिए अपर्याप्त हैं।

इस दशा में, कि प्रत्याशा की लोच एक है, विक्सेल् के न–१ समीकरणों से न–१ वस्तुओं की (यदि किसी एक वस्तु को काम चलाने के लिए कीमत का आधार मान लें तो न–२ वस्तुओं की) सापेक्ष कीमतें निर्धारित होती हैं और एक ब्याज की दर भी। मौद्रिक कीमतों का सामान्य स्तर (मुद्रा का मूल्य) अनिर्धारित रह जाता है। यह इस प्रकार समझा जा सकता है। यदि हम यह सोचें कि सब कीमतों ('स ब' शब्द महत्वपूर्ण हैं)[१] में ५ प्रतिशत की सामान्य-वृद्धि होने पर (जिसका निहित अर्थ यह है कि सभी प्रत्याशित कीमतों में भी ५ प्रतिशत की सामान्य वृद्धि होती है) प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति तब तक अपरिवर्तित रहेगी जब तक ब्याज की दर नहीं बदलती। जिन वस्तुओं को व्यक्ति खरीदता है उनकी कीमतें ५ प्रतिशत बढ़ गई हैं, परन्तु उसकी आय भी ५ प्रतिशत बढ़ गई है। साहसोद्यमी के आगतों की कीमत ५ प्रतिशत बढ़ गई है परन्तु उसकी प्रत्याशित विक्रय कीमतें भी ५ प्रतिशत बढ़ गई हैं। अतः वर्तमान और भविष्य के बीच कोई प्रतिस्थापन करने की प्रेरणा नहीं रहती, फलस्वरूप, सभी वस्तुओं की मांग और पूर्तियां अपरिवर्तित बनी रहेंगी : वे पहले बराबर थीं और अब भी बराबर रहेंगी। ऐसा निकाय मौद्रिक कीमतों के किसी भी स्तर पर संस्थिति में आ सकता है।

विक्सेल् का कीमत-निकाय एक पूर्णतया निर्धारित अंतरभाग है—वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें और ब्याज की दर का बना है जो मौद्रिक मूल्यों के पूर्णतया अनिर्धारित ईथर में तैरता है। क्योंकि, मौद्रिक मूल्य-स्तर इतना अविहित है कि परिस्थिति में किंचित् और अस्थायी परिवर्तन होने पर मौद्रिक कीमत-स्तर में काफी परिवर्तन हो सकता है। अंतरभाग के अंग होने के नाते ब्याज की दर वास्तविक कारणों द्वारा निर्धारित होती है; परन्तु, यदि समय इतना छोटा हो कि संस्थिति स्थापनार्थ उसका महत्व नगण्य हो (अर्थात्, हमारी भाषा में, अवधि एक सप्ताह से कम हो), तब इस निर्धारित स्वाभाविक दर और तत्कालिक मौद्रिक दर में किंचित् अंतर हो सकता है। महत्व की बात यह है कि ऐसे छोटे अंतर ही कीमत स्तर में बड़े परिवर्तन लाने को पर्याप्त हैं।

यह एक प्रकार से अभाग्य ही है कि विक्सेल् और उसके तत्कालीन अनुयायी इतने लम्बे काल तक इस भ्रान्ति में रहे कि विक्सेल् के सिद्धान्त के लिए मौद्रिक-दर

और स्वाभाविक-दर के अंतर की संभावना आधारभूत महत्व रखती है। यदि सूक्ष्मता के साथ इस सिद्धान्त की व्याख्या की जाय तो संभव अंतर केवल आभासी अंतर रह जाता है; जैसे ही यह अंतर वास्तविक हो जाता है, उसका सिद्धान्त छिन्न भिन्न हो जाता है। इस कारण विक्सेल् का सिद्धान्त बैंक नीति के मार्गदर्शक के रूप में बहुत कम लाभदायक है जब कि उसी क्षेत्र के लिए यह प्रत्यक्ष लाभकारी समझा जाता था। इसके अतिरिक्त विक्सेल् की रचना का सही महत्व उक्त अंतर में उलझे रहने के फलस्वरूप छिपा रह गया। यदि हम सारी परिस्थिति पर एक अन्य दृष्टिकोण से विचार करें तो उसका सही महत्व अधिक भली प्रकार स्पष्ट होता है। प्रसंगवश इस नए दृष्टिकोण के कारण विक्सेल् की शुद्ध-साख—अर्थव्यवस्था वाली मान्यता की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(५) आइए, हम अपनी पहली मान्यताओं पर वापिस आएं। हम यह मान लेते हैं कि किसी वास्तविक मुद्रा का प्रचलन है और उसपर व्याज नहीं लगता। हम देख चुके हैं कि ऐसी हालत में कीमतों और ब्याज की दरों का पूर्ण निकाय निश्चित है, क्योंकि, समीकरणों की संख्या अज्ञात चरों की संख्या के बराबर है।

मान लीजिए कि प्रत्याशाओं की सभी लोचें '१' हैं। आइए तब हम स्थायित्व की शर्तों में से जिनको इसे पूर्ण करना चाहिए किसी एक को लेकर इस निकाय की समीक्षा करें। मान लीजिए कि व्याज की दर (या, अच्छा होगा, कि व्याज की दरों का सम्पूर्ण निकाय) दी हुई है और किसी एक वस्तु (क) की कीमत में ५ प्रतिशत की वृद्धि होती है। यदि निकाय को पूर्णतया स्थायी रहना है तो इस वृद्धि के कारण क की पूर्ति में वृद्धि होनी चाहिए भले ही हम अन्य बाजारों में अनेक (अथवा, हो सकता है, केवल कुछ) प्रतिक्रियाओं को होता हुआ मान लें। अब सोचिए कि कीमतों के कौन से ऐसे परिवर्तन हैं जो अन्य वस्तुओं के बाजारों में मांग और पूर्ति के मध्य समानता पुनः स्थापित कर देंगे। यदि हम केवल कुछ अन्य बाजारों का विचार करें तो हम ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचेंगे जो ऐसे निष्कर्षों से भिन्न नहीं है जिनके हम आदी हैं। निकाय का यह स्थायित्व बिना कठिनाई के इन कसौटियों पर खरा उतरता है किन्तु जब हम (प्रतिभूत के बाजार को छोड़ कर, क्योंकि, ब्याज की दर दी हुई मान ली गयी है, और मुद्रा के बाजार को छोड़कर, क्योंकि, यह शेष बाजारों से स्वतंत्र नहीं है) अन्य सभी बाजारों में होने वाली प्रतिक्रियाओं पर विचार करते हैं तब हम एक भिन्न जगत् में पहुंच जाते हैं। अन्य वस्तुओं के बाजार में संस्थिति तभी पुनः स्थापित हो सकती है जब इन सभी अन्य वस्तुओं की कीमतें भी ५ प्रतिशत बढ़ जाय। क्योंकि यदि सभी वस्तुओं के पारस्परिक कीमत-अनुपात अपरिवर्तित

हैं, और सभी चालू कीमतों और सभी प्रत्याशित कीमतों के सह-अनुपात अपरिवर्तित हैं (क्योंकि प्रत्याशा की लोच एक है) और (पहले से ही मान्य होने के कारण) ब्याज की दरें अपरिवर्तित हैं तो, कहीं भी प्रतिस्थापन का कोई अवसर नहीं रहता। सभी माल और सेवाओं की मांग और पूर्तियां अपरिवर्तित रहेंगी। क्योंकि पहले वे बराबर थीं, इसलिए अब भी बराबर होंगी। कीमतों में सामान्य अनुपातिक वृद्धि होने के कारण ही अन्य वस्तुओं के बाजार में संस्थिति पुनः स्थापित होती है, किन्तु इस कारण हमारी पहली वस्तु (क) के बाजार में मांग की अपेक्षा पूर्ति का आधिक्य नहीं होता है। जहाँ तक अलग अलग वस्तु-बाजारों का संबंध है, निकाय का व्यवहार विक्सेल् के निकाय के समान होता है। यह 'तटस्थ संस्थिति' की दशा में है, अर्थात् मौद्रिक कीमतों के किसी भी स्तर पर यह संस्थिति बनी रह सकती है।[१०]

यदि प्रत्याशाओं की लोचें सामान्यतया एक से अधिक हैं, तो कीमतों के परिवर्तन स्वरूप जनता न केवल यह समझती है कि नयी कीमतें बनी रहेंगी वरन् वह इससे इस बात का भी संकेत मानती है कि कीमतें उसी दिशा में परिवर्तित होती जायेंगी। तब यदि (ब्याज की दर को अपरिवर्तित मानकर) उन सभी कीमतों में कुछ विशिष्ट प्रतिशत वृद्धि हो जाय तो पूर्तियों की अपेक्षा, सामान्यतया, मांग बढ़ जायेंगी और फलतः कीमतें बढ़ती रहेंगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस निकाय में प्रत्याशाओं की लोचें एक से अधिक हैं और ब्याज की दरें अपरिवर्तनशील हैं, वह निश्चित ही अस्थायी हैं।

प्राविधिक अर्थ में हम कह सकते हैं कि जिस दशा में प्रत्याशाओं की लोचें एक होती हैं वह स्थायित्व और अस्थायित्व के बीच की सीमा सदृश है। किन्तु उसकी स्वयं का स्थायित्व बहुत विवादजनक प्रश्न है। थोड़ी सी हलचल भी उसको अस्थायित्व की ओर ले जाने में पर्याप्त होगी। मान लीजिए, मुद्रा के पदों में 'क' की मांग बढ़ जाती है और ब्याज की दरें पूर्ववत् रहती हैं, तब 'क' की कीमत बढ़ेगी और इसके साथ अन्य कीमतें भी बढ़ेंगी किन्तु इससे 'क' की पूर्ति बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए पर्याप्त अधिक न हो पायगी।[११] अतः 'क' की कीमत में पुनः वृद्धि होगी और अन्य कीमतों में भी। इस क्रमिक वृद्धि को असीम तक बढ़ने से रोकने वाली कोई शक्ति नहीं है। अतः, जब प्रत्याशाओं की लोचें इकाई हैं, तब भी तनिक सी हलचल होने पर निकाय छिन्न भिन्न हो सकता है।

(६) हमने जिस सिद्धान्त को स्थापित किया है वह स्यात् प्रावेगिक अर्थशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। निःसन्देह, यह इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि जिस छिन्नभिन्नता का यह वर्णन करता है वह ऐसी हैं, जो सामान्यतः घटित होती रहती

है । छिन्न-भिन्नता की अवस्था की आवश्यक मान्यतायें ऐसी नहीं हैं कि उन्हें हर प्रकार से वास्तविक मान्यतायें कहा जा सके, पर वे इतनी अवास्तविक भी नहीं हैं कि यथार्थ परिस्थितियों के लिए असंगत कही जा सकती हों । वे 'यथार्थ' की पर्याप्त संभव सरल रूप हैं—इतने सरल कि काम करने के लिए सुविधाजनक मॉडल बनाने को इच्छुक अर्थशास्त्री सामान्यतः इसका उपयोग करते हैं । हमारे साध्य से यह मालूम पड़ता है कि यह मॉडल अति असुविधाजनक मॉडल है । जहाँ एकबार आप अपनी मान्यताओं को उस रूप में रखना आरंभ करते हैं, आप एक प्रकार से भंवर जाल के निकट आते हैं । इस सबका उन विश्लेषण रीतियों से स्पष्ट संबंध है जिनका प्रावेगिक सिद्धान्तों के अध्ययन में उपयोग करना बुद्धिमानी होगी ; और इसका किसी के भी समय-प्रक्रम के रूप में लिये गए आर्थिक निकाय की कुल धारणा के साथ घनिष्ठ संबंध है ।

जब तक अर्थशास्त्री आर्थिक निकाय को स्थैतिक रूप में देखने के आदी थे तब तक उसको स्वनियंत्रित यंत्र के रूप में मानना तर्कयुक्त था । स्थैतिक अर्थव्यवस्था में स्थायित्व अंतर्निहित होती है ; उसमें छोटे कारण केवल छोटे प्रभाव डालते हैं और इसलिए , निकाय के बाहर उदय होने वाली हलचलों के अतिरिक्त और कोई बड़ी हलचल नहीं उठ सकती । किन्तु स्थायित्व का यह रूप तभी प्राप्त हुआ था जब हमने समस्या के एक अंग का ध्यान छोड़ दिया था । जैसे ही हम प्रत्याशाओं का विचार करते हैं (अथवा, जैसे ही हम प्रत्याशाओं की लोच को विचार में लेते हैं) निकाय का स्थायित्व अत्यंत कमजोर पड़ जाता है । यह संभव है कि विशेष तर्कों के आधार पर हम निकाय को बनाए रखने के लिए पर्याप्त स्थायित्व प्रदान करें (हम इन विशेष तर्कों पर अगले अध्याय में विचार करेंगे), परन्तु यह स्थायित्व अनिवार्यतः अंतर्वर्ती नहीं होता । अतः, कोई आश्चर्य नहीं कि वास्तविक अर्थ-तंत्र बड़े उतार चढ़ाव हों और यह उतार-चढ़ाव अत्यंत खतरनाक भी हों ।

हमने अध्ययन की जो रीति अपनायी है उससे यह, स्पष्ट हो गया है कि हमारा सिद्धान्त, विक्सेल् के 'संचयागत प्रक्रम' संबंधी प्रख्यात सिद्धान्त का, प्रसरित रूप है । तथापि, यह स्वाभाविक है कि हम इसे केन्स और विक्सेल् दोनों के साथ जोड़ें । अपनी जनरल थिअरी ऑफ इम्प्लायमेन्ट में केन्स ने इस सिद्धान्त को सही मोड़ दिया है, किन्तु, उनके द्वारा दिया गया हल हमारे हल से अधिक संकुचित है । वे केवल यह मानते हैं कि निकट भविष्य में प्रत्याशित कीमतों की ही प्रत्याशा की लोचें'१' हैं और आगे के भविष्य की कीमत की प्रत्याशाओं के संबंध में वे यह मान लेते हैं कि परिवर्तन मौद्रिक मजदूरियों के अनुपातिक होते हैं (उनके शब्दों में, पूंजी

की सीमान्त-क्षमता मजदूरी-इकाइयों के पदों में दी हुई है) फलत:, जब तक मौद्रिक मजदूरियाँ अपरिवर्तनशील रहती हैं (और तब अधिक भविष्य की कीमतों की प्रत्याशाओं की लोच शून्य होती है, जो स्थायित्व दायक है) निकाय का अस्थायित्व विरामावस्था में माना जाता है। केवल जब मौद्रिक मजदूरियाँ बदलती हैं, अस्थायित्व (वा अपूर्ण स्थायित्व) प्रकट होता है। मेरे विचार में मेरा हल अधिक व्यापक है। यह सही है कि मेरे हल का औपचारिक विवरण इस मान्यता पर निर्भर है कि 'क' वस्तु की प्रत्याशित कीमतों पर केवल उसी वस्तु की चालू कीमत का प्रभाव पड़ता है, अन्य वस्तुओं की चालू कीमतों का नहीं।[१२] यदि इस मान्यता को दृढ़ता के साथ किया जाय तो मेरा भी हल वैसे ही संकुचित हो जायेगा जैसा केन्स का, किन्तु ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्याशित कीमतों की चालू कीमतों पर किसी भी तरह से निर्भरता मानी जा सकती है: जब तक सभी चालू कीमतों की अनुपातिक वृद्धि सभी प्रत्याशित कीमतों में समानुपातिक वृद्धि लाती है, मेरा हल सही होगा।

जब तर्कों को उस प्रकार रखते हैं जैसा केन्स न रक्खा है, तब यह कहना संभव प्रतीत होता है कि अस्थायित्व का (जो तभी होता बताया जाता है जब मौद्रिक मजदूरियाँ परिवर्तनशील हों) एक मात्र कारण यह है कि उन्होंने प्रत्याशाओं के स्वरूप के संबंध में विशेष मान्यता की है। मेरे हल द्वारा यह गलत सिद्ध होता है। अस्थायित्व का स्वयं मजदूरियों से कोई संबंध नहीं है, यद्यपि, जैसा हम आगे देखेंगे, ऐसे तर्क हैं जिनके आधार पर हम यह मान सकते हैं कि जब अस्थायित्व के व्यावहारिक फलों को निकालने की समस्या उपस्थित होती है तब मजदूरी नीति को विशेष महत्व देना पड़ता है। अस्थायित्व मजदूरियों का गुण नहीं; यह मुद्रा और प्रतिभूतियों का गुण है—वे बेतुकी वस्तुएँ जिनकी स्वयं के लिए कोई मांग नहीं है और जिनकी मांग केवल भविष्य में वस्तुओं को क्रय करने के साधन के रूप में ही होती है।[१३]

अध्याय २१

संपूर्ण निकाय की अस्थायी संस्थिति

२. संभव स्थायक ।

(१) अब हमने एक ऐसी मॉडल अर्थव्यवस्था का निर्माण कर लिया है जो अस्थायित्व के सीमा पर खड़ी है। यह वास्तविकता का मॉडल नहीं है; यह अतिसरलीकृत मॉडल है, तथापि, वास्तविक परिस्थितियों से इसकी कुछ संगति है। जिस प्रकार का अस्थायित्व इसमें प्रतिलक्षित होता है वह स्पष्ट ही वैसा लगता है जैसा वास्तविक आर्थिक निकायों में पाया जाने वाला अस्थायित्व होता है —अर्थात् ऐसा अस्थायित्व जो उनमें उतार-चढ़ाव ला सकता है। तथापि, इस अस्थायित्व के होते हुए वास्तविक निकाय इतनी अत्यधिक मात्रा में अस्थायी प्रतीत नहीं होते जितना हमारा निर्मित निकाय। फलतः अपने मॉडल को अधिक यथार्थ बनाने के लिए हमको जो संशोधन करने पड़ेंगे उनमें हम संभव-स्थायकों को स्थान देने की प्रत्याशा कर सकते हैं—ऐसे तत्वों को जो अर्थव्यवस्था के उतार-चढ़ाव को सीमित तो करते हैं यद्यपि उन्हें पूर्णतया दूर नहीं करते।

आइए, हम अपने मॉडल की कुछ विशेष मान्यताओं को हटाने का, प्रयत्न करें और देखें कि उनके क्या परिणाम हो सकते हैं। इन विशेष अनुसंधानों को क्रम से करना होगा, और प्रत्येक को एक अलग शीर्षक के अन्दर रखना अच्छा होगा।

(२) ब्याज की दर–'ब्याज की दर' पहला संभव स्थायक है। यह तो समझ में आ गया होगा कि जिस निकाय की हम व्याख्या कर रहे हैं वह पूर्णतया अस्थायी नहीं है : कम से कम हमने उसे पूर्ण अस्थायी सिद्ध नहीं किया है। वह अपूर्ण रूप से स्थायी है : यदि एक को छोड़कर सभी गौण कीमत-प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखते हैं तो वह अस्थायी सिद्ध होता है, किन्तु यदि ब्याज की दर को भी लेकर सभी प्रतिक्रियाओं का ध्यान रखते हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि वह अस्थायी हो। जब

सामान्य-कीमतें अनियंत्रित रूप से घट-बढ़ रही हों तब ब्याज की दर का क्या होता होगा ?

जैसा अक्सर होता है, अति सुविधा के साथ हम यह सोच सकते हैं, कि ब्याज की दर का निर्धारण ऋण बाजार में नहीं वरन् मुद्रा बाजार में होता है। यदि ब्याज की दर को अपरिवर्तित रहना है तो मुद्रा की मांग को उसी की पूर्ति के बराबर बना रहना चाहिए। हम देख चुके हैं कि मुद्रा की मांग को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक (१) ब्याज की दर तथा (२) निकट भविष्य में (मुद्रा के पदों में) जनता के व्यय की आयोजित-दर है। जब कीमतों में सामान्य परिवर्तन होता है तो इससे पहला कारक तो अप्रभावित माना जाता है किन्तु दूसरे कारक पर तो प्रभाव पड़ना ही चाहिए। यदि कीमतों में अमुक प्रतिशत से वृद्धि होती है (और यदि, मान्यतानुसार उनके उच्च स्तर पर बने रहने की प्रत्याशा की जाती है) और यदि जनता द्वारा आयोजत माल और सेवाओं की क्रय मात्रा अपरिवर्तित रहती है, तब मुद्रा की मांग बढ़नी चाहिए। फलतः ब्याज की दर तभी अपरिवर्तित रह सकती है—हमारी मान्यता तभी तर्क युक्त हो सकती है—यदि मुद्रा की पूर्ति मांग-वृद्धि के बरावर वढ़ जाय, अन्यथा ब्याज की दर बढ़ जायगी और इससे कीमतों की वृद्धि रुक जायेगी।

यह सब बिल्कुल ठीक है, परन्तु, जब हम इसके बिपरीत कीमत-ह्रास के उदाहरण को लेते हैं, एक नई कठिनाई सामने आती है। संस्थिति के पुनर्स्थापित होने के लिए यह आवश्यक है कि ब्याज की दर घटे। यदि आरंभ में ब्याज की दर पर्याप्त ऊंची थी तो यह संभव प्रतीत होता है कि यह प्रतिक्रिया बिना कठिनाई के हो। परन्तु यदि आरंभ में ब्याज की दर बहुत कम है तो यह संभव है कि उसका और अधिक गिरना असंभव हो क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, प्रतिभूतियां मुद्रा की निम्न-कोटि की प्रतिस्थापन हैं और उनकी कीमत मुद्रा की कीमत से कदापि अधिक नहीं हो सकती। इस दशा में निकाय में केवल अपूर्ण स्थायित्व नहीं होता वरन् वह नितान्त अस्थायी होता है। मुद्रा की पूर्ति पर पर्याप्त नियंत्रण होने से सदैव कीमतों को असीमित रूप से बढ़ने से रोका जा सकता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इस रीति द्वारा हम उनको असीम रूप से गिरनें से रोक सकेंगे। व्यापारिक मंदी व्यापारिक तेजी की अपेक्षा (न केवल अधिक अवांछनीय) अपितु अधिक खतरनाक भी है।

इस खतरनाक संभावना की खोज का श्रेय केन्स को है। कुछ दृष्टिकोणों से उनकी 'जेनेरल थिअरी' की यह सबसे महत्वपूर्ण चीज है, क्योंकि, इससे उस सरल

विश्वास का (जिसे विक्सेल् तथा अनेक समकालीन अर्थशास्त्री अभी भी धारण किये हैं) अंतिम रूप से खंडन हो जाता है कि अंततोगत्वा मौद्रिक नियंत्रण द्वारा (अर्थात् ब्याज-नियंत्रण द्वारा) सब कुछ किया जा सकता है। यद्यपि केन्स के सिद्धान्त से ही यह संकेत मिलता है, तथापि, वे स्वयं ब्याज की दर में इतना अधिक विश्वास दर्शाते हैं जितना हमारी समझ में अपने सिद्धान्तों पर उन्हें दर्शाना नहीं चाहिए। फलतः, स्यात् कुछ अधिक खोज करना उपयुक्त है।

(३) अभी तक हमने बिना यह बताए कि किस ब्याज की दर से हमारा प्रयोजन है ब्याज की दर के माध्यम से होने वाली प्रतिक्रियाओं की बात की है और ऐसा करना तभी उचित है जब हम ऐसे सरल मॉडल को लें जिसमें केवल ब्याज की एक दर है, या विकल्प से, जिसमें ब्याज की दरें आपस में किसी दिए हुए ढंग से वद्ध हैं। जैसा हम अध्याय ११ में देख चुके हैं, ब्याज की भिन्न दरों का पारस्परिक संबंध कुछ तो जोखिम-कारकों पर निर्भर है और कुछ भविष्य में ब्याज की दरों के प्रत्याशित परिवर्तनों पर। ब्याज की ये प्रत्याशायें या तो भावी-अल्पकालीन-दरो की प्रत्याशाओं के रूप में ली जा सकती हैं या भावी-दीर्घकालीन-दरों की प्रत्याशाओं के रूप में : इन दो में से किसी के रूप में सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जा सकता है। यदि हम ब्याज-प्रत्याशाओं से अल्पकालीन-दरों की प्रयत्याशायें समझते हैं तो हमें कहना चाहिए कि ब्याज की चालू दीर्घकालीन दर, चालू ब्याज की अल्पकालीन दर और ऋण-अवधि के बीच चालू-भावी-अल्पकालीन-दरों की प्रत्याशाओं का योग है। यदि हम ब्याज-प्रत्याशाओं को दीर्घकालीन दरों की प्रत्याशाएं मान लें तो चालू-अल्पकालीन दर उस स्तर पर निर्धारित होगी जहाँ इसके कारण अल्पकालीन-ऋण लेना या देना इस बात से श्रेयस्कर हो उठेगा कि दीर्घकालीन ऋण लिया या दिया जाय, और फिर अल्पकाल के अंत में विपरीत दिशा में उसी प्रकार के ऋण का एक सौदा करके पुराने ऋण को समाप्त कर दिया जाय।

आइए, हम ब्याज-प्रत्याशाओं से अल्पकालीन दरों की प्रत्याशा का अर्थ लगायें और अपनी खोज आरंभ करें। तब कीमतों के सामान्य ह्रास का ब्याज-दरों के निकाय पर जो प्रभाव पड़ेगा वह इस बात पर निर्भर होगा कि ब्याज-संबंधी प्रत्याशायें लोचशील हैं अथवा नहीं (कीमत-प्रत्याशाओं की लोचशीलता से संबंधित अपनी व्याख्या में हमको अभी तक ब्याज-प्रत्याशा की लोच की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं हुई थी, किन्तु कभी न कभी तो ध्यान देना ही था)। यदि ब्याज-प्रत्याशायें दृढ़ रूप से अलोचशील हैं तो अल्पकालीन ब्याज की दर में परिवर्तन होने पर ब्याज की दीर्घकालीन दर पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ेगा ; इसलिए दीर्घकालीन

दरें दी हुई (अथवा लगभग दी हुई) मानी जा सकती हैं। हम ब्याज की जिस दर के परिवर्तनों की व्याख्या कर रहे हैं वह प्रायः पूर्णरूप से अल्पकालीन ही होगी। इस दशा में, जब समायोजन का पूर्णभार अल्पकालीन दर पर आ जाता है, कीमत स्तर में पर्याप्त परिवर्तन होने के फलस्वरूप (यदि, मुद्रा की पूर्ति को समायोजित नहीं किया जाता) ब्याज की इस (अल्पकालीन) दर में अत्यधिक परिवर्तन होंगे। यह अतिसरलता से सोचा जा सकता है कि ह्रासोन्मुख-समायोजन में (यदि ब्याज की दरों में परिवर्तन लाकर संस्थिति को पुनर्स्थापित करनी है) ब्याज की दर में इतनी कमी करना आवश्यक हो सकता है कि यह ऋणात्मक हो जाय। फलतः, अति सरलता से, निकाय नितान्त अस्थायी हो सकता है।

जो भी हो, यदि ब्याज की प्रत्याशायें लोचशील हैं तो अल्पकालीन दरों में कमी के साथ साथ दीर्घकालीन दरों में महत्वपूर्ण कमी होगी। क्योंकि दीर्घकालीन दरों में कमी के कारण (हम यह मानते हैं कि) चालू वस्तुओं की मांग में अतिरिक्त वृद्धि की प्रवृत्ति होगी और इसलिए कीमतों में गिरावट रुक जायगी, यह कहना चाहिए कि अलोचशील ब्याज-प्रत्याशाओं की अपेक्षा लोचशील प्रत्याशाओं की पृष्ठभूमि में संस्थिति को पुनर्स्थापित करने के लिए अल्पकालीन दर में कम परिवर्तन करना आवश्यक होगा। यह कम संभव है कि संस्थिति बनाए रखने के लिए ब्याज की दर को असंभव सीमा तक घटाना पड़ेगा।

दीर्घकालीन दरों की प्रत्याशाओं को लेकर भी बिल्कुल ऐसे ही तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यदि ये प्रत्याशायें आलोचशील हैं तो चालू-दीर्घकालीन-दर में बहुत थोड़े ह्रास की संभावना है। उदाहरणार्थ, यदि चालू दीर्घकालीन दर ४ प्रतिशत है और यदि एक साल बाद भी इसके ४ प्रतिशत रहने की प्रत्याशा है तो हम कह सकते हैं कि एक साल तक रुके रहने के बाद मुद्रा को प्रतिभूतियों में विनियुक्त करने की अपेक्षा अभी विनियोग कर देने से ही चार प्रतिशत का प्रतिफल मिलेगा। किन्तु यदि प्रत्याशित दर तो ४ प्रतिशत ही रहे और चालू दर ३$\frac{7}{8}$ प्रतिशत हो जाय तो (प्रत्याशित पूंजी ह्रास को निकाल कर) साल भर के ऋण द्वारा वास्तविक रूप में केवल ३।४ प्रतिशत ब्याज प्राप्त किया जा सकता है। यदि ब्याज की दर में मात्र थोड़ा और ह्रास हो तो एक साल के ऋण का वास्तविक प्रतिफल ऋणात्मक हो जाता है। जब हम दीर्घकालीन प्रतिभूतियों में विनियोग करने से संबंधित जोखिम हेतु छूट देते हैं तब स्पष्टतः ब्याज की दीर्घकालीन दर में थोड़ा सा ही ह्रास इतना पर्याप्त होगा कि यदि जनता यह सोचती है कि यह ह्रास केवल स्थायी है और शीघ्र पुनः पुराने स्तर पर आ जायगी तो वह प्रतिभूतियों के क्रय करने को स्थगित कर देंगे।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे दीर्घकालीन प्रत्याशाओं को लेकर चलें अथवा अल्पकालीन, निष्कर्ष समान निकलते प्रतीत होते हैं। यदि मुद्रा की मांग में अधिक परिवर्तन भी हो तब भी वह इतना पर्याप्त नहीं होगा कि व्याज की दरों में सामान्य तया ह्रास हो जाय। निःसन्देह यह निश्चित है कि इसके फलस्वरूप व्याज की अल्प-कालीन दरें यथासंभव घटेंगी किन्तु दीर्घकालीन व्याज-दरों पर तभी सार्थक प्रभाव पड़ेगा जब व्याज की प्रत्याशायें काफी लोचदार हों। दीर्घकालीन व्याज-दर ऐसी नहीं हैं कि उसमें अस्थायी (या ऐसा जो अस्थायी प्रतीत हो) ह्रास लाना संभव हो ; यदि जनता यह विश्वास नहीं करती कि ह्रास काफी स्थायी है तो व्याज की दर काफी सीमा तक नहीं गिरेगी।

(४) इस प्रकार जब कि एक ओर कीमत-प्रत्याशाओं की ऊंची लोचशीलता एक अस्थायित्व-कारक है, व्याज-प्रत्याशाओं की ऊंची लोचशीलता स्थायित्व कारक प्रतीत होती है। यदि इस बात की संभावना हो कि व्याज की प्रत्याशायें उतनी ही लोचशील होंगी जितनी कीमत-प्रत्याशायें (और विशेषतः यदि दोनों साथ साथ घटित हों) जो व्याज-परिवर्तनों द्वारा पूर्ण निकाय को प्रभावी रूप से स्थायी करने की संभावना काफी अधिक होगी। अभाग्यवश ऐसा प्रतीत नहीं होता कि व्यवहार में व्याज-प्रत्याशायें इतनी अधिक लोचशील हो सकती हैं जितनी कीमत प्रत्याशायें। कीमत-स्तर तो किसी भी स्तरतक घट-बढ़ सकते हैं और सभी कीमत स्तरों पर शान्ति रह सकती है। कीमत-स्तर चाहे जितना घटे या बढ़े, उसके घटने बढ़ने मात्र से यह मानना आवश्यक नहीं है कि वह पुरान स्तर पर या लगभग उसके निकट पुनः आ जायगा। [3] परन्तु शान्ति के लिए और संगठित बाजारों को बनाए रखने के लिए व्याज की दरों में बहुत कम परिवर्तन होना चाहिये , क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं, व्याज-दर का स्तर अपने अंतिम रूप में जोखिम-कारकों के विशिष्ट समूह की तीव्रता का माप है और यह संभव नहीं है कि यह तीव्रता दीर्घकाल तक विशेष मोटी सीमाओं के बाहर रहे। परिणाम-स्वरूप , जब व्याज की दर में (किसी भी व्याज दर में) अत्यधिक वृद्धि या ह्रास होता है तब वास्तविक रूप से यह माना जाता है कि वह पुनः एक 'सामान्य'-स्तर पर वापिस आ जायगा। इस विचार के आधापर यह कहना ठीक न होगा कि व्याज-प्रत्याशायें बहुत लोचशील हो सकती हैं।[४]

जिस सीमा तक व्याज की दर एक स्थायक के रूपमें प्रभावी सिद्ध हो सकती है वह न केवल इस बात पर निर्भर है कि किस सीमातक अल्पकालीन-दरों के परिवर्तन दीर्घकालीन दरों में प्रेषित होते हैं (यह ऐसी बात है जिसके संबंध में हम बहुत

आशावादी नहीं हो सकते) अपितु इस बात पर भी कि यह भरोसा कहाँ तक किया जा सकता है कि ब्याज-परिवर्तनों का कीमत पर कितना प्रभाव पड़ेगा। यहाँ की स्थिति अधिक अनुकूल नहीं प्रतीत होती है। जैसा हम किसी पिछले अध्याय में देख चुके हैं, सैद्धान्तिक रूप में अल्पकालीन दरों की अपेक्षा दीर्घकालीन दरें अधिक प्रभावी होंगी, क्योंकि, निकट भविष्य के उत्पादनों की अपहरित कीमतों की अपेक्षा सुदूर भविष्य के उत्पादनों की अपहरित कीमतों पर ब्याज की दर का अधिक प्रभाव पड़ता है।[५] किन्तु ब्याज की दीर्घकालीन दर केवल तभी प्रभावी हो सकती है जब जनता सुदूर भविष्य के लिए योजनायें बनाती हो, अन्यथा, प्रभावित करने के लिए सुदूर भविष्य के उत्पादन ही कहाँ होंगे? जब कीमतें गिरती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मन्दी की एक मनोवैज्ञानिक स्थिति व्याप्त हो जाती है जो सुदूर नियोजन के लिए अतिबाधक है।[६] इस कारण एक बार पुनः हम कह सकते हैं कि चढ़ती कीमतों को रोकने के लिए ब्याज की दर के परिवर्तन अधिक प्रभावी हो सकते हैं किन्तु घटती कीमतों के समय वे बहुत कम प्रभावी होते हैं।

सभी संगत विचार इसी दशा में संकेत करते हैं। यदि कीमतें चढ़ रही हैं, और यदि (कम से कम एक सीमाके बाद) मुद्रा की पूर्ति में समानुपातिक वृद्धि नहीं होती है तो निश्चय ही ब्याज की अल्पकालीन दर बढ़ेगी। इस वृद्धि की कोई सीमा नहीं है और यही लक्षण कीमतों की वृद्धि को रोकने के लिए काफी पर्याप्त हो सकता है। परन्तु, अल्पकालीन दर को किस सीमा तक बढ़ाना पड़ेगा, यह इस पर निर्भर है कि दीर्घकालीन दरों पर क्या प्रभाव पड़ता है। (और यह इस पर निर्भर है कि ब्याज संबंधी प्रत्याशाओं की लोच क्या है)। यदि दीर्घकालीन दर भी बढ़ती है तब तो यह प्रत्याशा की जा सकती है कि यह भी प्रभावी रूप में रुकावट का काम करेगी और इसलिए यह अल्पकालीन दर की वृद्धि की आवश्यक सीमा को घटा देगी। तथापि, यदि दीर्घकालीन दरें न भी न बढ़ें, अल्पकालीन दर स्वयं ही पर्याप्त प्रभावी हो सकती है: निःसन्देह तब अल्पकालीन दर में अधिक वृद्धि करना आवश्यक होगा।

दूसरी ओर, यदि कीमतें गिरती हैं, अल्पकालीन दरों के ह्रास की संभव सीमा अति सीमित हैं, और यदि दीर्घकालीन दरें भी नहीं गिरती हैं तो हो सकता है कि कीमत ह्रास को रोकने के लिए उक्त सीमित ह्रास अपर्याप्त हो। इस दशा में यदि दीर्घकालीन दरें भी गिरती हैं तब भी स्थिति निश्चयपूर्वक नहीं होती, क्योंकि यह ऐसी दशा है कि दीर्घकालीन दरों के ह्रास का कीमतों पर पड़ने वाला प्रभाव न्यूनतम हो सकता है। सब बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि ब्याज-नीति—

अन्य शब्दों में मौद्रिक-नीति—तेजी को रोकने के लिए उपयुक्त है परन्तु मन्दी को रोकने के लिए अत्यंत अपर्याप्त है। यह ऐसी सीमा तो निर्धारित कर सकती है जिसके आगे कीमतें न बढ़ें किन्तु उसका प्रभाव ऐसा नहीं है कि निर्धारित सीमा तक कीमतें अवश्य बढ़ जायें।

हमने ब्याज की दर व्याख्या को कुछ अधिक समय दिया क्योंकि यह अति आशा-जनक स्थायक प्रतीत होता था, किन्तु यह टूटी छड़ी निकला। आइए अब हम अपने मॉडल को अधिक वास्तविक बनाने वाले कुछ अन्य संशोधनों पर विचार करें। पहले हम ऐसे संशोधन को लेंगे जो निम्नतम आशाप्रद है।

(५) भूतकालीन संविदे: अब तक हमने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया है कि वास्तविक जगत् में भूतकालीन संविदों की पृष्ठभूमि में ही अल्पकालीन सौदे किए जाते हैं। साधारणतया ये सौदे मुद्रा के पदों में होते हैं। इसलिए यदि सभी कीमतों में समान अनुपात में परिवर्तन हो और ब्याज की दर अपरिवर्तित रहे तो, जैसा हम अभी तक सोचते रहे हैं, उसके विपरीत, प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति समान नहीं होगी। कीमत बढ़ने पर जिन लोगों को भूत कालीन संविदों के कारण मुद्रा में भुगतान पाना है उनकी दशा गिर जाती है व ऋणकर्ता की दशा अधिक समृद्ध हो जाती है। सम्पत्ति–वितरण संबंधी यह परिवर्तन भिन्न वस्तुओं की मांग पर कुछ प्रभाव डालेगा और यह संभव है कि मुद्रा के पदों में सामान्यतः वस्तुओं की कुल मांग भी कुछ मात्रा में प्रभावित हो।

स्पष्टतया, यह प्रभाव उसी अर्थ में आय-प्रभाव है जिसमें हम इस पद का प्रयोग करते रहे हैं; पूर्व की भांति अब भी प्रागनुभव रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रभाव की दिशा क्या होगी। व्यवहार में यह कल्पना की जा सकती है कि महाजन-वर्ग की अपेक्षा ऋणी-वर्ग स्यात् अपनी आय वृद्धि का अधिक अनुपात व्यय करेगा। यदि ऐसा है तो कीमत बढ़ने पर उपभोग-मालों की कुल मांग की प्रवृत्ति बढ़ने की होगी; और भूतकालीन संविदों के अस्तित्व का प्रभाव स्थायिक होने की अपेक्षा अस्थायक सिद्ध होगा। लेकिन यह सदा संभव है कि इसका प्रभाव दूसरे प्रकार का हो।

जो भी हो, एक अन्य अधिक महत्वपूर्ण बात पर विचार करना है। जब कीमतों में सामान्य ह्रास (अथवा कम से कम किसी भी मात्रा में ह्रास) होता है तब एक नया प्रभाव उत्पन्न होता है जिसके कारण यह निश्चित संविदे अस्थायक सिद्ध होंगे। जैसे जैसे ऋणों का वास्तविक मूल्य बढ़ता है, ऋणकर्त्ताओं के लिए अपने दायित्व पूरे करना क्रमशः अधिक कठिन होता है। ऋणकर्त्ता-वर्ग पर पहला प्रभाव यह पड़ता है कि उसमें

दिवालिया बनने का भय व्याप्त होने लगता है। इस जोखिम के सर पर होने से वे अन्य जोखिमों को उठाने के लिए कम तत्पर होते हैं। वे उत्पादन के नये प्रक्रमों को आरंभ करने के लिए कम इच्छुक होते हैं, और अपनी परिसम्पत्ति को यथासंभव तरल रूप देने की चेष्टा करते हैं। बाद में, जब वे वास्तव में दायित्व पूरा नहीं कर सकते, अथवा, दिवालिया हो जाते हैं, सामान्यतः इसके बाद एक अवधि ऐसी होती है जिसके भीतर संयोजन करने की व्यवस्था की जाती है। इस अवधि में जब परिसम्पत्ति का स्वामित्व अनिश्चित होता है तब स्वतः प्रेरणा शक्तिहीन हो जाती है। सब बातों को देखते हुए कीमत-ह्रास की प्रवृत्ति आगतों को घटाने की होती है : फलत : वस्तुओं की मांग घटती है, और इसलिए, कीमतों में फिर ह्रास होता है। ऋणों का भार अवस्फीति का शक्तिशाली कारक है।[८]

(६) कीमत-दृढ़तायें : अब हम जिस बात पर विचार करने जा रहे हैं वह एक प्रकार से अधिक आशाजनक है। अब तक हमने यह माना है कि कीमत पूर्णतया परिवर्तनशील हैं और इसलिए किसी एक सप्ताह के व्यापार में भी, पूर्ति और मांग की स्वतंत्रता के फलस्वरूप यह संभव है कि सभी कीमतें साथ साथ चलें। निःसन्देह यह एक अवास्तविक मान्यता है और इसे भी अब छोड़ देना चाहिए। अधिकांश समाजों में ऐसी कीमतों की संख्या अधिक होती है जो, किसी न किसी कारणवश, कम से कम, अल्पकाल में आर्थिक शक्तियों के प्रति काफी अचेतन होती हैं। यह दृढ़ता या तो वैधानिक नियंत्रण के कारण होती है या एकाधिकारीय क्रिया के कारण (एक प्रकार की निष्क्रियता जिसके कारण एकाधिकारी हर प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा न करके शान्तिपूर्ण जीवन को श्रेयस्कर समझते हैं)।[९] यह संभव है कि उचित कीमत की भावना के बने रहने के कारण ऐसा हो। ऐसी दृढ़ता वाली कीमतों के आधीन मजदूरी की दरें सर्वाधिक महत्व रखती हैं। उन पर उपरोक्त तीनों कारणों से पैदा होने वाली दृढ़ताओं का प्रभाव पड़ता है। क्योंकि मजदूरी संबंधी संविदे बहुत कुछ वैयक्तिक संविदे होते हैं और तभी तक सुविधापूर्वक किए जाते हैं जब दोनों पक्ष उन्हें संतोषजनक समझें, इसलिए कीमतों पर नैतिक विचारों का प्रभाव पड़ने की विशेष संभावना होती है। किन्तु, चाहे जिस कारण से दृढ़ता का उदय हो, इसका अर्थ हुआ कि शेष कीमतों के साथ कुछ कीमतें ऊपर या नीचे की दिशा में नहीं चलतीं; परिणामस्वरूप इन कीमतों का प्रभाव स्थायक सिद्ध हो सकता है।

अपने स्थायक स्वरूप होने के अतिरिक्त ये दृढ़तायें निश्चित रूप से अत्यंत अर्थशास्त्रीय महत्व रखती हैं, क्योंकि, उनके अस्तित्व के आधार पर यह व्याख्या की जा सकती है कि जिस प्रकार की बाधाओं को लेकर हम चल रहे हैं उनके कारण न केवल

कीमतों में अपितु उत्पादन और रोजगार में भी अधिक परिवर्तन होता है। केन्स ने तो मजदूरी की दरों की दृढ़ताओं को अपने निकाय का मूलाधार बना रक्खा है। यद्यपि व्यावहारिक कार्य की दृष्टि से उनका तरीका अधिक लाभदायक है, मुझे ऐसा लगता है कि यदि हम मजदूरी संबंधी दरों की दृढ़ता को मात्र कीमतों की दृढ़ता का एक रूप मानें तो मूल आधारीय सामाजिक निहित बातें अधिक स्पष्ट की जा सकती हैं। श्रम की बेकारी के तात्कालिक व्यावहारिक महत्व को अत्यधिक बढ़ा कर बताना तो कठिन है, परन्तु, पूंजीवाद के स्वरूप के साथ उसका संबंध तभी अधिक स्पष्ट होता है जब हम उसका अध्ययन अन्य चीजों की बेकारी के (और दुरुपयोग के भी) साथ ही करें।[१०]

प्रस्तुत पुस्तक के प्रारंभिक भाग में हम यह जान चुके हैं कि अपने विश्लेषण के अन्तर्गत किस प्रकार किसी विशेष वस्तु की कीमत की दृढ़ता का विचार कर सकते हैं।[११] हम मान लेते हैं कि अन्य सभी कीमतें दी हुई हैं और तब हम विचाराधीन वस्तु की मांग रेखा (द द) और पूर्ति रेखा (स स) खींचते हैं। यदि उस वस्तु की कीमत

चित्र २५
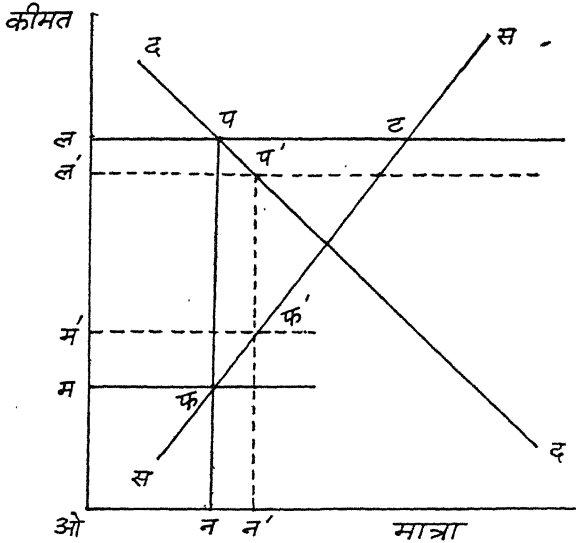
परिवर्तन हेतु स्वतंत्र है तो उसका निर्धारण इन वक्रों के कटन-विन्दु पर होगा। किन्तु यदि यह उस स्तर से (मान लें) ऊपर निश्चित किया गया तो केवल 'ओ न' (='लप'

अथवा 'म फ') मात्रा की बिक्री होगी, यद्यपि विक्रेता 'ल ट' मात्रा बेचने को तत्पर होंगे। यह स्थिति बिल्कुल वैसी ही है जैसी तब उठती जब क्रेताओं के लिए 'ओ ल' कीमत निश्चित की जाती और विक्रेताओं के लिए "ओ म", और इन कीमतों का अन्तर उन विक्रेताओं को बोनस स्वरूप दे दिया जाता जो बिक्री करने में सफल होते हैं। हम इसी रीति का उपयोग करना अन्य समस्याओं के संबंध में सुविधाजनक देख चुके हैं और इसका उपयोग प्रस्तुत समस्या के लिए भी किया जा सकता है।

मान लो कि दृढ़ कीमत और और 'छाया'-विक्रेता-कीमत को छोड़कर सभी कीमतों में एक ही अनुपात में वृद्धि होती है। यदि प्रत्याशाओं की लोचें एक हैं, तो मांग और पूर्ति रेखायें स्वरूप में पूर्ववत बनी रहेंगी किन्तु ऊपर की ओर उठ जायेंगी। फलस्वरूप जो स्थिति होगी हम उसको दिखाने के लिए यह मान लें कि शीर्ष-अक्ष पर कीमतों को मापने की इकाई उपयुक्त रूप में इस प्रकार बदल ली गई है कि नई मांग और पूर्ति की रेखायें पूर्व-स्थान पर बनी रहेंगी, और तब हम पुराने रेखाचित्र को काम में ला सकते हैं। क्योंकि कीमतों की माप-इकाई बदल गई है इसलिए स्थिति में केवल इतना परिवर्तन आएगा कि क्रेताओं की दृढ़ कीमत अब 'ओ ल' द्वारा नहीं वरन् (मान लो) 'ओ ल' द्वारा प्रदर्शित होगी और यह 'ओ ल' से कम है। अब 'ओ न' मात्रा खरीदी जायगी और पूर्ति को इसके बराबर करने के लिए विक्रेता की कीमत 'ओ म' होगी जो सामान्यतः 'ओ म' से अधिक होगी। [१२] विक्रेताओं को जो बोनस दिया जायगा वह अब 'ल प फ म' से बदल कर ल' प' फ' म' हो जायगा। यह अनिश्चित है कि इनमें से कौन सा क्षेत्र बड़ा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कीमतों में समान वृद्धि के निवल प्रभाव स्वरूप (१) वस्तु की बिक्री बढ़ जाती है, (२) क्रेताओं की कीमत समान बनी रहती है और इसलिए वह अन्य कीमतों की अपेक्षा कम हो जाती है, (३) अन्य कीमतों की अपेक्षा विक्रेताओं की कीमतें बढ़ जाती हैं और (४) बोनस की मात्रा बदल जाती है, किन्तु यह अनिश्चित रहता है कि वास्तविक रूप में बोनस की मात्रा बढ़ती है या घटती।

बोनस की मात्रा में परिवर्तन के कारण आय-प्रभाव का उदय होता है पर वह पूर्ववत् अनिर्धार्य रहता है। क्रेताओं और विक्रेताओं की कीमत में परिवर्तन का अन्य वस्तु की मांग और पूर्तियों पर कुछ प्रभाव पड़ेगा। यह प्रभाव स्थायित्व के अनुकूल होगा अथवा नहीं, यह इस बात पर निर्भर होगा कि उस वस्तु के कीमत-परिवर्तन के साधारण प्रभाव स्वरूप अन्य कीमतें बढ़ती हैं या घटती हैं। क्योंकि हमने अपनी खोज का आरंभ कीमतों की सामान्य वृद्धि से किया था, हम कह सकते हैं कि कीमत की दृढ़ता स्थायित्व के अनुकूल होगी यदि सामान्य कीमत-स्तर की अपेक्षा क्रेताओं

की कीमत और विक्रेताओं की कीमत में होनेवाले ये परिवर्तन कीमत स्तर को गिरायें।

(७) अन्य कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसको हम अपने पहले से परिचित प्रति-स्थापन तथा संपूरकता संबंध के आधार पर ज्ञात कर सकते हैं। क्योंकि हम प्रत्याशाओं की लोचें इकाई मान रहे हैं, इसलिए समयोपरि प्रतिस्थापना का विचार करना आव-श्यक नहीं है और हम भिन्न वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन एवं संपूरकता का विचार उसी प्रकार कर सकते हैं जैसे स्थैतिक दशा में।

क्रेता की कीमत के अपेक्षाकृत ह्रास के स्फलस्वरूप उन सभी वस्तुओं की कीमतें गिरेंगी जिनके स्थान पर क्रेता दृढ़ कीमत वाली वस्तु को प्रतिस्थापित कर सकता है, अथवा जिनमें वे इस वस्तु को रूपान्तरित कर सकते हैं। उन वस्तुओं की कीमतें भी गिर जायंगी जो इन प्रतिस्थापन वस्तुओं के प्रतिस्थापन्न हैं और इसी तरह आगे भी। किन्तु पूरक वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायेंगी, क्योंकि, जैसा हम बार बार देख चुके हैं, पूरे निकाय में सदैव प्रतिस्थापन के ही प्रमुख संबंध सिद्ध होने की संभावना है, क्रेता की कीमतों के आपेक्षिक ह्रास का प्रभाव संभवतः स्थायक होगा। निःसन्देह हमारी प्रत्याशा ऐसी ही होनी चाहिए।

'छाया'-विक्रेता-कीमत में अपेक्षाकृत वृद्धि के कारण यह संभव है कि विक्रेताओं के व्यवहार के कारण विचाराधीन वस्तु की प्रतिस्थापन वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायें और पूरक-वस्तुओं की कीमतें गिर जायें। प्रतिस्थापन की सामान्य प्रमुखता के कारण इन परिवर्तनों का अस्थायक प्रभाव पड़ना ही अधिक संभव है। दृढ़ कीमत का प्रत्यक्ष प्रभाव स्थायक है, किन्तु इससे संबंधित एक छाया-कीमत होती है जो दृढ़ नहीं होती और जिसके प्रभाव के अस्थायक सिद्ध होने की संभावना होती है।[13]

हम यह कह सकते है कि यदि दृढ़-कीमत के प्रत्यक्ष प्रभाव, छाया कीमत के अप्रत्यक्ष प्रभाव से अधिक हैं तो दृढ़ कीमतों के कारण केवल स्थायित्व की वृद्धि होगी। निःसन्देह ऐसा तभी होगा जब (सामान्य कीमत-स्तर की अपेक्षा) छाया-कीमत का परिवर्तन कम है। ऐसा सदैव हो सकता है; किन्तु केवल एक दशा है जिसमें ऐसा होना निश्चित है। यह वह दशा है जिसमें किसी उत्पादन के कारक की कीमत दृढ़ होती है और इस दृढ़-कीमत के कारण जो इकाइयां बिक्री से छूट जाती हैं वे पूर्णतया बेकार रहती हैं।

जब दृढ़-कीमत किसी वस्तु की कीमत है तो अन्य कीमतों के बढ़ने पर इस कीमत के न बढ़ने के कारण मांग-पक्ष की प्रतिस्थापन-वस्तुओं की कीमत-वृद्धि पर रोक लगती है; किन्तु पूर्तिपक्ष में इसकी जो प्रतिस्थापन वस्तुएँ हैं उनकी कीमतों की प्रवृत्ति बढ़ने की होती है (और उन कारकों की कीमतों की भी, जो इसमें रूपान्तरित किए जा सकते हैं)। जब दृढ़-कीमत किसी कारक की कीमत होती है तो इस कीमत के न बढ़ने के

कारण उन वस्तुओं की कीमत ही बढ़ सकती है जिनके निर्माण में यह कारक इसलिए लगा था कि उसको विचाराधीन उद्योग में स्थान नहीं मिला था। परन्तु यदि छूट गई इकाइयां पूर्णतया बेकार हैं तो छाया-कीमत भी शून्य होगी, और शून्य बनी रहेगी; अतः बेकारी का अस्तित्व प्रायः अनिवार्य रूप से स्थायित्व के अनुकूल होगा।

बेकार श्रम का अस्तित्व, विशेषतः जब बेकारी कई प्रकार के श्रमों की होती है, स्थायित्व के लिए विशेष महत्व रखता है। एक ओर छाया कीमत के माध्यम द्वारा कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और दूसरी ओर ऐसे सामान्य-श्रम का अधिकांश अन्य वस्तुओं के साथ प्रबल प्रतिस्थापन (या रूपान्तर) संबंध होता है। अप्रत्यक्ष रूप से स्यात् इसका लगभग सभी वस्तुओं से ऐसा संबंध होता है क्योंकि इसका उपयोग लगभग प्रत्येक वस्तु की प्रतिस्थापन-वस्तु के उत्पादन हेतु किया जा सकता है। अब तक हमने जिन स्थायकों का विचार किया है, उनमें बेकारी सर्वोत्तम स्थायक है।

(८) यह अति दुखदायी निष्कर्ष है, तथापि, जब तक हम प्रत्याशाओं की लोचों को एक मानते हैं, हम इससे बचते प्रतीत नहीं होते। निःसन्देह यह केन्स का निष्कर्ष है जो इस पर इतना अधिक जोर देते हैं कि उनका 'सामान्य सिद्धान्त' 'रोजगार का सामान्य सिद्धान्त' बन जाता है। कीमत निकाय की वृद्धि से संबंधित अस्थायित्व को ब्याज की दर के परिवर्तनों द्वारा रोका जा सकता है किन्तु ह्रास संबंधी अस्थायित्व को उस ढंग से रोका नहीं जा सकता। निकाय की मात्र विश्वसनीय रोक मजदूरी-दरों की दृढ़ता है। यद्यपि यह सत्य है कि इस दृढ़ता के माध्यम से ह्रास संबंधी अस्थायित्व को रोकने के समय अनिवार्य रूप से कुल उत्पादन प्राविधिक अधिकतम-मात्रा से कम हो जाता है और श्रमिकों की बेकारी का उदय होता है। यदि मजदूरी की दरों की दृढ़ता हट जाय तो मोटे तौर पर कीमतें गिरेंगी और नियंत्रण के लिए किसी प्रकार की दृढ़ता न होगी। फलस्वरूप सामान्य मजदूरी में कमी करने का मात्र अर्थ होगा कीमतों में अधिक गिरावट और रोजगार-वृद्धि में असफलता।[१४]

जब तक हम प्रत्याशाओं की लोच को एक मानते हैं तब तक यह निष्कर्ष अनिवार्य रूप से सामने आते हैं। यद्यपि अभी तक हमने इसे हर हालत में माना है, हम इसे मानने के लिए बाध्य नहीं हैं; और अब समय आ गया है कि इसके प्रति प्रश्न उठाया जाय। यदि जनता का विश्वास है कि (१) वर्तमान कीमतें असीम काल तक बनी रहेंगी, (२) जब कीमतें बदलती हैं तो, वे केवल दूसरे स्तर पर पहुँच जाती हैं, और (३) फिर नई कीमतें असीम रूप से रहती हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि प्रत्याशाओं के निर्माण पर भूतकालीन कीमतों का प्रभाव निम्नतम है। यह सामान्य दशा नहीं है; यह अति-विशिष्ट दशा है; और इसके गुणों से संबंधित हमारी खोज इस दृष्टिकोण की पुष्टि

नहीं करती कि यह एक ऐसी विशिष्ट दशा है जो व्यवहार में अत्यधिक बार घटित होती है।

यदि सभी प्रत्याशाओं की लोचें इकाई हैं तो केवल दृढ़ मजदूरी-दरों के सहारे निकाय का स्थायित्व बनाया रक्खा जा सकता है ; किन्तु यदि सभी प्रत्याशाओं की लोच इकाई है तो मजदूरी की दर क्यों दृढ़ हो ? यह तो दावा नहीं किया जा सकता कि मुद्रा के रूप में मजदूरी की दर किसी विशेष स्तर पर इसलिए है क्योंकि मजदूर उतनी मुद्रा, 'मुद्रा के लिए' चाहता है। अतः मौद्रिक मजदूरियों की दृढ़ता का कारण यह होना चाहिए कि जिन लोगों ने मजदूरी निश्चित की है उनको किसी सीमा तक मुद्रा के मूल्य के स्थायित्व में विश्वास है—अन्य शब्दों में, क्योंकि उनकी कीमत-प्रत्याशायें काफी अलोचशील हैं। जब तक उनका विचार यह रहता है कि कीमतों का अमुक स्तर 'सामान्य' है तब तक यह पूर्णतया तर्कयुक्त है कि वे मुद्रा के रूप में मजदूरी की दरों को ऐसे स्तर पर निश्चित करेंगे जो 'सामान्य' कीमत-स्तर को देखते हुए उन्हें 'उचित' प्रतीत हो। किन्तु इस कारण हमें कोई ऐसा औचित्य नहीं मिलता कि हम यह मानें कि यदि सामान्यता संबंधी विचार बदल जायं तब भी मौद्रिक मजदूरियां दृढ़ बनी रहेंगी।

मजदूरियों की दृढ़ता की व्याख्या करने के लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि मजदूरी का सौदा करने से संबंधित पक्षों का सामान्य कीमतों में किसी प्रकार का विश्वास है। और (स्यात्) इसमें तथा 'उचित' कीमतों संबंधी विचार में भेद करना कठिन है। मजदूरियों की दृढ़ता ठीक उस समय तक—और यह समय पर्याप्त लम्बा हो सकता है—बनी रहती है। जब तक संबंधित पक्ष यह विचार रखते हैं कि संबंधित कीमतों (चाहे वे श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमतें हों या श्रम द्वारा खरीदी वस्तुओं की) के परिवर्तन अस्थायी परिवर्तन हैं। जहां एक बार उन्हें यह विश्वास हुआ कि ये परिवर्तन स्थायी हैं मजदूरियों की प्रवृत्ति बदलने की होती है। अति अस्थायित्व की अवस्था में जब उनके सामान्य कीमत संबंधी विचार लुप्त हो जाते हैं, पक्षों के बीच ऐसे समझौते होते हैं जिनसे मजदूरी स्वयं निश्चित स्खलनिक माप के अनुसार बदलती रहे और तब मौद्रिक मजदूरी की दृढ़ता पूर्णतया समाप्त हो जाती है।

(९) सामान्य कीमतें : जब हम इस अन्तिम उल्लिखित विचार को ध्यान में रखते हैं तब यह स्पष्ट होने लगता है कि अर्थशास्त्रीय निकाय के सामान्यतः वास्तविक मॉडल तक पहुँचने के लिए किन मान्यताओं की आवश्यकता है। हमें पर्याप्त ऐसे स्थायकों को निकाय में स्थान देना चाहिए कि निकाय चल सके; किन्तु हमें यह नहीं मानना चाहिए कि ये शक्तियां इतनी प्रबल हैं कि वे निकाय को घट-बढ़ की अवस्था से बिल्कुल

बचा लेती हैं। इस संबंध में कुछ कीमतों, विशेषतः मजदूरी की दरों, की प्रवृत्ति दृढ़ता की ओर होनी चाहिए; किन्तु कुछ कीमत-प्रत्याशाओं की प्रवृत्ति भी दृढ़ता की ओर होनी चाहिए जिससे कि कीमतों की दृढ़ता की व्याख्या की जा सके। ऐसा कोई तर्क नहीं है कि हम यह मान लें कि सभी कीमत-प्रत्याशायें अलोचशील हैं। वास्तव में यह मानना अच्छा होगा कि भिन्न व्यक्तियों की प्रत्याशाओं की लोचों में काफी घट-बढ़ होती है। कुछ लोगों की प्रत्याशायें आमतौर पर पर्याप्त स्थिर प्रतीत होती हैं। वे संबंधित कीमतों के स्थिर स्तर पर बने रहने के अपने विश्वास को सरलता से नहीं छोड़ते; फलतः जब यह कीमतें परिवर्तित होती हैं तो वे स्वभावतः यह समझते हैं कि चालू कीमतें असामान्य रूप से कम, या अधिक, हो गई हैं। किन्तु समाज में अन्य लोग भी होते हैं जिनकी प्रत्याशायें कहीं अधिक संवेदनशील होती हैं और जो सरलता से यह सोचने लगते हैं कि उनके अनुभव में जो कीमत-परिवर्तन हुए हैं वे स्थायी हैं और यह भी कि कीमतें उसी दिशा में परिवर्तित होती रहेंगी। (भिन्न व्यक्तियों की कीमत-प्रत्याशा की संवेदनशीलता में अंतर होने के कारण उन कीमतों के व्यवहार में अंतर आ जाता है जिनसे इन लोगों का विशेष संबंध होता है : संवेदनशील व्यापारियों की कीमतें भी संवेदनशील होती हैं, परंतु असंवेदनशील व्यापारियों की कीमतें दृढ़ प्राय होती हैं। उन बाजारों में कीमतें सर्वाधिक संवेदनशील होती हैं जिन्हें जन-साधारण की भाषा में सट्टा-बाजार कहते हैं।)[१५]

निस्सन्देह संवेदनशीलता को लेकर कोई समाज किस प्रकार वर्गों में बंटा होगा यह बहुत कुछ भिन्न परिस्थितियों के साथ भिन्न होगा। जो लोग स्थिर कीमतों अथवा अति धीमी कीमत गति के आदी रहे हैं वे यथा-संभव अपनी प्रत्याशाओं के संबंध में भी असंवेदनशील होंगे; किन्तु जो व्यक्ति तीव्र परिवर्तन के आदी रहे हैं, वे संवेदनशील होंगे। अतः हमको कई प्रकार की संभव दशाओं के लिए तैयार होना पड़ेगा : एक छोर पर ऐसा बसा हुआ समाज होगा जो भूतकाल में स्थिर दशाओं का आदी रहा है (और जो इसी कारण वर्तमान में भी सरलता से विचलित नहीं होता है) : दूसरे छोर पर ऐसा समाज है जिसने कीमतों का तीव्र विचलन अनुभव किया है (और जो फलतः आर्थिक रूप से सनकी के वर्ग में रक्खा जा सका है।)

जो भी हो, संवेदनशीलता के अन्धकार पर जो भेद किया जाता है वह न केवल व्यापार करने वाले व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक दशा पर निर्भर है वरन् उस समयावधि पर भी निर्भर है जिसे हमने अपने विश्लेषण में माना है। हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि हमारा सप्ताह अविहित अवधि रखता है, प्रत्याशाओं के निर्माण में इसका अधिक महत्व है। प्रत्याशा की लोच उस अपेक्षाकृत महत्व पर निर्भर है जो भूतकालीन

अनुभव और वर्तमान अनुभव को दिए जाते हैं। यदि 'वर्तमान' समय की एक लम्बी अवधि है तो अनिवार्यतः वर्तमान अनुभव अधिक महत्वपूर्ण बन जायेंगे और (मनोवैज्ञानिक दशा पूर्ववत रहने पर भी) प्रत्याशाओं की प्रवृत्ति अधिक लोचशीलता की ओर होगी। यदि समयावधि अति छोटी हो तो अधिक संवेदनशीलता प्रकट करने के लिए समाज को अति सनकी होना पड़ेगा। साधारणतया लोग यह प्रत्याशा नहीं करते हैं कि वे किसी दिन की यथार्थ कीमतों का पूर्णतया सही सही पूर्व अनुमान लगा सकेंगे : फलतः वे जिस कीमत को सर्वाधिक संभव सोचते हैं उनमें काफी परिवर्तन होने पर भी यह संभव है कि उनकी प्रत्याशाओं में किंचित् भी व्यतिक्रम न हो। किन्तु यदि दीर्घकाल में प्राप्त औसत कीमत प्रत्याशित के बराबर न हों तो मूढ़ से मूढ़ व्यक्ति की भावी प्रत्याशाओं के बदल जाने की संभावना है। अतः यह मानना तर्कयुक्त है कि 'सप्ताह' की अवधि की वृद्धि के साथ संवेदना भी बढ़ेगी।

क्या इसका यह अर्थ है कि जहां कोई भी निकाय (सर्वाधिक सनकियों के निकाय को छोड़कर) अल्पकाल में स्थायी होता है, दीर्घकाल में यह अवश्य अस्थायी हो जायगा ? मेरी समझ में ऐसे निष्कर्ष से डरने की कोई आवश्यकता नहीं। हम अपने सप्ताह की अवधि को जितना लम्बा मानेंगे हमारी समझ में हमारा मॉडल वास्तविकता का उतना ही कम संतोषजनक प्रतिनिधित्व करेगा। कुछ ऐसी चीजें हैं जो अस्थायी संस्थिति विश्लेषण से बाहर की हैं और लम्बी अवधि के संबंध में निष्कर्षों का साधारणीकरण करने से पूर्व हमको उन चीजों में से कुछ की ओर ध्यान देना चाहिए।

अध्याय २२

सम्पूर्ण निकाय की अस्थायी-संस्थिति

३. इसकी कार्य प्रणाली के नियम।

(१) इसके पहले कि हम अस्थायी संस्थिति निकाय को छोड़ें हमें इसके व्यवहार के औपचारीक नियमों को संग्रह की चेष्टा करनी चाहिए। स्थैतिकी में सदृश समस्याओं के विश्लेषण का यह अंतिम कदम था, किन्तु स्थैतिकी की अपेक्षा यहां यह अत्यधिक जटिल हो जाता है, क्योंकि जिन प्रश्नों पर हमने वहां विचार किया था न केवल उन्हीं पर अपितु व्याज-दर के प्रश्न और न्यूनाधिक लोचशील प्रत्याशाओं के विभिन्न मामलों पर भी विचार करना है। ये जटिलतायें योगात्मक नहीं हैं वरन् गुणनात्मक हैं। इसलिए जब कोई परिणामों को क्रमबद्धता से रखने की चेष्टा करता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि संभव प्रश्नों और संभव उत्तरों का एक पूरा भंवरजाल सामने है। इन परिस्थितियों में मैंने नियमों के पूर्ण निकाय बताने की चेष्टा छोड़ देने का निर्णय किया है और मैं उससे कम चीजें ही बता कर ही संतोष कर लूंगा। मैं एक मूलाधारीय सिद्धान्त बताऊँगा जिस पर सभी विशेष परिस्थितियों से संबंधित नियम आधारित होंगे, और बाद में केवल कुछ उदाहरण सिद्धान्त के व्यावहारिक प्रयोग के दूंगा।

जिन मुख्य चीजों को हम ज्ञात करना चाहते हैं वह साधारणतया ज्ञात संचय, बचत और विनियोग के रूप में व्यापी परिवर्तनों के कीमत, उत्पादन तथा ब्याज की दरों पर पड़ने वाले इनके प्रभाव हैं। हमारी वर्तमान व्याख्या के लिए यह अधिक सुविधा-जनक होगा यदि इन व्यापी परिवर्तनों को वस्तु और मुद्रा अथवा मुद्रा और प्रतिभूतियों अथवा वस्तु और प्रतिभूतियों की पारस्परिक मांग के परिवर्तन के रूप में वर्णित किया जा सके। अपने स्थैतिक सिद्धान्त से हमको मांग के हटाव के प्रभावों का अध्ययन करने की रीति ज्ञात हो गई है। इसलिए हमको केवल अपने स्थैतिक नियमों को वस्तुओं, प्रतिभूतियों और मुद्रा, इन तीनों पदों के रूप में रखना है।

अभाग्यवश, स्थिति इतनी सरल नहीं है जितनी मालूम पड़ती है। केवल एक

विशेष परिस्थिति है जिसके अन्तर्गत स्थैतिक निकाय (जिसके नियम हम जानते हैं) और अस्थायी संस्थिति निकाय (जिसके नियम हम जानना चाहते हैं) के बीच ठीक अनुरूपता है। यह वह दशा है जब सभी प्रत्याशायें पूर्णतया अलोचशील हैं। अन्य सभी दशाओं में हम तर्कयुक्त रूप में यह नहीं मान सकते कि दोनों के नियम इतने अनुरूप होंगे। तथापि अनेक दृष्टिकोणों से लोचशील प्रत्याशाओं के उदाहरण (कम से कम काफी लोचशील प्रत्याशाओं के उदाहरण) ही अधिक महत्वपूर्ण हैं।

कठिनाई को दूर करने की सबसे अच्छी रीति यह है कि लोचशील प्रत्याशाओं से संबंधित परिवर्तन के प्रभाव को हिस्सों में बांट कर अध्ययन करें। प्रथम यह सोचिए कि यदि प्रत्याशायें अलोचशील हैं तो क्या होगा। इसके कारण कीमतों और व्याज-दरों में एक सीमा तक (प्रारंभिक) परिवर्तन होगा। अब यह मानिए कि जिस दिशा में चालू कीमतों अथवा व्याज की दरों का प्रारंभिक परिवर्तन हुआ है, उसी दिशा में कीमत-प्रत्याशाओं या व्याज-प्रत्याशाओं या दोनों का परिवर्तन होता है। प्रत्याशाओं के इस परिवर्तन के फलस्वरूप मांग में पुनः परिवर्तन होगा, और इसका स्वरूप पहले परिवर्तन के समान होगा। फलतः इस गौण परिवर्तन के प्रभावों को उसी प्रकार समझा जा सकता है जैसे प्रारंभिक परिवर्तन के प्रभावों को।

अपने विश्लेषण की इस रीति का एक लाभ यह है कि हमें एक ऐसा तर्कयुक्त अनुक्रम मिल जाता है जिसके वास्तविक 'कारण और प्रभाव' के काल-अनुक्रम से बहुत कुछ सदृश होने की संभावना है। हम देख चुके हैं कि समायोजन के लिए जितना अधिक समय दिया जाता है साधारणतया प्रत्याशायें उतनी ही अधिक लोचशील हो जाती हैं।[1] इस प्रकार हम परिवर्तनों के जिन प्रारम्भिक-प्रभावों का अध्ययन करेंगे उनका कम से कम कुछ संबंध संघात-प्रभावों से है; यह बहुत कुछ संभव है कि हमारे अनुक्रम के गौण प्रभाव वही हों जो कालान्तर में होने वाले प्रभाव हैं।

(२) तब तो सर्वप्रथम हमें अलोचशील प्रत्याशाओं वाले निकाय के नियमों को ढूंढ़ निकालना चाहिए। इन नियमों को निकालने के लिए यह पर्याप्त होगा कि हम निकाय को तीन चीजों—वस्तु, प्रतिभूति और मुद्रा—से बने एक त्रिभुज के रूप में दिखा सकें। इन तीन चीजों के कारण हमको दो कीमतें मिल जाती हैं, वस्तुओं का कीमत स्तर, और प्रतिभूतियों का कीमत-स्तर जो व्याज की दर का प्रतिनिधित्व करता है। मांग में परिवर्तन होने पर इन कीमतों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा ?

अध्याय ५ में एसे त्रिभुज के व्यवहार की विशद व्याख्या की जा चुकी है। जब किसी निकाय को तीन चीजों, क, ख, ग, के विनिमय के रूप में परिणत किया जा सकता है तो 'ग' के पदों में 'क' की मांग बढ़ने पर, 'ग' के पदों में 'क' की कीमत बढ़ जायगी।

'ख' की कीमत पर पड़ने वाले प्रभाव के दो भाग थे—एक आय-प्रभाव और दूसरा प्रतिस्थापन-प्रभाव। यदि 'क' और 'ख' प्रतिस्थापन्न हैं तो प्रतिस्थापन-प्रभाव के कारण 'ग' के पदों में 'ख' की कीमत बढ़ने की प्रवृत्ति रखती है : यदि वे संपूरक है तो कम होने की प्रवृत्ति होती है। यदि 'ग' और 'ख' प्रतिस्थापन्न हों तो 'क' के रूप में 'ख' की कीमत कम हो जायगी; परन्तु यदि वे संपूरक हैं, तो यह बढ़ जायगी। जहां तक आय-प्रभाव का संबंध है, खोज का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम प्रतिस्थापन-प्रभाव के कारण होने वाले प्रारंभिक-कीमत-परिवर्तन को लें और यह विचार करें कि इसके फलस्वरूप संपत्ति-वितरण में जो परिवर्तन आयेगा उसका भिन्न 'वस्तुओं' की सापेक्षिक मांग पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा या नहीं (यह वही रीति है जो हम प्रत्याशाओं के संबंध में काम में ला रहे हैं)। यदि सापेक्ष मांग में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो अन्तिम निर्णय निकालने से पहले उसको ध्यान में रखना पड़ेगा।

जब हम इन तर्कों को त्रिमूर्त्ति—वस्तु, प्रतिभूति और मुद्रा—पर लागू करते हैं तो यह स्पष्ट है कि सामान्यतः आय-प्रभाव के संबंध में लगभग कुछ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह सही है कि विशेष प्रयोगों में इसका ध्यान रखने की सावधानी बरतनी चाहिए। तथापि प्रतिस्थापन-प्रभाव के संबंध में काफी कहा जा सकता है और अब हम उसी पर आते हैं।

सर्वप्रथम, क्या इस त्रिमूर्ति के किसी जोड़े के बीच संपूरकता होने की संभावना है? अभी इस प्रश्न को हमने उपयुक्त रूप में तय नहीं किया, तथापि हम इस संबंध में तर्क दे चुके हैं कि हम यह मान सकते हैं कि संभवतः मुद्रा और प्रतिभूतियां निकट प्रतिस्थापन्न है।[२] यदि ऐसा है तो इस बात की संभावना नहीं है कि एक ओर मुद्रा और वस्तुओं के संबंध और दूसरी ओर प्रतिभूतियों और वस्तुओं के संबंध बहुत भिन्न होंगे। इसका यह अर्थ होगा कि त्रिमूर्ति से बने तीनों जोड़े प्रतिस्थापन्न होंगे। क्योंकि अधिक से अधिक (साधारण नियमों के अनुसार) केवल एक जोड़े में संपूरकता हो सकती है, इसलिए या तो मुद्रा और वस्तुओं में संपूरकता है और प्रतिभूतियों और वस्तुओं में नहीं अथवा इसका उल्टा। यदि इन संभावनाओं का खंडन कर दिया जाय तो केवल यही विकल्प बचता है कि तीनों जोड़े प्रतिस्थापन्न हैं।

हम जानते हैं कि ऐसी दशा में निकाय कैसे चलता है और इसलिए हमको केवल पुराने नियमों को नए रूप में रखना है।

(१) यदि मुद्रा के पद में वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है तो मुद्रा के पद में वस्तुओं का कीमत-स्तर बढ़ जायगा। क्योंकि प्रतिभूतियां वस्तुओं की प्रतिस्थापन्न हैं अतः उनकी भी कीमतें बढ़ेंगी। इसका अर्थ हुआ ब्याज की दर गिरेगी।

(२) यदि मुद्रा के पद में प्रतिभूतियों की मांग बढ़ती है तो प्रतिभूतियोंकी कीमतें बढ़ जायेंगी—अन्य शब्दों में, व्याज की दर गिर जायगी। क्योंकि प्रतिभूतियां और वस्तु आपस में प्रतिस्थापन्न हैं, इसलिए वस्तुओं की भी कीमत बढ़ जायगी।

(३) यदि वस्तुओं के पद में प्रतिभूतियों की मांग बढ़ती है तो वस्तुओं के कीमत-स्तर की अपेक्षा प्रतिभूतियों की कीमत बढ़ेंगी। क्योंकि यहां संपूरकता नहीं है, अतः वस्तुओं के पद में मुद्रा का मूल्य बढ़ेगा और प्रतिभूतियों के पद में गिरेगा। मुद्रा के पद में वस्तुओं का कीमत-स्तर गिरेगा और ब्याज-दर गिरेगी।

(३) अलोचशील प्रत्याशाओं वाली अर्थ व्यवस्था की कार्य-प्रणाली के यही नियम प्रतीत होते हैं। इनमें से दूसरे और तीसरे नियम प्रथम दृष्टि में ही पर्याप्त स्वीकृत प्रतीत होते हैं, हां, पहला नियम कुछ आश्चर्यजनक है। तथापि जिन सूक्ष्म मान्यताओं के अन्तर्गत इसको लागू बताया जाता है उनके ऊपर पूरा ध्यान देकर हम उसको व्योरे से प्राप्त करते हैं, तो यह भी ग्राह्य प्रतीत होता है।

मान लीजिए कि किसी वस्तु-विशेष की मांग में वृद्धि हुई। क्योंकि प्रत्याशायें अलोचशील हैं, इसलिए मांग की वृद्धि को अस्थायी समझना चाहिए और फलस्वरूप होने वाले सभी कीमत-परिवर्तनों को भी। तब, यथासंभव, बढ़ी हुई मांग को गोदाम से माल निकाल कर, या उत्पादन को तीव्रतर करके, पूरा किया जायगा। इसका दूसरी कीमतों पर पड़ने वाला प्रभाव घटेगा और तब यह सरलता से समझा जा सकता है कि मांग में होने वाली अधिक परन्तु अस्थायी-वृद्धि का पहली वस्तु की कीमत पर बहुत कम प्रभाव और अन्य वस्तुओं की कीमत पर लगभग नगण्य प्रभाव हो सकता है। इस पर भी भविष्य की वस्तुओं को काम में ले आने के कारण एक अन्य पहलू महत्व-पूर्ण होता है; भविष्य के स्थान पर अभी ही माल बेचने वाले विक्रेता या तो मुद्रा जुटायेंगे या कम ऋण लेंगे (ऋणों की अधिक तीव्र अदायगी को हम ऋण की कमी के रूप में देखते हैं); यदि क्रेता अपनी खरीद को स्थगित करते हैं तो या तो वह मुद्रा इकट्ठा करेंगे या अधिक उधार देंगे। यदि प्रतिक्रिया पूर्णतया मुद्रा की मांग से संबंधित है (जैसा कि हो सकता है, यदि वह अवधियां जिनमें खरीददारी स्थगित की गई है और बिक्री जिसके पूर्व दिनांकित कर दी गई है, छोटी हैं) तब व्याज की दर पूर्णतया अप्रभावित रहेगी। किन्तु यदि ब्याज की दर पर किसी प्रकार की भी प्रतिक्रिया होती है तो वह गिरने की ओर होगी।

निःसन्देह यह स्पष्ट ध्यान रहे कि मांग के अस्थायी-परिवर्तनों से संबंधित ये प्रतिक्रियायें संभवतः अल्पमात्रा की हैं; और व्याज की दर की प्रतिक्रिया की तो विशेषतः अल्प होने की संभावना है क्योंकि मुद्रा और प्रतिभूतियां निकट प्रतिस्थापन्न हैं।

यह प्रतिस्थापन्नता उस समय अधिक प्रतिलक्षित होती है जब ब्याज की दर कम होती है न कि अधिक (जैसा कि इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रतिस्थापन्नता ही ब्याज की दर को शून्य होने से रोकती है)। परिणामतः यदि प्रारंभ में ब्याज की दर बहुत कम है तो यह संभव है कि तथ्यों का कोई साधारण परिवर्तन इसको न बदल सके; किन्तु यदि यह प्रारंभ से ऊँची है तो इसे अधिक सरलता से प्रभावित किया जा सकता है।

(४) आइए अब प्रत्याशाओं की लोच की ओर ध्यान दें और कीमत-प्रत्याशाओं की लोच से विचारारंभ करें। इस हेतु यह जानना आवश्यक है कि कीमत-प्रत्याशाओं के परिवर्तन के फलस्वरूप क्या प्रभाव हो सकते हैं, अर्थात्, इसके कारण किस प्रकार का मांग का हटाव (उस तरह का जिसकी हम व्याख्या कर रहे हैं) हो सकता है। यह दो या तीन तरह से हो सकता है। एक ओर, क्योंकि भविष्य के वस्तु और वर्तमान वस्तु साधारणतया प्रतिस्थापन्न हैं, यह एक पूर्वमान्यता है कि कीमत-प्रत्याशाओं की वृद्धि के कारण चालू वस्तुओं की मांग में वृद्धि होगी। यदि कोई फर्म यह प्रत्याशा करती है कि उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं की कीमत भविष्य में बढ़ जायगी तो यथासंभव वह वर्तमान काल में अपने कारकों के आगत को बढ़ा देंगी और स्यात् अपनी उत्पादों के निर्गत को घटा देगी। आगत की इस वृद्धि (या उत्पादन के ह्रास) का संतुलन करने के लिए प्रतिभूतियों या मुद्रा की मांग में कोई अनुरूप परिवर्तन होना चाहिए। इसलिए हम सोच सकते हैं कि फर्म अपनी मांग को मुद्रा या प्रतिभूतियों से हटाकर वस्तुओं की ओर ले जायगी और ऐसे परिवर्तन के परिणामों को हम जानते ही हैं। यदि बढ़े हुए विनियोग की वित्त-व्यवस्था ऋण लेकर की जाती है तो वास्तविक परिवर्तन प्रतिभूतियों के पदों में वस्तुओं की मांग की वृद्धि के रूप में होगा। इससे वस्तुओं के कीमत-स्तर में वृद्धि होगी और ब्याज की दर में भी। यदि उक्त वित्त-व्यवस्था अंशतः मुद्रा की मांग में कमी करके की गयी तो ब्याज की दर की वृद्धि या तो रुक जायगी या संभव है कि हो ही नहीं; लेकिन वस्तु की कीमतों की वृद्धि तीव्र हो जायगी।

क्या इन उक्त दो प्रकार की वित्त-व्यवस्थाओं की सापेक्ष संभावनाओं के विषय में कुछ कहा जा सकता है? विनियोग की वित्त-व्यवस्था असंचयन के द्वारा की जायगी इसका सबसे संभव तर्क यह है कि साहसोद्यमी किसी न किसी समय ऐसे अवसर के उदय होने की प्रत्याशा करते रहे हैं और तत्हेतु मुद्रानिधि को बचाकर रखते रहे हैं। इस प्रकार यदि उक्त अवसर पूर्णतया नया हुआ तो स्यात् उसकी व्यवस्था ऋण लेकर की जाय; किन्तु यदि यह अप्रत्याशित नहीं है और केवल इसकी तिथि अप्रत्याशित थी तो इसकी वैत्तिक व्यवस्था असंचयन द्वारा हो सकती है। (व्यापारिक आरोह

के प्रारंभिक चरणों में ऐसा ही कुछ परिवर्तन काफी मात्रा में हो सकता है और यही एक कारण है कि ऐसे समय में ब्याज की दरों पर कोई विशेष भार न पड़े।)

दूसरी ओर, यदि कोई फर्म यह प्रत्याशा करती है कि जिन कारकों को नियुक्त करने की वह योजना बनाए है उनकी कीमतें बढ़ेंगी तो यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने चालू आगतों की मात्रा बढ़ायेगी क्योंकि कारकों के मध्य समयोपरी संपूरकता प्रायः घटित होती है। परन्तु यदि यह प्रत्याशा है कि निकट भविष्य में ही कीमतें बढ़ेंगी तो (मुद्रा के पद में) कारकों पर होने वाले व्यय की आयोजित दर बढ़ेगी : फलतः मुद्रा की माँग में वृद्धि हो सकती है। इसको हम प्रतिभूतियों से मुद्रा की ओर माँग के हटाव के रूप में समझेंगे।

मुद्रा की माँग क्यों बढ़ेगी इसके लिए कुछ अन्य कारण भी हैं। वस्तुओं की प्रत्याशित कीमतों की वृद्धि का निहित अर्थ साहसोद्यमी की आय की वृद्धि है और इस कारण उपभोग वस्तुओं पर उसके व्यय (उसका वर्तमान वास्तविक-व्यय तथा निकट भविष्य का आयोजित-व्यय दोनों ही) बढ़ सकते हैं। इसको हम प्रतिभूतियों से हटकर वस्तु की ओर माँग का आना, और स्यात् मुद्रा की ओर आना भी समझ सकते हैं।

निजी व्यक्ति की कीमत-प्रत्याशाओं के संबंध में भी इसी प्रकार का विश्लेषण किया जा सकता है, यद्यपि व्यापक रूप से ऐसा करना मुश्किल से किसी काम का हो। समयोपरि प्रतिस्थापन की कुछ प्रवृत्ति तो होगी ही, जिसका निहित अर्थ होगा, वस्तुओं की वर्तमान माँग में वृद्धि; और जहाँ तक कीमत-प्रत्याशाओं की वृद्धि से अधिक प्राप्ति की प्रत्याशा संबंधित रहती है, मुद्रा की माँग में भी वृद्धि हो सकती है।

जब हम इन भिन्न प्रवृत्तियों को मिलाकर देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कीमत-प्रत्याशाओं की वृद्धि का प्रभाव कई भिन्न प्रकार से पड़ सकता है। सबसे अधिक संभव-प्रभाव तो यह है कि मुख्यतः प्रतिभूतियों की माँग में कमी होकर वस्तुओं की माँग बढ़ जाय। इस कारण वस्तुओं के कीमत-स्तर में वृद्धि होगी और ब्याज की दर में भी वृद्धि होने की कुछ प्रवृत्ति होगी। किन्तु मात्र यही संभावना नहीं है। इस बात के लिए सशक्त तर्क हैं कि माँग प्रतिभूतियों से हटकर मुद्रा की ओर आयेगी, जिससे ब्याज की दर पर पड़ने वाला प्रभाव तीव्र हो जायगा और कीमतों की वृद्धि पर रोक लगेगी। साधारणतया इस हेतु निष्कर्ष में कुछ संशोधन की गुंजायश रखनी चाहिए। ऐसी स्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनमें वस्तुओं की माँग की वृद्धि का संतुलन मुद्रा की माँग में कमी द्वारा हो और इसलिए ब्याज की दर न बढ़े। यह भी संभव है कि कुछ प्रत्याशाओं की वृद्धि (यथा, कारकों की प्रत्याशित-कीमत-वृद्धि) के कारण सामान्यतः वस्तुओं की माँग (और उनसे संबंधित कारकों की माँग) न बढ़े। जो भी हो, स्यात्

यह उचित होगा कि हम इन अन्तिम उदाहरणों को अपवादस्वरूप मान लें। जब हम ऐसी कीमत-प्रत्याशाओं की जो सामान्य हैं, वृद्धि की ओर ध्यान देते हैं तो साधारणतया वे विपरीत दिशा में कार्यशील शक्तियों के आगे दब जायेंगी।

(५) तब मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि कीमत-प्रत्याशाओं की वृद्धि का सामान्य प्रभाव कीमत और ब्याज की दर को बढ़ाना होता है : कीमत प्रत्याशाओं में ह्रास का साधारण-प्रभाव कीमतों को और ब्याज की दर को घटाना होता है। ऐसे निकाय में जहाँ कीमत-प्रत्याशायें लोचशील हैं चालू कीमतों में परिवर्तन कीमत-प्रत्याशाओं को उसी दिशा में बदल देता है; फलतः अलोचशील प्रत्याशाओं के संबंध में हम जिन नियमों का प्रतिपादन कर चुके हैं वे लोचशील कीमत-प्रत्याशाओं के संबंध में भी अब प्रबर्धित किए जा सकते हैं। यद्यपि यह प्रवर्धन उन सभी उपरोक्त संशोधनों से युक्त होगी तथापि इसका मुख्य स्वरूप काफी स्पष्ट है।

जब कीमत-प्रत्याशायें लोचशील हैं तो कीमतों पर पड़ने वाले जिन प्रभावों को हमने आलोचशील प्रत्याशाओं के संबंध में बताया है वे संभवतः अधिक तीव्र हो जायेंगे, किन्तु सदैव संभावना यही है कि ब्याज की दर की दिशा वही होगी जो कीमत-स्तर की दिशा है। इस प्रकार (१) यदि हम मुद्रा से वस्तु की ओर माँग-परिवर्तन से चलें तो इसका प्रारंभिक प्रभाव यह है कि कीमत थोड़ी बढ़ेगी और (यदि कुछ हुआ तो) ब्याज की दर गिरेगी; गौण प्रभावस्वरूप कीमतें और बढ़ेंगी, किन्तु ब्याज की दर भी बढ़ेगी। (२) यदि हम मुद्रा से प्रतिभूतियों और माँग-वृद्धि को लें तब भी अनुक्रम उपरोक्त जैसा ही रहेगा। प्रारंभिक प्रभाव यह होगा कि ब्याज की दर गिरेगी और कीमतें बढ़ेंगी, गौण प्रभाव यह होगा कि कीमतें और बढ़ेंगी और ब्याज की दर बढ़ेगी।[3] (किन्तु यहाँ यह ध्यान रहे कि गौण प्रभाव तभी प्रतिलक्षित होता है जब प्रारंभिक प्रभाव के फलस्वरूप कीमतें वास्तव में बढ़ती हैं : यदि ब्याज की दर यथासंभव कम हो अथवा यदि ब्याज की दर की कमी के कारण वस्तुओं की माँग न बढ़े तो कोई भी गौण प्रभाव न होगा।) (३) यदि हम प्रतिभूतियों से वस्तुओं की ओर परिवर्तित होने वाली माँग को लें तो प्रारंभिक-प्रभाव-स्वरूप कीमतें बढ़ेंगी और ब्याज की दर भी; यहाँ गौण प्रभाव प्रारंभिक प्रभावों को केवल तीव्रतर बनायेंगे।

इससे तनिक भी आश्चर्य नहीं होता कि लोचशील प्रत्याशाओं वाले निकाय में यह प्रतिक्रियायें अति धोखाधड़ी वाली दिखाई पड़ती हैं; क्योंकि हम जानते हैं कि जब कीमत प्रत्याशाओं की लोच एक सीमा से परे हो जाती है तो निकाय का स्थायित्व संदिग्ध हो उठता है। जिस समाज में मुद्रा के रूप में प्रतिभूतियों की माँग की वृद्धि ब्याज की दर को बढ़ा सकती है (या अंत में बढ़ा देती है) वहाँ इस दशा, और केवल

इस दशा के कारण ही अस्थायित्व की जोर शोर से घोषणा हो जाती है।

जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, हम केवल यह प्रत्याशा कर सकते हैं कि निकाय के अस्थायित्व का केवल शनैः शनैः प्राकट्य होगा, क्योंकि जैसे जैसे और समय दिया जायगा, प्रत्याशायें अधिक लोचशील बनेंगी। यही कारण है कि हमने जिस प्रारंभिक-प्रभाव का अभी विश्लेषण किया है उसे हम संघात-प्रभाव के रूप में देख सकते हैं, और गौण-प्रभावों को कारणात्मक प्रक्रम में अगले चरण मान सकते हैं। जो भी हो, हमको ऐसा नहीं मानना चाहिए कि प्रत्याशाओं की लोचशीलता संभवतः समान रूप से बढ़ेगी। यह अधिक संभव है कि प्रत्याशायें जिस दर से अधिक लोचशील होंगी वह भिन्न बाजारों में अति भिन्न होंगी। यदि प्रक्रम के पहले चरण मोटे तौर पर हमारे प्रारंभिक प्रभावों द्वारा निरूपित हों तो उसका अगला चरण ऐसा होगा कि कुछ प्रत्याशाओं की लोच काफी बढ़ेगी और कुछ में अधिक परिवर्तन नहीं होगा। तब अगले चरण में प्रारंभिक प्रभावों के अतिरिक्त हमको ऐसे प्रभावों को भी स्थान देना पड़ेगा जो कुछ लोगों की कुछ वस्तुओं से संबंधित कीमत-प्रत्याशाओं के परिवर्तन-स्वरूप उदय होंगे। इस कारण उन वस्तुओं की कीमतें विशेषतः प्रभावित होंगी और उनसे निकट संबंध रखने वाली अन्य वस्तुओं की कीमतें भी। कीमत-परिवर्तन-प्रक्रम को व्यापक रूप से समझने के लिए यह बात अधिक महत्व रखती है। प्रारंभिक हलचल का कीमतों के सामान्य-निकाय पर जो प्रभाव पड़ता है वह केवल संबंधित वस्तुओं पर पड़ने वाले उस प्रभाव तक ही सीमित नहीं होता जिसे हम अपने स्थैतिक-विश्लेषण में समझ चुके हैं। यदि 'क' वस्तु की माँग में वृद्धि होती है तो यह आवश्यक नहीं है कि कारणात्मक प्रक्रम के किसी भी चरण में केवल उन्हीं वस्तुओं की कीमतें सर्वाधिक प्रभावित हों जो 'क' की अति निकट प्रतिस्थापन्न हों। यह काफी संभव है कि ऐसे मालों की कीमतों में अधिक परिवर्तन हो जिनका 'क' से कम निकट संबंध है परन्तु जिनका वही व्यक्ति व्यापार करते हैं जो अधिक लोचशील प्रत्याशा वाले हैं।[४]

कुछ कीमत-प्रत्याशाओं की सापेक्ष अचेतनता के फलस्वरूप मजदूरी की दरें लोचरहित हो जाती हैं। मजदूरी की लोचहीनता का अर्थ है एक सीमा तक बेकारी का होना। काफी हद तक श्रम की माँग के परिवर्तन का संबंध रोजगारी के परिवर्तन से अधिक होता है और मजदूरी-दरों के परिवर्तन से कम। जहाँ तक बेकारों की निजी सामर्थ्य पर्याप्त भिन्न होती है, हम तर्क-पूर्वक यह मान सकते हैं कि सामान्यतः अन्य वस्तुओं के लिए श्रम (सामान्य रूप में) प्रबल-प्रतिस्थापन्न है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस मात्रा में श्रम नियुक्त किया जायगा (और फलतः उत्पादन की कुल मात्रा भी) उस कीमत-स्तर से प्रत्यक्षतः सह-संबंधित होगी जिसकी हमने व्याख्या

की है और उन्हीं नियमों द्वारा बंधेगी। जो भी हो, जैसे जैसे बेकारी कम होती है और जैसे जैसे बेकार जनसंख्या की सामर्थ्य की विविधता घटती है, मजदूरी की दरें अवश्य कम दृढ़ होंगी। तब कीमतों में एक दी हुई वृद्धि के कारण बेकारी में कम ह्रास होगा—अथवा (अन्य शब्दों में कहें तो) जब कीमतों में अधिक परिवर्तन होगा तभी बेकारी में एक निश्चित कमी आयेगी बशर्ते माँग-वृद्धि का अभी तक बेकार विशिष्ट प्रकार के श्रम पर प्रत्यक्ष प्रभाव न पड़े।

(६) अब तक हमने ब्याज-प्रत्याशाओं के संबंध में कुछ नहीं कहा है। ब्याज-प्रत्याशाओं की लोचशीलता के संबंध में बहुत कुछ कहना भी नहीं है, किन्तु जो थोड़ा कहना है उसका अधिक महत्व है। जब तक ब्याज-प्रत्याशायें अलोचशील हैं, ब्याज की दीर्घकालीन दर को (जो मुख्यतः ब्याज की प्रत्याशाओं पर निर्भर हैं) लगभग दिया हुआ समझना चाहिए : यह अधिकांश में चालू-माँग और पूर्तियों में होने वाले परिवर्तनों से स्वतंत्र होता है। अतः जिस ब्याज की दर की हम व्याख्या कर रहे हैं वह लगभग पूर्णतया अल्पकालीन होगी। हम जिस प्रकार के परिवर्तनों को ले रहे हैं उनका दीर्घकालीन ब्याज-दर पर तब तक प्रभाव नहीं पड़ेगा जब तक यह प्रत्याशा न हो कि प्रतिभूति बाजार की दशाओं के परिवर्तन काफी स्थायी होंगे।[५]

अब, निःसन्देह, यह मानना तर्कयुक्त है कि कम से कम किसी भी आर्थिक प्रक्रम के गौण चरणों में ब्याज-प्रत्याशायें कुछ लोचशील होंगी; यद्यपि, (जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा था)[६] अधिक लोचशील ब्याज-प्रत्याशाओं की संभावना अधिक लोचशील कीमत-प्रत्याशाओं की अपेक्षा कम है। इसलिए ब्याज की दीर्घकालीन दर पर, इसकी सामान्य प्रवृत्ति अपरिवर्तनीय होने पर भी, कुछ प्रभाव तो पड़ने ही देना होगा।

इस प्रभाव को समझने के लिए हम यह परीक्षा करेंगे कि यदि ब्याज-प्रत्याशाओं में ऐसा असामान्य परिवर्तन हो जो उस माँग के परिवर्तनों द्वारा न प्रभावित किया गया हो जिसकी हम व्याख्या कर रहे हैं, तो क्या होगा। थोड़ी देर के लिए मान लो कि ब्याज की अल्पकालीन दर दी हुई है। यदि ब्याज-प्रत्याशायें बढ़ती हैं और साथ ही अल्पकालीन ब्याज-दर में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो भावी क्रय-विक्रय (एक अल्पकाल से भी अधिक आगे की तिथि के क्रय-विक्रय) की अपहरित कीमत घटेगी। इससे साधारणतया एक प्रतिस्थापन-प्रभाव का उदय होगा जो चालू वस्तुओं की माँग को घटा देगा। यह प्रभाव उसी प्रकार उचित होगा जैसे कीमत-प्रत्याशाओं की कमी का प्रभाव। यहाँ कई प्रकार के अपवाद संभव हैं किन्तु संभव निष्कर्ष यही होगा कि वस्तुओं की मौद्रिक-कीमत की प्रवृत्ति गिरने की होगी और अल्पकालीन ब्याज-दर की भी।

इसलिए ब्याज-प्रत्याशाओं में एक स्वतंत्र परिवर्तन के कारण ब्याज की अल्पकालीन और दीर्घकालीन दरों में होने वाले परिवर्तन विपरीत दिशा के होंगे। ब्याज की दर के भावी रूप के संबंध में लोगों की निराशावादिता के कारण प्रतिभूतियों में कमी आयगी और इसलिए वस्तुओं की माँग अवरुद्ध होगी तथा कीमतें गिरेंगी। इससे अल्पकालीन बाजार में दबाव कम हो जायगा।

यदि प्रतिभूतियों के बाजार की चालू स्थिति के परिवर्तित होने के कारण ब्याज-प्रत्याशायें बदलती हैं (अर्थात् यदि ब्याज-प्रत्याशायें लोचशील हैं) तो समान सिद्धान्त लागू होंगे। किन्तु अब अल्पकालीन दर के परिवर्तन के कारण दीर्घकालीन दर में उसी दिशा में परिवर्तन होगा और अल्पकालीन बाजार में इसकी ऐसी प्रतिक्रिया होगी कि अल्पकालीन दरों की गति अवरुद्ध हो उठेगी। यदि ब्याज-प्रत्याशायें अलोचशील हैं तो हम जिन समायोजनों की व्याख्या कर रहे हैं वे सभी ब्याज की अल्पकालीन दर के द्वारा ही संपादित होंगे। फलतः प्रतिभूतियों की माँग में अधिक कमी होने (या पूर्ति में वृद्धि होने) से ब्याज की अल्पकालीन दर पर अत्यधिक प्रभाव पड़ेगा। दूसरी ओर (क्योंकि ब्याज की दर ऋणात्मक नहीं हो सकती) यह सरलता से संभव है कि प्रतिभूतियों की माँग में होने वाली अधिक वृद्धि की ब्याज की दरों पर (अथवा, उनके माध्यम से) कोई भी प्रतिक्रिया न हो। यदि ब्याज-प्रत्याशायें लोचशील हैं तो प्रभाव का भार अल्पकालीन बाजार से हटकर दीर्घकालीन बाजार पर आ जाता है। ब्याज की अल्पकालीन दर के बहुत अधिक बढ़ने का खतरा कम हो जाता है और (ब्याज की दीर्घकालीन दर के परिवर्तनों का कीमतों पर पड़ने वाले अतिरिक्त प्रभाव को ध्यान में रखकर) हम यह कह सकते हैं कि इसी प्रकार ब्याज के माध्यम से प्रभावों के न कार्यान्वित होने का खतरा कम हो जाता है क्योंकि ब्याज की दरें एक निम्नतम सीमा से कम नहीं हो सकतीं।

जो भी हो, जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं यह विश्वास नहीं करता कि ब्याज-प्रत्याशाओं की कम लोच के अतिरिक्त और किसी पर भरोसा रक्खा जा सकता है। यह संभावना है कि ब्याज की दीर्घकालीन दर प्रमुखतया दीर्घकालीन प्रत्याशाओं द्वारा प्रभावित होगी; चालू साख-नीति की अपेक्षा भविष्य में साख-नियंत्रण के खतरे द्वारा; इस प्रत्याशा द्वारा कि संकटावस्थाओं में बैंकों का क्या व्यवहार होगा और इस बात से कि किस सीमा तक इन संकटों के उदित होने की संभावना है।

अध्याय २३

पूंजी संचयन

(१) इसके पूर्व कि हम अपने कार्य को पूरा घोषित करने-अर्थशास्त्रीय प्रावेगिक विज्ञान के शुद्ध सिद्धान्त की मुख्य रूप-रेखा को प्रतिपादित कर चुकने—का दावा करें, एक प्रश्न और विचार करने के लिए रह जाता है। अब तक अपने मॉडल की पृष्ठभूमि में हम यह विचार करते रहे हैं कि किसी 'सप्ताह' विशेष में क्या होता है। अन्य शब्दों में हमने आर्थिक परिवर्तनों की तात्कालीन प्रतिक्रियाओं का विचार यह मान कर किया है कि जनता पर्याप्त जागरूक है और बाजारों के मध्य संदेश तथा परिवहन सुविधायें पर्याप्त संतोषजनक हैं। निःसन्देह, व्यवहार में इन प्रतिक्रियाओं को कार्यशील होने में भी कुछ समय लगता है, और हमने यदा-कदा उसका विचार किया है। परन्तु खुलकर हमने ऐसी प्रतिक्रियाओं का विचार नहीं किया है जिनके कार्यान्वित होने में अनिवार्यतः समय लगता है—इसलिए नहीं कि संवाद तथा यातायात-सुविधायें कम हैं या ज्ञान अपूर्ण हैं अपितु इसलिए कि उत्पादन-प्रक्रम की प्रविधि की अवधि के कारण समय लगता है। अपने मॉडल की पृष्ठभूमि में हमको यह सोचना है कि पहले सोमवार को बनाई योजना जैसे जैसे फलीभूत होती है वैसे वैसे बाद के 'सप्ताहों' में क्या होता है। इस संबंध में स्यात् बहुत कुछ कहा जा सकता है तथापि मैं सोचता हूं कि महत्वपूर्ण बातें संक्षेप में बताई जा सकती हैं।

दूसरे सोमवार की यथार्थ - कीमतें पहले सोमवार की कीमतों की भाँति ही अंशतः अर्थव्यवस्था के व्यक्तियों की उस दिन (अर्थात् दूसरे सोमवार) की इच्छाओं और प्रत्याशाओं द्वारा निर्धारित हो जाती हैं। इस संबंध में पिछले अध्यायों में लिखी सभी बातें लागू होती हैं और कोई नई समस्या नहीं उठती है। परन्तु किसी तिथि को निर्धारित होने वाली कीमतें उस तिथि के (अपने व्यापकतम अर्थ में) पूंजीगत यंत्रों द्वारा भी प्रभावित होती हैं। इस दूसरे सोमवार के पूंजीगत यंत्रों की मात्रा पर भूतकालीन सप्ताहों की (जिनमें पिछला सप्ताह भी शामिल है) क्रियाओं का प्रभाव पड़ता है।

यदि, जैसा कि सैद्धान्तिक रूप में संभव है (यद्यपि व्यवहार में यह लगभग असंभव है), उस सप्ताह की क्रियाओं के फलस्वरूप ठीक उतने ही और वैसे ही मालों का उत्पादन होता है जिनका उस सप्ताह में उपयोग हुआ है या जो काम में आए हैं (न उससेकम और न अधिक) तब दूसरे सोमवार के पूंजीगत यंत्रों की मात्रा और स्वरूप ठीक वही हो सकते हैं जो पहले सोमवार को थे। ऐसी स्थिर दशाओं में हमारे विचार के लिए कोई नई समस्या नहीं रहती। अन्य सभी परिस्थितियों में एक नई समस्या बच रहती है और वह है पूंजी-संचयन (या असंचयन) का कीमतों पर प्रभाव।

मान लो, पहले सोमवार को कुछ साहसोद्यमियों द्वारा अपनाई हुई उत्पादन-योजनाओं से प्रथम सप्ताह के पूंजी-संचयन का संबंध है। अर्थात्, पहले सप्ताह के कुछ आगत इस प्रकार प्रयुक्त हुए हैं कि न केवल पहले सप्ताह का आगत और निर्गत प्रवाह भविष्य में भी बना रहे वरन् पहले सप्ताह की अपेक्षा बाद के सप्ताह में अधिक उत्पादन संभव हो (या कम आगत काम में लाना पड़े) ।[1] यह भी मान लो कि दूसरा सप्ताह ऐसा है कि उपर्युक्त प्रयास एक सीमा तक फलीभूत होता है। तब, उपर्युक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने के फलस्वरूप दूसरे सप्ताह में उपलब्ध यंत्र सामग्री ऐसी है कि या तो पहले सप्ताह की अपेक्षा अब कुछ वस्तुओं की पूर्ति अधिक है (अर्थात् पूर्ति-वक्र दाहिनी तरफ़ स्थानान्तरित हो गया है) या कुछ वस्तुओं (या सेवाओं) की माँग कम हो गई है। यदि रुचियाँ और प्रत्याशायें दूसरे सोमवार को पहले सोमवार के समान ही हों तो यंत्र-सामग्री के उपर्युक्त परिवर्तन पर विचार करना पड़ेगा। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि परिणामतः कीमतों में ह्रास होना चाहिए—अर्थात् पहले सोमवार की अपेक्षा दूसरे सोमवार को (अन्य बातें समान रहें तो) सामान्यतः कीमतों के कम होने की प्रवृत्ति होगी (क्योंकि पूर्ति की वृद्धि और माँग में ह्रास प्रायः एक समान प्रभाव डालते हैं।

जो भी हो, यह नियम, कि पूर्ति–वृद्धि अनिवार्यतः कीमतों में सामान्य ह्रास लाती है तभी तक लागू होता है जब तक पूर्ति-वृद्धि का अर्थ केवल मौद्रिक पदों में पूर्ति-वृद्धि होता है। मुद्रा में आँकी पूर्ति की सारिणी को ही दाहिनी ओर स्थानान्तरित होना चाहिए। परन्तु, क्या यहाँ ऐसी ही स्थिति है? यह पता लगाने के लिए कि दूसरे सोम-वार की कीमतें पहले सोमवार की अपेक्षा अधिक होंगी या कम, हम यह मान लगे कि कीमत वही हैं और तब यह पता लगायेंगे कि उन कीमतों पर माँग की अपेक्षा पूर्ति कितनी अधिक (या कम) होगी। यहाँ स्थिति यह है कि उद्योग में योजनाओं को कार्या-न्वित करने के फलस्वरूप जिन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ गया है (या आगत घट गए हैं) उनके बाजार में माँग से पूर्ति अधिक है। परन्तु, (रुचि और प्रत्याशायें अपरिवर्तित

हैं ऐसा मानकर) क्या यह कहा जा सकता है कि पूर्ति और माँग में केवल यही परिवर्तन होते हैं ? निश्चय ही नहीं। पूंजी के संचयन के फलस्वरूप वे साहसोद्यमी, जिन्होंने उत्पादन-योजनायें बनायी हैं, पहले सोमवार की अपेक्षा अब अधिक संपन्न होंगे—अर्थात् उनकी वास्तविक प्राप्तियों के भावी प्रवाह में वृद्धि हो जायगी। फलतः, यह संभव है कि वे वस्तुओं की अधिक माँग करेंगे और इस कारण कीमतों के कम होने की प्रवृत्ति अवरुद्ध हो उठेगी।

(२) इन शक्तियों के कार्य को पूरी तरह समझने का सबसे अच्छा ढंग यह होगा कि हम कुछ विशिष्ट उदाहरणों की व्याख्या करें।

सर्वप्रथम, उस स्थिति को लीजिए जिसमें पहले सप्ताह में हुए पूंजी-संचयन का रूप ऐसे स्थायी सुधारों के निर्माण का है जिसके कारण दूसरे सप्ताह से उत्पादन में वास्तविक वृद्धि का एक समान प्रवाह असीमित समय तक रहेगा (यथार्थ में यह एक संभव उदाहरण तो नहीं है, परन्तु प्रारंभ के लिए एक सरल उदाहरण अवश्य है)। यदि दूसरे सप्ताह में भी उसी प्रकार का निर्माण होता रहे (याद रहे कि यदि यह निर्माण बंद हो गया तो परिस्थिति में तीव्र परिवर्तन हो जायगा) तब भी पहले सप्ताह और दूसरे सप्ताह की परिस्थितियों में दो अंतर अवश्य होंगे : (१) कुछ वस्तुओं का निर्गत अधिक है (२) जिन साहसोद्यमियों ने नए निर्माण किए हैं वे अधिक समृद्ध स्थिति में हैं। यह मान लें कि यह साहसोद्यमी भविष्य में अपरिवर्तित कीमतों और अपरिवर्तित ब्याज की दर की प्रत्याशा करते हैं तब उनकी आय ठीक उस मात्रा में बढ़ जायगी जो अतिरिक्त उत्पादन का मूल्य है।[२] यदि वे अपनी इस अतिरिक्त आय को पूर्णतया व्यय कर दें तो कुछ वस्तुओं की माँग में ठीक उतनी ही वृद्धि हो जायगी जितनी कुछ अन्य वस्तुओं की पूर्ति में हुई है। फलतः कुछ कीमतें बढ़ेंगी और कुछ गिरेंगी। परन्तु किसी सामान्य कीमत स्तर की कल्पना की जा सकती है जिसे हम अप्रभावित कह सकते हैं।

तथापि, स्यात् व्यवहार में कुछ लोगों की प्रवृत्ति यह होती है कि वे अपनी व्यय-योजनाओं को अपनी आय के अंदर रहने वाले आदर्श के अनुरूप बनाते हैं; स्यात् इसका अर्थ यह है कि (निःसन्देह, यह आवश्यक तो नहीं है) वे अपनी आय-वृद्धि का एक अंश बचायेंगे। यदि वे ऐसा करते हैं, अर्थात्, यदि वे आय-वृद्धि से व्यय-वृद्धि कम करते हैं तो सब बातों को देखते हुए कीमतों की प्रवृत्ति गिरने की होगी। फिर तो, पूंजी संचयन का रूप उपर्युक्त जैसा होने पर हम कह सकते हैं कि जब पूंजीगत वस्तुयें तैयार होती हैं, हमको कीमतों के ह्रास की प्रत्याशा करनी चाहिए।

कुल आय-वृद्धि से कम मात्रा में उपभोग करने की यह प्रवृत्ति एक ऐसा कारण

है जिसके द्वारा पूंजी-संचयन कीमत में गिरावट लाने पर दबाव डाले। किन्तु यह एकमात्र कारण नहीं है।[3]

मान लीजिए कि पूंजी-संचयन का कोई दूसरा ही रूप होता : इस बार हम एक अधिक व्यावहारिक रूप लेंगे। मान लीजिए कि ऐसे नये पूंजीगत मालों का निर्माण होता है जिनका उत्पादन करने में अधिक (कई) सप्ताह लगते हैं और जिनका उस अवधि के बाद ही उत्पादक यंत्रों के रूप में उपयोग किया जाता है। इस परिस्थिति में यदि पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन पहले सोमवार को आरंभ किया गया तो वे दूसरे सोमवार को तैयार नहीं होंगी और इसलिए दूसरे सोमवार को वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि नहीं होगी। तब भी दूसरे सप्ताहों में साहसोद्यमी की आय कम से कम उस मात्रा में तो बढ़ ही जायगी जो सप्ताह में हुए निर्माण के मूल्य के ब्याज के बराबर है। उनकी परिसम्पत्ति का मूल्य नए निर्माण की मात्रा के बराबर बढ़ जायगा और (यदि उनकी कीमत संबंधी प्रत्याशायें अपरिवर्तित रहें) तो बिना अपने को गरीब बनाए वे ब्याज रूपी इस वृद्धि के कम से कम एक अंश के बराबर अधिक उपभोग करने की प्रत्याशा कर सकते हैं।[४] अतः यह असंभव नहीं है कि इनके व्यय बढ़ेंगे। क्योंकि व्यय-वृद्धि के बराबर उत्पत्ति-वृद्धि नहीं है अतएव सम्पूर्ण प्रभाव कीमतों के बढ़ाने की प्रवृत्ति रखेगा।

अस्तु, हम आगे चलें। मान लीजिए पहले सोमवार को नए पूंजीगत मालों का उत्पादन आरम्भ करने के स्थान पर वह उत्पादन लगभग पूरा हो गया होता जिससे दूसरे सप्ताह में उनका उपयोग उत्पादन-यन्त्रों के रूप में किया जाता। तब तो दूसरे सप्ताह में निर्गत की अधिक वृद्धि होगी और साहसोद्यमियों की आय में भी; परन्तु आय-वृद्धि निर्गत-वृद्धि की अपेक्षा बहुत कम होगी क्योंकि उत्पादकों की बढ़ी हुई प्राप्तियों को पहले से ही बहुत कुछ अपहरित कराया जा चुका है। यदि वे अपनी आय-वृद्धि को पूर्णतया व्यय कर दें तब भी कीमतों में गिरावट की प्रवृत्ति होगी; ऐसा उस हालत में भी होगा यदि तुरंत ही उसी प्रकार के पूंजीगत मालों के अधिक निर्माण का कार्य पुनः आरम्भ कर दिया जाय।

यह भी केवल एक विशिष्ट दशा है, परन्तु इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह आवश्यक नहीं है कि निर्गत-वृद्धि और आय-वृद्धि में पूर्ण अनुरूपता हो। पूंजी-संचयन के प्रक्रम में जब निर्माण-अवधि लम्बी होती है और जब आगत-प्रसरण के काफी समय बाद निर्गत-प्रसरण होता है तब निगत-वृद्धि से पर्याप्त पहले आय-वृद्धि होगी। इसकी व्यय पर क्या प्रतिक्रिया होगी, यह निःसन्देह इस पर निर्भर होगा कि अपनी व्यय-आयोजनाओं को बनाने के संबंध में जनता की क्या आदतें हैं (और इस पर भी, कि व्यवहार में कम्प-

नियों की लाभांश-नीति क्या है)। यह संभव है कि जनता अपनी बचत को अधिक निर्गत के रूप में देखने के पश्चात् ही अपने व्यय को बढ़ाना चाहे। खातों के हिसाब से भले ही यह ध्येय व्यवहार में पूरा हो जाय (सामाजिक दृष्टिकोण से ऐसा होना निश्चय ही अति वांछनीय है) किन्तु वैयक्तिक दृष्टिकोण से ऐसे पर्याप्त तर्क नहीं मिलते हैं जिनके आधार पर हम यह कह सकें कि ऐसा होगा। स्वाभाविक तो यह प्रत्याशा होगी कि सक्रिय-विनियोग के समय में व्यय-वृद्धि होगी। व्यय-वृद्धि उस समय होगी जब पूंजीगत-मालों का निर्माण हो रहा हो : फलतः जब निर्गत-वृद्धि फलीभूत होगी तब उसके मंदीजनक प्रभाव को रोकने के लिए कुछ नहीं बचेगा।

जहाँ तक निगत-वृद्धि के कारण होने वाली प्राप्ति को व्यय बढ़ाने के काम में नहीं लाया जाता, उनसे या तो प्रतिभूतियाँ खरीदी जायंगी (या ऋण अदा किए जायेंगे) या मौद्रिक-जमा बढ़ जायेंगी। ऐसा तर्कयुक्त लगता है कि उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार के अन्तर्गत एक सीमा तक बचत-प्रक्रम (जैसा यह वास्तव में है) दिखा देगा।[१] चाहे वह कोई भी प्रकार हो, यह पिछले अध्याय में दिये नियम लागू होंगे। जब लोग वस्तुओं की माँग घटाकर प्रतिभूतियों की अधिक माँग करेंगे (वस्तुओं की अधिक पूर्ति का प्रभाव मांग का कम होने सदृश होता है तब वस्तुओं की कीमतें गिरेंगी और ब्याज दर भी; जब वस्तुओं के स्थान पर मुद्रा की माँग होगी तो कीमत अवश्य गिरनी चाहिए, यद्यपि, स्यात् (कम से कम आरंभ में) ब्याज की दर में वृद्धि होगी।

निःसन्देह, यह याद रहे कि यह संभव कार्यशील प्रभावों में से केवल एक कार्यशील प्रभाव है। यह संभव है कि विपरीत दिशा में कार्यशील अन्य प्रभावों द्वारा इसका आसानी से निराकरण हो जाय। सदा की भांति हम यह मानकर चल रहे हैं कि अन्य बातें समान हैं। यों तो उत्पादन-प्रक्रमों की पूर्ति के कारण होने वाली निर्गत-वृद्धि का प्रभाव कीमतों को गिराना होता है; किन्तु यदि साथ ही साथ कोई ऐसी शक्ति क्रिमाशील है जो सामान्यतया कीमतों को बढ़ाती है दो उक्त प्रभाव का निराकरण हो सकता है।

दूसरी ओर यह नहीं मानना चाहिए कि कीमत में होने वाली गिरावट का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह बिल्कुल सीधा है अर्थात् केवल उसी उत्पाद की कीमत गिरेगी जिसका निर्गत बढ़ा है और अन्य कीमतें अछूती रहेंगी। इस बात की पर्याप्त संभावना है कि अन्य कीमतें भी गिरेंगी। संपूर्ण निकाय में परस्पर प्रतिस्थापन-संबंधों की सामान्य प्रमुखता के कारण, (यह एक ऐसी परिस्थिति है जिससे हम अब तक पूर्ण-परिचित हो चुके हैं), किसी एक वस्तु से हटकर मुद्रा की तरफ माँग के बढ़ने पर, सामान्यतः अन्य कीमतें भी घटेंगी। यदि यादृच्छिक रूप में किसी अन्य कीमत को

लें, तो संभावना बढ़ने के स्थान पर उसके गिरने की अधिक है। यदि माँग प्रतिभूतियों के पक्ष में हट गई है तो प्रतिभूतियों की कीमतों की अपेक्षा अन्य कीमतों के गिरने की संभावना है। उदाहरणार्थ, यदि ब्याज की दर में पर्याप्त कमी हो जाय तो यह संभव है कि अन्य कीमतों की प्रवृत्ति गिरने की न हो। परन्तु यदि ब्याज की दर की कमी काफी नहीं है, अथवा, यदि यह कमी इतनी अपर्याप्त है कि वस्तुओं की माँग अधिक नहीं बढ़ती, तब यह संभव है कि उस वस्तु की , जिसका निर्गत बढ़ा है, कीमत के साथ साथ अन्य वस्तुओं की मौद्रिक कीमतें भी गिरेंगी। सब बातों को ध्यान में रखकर हम कहेंगे कि इसी परिणाम की अधिक संभावना है।

यदि मौद्रिक मजदूरी लोचशील है तो उनके गिरने की विशेष संभावना होगी; किन्तु मौद्रिक मजदूरी की अलोचशीलता को ध्यान में रखकर प्रथम प्रभाव यह होगा कि बेरोजगारी में वृद्धि होगी।

(३) उन उदाहरणों में, जिनका अध्ययन हम पिछले कुछ अध्यायों में कर चुके हैं और जहाँ कीमत प्रत्याशायें अतिलोचशील हैं, उपर्युक्त कीमतों के ह्रास का प्रभाव, यदि उसके रोकने का प्रयत्न न किया गया, अति भयावह हो सकता है। यदि हम कम पराकोटि के उदाहरणों को भी लें, जहाँ जनता अपनी प्रत्याशाओं को अधिक धीरे-धीरे समायोजित करती है, तब भी उक्त परिवर्तन का प्रभाव मौद्रिक मजदूरी की लोचहीनता के कारण रोजगार पर भयावह रूप में पड़ सकता है। तथापि इस सब का यह अर्थ नहीं है कि, पूंजी-संचयन अवांछनीय है भले ही उसके कुछ प्रभाव अच्छे न हों।

जब हम मालों और सेवाओं की सापेक्ष कीमतों में होने वाले परिवर्तनों, जो पूंजी-संचयन के कारण हुए हैं, पर विचार करते हैं (यही सापेक्ष कीमतें वास्तविक आयों को निर्धारित करती हैं, और आर्थिक-कल्याण की दृष्टि से वास्तविक आय ही महत्व-पूर्ण है) तब सभी संभावनाओं को देखते हुए निश्चय ही एक भिन्न चित्र हमारे सामने आता है। आइए, हम यह मान लें कि प्रत्याशाओं में इतनी पर्याप्त दृढ़ता है कि निकाय की स्थिरता बनी रहे और तब यह विचार करें कि पूंजी-संचयन के प्रक्रम का वास्तविक मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ेगा। स्थैतिक दशा से आरंभ करना सुविधाजनक होगा और तुलना के लिए इन स्थैतिक दशाओं को मानना भी सुविधाजनक है। संचयन-प्रक्रम के प्रथम चरण में जब नये पूंजीगत माल निर्मित किए जा रहे हैं, परन्तु जब उनका निर्माण पूरा नहीं हुआ है, तब उन साधनों की माँग बढ़ जाती है जिनकी उन पूंजीगत मालों को बनाने के लिए आवश्यकता है। अधिकांश में यह साधन श्रम ही होगा; अतः स्थैतिक दशाओं की तुलना में अब श्रम की माँग अधिक होगी। इसका वास्तविक मज-

दूरी-दर पर प्रभाव यह इस बात पर निर्भर करेगा कि जिन विकल्पों को विस्थापित करके श्रम की माँग बढ़ी है उनका स्वरूप क्या है। यदि इस माँग की वित्त-व्यवस्था उपभोग पर किए गए व्यय को कम करके (बचत द्वारा) की गयी है तो यह प्रायः निश्चित है कि श्रमिकों को लाभ होगा, क्योंकि इस परिवर्तन का अर्थ है, उपभोग वस्तुओं की अपेक्षा श्रम की माँग को अधिक करना—और इसलिए उपभोग-मालों के पदों में श्रम की कीमत अर्थात् वास्तविक मजदूरी बढ़ जानी चाहिए। तथापि हमको कुछ ध्यान इस बात पर भी देना चाहिए कि कहाँ तक बचत करने वालों द्वारा मुक्त किए गए उपभोग-माल मजदूरों द्वारा इच्छित उपभोग-मालों के अच्छे प्रतिस्थापन्न हैं।[६] वे जितने अधिक उत्तम प्रतिस्थापन्न होंगे उपभोग-मालों के पदों में मजदूरों की वास्तविक मजदूरी उतनी अधिक बढ़ेगी।

यदि श्रम की माँग की वित्त-व्यवस्था अन्य उपायों से की गयी है—यथा, यदि प्रारंभिक परिवर्तन स्वरूप श्रम की माँग प्रतिभूतियों के पदों में अधिक की गयी है—तब भी यह मान्यता बनी रहती है कि उपभोग-मालों की कीमतें श्रम की कीमत की अपेक्षा कम बढ़ेंगी और इसलिए अब भी वास्तविक मजदूरी बढ़ जायगी। यदि मौद्रिक मजदूरियाँ दृढ़ हों (तो यह परिणाम कुछ बदल जायगा; उस दशा में उपभोग वस्तुओं की कीमत बढ़ने के फलस्वरूप वास्तविक मजदूरियाँ घट जायंगी; परन्तु तब भी रोजगार बढ़ जाने के कारण श्रमिक वर्ग को लाभ होगा।)

पूंजी-संचयन-प्रक्रम के मध्य-चरण में जब साहसोद्यमी के व्यय (और सामान्यतः लाभ पानेवालों के व्यय) वस्तुओं के अतिरिक्त-निर्गत के पूर्व ही होते हैं, तब श्रमिक की स्थिति में होने वाले सुधार की प्रवृत्ति विपरीत हो उठेगी। क्योंकि अब प्रतिभूतियों की अपेक्षा उपभोग-मालों की माँग अधिक होगी और फलतः अन्य कीमतों की अपेक्षा उपभोग-मालों के कीमतों की बढ़ने की संभावना है। इस प्रकार अब भी कीमतों की बढ़ने की प्रवृत्ति है और रोजगार भी प्रसरित होता रह सकता है (यदि मौद्रिक मजदूरियाँ दृढ़ हैं); परन्तु प्रथम चरण की तुलना में अब वास्तविक मजदूरी की प्रवृत्ति निश्चय ही गिरने की होगी।

अन्तिम चरण में, जब उपभोग-मालों का निर्गत साहसोद्यमी द्वारा किए गए व्यय से अधिक होगा (वह स्थिति जब कीमतें गिरने लगेंगी और जब रोजगार कम किया जा सकता है) तो प्रथमतः यह आवश्यक मालूम पड़ता है कि वास्तविक मजदूरी पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। परिवर्तन का अब अर्थ होगा, प्रतिभूतियों की अपेक्षा उपभोग-माल की पूर्ति में वृद्धि; फलतः अन्य कीमतों की अपेक्षा (अतएव मजदूरी की अपेक्षा) उपभोग-मालों की कीमतें गिर जायंगी। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि यदि मौद्रिक

मजदूरी लोचशील होगी तब भी वास्तविक मजदूरी बढ़ेगी; यदि मौद्रिक मजदूरी दृढ़ होगी तो वास्तविक मजदूरी और अधिक बढ़ेगी, परन्तु इसके साथ बेरोजगारी भी बढ़ेगी।

तथापि हमारा यह निष्कर्ष एक महत्वपूर्ण मर्यादा से सीमित है। हम अध्याय १७ में देख चुके हैं कि जब साहसोद्यमी किसी संचय-प्रक्रम को लेते हैं, अर्थात्, जब वे अपनी उत्पादन-योजना का आरोहण करते हैं, उनकी योजनाओं के प्रारंभ में होने वाली आगत-वृद्धि के साथ साथ यह भी सत्य होगा कि न केवल बाद के चरण में उत्पत्ति में वृद्धि होगी अपितु बाद के चरण में आगत में ह्रास होगा। स्यात् इसका यही अर्थ निकालना चाहिए कि प्रारंभिक चरणों के बढ़े हुए आगत की अपेक्षा बाद के चरणों में आगत के कम होने की संभावना तो है ही, साथ में यह भी संभव है कि बाद का आगत उससे भी कम हो जो दशाओं के स्थैतिक होने पर होता। कम से कम यही स्थिति होगी, यदि साधारण प्रतिस्थापन-संबंध बराबर बने रहें; परन्तु यदि प्रारंभिक आगत और बाद के आगत संपूरक सिद्ध हुए (और यह असंभव नहीं है कि वे ऐसे हों) तो हो सकता है कि नये यंत्रों के कारण, उनको चलाने के लिए, श्रम की माँग की वृद्धि बनी रहे, और श्रम की माँग उस स्तर की अपेक्षा ऊपर उठती जाय, जिसपर वह होती, यदि पूर्ण स्थैतिक दशायें बनी रहतीं। किन्तु किसी भी हालत में यह अति असंभव है कि प्रारंभिक और बाद के आगत इतने संपूरक हों कि वे एक ही अनुपात में बढ़ें; और यही आवश्यक भी है ताकि प्रारंभिक चरण की अपेक्षा बाद के चरण में श्रम की माँग न घटे।

निर्गत की वृद्धि और आगत में कमी (यथा श्रम की माँग में कमी) का वास्तविक-मजदूरी पर पड़ने वाला संयुक्त प्रभाव उस प्रभाव से अति भिन्न है जो केवल उत्पादन में वृद्धि होने पर होता। निःसन्देह कीमतों पर पड़ने वाला ह्रासमान प्रभाव ही तीव्र-तर हो जायगा (किन्तु इस संबंध में हमारी पूर्वोक्त व्याख्या अक्षुण्य रहेगी); परन्तु वास्तविक मजदूरी पर पड़ने वाला प्रभाव अब अपेक्षाकृत कम अनुकूल होगा। संचय-प्रक्रम के अंतिम चरण में कीमतों का परिवर्तन वैसा ही होगा जैसा तब होता जब माँग कुछ विशेष प्रकार के मालों और सेवाओं से (जिनमें श्रम और वे वस्तुएं, जिनका उत्पादन सरल हो उठा है, दोनों ही शामिल हैं) हटकर प्रतिभूतियों की ओर स्थानान्तरित हो जाती। यदि मौद्रिक मजदूरियाँ लोचशील हैं तो उन चीजों के पदों में वास्तविक मजदूरी कम हो जायगी जिनका निर्गत पूंजी-संचयन के कारण सुलभ नहीं हो उठा; और यह आवश्यक नहीं है कि वास्तविक मजदूरी उन चीजों के पदों में भी बढ़े जिनका निर्गत सुलभ हो उठा है। यदि मौद्रिक मजदूरी दृढ़ है तो वास्तविक मजदूरी

बढ़ेगी, किन्तु तब बेरोजगारी में तीव्र वृद्धि होगी।

यह एक ऐसा परिवर्तन है जिसकी हमें, दूसरे से तीसरे चरण में जाने के साथ, प्रत्याशा करना चाहिए। किन्तु यदि हम संचयन के अन्तिम चरण की तुलना उससे तुरन्त पूर्व के चरण से न करके उन स्थैतिक दशाओं से करें जिनसे हमने आरंभ किया था तो हम प्रक्रम-परिस्थिति को और भली प्रकार से समझ सकेंगे। उस प्रारंभिक-स्थिति की तुलना में यह तनिक भी आवश्यक नहीं है कि श्रम की माँग कम हो; कम तो यह तब होती जब श्रम के प्रारंभिक आगत और अंतिम आगत प्रतिस्थापन्न हों: परन्तु यदि वे संपूरक हैं, तो ऐसा नहीं होगा। जिस परिस्थिति में प्रारंभिक और बाद के आगत प्रतिस्थापन्न होते हैं उसका वर्णन इस तरह भी किया जा सकता है कि उसमें नए यंत्र, जिनका निर्माण किया गया है, श्रम-निराकरण करने वाले हैं; [७] इस दशा में पूरे प्रक्रम के फलस्वरूप उस दशा की अपेक्षा श्रम की माँग में कमी होती है जो पूंजी-संचयन न होने की अवस्था में होती। वह दशा, जिसमें प्रारंभिक और बाद के श्रम-आगत संपूरक हैं, उसी के समान है जिसमें नए यंत्रों को चलाने के लिए अतिरिक्त श्रम की आवश्यकता होती है और जहाँ यंत्रों को काम में लाने पर निकाले गए श्रम से यह अतिरिक्त श्रम अधिक होता है।

इस संपूरकता वाले उदाहरण में पूंजी-संचयन-प्रक्रम का अंतिम प्रभाव यह होगा कि कुछ वस्तुओं की पूर्ति बढ़ जायगी और श्रम की मांग भी। यदि हम यह मान लें कि कुल रोजगार अंत में उतना ही है जितना आरंभ में था तब भी सभी वस्तुओं के पदों में, विशेषत: उन वस्तुओं के पदों में जिनका उत्पादन बढ़ गया है, वास्तविक मजदूरी बढ़ जायगी। प्रतिस्थापन वाले (श्रम निराकरण वाले) उदाहरण में श्रम की मांग घटती है लेकिन कुछ वस्तुओं की पूर्ति अब भी बढ़ती। अत: अन्य वस्तुओं के पदों में वास्तविक मजदूरी घटेगी; किन्तु इन वस्तुओं के पदों में वास्तविक मजदूरी अब भी बढ़ सकती है (यदि नए यंत्रों के कारण श्रम का अतिनिराकरण न हो)।

अत: दीर्घकाल में भी पूंजी का संचयन अनिवार्य रूप से श्रम के हितों के अनुकूल नहीं है; किन्तु व्यवहार में हम दो कारणों से यह प्रत्याशा कर सकते हैं कि सामान्यत: प्रभाव अनुकूल होगा। प्रथम, जैसा हम उत्पत्ति-सिद्धान्त-संबंधित अपनी पूर्वोक्त व्याख्या में देख चुके हैं, हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि उसी उद्योग में काम लाए जाने वाले कारकों के मध्य संपूरक संबंध के प्रमुख होने की प्रवृत्ति होती है।[८] ऐसा कोई तर्क नहीं मिलता जिससे हम कहें कि यह प्रवृत्ति प्रस्तुत दशा में नहीं होगी। इसलिए यह प्रत्याशा करना तर्कयुक्त न होगा कि नयी पूंजी के कारण सामान्यत: श्रम का निराकरण होगा। दूसरी बात स्यात् अधिक महत्वपूर्ण है। यदि नयी पूंजी श्रम का निरा-

करण करने वाली भी हो तब भी स्यात् यह उन मालों की अपेक्षा वास्तविक मजदूरी को बढ़ा देगी जिनका उत्पादन सुलभ हो गया है। यदि कई प्रकार के नये पूंजीगत मालों का संचयन साथ साथ चलता है तब कई प्रकार के उपभोग-मालों का उत्पादन सुलभ हो जायगा। स्यात् तव जिन मालों की अपेक्षा वास्तविक मजदूरी बढ़ जायगी उनकी तुलना में वे माल कम महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे जिनकी अपेक्षा वास्तविक मजदूरी गिर जायगी। निःसन्देह व्यवहार में यही मुख्य कारण है कि पिछली शताब्दी में होने वाले पूंजी-संचयन श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर के इतने अनुकूल सिद्ध प्रतीत होते हैं। इस तथ्य का कि जिन चीजों का उत्पादन सुलभ हुआ है वे विशेषतः जन-साधारण के उपभोग के पदार्थ रहे हैं; अनुकूल दिशा में ही प्रभाव पड़ा है। यदि पूंजी-संचयन के फलस्वरूप कुछ मालों के पदों में वास्तविक मजदूरी गिरी है तो वे ऐसे माल हैं जिनका मजदूर के लिए अधिक महत्व नहीं है।[१]

अध्याय २३ की टिप्पणी

पूंजी संचय प्रक्रम के अंतर्गत आय

मान लीजिए कि एक साहसोद्यमी ऐसी स्थिति में है कि यदि वह नए पूंजीगत मालों का निर्माण नहीं करता तो वह यह आशा कर सकता है कि उसे असीम समय तक वास्तविक प्राप्तियों का एक समान प्रवाह अ, अ, अ,.....मिलेगा। तब (यह मान कर कि वह अपरिवर्तित कीमतों और अपरिवर्तित ब्याज की दर की अपेक्षा करता है) निधि 'अ' किसी भी परिभाषा के अनुसार उसकी आय होगी। अब मान लीजिए कि वह पहले 'र' सप्ताहों तक इन प्राप्तियों में से 'ब' निधि ऐसे नए पूंजीगत यंत्रों के निर्माण में लगाता है जिनसे (र+१) वें सप्ताह से आरंभ करके अतिरिक्त निर्गत (स) के अपरिवर्तित प्रवाह की अपेक्षा करता है। उसकी नयी पूर्व-अनुमानित वास्तविक प्राप्तियों का प्रवाह अब निम्न प्रकार से होगा : अ-ब, अ-ब......, अ-ब, अ-ब, अ+स, अ+स,........। इससे प्राप्त आय उस आय के बराबर है जो तब मिलती जब अपरिवर्तित प्रवाह अ-ब होता और 'र' सप्ताह के बाद आरंभ होकर ब+स का अतिरिक्त अपरिवर्तित प्रवाह भी मिलने लगता। इस प्रकार उसकी नयी आय होगी।

$$य_0 = (अ - ब) + (ब + स)\frac{१}{(१+इ)^र}।$$

दूसरे सप्ताह में उसकी आय वह होगी जो अपरिवर्तित प्रवाह अ-ब तथा अब र-१ सप्ताह के बाद आरंभ होने वाले अतिरिक्त अपरिवर्तित प्रवाह ब+स से मिलेगी। इस प्रकार।

$$य_1 = (अ - ब) + (ब + स)\frac{१}{(१+इ)^{र-१}}।$$

अब उसे ऐसा निर्माण करना बिल्कुल उपयुक्त नहीं लगेगा यदि ऐसे निर्माण के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली आय कम से कम उस आय के बराबर न हो जो उसे बिना निर्माण के ही प्राप्त होती। अतएव $य_0$, अ से कम नहीं हो सकता। मान लीजिए, और

यह केवल सरलता के लिए है अन्यथा इससे तर्क में कोई अन्तर नहीं आता, कि $य_{०} = अ$।

त, ब, $अ = अ - ब + \frac{ब + स}{(१ + इ)^{र}}$ $\therefore ब + स = ब(१ + इ)^{र}$।

$$\therefore य_{१} = (अ - ब) + ब(१ + इ) = अ + इ ब$$

इसी तरह,

$$य_{२} = (अ - ब) + ब(१ + इ)^{२} = अ + २ इ ब$$

(यहां ब्याज की दर साधारण मान ली गयी है),

पूंजीगत माल के कारण जिस सप्ताह में उत्पादन आरंभ होता है उससे पहले वाले सप्ताह में,

$$य_{र - १} = (अ - ब) + ब(१ + इ)^{र - १} = अ + (र - १) इब$$

(साधारण ब्याज-दर मानते हुए) इसके बाद के सप्ताह में,

$$य_{र} = (अ - ब) + ब(१ + इ)^{र} = अ + र इ ब$$

(साधारण ब्याज-दर मानते हुए)

इस प्रकार इन अंतिम दो सप्ताहों के बीच आय-वृद्धि लगभग 'इ ब' होगी; किन्तु निर्गत की वृद्धि 'स' है जो ब $(१ + इ)^{र} - ब$ के बराबर है। साधारण ब्याज मानकर यह लगभग 'र इ ब' है।

इस प्रकार निर्माण-काल जितना अधिक होगा आय-वृद्धि के कारण होने वाली व्यय-वृद्धि की अपेक्षा निर्गत-वृद्धि उतनी ही अधिक महत्वपूर्ण होगी। यह प्रत्याशा की जा सकती है कि जिस समय निर्गत-वृद्धि प्राप्त होगी, व्यय-वृद्धि उसे छा लेगी।

अध्याय २४

उपसंहार—व्यापार चक्र

(१) अपने प्रस्तुत अध्ययन-कार्य की समाप्ति पर यह इच्छा होती है कि सिंहावलोकन करके समस्याओं के संबंध में मोटे तौर पर अनेक सामान्य विचार प्रकट किये जायँ। एक बार मन कहता है—ऐसा करो। जिस आर्थिक दृष्टिकोण के मध्य हममें से अधिकांश शिक्षित हुए हैं, वह स्थैतिक सिद्धान्त पर आधारित था; परन्तु अब जब प्रावेगिक सिद्धान्त की रूपरेखा को समझ पाए हैं और वह स्थैतिक सिद्धान्त से इतना अधिक भिन्न है तो यह हमारे सामान्य दृष्टिकोण में परिवर्तन ला ही देगी। कभी न कभी इस अंतर का मूल्यांकन किया जायगा और नए विचारों के व्यावहारिक परिणामों को स्पष्ट किया जायगा। केन्स तथा उनके अनुयायियों ने ऐसा प्रयत्न किया है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हम उनसे पूर्णतया सहमत हों क्योंकि उनकी कृतियों में, पूंजी की जो कल्पना निहित है उसमें प्रावेगिक सिद्धान्त के आधार हेतु आवश्यक तत्वों के अतिरिक्त अन्य तत्वों का भी समावेश है। आवश्यकता तो इस बात की है कि यह स्पष्ट किया जाय कि दृष्टिकोण में निम्नतम कितना परिवर्तन करना चाहिए। यद्यपि मैंने यह उत्तर देने के लिए सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, तथापि मैं इसे यहां देने का साहस नहीं कर सकूंगा।

इसके कई कारण हैं। प्रथम, यह पुस्तक काफी बड़ी हो चली है और इसको लिखने में भी अधिक समय लग चुका है। मुझे डर है कि इसको पढ़ने में पाठक का भी काफी समय लग गया होगा और उसके धैर्य से अधिक मांग करना स्यात् ही उचित है। द्वितीय, इस पुस्तक में अपनाई हुई विश्लेषण-रीतियों की निजी विशेषतायें हैं। सामान्यतः समकालीन अर्थशास्त्रियों और विशेषतः केम्ब्रिज नगर की, जहां यह पुस्तक लिखी गयी है, रीतियों से ये भिन्न हैं अतः मैं अपनी कृतियों के छोटे-छोटे भागों को समालोचना और सम्मति के लिए दूसरों को नहीं दे पाया हूँ, यद्यपि यहां अति सराहनीय आलोचना उपलब्ध है। अतः प्रकाशन के पश्चात् ही आलोचना प्राप्त होगी, पहले

नहीं; और विशदतम समस्याओं पर कुछ कहने से पहले मैं इन आलोचनाओं का लाभ उठाना चाहूँगा।

अंत में, मेरे विचार में, केवल सिद्धान्त के बल पर आवश्यक प्रकार के सार्वभौमिक दर्शन का सृजन संभव नहीं है। यह विशेष रूप से आवश्यक है कि प्रावेगिक प्रक्रमों के सिद्धान्तों का अध्ययन अपने पूंजीवाद के विकास के ऐतिहासिक ज्ञान की पृष्ठभूमि में किया जाय; तभी हम ऐसे अर्थशास्त्रीय दर्शन पर पहुँच सकते हैं जो संतोषजनक हो। स्पष्ट है कि ऐसा प्रयत्न संक्षेप में अथवा अनेक नए विचारों को लाये बिना नहीं हो सकता है; परन्तु ऐसे विचारों को इस प्रकार की पुस्तक में जिसको लिखने की मैंने चेष्टा की है, स्थान देना अनुपयुक्त होगा।

अतः मैं कुछ विचारों को स्थूल रूप से व्यक्त करके संतोष कर लूंगा।

स्यात् पाठक की यह धारणा बन गई हो (जैसा कि पुस्तक लिखते समय अवश्यमेव मेरी बनी थी) कि पूंजी-संचयन-प्रक्रम की घटना (जैसी कि हमने उसकी पिछले अध्यायों में व्याख्या की है) और व्यापार-उत्कर्ष के समय पाई जाने वाली घटना में निकट सादृश्य है। अपने सिद्धान्त के बल पर हम यह तो नहीं कह सकते कि पूंजी-संचयन प्रक्रम को सदैव एकसी अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है और न ही यह, कि व्यापारिक-उत्कर्ष सदैव एक सी अवस्थाओं से गुजरता है। परन्तु दोनों में इतनी निकट समानता है कि यह कहना न्यायोजित लगता है कि व्यापारिक-उत्कर्ष तीव्र पूंजी-संचयन-काल को छोड़ अन्य कुछ नहीं है।

यदि कोई शक्ति (कौन सी शक्ति, यह बात हम अभी छोड़ दें) साहसोद्यमियों को विनियोग-दर बढ़ाने के लिए प्रेरित कर दे तो हम देख चुके हैं कि घटनायें कैसे घटेंगी। सर्वप्रथम उपक्रम का समय होगा। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण (स्यात्) यही होता है कि उत्पादन-कारकों की मांग में कुछ वृद्धि होती है और स्यात् मुद्रा की मांग में भी। यदि (जैसा उत्कर्ष के आरंभ में होता है) समाज में बेकार श्रम एवं मुद्रा दोनों ही अत्यधिक मात्रा में पहले से ही हैं तो उक्त वृद्धियों का सामान्य कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। और व्यवहार में व्याज-दरें भी अप्रभावित रहेंगी। सर्वाधिक संवेदनशील व्यापारियों की प्रत्याशाओं में होने वाले परिवर्तन के प्रत्यक्ष फलस्वरूप प्रभावित कुछ कीमतें ही बदलेंगी, यथा, सामान्य शेयरों की कीमतें।

अगले चरण में, जब नए पूंजीगत मालों का भौतिक निर्माण प्रारंभ किया जाता है, कारकों की मांग में काफी अधिक वृद्धि होती है। इससे पहले तो बेकारी घटती है। इसके साथ ही साथ अति सुग्राही वस्तुओं की कीमतों में सामान्य वृद्धि होने की प्रवृत्ति होती है; और कुछ सीमा तक हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कुछ उद्योगपतियों

के पास लोचयुक्त प्रत्याशाओं को विकसित करने का समय रहा हो (कम से कम भविष्य में समय की उस अवधि तक जो उत्पादन-प्रक्रमों के उन प्रकारों से मुख्य रूप से संगत है जिसमें वे प्रयुक्त हैं); यह कीमत प्रत्याशाओं की वृद्धि के कारण बेरोजगारी में काफी अनुषंगी ह्रास ला देगा।

इस प्रकार व्यापार उत्कर्ष आगे विकसित होने लगता है, किन्तु अब यहां से आगे के रास्ते अलग हो जाते हैं। सर्वप्रथम, यह संभव है, कि हम तृतीय चरण की ओर बढ़ें जिसकी विशेषता प्रत्याशाओं की लोच की क्रमश: वृद्धि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आशा वृत्ति पूरे समाज में फैल जाती है। जैसे समय बीतता जाता है, अधिक से अधिक कीमत-प्रत्याशायें लोचदार हो जाती हैं, अतः प्रक्रमों की आगे की श्रेणियां प्रारंभ हो जाती हैं और आगे बढ़ती हैं। बेरोजगारी आगे और भी घटती है; किन्तु एक स्थिति के बाद मजदूरों की (या कम से कम उनके श्रम-संघ के प्रतिनिधियों की) प्रत्याशायें भी लोचदार हो जाती हैं और मजदूरी बढ़ने लगती है। उत्कर्ष तेजी से प्रसरित और तीव्र होता जाता है। किन्तु अब कई तरह से यह कठिनाई में पड़ सकता है।

एक तरफ, इस तरह का बढ़ा हुआ कार्य मुद्रा की बढ़ी हुई माँग उत्पन्न कर देता है। एक स्थिति तक इसे लगभग बिना किसी परेशानी के पूरा करना संभव होगा; किन्तु यदि उत्कर्ष अनियंत्रित रूप से बढ़ता रहा तो ऐसी स्थिति कुछ समय बाद समाप्त हो जाती है। तब मुद्रा-अधिकारी को यह सोचना पड़ेगा कि वह अनिश्चित रूप से साख-प्रसार के लिए तैयार है या नहीं। यदि वह मुद्रा की पूर्ति के प्रसार पर किंचित् भी रोक लगाता है तो ब्याज की दर बढ़ने लगेगी। यह भी संभव है कि मुद्रा-अधिकारियों द्वारा कोई कदम उठाने से पहले ही ब्याज की दीर्घकालीन दर बढ़ जायगी; क्योंकि ब्याज की दीर्घकालीन दर ब्याज संबंधित प्रत्याशाओं का प्रतिनिधित्व करती है, अतः यदि जनता को इस संभावना का किंचित् भी आभास हुआ कि मुद्रा-अधिकारी नियंत्रण संबंधी कदम उठा सकते हैं तो ब्याज की दीर्घकालीन दर की प्रवृत्ति बढ़ने की हो जायगी।[1] तथापि जब तक कि अन्य कारणों के वश उत्कर्ष का ह्रास पहले से न होने लगे, यह संभव नहीं प्रतीत होता कि ऐसे डर के कारण होने वाली दीर्घकालीन ब्याज-दर की वृद्धि के फलस्वरूप प्रसरण किसी महत्वपूर्ण सीमा तक नियंत्रित हो उठेगा।

इन कारणों में से एक कारण यह हो सकता है कि व्यापारी वर्ग को यह आभास हो कि साधारणतया उत्कर्ष जितनी अवधि तक रहता है वह लगभग पूरी हो चुकी है; इस प्रकार समय गुजरने के कारण ही उनकी प्रत्याशायें ह्रासमान हो सकती हैं। यदि कोई समाज व्यापार-चक्र के प्रति अत्यन्त सचेत हो तो भी तेजी के अधिक

दिन बने रहने की वात को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता है। इस संबंध में अधिक महत्वपूर्ण संभावना यह है कि समाज के कुछ महत्वपूर्ण वर्गों की प्रत्याशायें अति-लोच-हीन सिद्ध हों और फलतः, साधारणतया, वस्तुओं की माँग उतनी तेजी से न बढ़े जितनी तेजी से कुछ अति-संवेदनशील व्यक्ति उसकी वृद्धि की प्रत्याशा करते थे। अतः संभव है कि कुछ काल बाद ऐसे व्यक्तियों को अपनी प्रत्याशाओं को नीचे स्तर पर लाने पर बाध्य होना पड़े; किन्तु यदि (जैसा १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के स्थानीय अथवा विशिष्ट प्रकार के उत्कर्ष के संबंध में साधारणतया सत्य था) संवेदनशील और असंवेदनशील व्यक्तियों का भेद भिन्न-भिन्न बैंकिंग-प्रणाली (अर्थात् भिन्न प्रकार की मुद्रा) अपनाने वाले व्यक्तियों में भेद करने के समान है; तो इस कारण उदय होने वाले नियंत्रण को साख-नियंत्रण के रूप में देखा जा सकता है। और यह साख-नियंत्रण इसलिए किया जायगा जिससे भिन्न प्रकार की मुद्राओं को परस्पर एक ही स्तर पर रखा जा सके।

उपरोक्त अवरोध शक्तियों से अत्यन्त भिन्न होने के कारण सबसे महत्वपूर्ण रुकावट उत्पन्न-प्रक्रमों के पूर्ण हो जाने अर्थात् प्रथम चरण में आयोजित-पूंजी-संचयन के अब कार्यान्वित होने पर आ सकती है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि किस प्रकार यह प्रायः निश्चित रूप से ह्रासमान प्रभाव डालता है—यद्यपि निःसन्देह किसी भी चरण में इसका विरोध उन अन्य प्रभावों द्वारा किया जाता है जो प्रसारण की अवस्था लाते हैं। यह कितना शक्तिशाली होगा यह इसपर निर्भर रहता है कि पूंजी-संचयन का स्वरूप क्या है, और विशेषतः उन बाजारों की सुग्राहिता पर जहाँ बढ़ी हुई पूर्ति (या घटी हुई माँग) प्रभाव डालती है।

(३) इस प्रकार कम से कम दो बिल्कुल भिन्न मार्ग हैं जिनसे सामान्य उत्कर्ष का अंत हो सकता है, या तो साख-नियन्त्रण इसे समाप्त कर सकता है या यह स्वयं अपने को समाप्त कर सकती है। जिन उत्कर्षों का हमें ज्ञान है उनको उन्हें समाप्त करने वाले कारणों के अनुसार, मोटे तौर पर वर्गीकृत करना संभव होना चाहिए; किन्तु निःसन्देह हमें इस बात के लिए तैयार रहना पड़ेगा कि वर्गीकरण करना जरा भी सरल नहीं है, क्योंकि, स्यात् अधिकांश मामलों में एक से अधिक कारण महत्वपूर्ण ढंग से क्रियाशील होते हैं। तथापि, कौन सा कारण प्रमुख है, इसका ज्ञान होना स्थिति में बहुत बड़ा अंतर ला देता है। इसके कारण आने वाली मंदी का स्वरूप बहुत कुछ भिन्न हो जाता है।

मंदी का प्रमुख लक्षण भौतिक पूंजी का ह्रास नहीं है (यद्यपि सामान्यतः कुछ ह्रास, मुख्यतः कार्यशील स्टॉक में कमी के रूप में होता है), अपितु संचयन का

समाप्त हो जाना मात्र है। यह अपने में ही एक टिपिकल मंदी को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। इससे प्रत्याशायें नीचे के स्तर पर आ जाती हैं और साधारण शेयरों के दाम तुरंत गिर जाते हैं; वस्तुओं और कारकों की अपेक्षा मुद्रा और निश्चित ब्याज वाली प्रतिभूतियों की माँग की जाती है और फलतः कीमतें गिरने लगती हैं, बेरोजगारी बढ़ती है, तथा (आपत्तिकालीन ऋण लिए जाने के कारण होने वाली मुद्रा की तंगी के कुछ प्रारंभिक काल के पश्चात्) ब्याज की दर में गिरावट आती है। यदि सभी कीमतें एक समान लोचशील होतीं और यदि यही लक्षण कीमतों से संबंधित प्रत्याशाओं के संबंध में भी सही होते तो पूंजी-संचयन की समाप्ति के कारण ही बिना पेंदे की मंदी आती, अर्थात् पूंजीवाद इतना अस्थायी सिद्ध होता कि उसका विघटन हो जाता।

कुछ तो कीमतों की दृढ़ता के कारण, और उससे भी बढ़कर जनता का सामान्य कीमतों में विश्वास होने के कारण उपर्युक्त घटना नहीं घटती। यदि उत्कर्ष के अंतिम चरण में मजदूरी की दरों में तीव्र वृद्धि हुई है तो वह पुनः काफी तेजी से गिर सकती है; किन्तु इसका यह अनिवार्य अर्थ नहीं है कि मजदूरों की प्रत्याशायें स्थायी रूप से लोचशील हो जाती हैं--स्यात् मजदूरी के गिरने का प्रभाव केवल इतना पड़े कि सामान्य कीमतों से संबंधित पुराना विश्वास पुनः जागृत हो जाय। यदि ऐसा विश्वास एक बार पुनर्स्थापित हो गया तो मजदूरी की गिरावट की एक निम्नतम सीमा निश्चित हो उठेगी जिसपर मजदूरियाँ रुकी रहेंगी। इसी प्रकार जब कीमतें एक सीमा तक गिर चुकती हैं तो कुछ साहसोद्यमी (जिनकी प्रत्याशायें कम लोचशील हैं) ऐसे निकल आते हैं जो यह सोचने लगते हैं कि कीमतें अति निम्न सीमा तक गिर चुकी हैं और इसलिए वे, इस विश्वास पर कि भविष्य में कीमतें बढ़ेंगी, अपनी नई उत्पादन योजना को विकसित करते हैं। ऐसी शक्तियाँ मंदी को अवरुद्ध करती हैं और उसको विघटन में परिणत होने से रोकती हैं।

इस सेवा के महत्व को बढ़ाकर आँकना कठिन है; परन्तु तब भी सावधानीपूर्वक हमको इन शक्तियों के स्थायित्व में बहुत अधिक विश्वास नहीं रखना चाहिए और यह नहीं सोचना चाहिए कि वे सदैव इस स्थिति को संभाल लेंगी। उनके कारण केवल साँस लेने भर का मौका मिलता है। इस बीच यदि कोई ऐसी घटना हो गई जिससे स्थिति सुधरने लगे तब तो ठीक है और अच्छा है; परन्तु यदि संचयन-प्रक्रम के पुनः आरंभ करने के लिए उद्यत करने वाली कोई शक्ति न पैदा हुई तो समय व्यतीत होने के साथ साथ स्थायित्व प्रदान करने वाली शक्तियाँ अवश्य क्रमशः कमजोर होती जायेंगी। कम कीमतों का अधिक समय तक बना रहना मानकों को

प्रभावित करेगा और प्रत्याशायें और अधिक नीचे स्तर पर पहुंचेंगी। इस प्रकार पहले से भी अधिक भयानक रूप में मंदी का एक दूसरा चरण आरंभ होगा। क्योंकि विघटन को रोकने वाली शक्तियाँ अब पहले से क्षीण होंगी।

इसीलिए पूर्वगत अपकर्ष का अंत करने वाले कारण का इतना महत्व है। यदि उसका अंत साख-नियंत्रण द्वारा हुआ तब यह संभव है कि उन विनियोग-अवसरों की पूर्ण समाप्ति न हुई हो जिन पर वह आधारित था; अर्थात्, कुछ ऐसे अवसर अब भी उपलब्ध हों जिनसे उत्कर्ष के बने रहने पर लाभ उठाया जाता और जिनको संकट-काल में स्थापित कर दिया गया, किन्तु जिनसे साँस आने के सापेक्ष शांतिकाल में पुनः लाभ उठाया जा सकता है। ऐसे अवसरों से लाभ उठाये जाने पर साँस लेने का काल पुनरुत्थान में परिणत हो जायगा और हमारा व्यापारचक्र पूरा हो जायगा।

यदि पूर्वगत उत्कर्ष का अंत स्वाभाविक कारणों में हुआ हो तो स्थिति बहुत अधिक भयानक है। उस समय ऐसी नितान्त नयी शक्ति की आवश्यकता होती है जो मंदी को पुनरुत्थान की अवस्था में बदल दे और इस प्रकार अनुषंगी मंदी के खतरों को दूर कर दे। अब सोचिए, कौन सी नयी शक्ति संभवतः उपलब्ध होगी।

(४) इस प्रकार एक तरह से हम व्यापार-चक्र के सिद्धान्त तक पहुंच गए हैं। उस सिद्धान्त का अर्थ लगाना और उसका इतिहास के जाने माने तथ्यों से समाधान करना केवल तभी संभव होगा जब हम अनुसंधानों और आविष्कारों द्वारा प्रदत्त विनियोग-अवसरों की पूर्ति पर अधिक जोर दें। मैं इन पदों को अतिव्यापी अर्थ में लिख रहा हूं। आविष्कार के अन्तर्गत न केवल प्रचलित वस्तुओं के उत्पादन के नए ढंग और नयी वस्तु के उत्पादन के ढंग आते हैं वरन् इनके अतिरिक्त रुचियों में होने वाले वे परिवर्तन भी आते हैं जो हमारे अध्ययन के लिए स्वतंत्र परिवर्तन माने जायेंगे, यद्यपि अधिकतर ऐसे रुचि-परिवर्तन के कारणों को आर्थिक क्षेत्र से बाहर स्थिति राजनैतिक, शैक्षिक या जनसंख्या संबंधी आंदोलनों से संबंधित करना सरल होगा। इनमें से कोई भी कारण उस प्रकार की प्रेरणा दे सकता है जिसकी आवश्यकता होती है, यथा, माँग में परिवर्तन (चाहे वह वस्तु 'क' के उपभोग के स्थान पर वस्तु 'ख' के उपभोग होने के रूप में हो) के कारण आगतों की माँग की क्षणिक-वृद्धि करने के लिए पर्याप्त होगा, यदि यह प्रत्याशा की जाय कि उक्त परिवर्तन लगभग स्थायी है। निःसन्देह 'क' उद्योग में श्रम और कच्चे माल की प्रत्यक्ष-माँग घटेगी और यह संभव है कि इस हानि की पूर्ति (या हानि से अधिक की पूर्ति) 'ख' उद्योग की बढ़ी माँग द्वारा न हो; यहाँ पर कोई प्रेरक तत्व नहीं है। किंतु 'ख' उद्योग द्वारा उत्पादन-यंत्रों की माँग की जायगी और दूसरी ओर 'क' उद्योग में प्रयुक्त उत्पादन-

यंत्रों की माँग में कोई विशेष कमी नहीं आयगी। 'क' उद्योग में स्थायी-यंत्र तो पहले से हैं ही, यदि यह मान लें कि उसमें पहले से प्रसार नहीं हो रहा था तो उत्पादन-यंत्रों में केवल प्रतिस्थापन माँग कम हो सकती है; और यदि यह माँग शून्य भी हो जाय तब भी यह कमी उस वृद्धि के बराबर नहीं होगी जो 'ख' उद्योग के उत्पादन-यंत्रों की माँग में होगी। इस प्रकार सामान्यत: आगतों की माँग में अस्थायी-वृद्धि होगी और यह ठीक उसी प्रकार की होगी जिसकी हमें आवश्यकता है।

स्यात् ऐसी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की कल्पना करना संभव है जिसमें आविष्कारों का ऐसा निरन्तर प्रवाह हो कि पूरी व्यवस्था में कोई प्रत्यक्ष घटबढ़ न हो। स्यात् ऐसा संभव हो किन्तु घटबढ़ का न होना भी बहुत खतरनाक है। यथार्थ में यह मानना तर्कयुक्त नहीं है कि आविष्कारों की गति अति निरन्तर होगी; और यदि वह निरन्तर नहीं है तो यही व्यापार चक्र के उदय होने के लिए—यहाँ तक कि निरन्तर रूप में व्यापार चक्र के लिए—पर्याप्त कारण है। जैसा कि हम देख चुके हैं, जब आविष्कारों की दर औसत से अधिक हो जाती है तो आर्थिक क्रियाओं का एक प्राथमिक प्रसार होता है और तत्पश्चात् एक अनुषंगी प्रसार; उत्कर्ष की इस परिस्थिति में स्वतंत्र आविष्कारों की दर कुछ काल के लिए व्यापारिक कार्यों की मुख्य निर्धारक-शक्ति नहीं रहती है। या दूसरे प्रकार से कहें, जब एक बार उत्कर्ष आरम्भ हो जाता है तो सैद्धान्तिक रूप में भी यह भेद करना कठिन हो जाता है कि कौन से परिवर्तन ऐसे हैं जिन्हें हम अन्य परिस्थितियों में अवश्य आविष्कारजनित कहते और कौन से ऐसे हैं जो उत्कर्ष के परिणामस्वरूप कार्यशील हो उठे हैं। उत्कर्ष का प्रभाव आविष्कारों की गति पर भी पड़ सकता है। एक बार वायुमंडल में उत्कर्ष की तीव्रता होने पर ऐसे ऐसे नवीन परिवर्तन किए जाते हैं जो अन्यथा कभी किए ही न जाते और परीक्षण काल के पूर्व ही इनका प्रयोग आरंभ हो जाता है। विशेष रूप से इस अंतिम कारणवश ही मंदी की स्थिति में, जब केवल साँस आने की दशा होती है, विनियोग अवसरों की अत्यधिक कमी हो सकती है। और उक्त दशा में विनियोग अवसरों की कमी का कैसा खतरनाक परिणाम हो सकता है, यह हम पहले देख चुके हैं।

इस प्रकार यदि आविष्कारों की पूर्ति में कोई दीर्घकालिक उपनति न भी हो तो भी एक सामान्य मात्रा की अनियमित पूर्ति व्यापार-चक्र की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त होगी। ऐसी अनियमित पूर्ति का होना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है; यथार्थ में आश्चर्य तो तब होगा जब ऐसा न हो। किन्तु यदि परेशानी का एकमात्र कारण केवल यही अनियमितता हो तो बुद्धिमानी ऐसी आर्थिक नीति अपनाने में होगी जो हर

संभव प्रकार से होने वाली घटबढ़ की गति को कम करे। इस संबंध में दो उपाय उल्लेखनीय हैं। प्रथम, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हमारी परिस्थिति अब ऐसी है कि विनियोग अवसरों की पूर्ति स्वाभाविक रूप से कुछ सीमा तक राज्य द्वारा नियन्त्रित है (या सरलता से ऐसे नियंत्रण में लाई जा सकती है); राज्य के आर्थिक-कार्यों में वृद्धि के साथ साथ ऐसा होना अनिवार्य है। तब तो राज्य द्वारा किये जाने वाले विनियोगों के समय का समायोजन करके घटबढ़ को अवरुद्ध किया जा सकता है।[२] द्वितीय मौद्रिक नीति द्वारा भी कुछ नियंत्रण संभव है। पूर्ण व्यापार-चक्र को नियंत्रत करने के दृष्टिकोण से मुद्रा-नीति कम प्रभावी है क्योंकि इसकी क्षमता मंदी को रोकने की अपेक्षा उत्कर्ष को रोकने के संबंध में अधिक है। इस प्रकार मौद्रिक-नीति उस समय सबसे कम क्षमतावाली होती है जब इसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है। तथापि मेरे विचार से ऐसा कहना उचित न होगा कि मौद्रिक-नीति रूपी अस्त्र को बिल्कुल छोड़ दिया जाय। उत्कर्ष को नियंत्रित करने के लिए इसका उपयोग करने के दो तर्क उल्लेखनीय हैं। प्रथम उत्कर्ष के कारण विनियोग-अवसरों की पूर्ति का तीव्र अंत न हो। द्वितीय, कीमत-स्तरों में अत्यधिक परिवर्तन रोके जायं अन्यथा जनसाधारण के सामान्य-कीमत संबंधी विचार विचलित हो उठेंगे और इस प्रकार वह स्थायी-शक्ति क्षीण हो जायगी जिसको आगे चलकर अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करना है।[3]

(५) कुछ भी हो, उक्त व्याख्या में यह मान लिया गया है कि दीर्घकाल में आविष्कारों की औसत-दर के प्रति असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं है; और इसलिए समस्या केवल आविष्कार की घट-बढ़ को दूर करने की रह जाती है, या यों कहें कि व्यापारिक क्रियाओं की उन अधिक घट-बढ़ों को रोकने की समस्या होती है जो आविष्कार संबंधी प्रारम्भिक परिवर्तनों से जनित हैं। यदि यही पूरी समस्या हो तब तो ठीक है; किन्तु यह किसी प्रकार निश्चित नहीं है कि यही पूरी समस्या है। हमको संभवत: आविष्कारों की दर में होने वाले दीर्घकालिक परिवर्तनों पर भी विचार करना चाहिए। इनके कारण एक और भी अधिक भयावह और व्याख्या में जटिल संभावना का उदय हो सकता है, किन्तु हम उनके प्रति पूर्णतया आँख नहीं बन्द कर सकते।

यदि दीर्घकाल में आविष्कारों की औसत-दर में ह्रास होता है तो प्रारंभिक लक्षणात्मक रूप में हम यह प्रत्याशा कर सकते हैं कि उत्कर्ष के स्वयं अंत होने की प्रवृत्ति अधिक बार फलीभूत होगी और इसी प्रकार मंदी की प्रवृत्ति अधिक बार भयावह रूप से लम्बी हो जाने की होगी। हम यह भी प्रत्याशा कर सकते हैं कि उत्कर्ष भी नैराश्यपूर्ण होंगे और मंदियाँ भी निकृष्ट मंदियाँ होंगी : फलतः, पूर्ण व्यापार-चक्र

में रोजगार का औसत स्तर निम्न होगा। यदि यह पूर्णतया स्पष्ट हो कि इस प्रकार होने वाली बेरोजगारी दीर्घकालिक होगी तो उसको हल करने के अनेक ढंग होंगे। काम के घंटे घटाए जा सकते हैं : अथवा कर लगाकर और राजकीय व्यय द्वारा जो वर्ग अपनी आय को कम खर्च करने की प्रवृत्ति रखते हैं उनसे आय का हस्ताँतरण उन व्यक्तियों के पास किया जा सकता है जो अधिक व्यय की प्रवृत्ति रखते हैं। परन्तु दीर्घकालिक बेरोजगारी को पहचानना कठिन है; यदि आविष्कारों की उपनति ह्रासमान हो तो भी यह निरन्तर क्रम से नहीं गिरेगी। इसलिए अत्यन्त भयंकर मंदी का घटना एक प्रकार से संभव होगा। मेरे विचार में कोई भी व्यक्ति पूंजीवादी व्यवस्था के दीर्घकालीन अस्तित्व पर भरोसा नहीं रख सकता : यहाँ हम पूंजीवादी-व्यवस्था से एक ऐसी व्यवस्था को समझते हैं जहाँ स्वतंत्र उत्पादन तथा ऋण का मुक्त लेन-देन होता है।[४]

हमने अपने प्रावेगिक अर्थशास्त्र का अध्ययन आरंभ करते समय स्थिर दशा की कल्पना को विश्लेषण-यंत्र के रूप में अनुपयुक्त माना था। ऐसा हमने इसलिए माना था क्योंकि वह केवल एक विशेष परिस्थिति की दशा प्रतीत होती थी जिसमें सामान्य निष्कर्ष निकालने की सुविधायें नहीं मिलतीं। अपनी वर्तमान स्थिति में अब हमको यह संदेह होने लगा है कि उस दशा को एक विशेष-दशा भी कहा जा सकता है या नहीं। हमको यह संदेह है कि आर्थिक संबंधों के जिस निकाय का हम अध्ययन करते रहे हैं वह प्रगतिशील अर्थव्यवस्था का केवल एक रूप है।

परिशिष्ट

गणितीय परिशिष्ट

१—इस परिशिष्ट का ध्येय मात्र मूल पुस्तक के तर्क को गणितीय भाषा में रखना नहीं है ; मैं ऐसा करने में कोई लाभ नहीं देखता हूँ । जब मौखिक (अथवा ज्यामितीय) तर्क पूर्ण है, तब उसको दूसरे रूप में रखने से क्या लाभ ? तथापि यह विश्वास दिलाया जा सकेगा कि हमारा तर्क सर्वथा सामान्य है ; जो कुछ मूल में दो, तीन अथवा चार वस्तुओं के लिए सिद्ध किया गया है वह n वस्तुओं के लिए भी सही है । इस परिशिष्ट में मैं इसी साधारणीकरण को सिद्ध करूँगा ।

मैं यहाँ विषयों को उसी क्रम में लूँगा जिसमें उन्हें मूल में लिया था और परिशिष्टों को अध्यायों के अनुसार अंकित करूँगा । तथापि, मुझे पहले एक ऐसे शुद्धतः गणितीय साध्य की कुछ व्याख्या देनी चाहिए जो कि आगे के विश्लेषण हेतु मूलाधारीय है । इसकी समीचीनता लगभग तुरंत प्रतीत हो जायगी ।

२—एक मूलाधारीय गणितीय साध्य—(१) तीन चर-राशियों वाला द्विघातीय समांग फंक्शन

$$ax^2+by^2+cz^2+2fyz+2gzx+2hxy$$

निम्नांकित रूप में भी लिखा जा सकता है—

$$a\left(x+\frac{h}{a}y+\frac{g}{a}z\right)^2+\frac{ab-h^2}{a}\left(y-\frac{gh-af}{ab-h^2}z\right)^2+$$
$$+\frac{abc+2fgh-af^2-bg^2-ch^2}{ab-h^2}(z)^2.$$

क्योंकि सभी चर-राशियाँ कोष्ठकों में हैं, और प्रत्येक कोष्ठक का घात २ है, यह तुरंत स्पष्ट है कि मूल-पद-संहति, चरों के सभी वास्तविक मानों के लिए, धनात्मक है, यदि सभी कोष्ठकों के गुणक धनात्मक हैं : ऋणात्मक है यदि सभी गुणक ऋणात्मक हैं । ये गुणक निम्नांकित सारणिकों के अनुपात हैं:—

$$a, \quad \begin{vmatrix} a & h \\ h & b \end{vmatrix}, \quad \begin{vmatrix} a & h & g \\ h & b & f \\ g & f & c \end{vmatrix}.$$

अतः मूल पद-संहति निश्चय ही धनात्मक है यदि सभी तीन सारणिक धनात्मक हैं : वह निश्चय ही ऋणात्मक है यदि प्रथम तथा तृतीय सारणिक ऋणात्मक हैं और दूसरा धनात्मक ।

(२) ऐसा सदृश साध्य कितने भी चरों को लेकर स्थापित किया जा सकता है [1]। सामान्य द्विघातीय पद-संहति—

$$a_{11}x_1^2+a_{22}x_2^2+\ldots+a_{nn}x_n^2+2a_{12}x_1x_2+2a_{13}x_1x_3+\ldots+2a_{23}x_2x_3+\ldots$$

सभी x के सभी वास्तविक मान के लिए धनात्मक होगा यदि निम्नांकित सभी

$$a_{11}, \begin{vmatrix} a_{11} & a_{12} \\ a_{12} & a_{22} \end{vmatrix}, \begin{vmatrix} a_{11} & a_{12} & a_{13} \\ a_{12} & a_{22} & a_{23} \\ a_{13} & a_{23} & a_{33} \end{vmatrix}, \ldots, \begin{vmatrix} a_{11} & a_{12} & \cdot & \cdot & a_{1n} \\ a_{12} & a_{22} & \cdot & \cdot & a_{2n} \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ a_{1n} & a_{2n} & \cdot & \cdot & a_{nn} \end{vmatrix}$$

सारणिक धनात्मक हैं ; ऋणात्मक होगा यदि उपर्युक्त सारणिक क्रमशः एकांतर से ऋणात्मक तथा धनात्मक हैं।

(३) यदि हमें केवल निम्नलिखित एक घातीय संबंध की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त द्विघातीय संहति को निश्चित रूप से धनात्मक अथवा ऋणात्मक बनाना है, तो,

$$b_1x_1+b_2x_2+\ldots+b_nx_n=0,$$

हम किसी एक चर-राशि, यथा, x, का निष्कासन कर सकते हैं। तब द्विघात रूप निम्नांकित होगा—

$$c_{22}x_2^2+c_{33}x_3^2+\ldots+c_{nn}x_n^2+2c_{23}x_2x_3+\ldots,$$

जहाँ
$$c_{rs}=a_{rs}-\frac{1}{b_1}(a_{1r}b_s+a_{1s}b_r)+\frac{1}{b_1^2}b_rb_sa_{11}.$$

तब आवश्यक शर्तें पूर्वोक्त (२) की भांति लिखी जा सकती हैं केवल 'a' के स्थान पर 'c' लिखेंगे। किन्तु इनको अधिक सरल रूप दिया जा सकता है यदि हम प्रत्येक सारणिक को अनिवार्यतः ऋणात्मक राशि $-b_1^2$ से गुणा कर दें। उदाहरणार्थ ,

$$-b_1^2\begin{vmatrix} c_{22} & c_{23} \\ c_{23} & c_{33} \end{vmatrix} = \begin{vmatrix} 0 & b_1 & 0 & 0 \\ b_1 & a_{11} & 0 & 0 \\ b_2 & a_{12} & c_{22} & c_{23} \\ b_3 & a_{13} & c_{13} & c_{33} \end{vmatrix} = \begin{vmatrix} 0 & b_1 & b_2 & b_3 \\ b_1 & a_{11} & a_{12} & a_{13} \\ b_2 & a_{12} & a_{22} & a_{23} \\ b_3 & a_{13} & a_{23} & a_{33} \end{vmatrix}$$

इस हेतु प्रथम दो कालम के उपयुक्त बहुलों को शेप कालम में से प्रत्येक में जोड़ते हैं।

इस प्रकार द्विघात रूप के अवश्य ही धनात्मक होने की शर्तें, जिन पर केवल एक रैखिक

---

१. तुलना कीजिए, बर्नसाइड तथा पैन्टन, थिअरी ऑफ इक्वेशंस, खंड दो, पृष्ठ १८१–२।

अनुबंध है, ये हैं कि निम्नलिखित सभी सारणिक ऋणात्मक हों (क्योंकि ऋणात्मक गुणक $-b^2$ सभी चिन्हों को बदल देगा)—

$$\begin{vmatrix} 0 & b_1 & b_2 \\ b_1 & a_{11} & a_{12} \\ b_2 & a_{12} & a_{22} \end{vmatrix}, \quad \begin{vmatrix} 0 & b_1 & b_2 & b_3 \\ b_1 & a_{11} & a_{12} & a_{13} \\ b_2 & a_{12} & a_{22} & a_{23} \\ b_3 & a_{13} & a_{23} & a_{33} \end{vmatrix}, \ldots, \quad \begin{vmatrix} 0 & b_1 & b_2 & \cdot & \cdot & b_n \\ b_1 & a_{11} & a_{12} & \cdot & \cdot & a_{1n} \\ b_2 & a_{12} & a_{22} & \cdot & \cdot & a_{2n} \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ b_n & a_{1n} & a_{2n} & \cdot & \cdot & a_{nn} \end{vmatrix}$$

इन सारणिकों के ऋणात्मक होने की शर्तें यह हैं कि यह एकांतर से धनात्मक तथा ऋणात्मक हों।

शुद्ध गणितीय आधार की दृष्टि से इतना ही हमको चाहिए। आइए अब अर्थशास्त्र को लें।

अध्याय १ का परिशिष्ट

३. उपभोक्ता की संस्थिति—मान लीजिए एक व्यक्ति है और उसके पास व्यय हेतु एक दी हुई निधि M मुद्राएं (जिन्हें हम फिलहाल उसकी आय कह सकते हैं) उपलब्ध हैं। यह भी मान लीजिए कि उसे इन्हें n भिन्न वस्तुओं पर व्यय करने का अवसर प्राप्त है। सभी n वस्तुओं की कीमतें बाजार में निर्धारित रूप में दी हुई हैं।

इन्हें $p_1, p_2, p_3, \ldots, P_n$ कहिए। $x_1, x_2, x_3, \ldots x_n$ क्रमशः वस्तुओं की मात्राओं को कहिए जिन्हें उपभोक्ता क्रय करता है।

तब, यदि वह अपनी संपूर्ण आय-व्यय कर दे तो हम लिखेंगे कि—

$$M = \sum_{r=1}^{r=n} p_r x_r. \qquad (३.१)$$

मान लीजिए कि उस क्षण उसकी आवश्यकताओं का उपयोगिता-फंक्शन है—$u(x_1, x_2, x_3, \ldots, x_n)$ तब (३.१) वाले अनुबंध की पृष्ठभूमि में ऐसी मात्राएं क्रय की जायँगी कि u अधिकतम हो। उन मात्राओं को अनुगणित करने के लिए इस लगराँज गुणक μ को सम्मिलित करके निम्नलिखित पद-संहति को अधिकतम कर सकते हैं:—

$$u + \mu\left(M - \sum_{r=1}^{r=n} p_r x_r\right).$$

अतएव उपभोक्ता की संस्थिति की शर्तें ये हैं:—

$$u_r = \mu p_r \quad (r = 1, 2, 3, \ldots, n), \qquad (३.२)$$

यहाँ u_r को, $\partial u/\partial x_r$ अर्थात् x_r की सीमांत उपयोगिता के लिए लिखा है।

इस प्रकार यह समीकरण x_r की सीमांत उपयोगिता तथा μ से गुणा की गयी x_r की कीमत के बराबर है (अतः μ को मार्शल-विचारधारा के अनुसार मुद्रा की सीमांत उपयोगिता कह सकते हैं) ।

जब (३.२) के समीकरणों से μ का निष्कासन करते हैं, तो हम पाते हैं कि–

$$\frac{u_1}{p_1} = \frac{u_2}{p_2} = \dots = \frac{u_{n-1}}{p_{n-1}} = \frac{u_n}{p_n}. \quad (३.३)$$

$x_1, x_2 \dots, x_n$ नामक n मात्राओं को निर्धारित करने के लिए ये $n-१$ समीकरण तथा एक (३.१) का अर्थात् n समीकरण प्राप्त हैं।

४. स्थिरता की शर्तें—यथार्थ में u को अधिकतम करने के लिए न केवल यह आवश्यक है कि $d_u = 0$ वरन् यह भी कि $d^2u < 0$ । इनका प्रसार करने पर और द्वितीय आंशिक अवकलन के लिए u_{rs} लिखने पर (जैसा कि पहले आंशिक अवकलन के लिए u_r लिखा है) हम पाते हैं:–

$$du = \sum_{r=1}^{r=n} u_r dx_r,$$

$$d^2u = \sum_{r=1}^{r=n} \sum_{s=1}^{s=n} u_{rs} dx_r dx_s.$$

अन्तिम (दूसरी) पद-संहति उसी प्रकार के द्विघातीय रूप वाली है जिसकी हम ऊपर §२ में व्याख्या कर चुके हैं, क्योंकि $u_{sr} = u_{rs}$ । अतः $d_u = 0$ और $dx_1, dx_2 \dots, dx_n$, के सभी मानों के लिए $d^2{}_u \leq 0$, इसकी शर्तें यह हैं कि सारणिक–

$$\begin{vmatrix} 0 & u_1 & u_2 \\ u_1 & u_{11} & u_{12} \\ u_2 & u_{12} & u_{22} \end{vmatrix}, \quad \begin{vmatrix} 0 & u_1 & u_2 & u_3 \\ u_1 & u_{11} & u_{12} & u_{13} \\ u_2 & u_{12} & u_{22} & u_{23} \\ u_3 & u_{13} & u_{23} & u_{33} \end{vmatrix}, \dots, \quad \begin{vmatrix} 0 & u_1 & u_2 & \cdot & \cdot & u_n \\ u_1 & u_{11} & u_{12} & \cdot & \cdot & u_{1n} \\ u_2 & u_{12} & u_{22} & , & , & u_{2n} \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ u_n & u_{1n} & u_{2n} & \cdot & \cdot & u_{nn} \end{vmatrix} \quad (४.१)$$

एकांतर से धनात्मक तथा ऋणात्मक हों।

ये सारणिके आगे के विश्लेषण में अति महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अतः मैं इनमें से अन्तिम को लिखूंगा u; और u में के u_r, u_s, u_{rr}, u_{rs} को क्रमशः लिखूंगा— u_r, u_s, u_{rr}, u_{rs}, क्योंकि n वस्तुएं किसी भी क्रम में ली जा सकती हैं। (४.१) से यह निष्कर्ष निकलता है कि u_{rr}/u अवश्य ही ऋणात्मक है।

५. उपयोगिता का क्रमान्वित स्वरूप—उपयोगिता फंक्शन u के एक विशिष्ट रूप की कल्पना करके ही वैयक्तिक उपभोक्ता की संस्थिति की शर्तें तथा स्थिरता की शर्तें लिखी गयी हैं। यथार्थ में यही इनको लिखने का सर्वाधिक सुविधाजनक ढंग है।

किन्तु यह जानना महत्वपूर्ण है कि वे किसी अद्वितीय उपयोगिता-फंक्शन के अस्तित्व पर निर्भर नहीं हैं। मान लीजिए कि इस उपयोगिता-फंक्शन u के स्थान पर कोई u का ही अविहित फंक्शन, $\phi(u)$ रख देते हैं। तब, यदि u की वृद्धि होने पर $\phi(u)$ भी बढ़ता है—अर्थात् यदि $\phi'(u)$ धनात्मक है—तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि उपयोगिता–फंक्शन के बदल जाने पर भी संस्थिति की शर्तें तथा स्थिरता की शर्तें पूर्णतया अपरिवर्तित रहेंगी।

क्योंकि $\frac{\partial}{\partial x_r}\phi(u)=\phi'(u)x_r$, के (३.३) द्वारा निर्देशित संस्थिति शर्तें अपरिवर्तित रहेंगी।

समान अनुपात मात्र एक समान संहति $\phi'(u)$ से गुणा हो उठते हैं और यह दोनों पक्षों से कट जाता है। (यदि ये अनुपात (३.२) के सदृश भी लिखे जायं, तब भी वे अपरिवर्तित रहेंगे यदि μ के स्थान पर $\phi'(u).\mu$ लिखें : क्योंकि μ अविहित है, ऐसा परिवर्तन करना युक्तिसंगत है।)

क्योंकि $\frac{\partial^8}{\partial x_r \partial x_s}\phi(u)=\phi'(u)\cdot u_{rs}+\phi''(u)u_r u_s$' स्थिरता-सारणिक भी सदृश रूप में संवरित हो जाते हैं। तब प्रथम सारणिक होगा—

$$\begin{vmatrix} 0 & \phi'(u)u_1 & \varnothing'(u)u_2 \\ \phi'(u)u_1 & \varnothing'(u)u_{11}+\psi''(n)u_1^2 & \varnothing'(u)u_{12}+\psi''(u)u_1u_2 \\ \psi'(u)u_2 & \varnothing'(u)u_{12}+\psi''(u)u_1u_2 & \varnothing'(u)u_{22}+\psi''(u)u_2^2 \end{vmatrix} = \{\psi'(u)\}^3 \begin{vmatrix} 0 & u_1 & u_2 \\ u_1 & u_{11} & u_{11} \\ u_2 & u_{12} & u_{22} \end{vmatrix}$$

और इसी प्रकार अन्य सारणिक संवरित किये जा सकते हैं। rवें सारणिक में $r+2$ स्तर तथा कालम होंगे; अतः उसको $\{\phi'(u)\}^{r+2}$ से गुणा करेंगे। क्योंकि $\phi'(u)$ को धनात्मक माना है, अतः इस पद के कारण सारणिकों के चिन्ह नहीं बदलेंगे। क्योंकि स्थिरता इन चिन्हों पर निर्भर है, यह निष्कर्ष निकलता है कि u के स्थान पर $\phi'(u)$ लिखने पर स्थिरता-शर्तें अपरिवर्तित रहेंगी।

यदि हम उपयोगिता-फंक्शन की अपेक्षा दी हुई अभिरुचियों के स्तर से अध्ययन आरंभ करें (मेरे विचार से ऐसा करना चाहिए) तो हमको उपयोगिता-फंक्शन की केवल उन विशेषताओं की ओर ध्यान देना है जो u के स्थान पर $\phi(u)$ रखने पर भी अपरिवर्तित रहती हैं। इस अर्थ में प्रारंभिक संस्थिति–शर्तें तथा प्रारंभिक स्थिरता-शर्तें अपरिवर्तित सिद्ध की जा चुकी हैं। मूल्य-सिद्धान्त का हमारा शेष अध्ययन इन अपरिवर्तनीय गुणों के आधार पर ही किया जायगा। सामान्यतः

अपरिवर्तनीयता सिद्ध करने का कार्य पाठक के लिए छोड़ दिया जायगा।

अध्याय २ तथा ३ का परिशिष्ट

६. आय-वृद्धि का माँग पर प्रभाव—आइए (३.१) तथा (३.२) के संस्थिति-समीकरणों को पुनः निम्नांकित रूप में लिखें:—

$$\left.\begin{array}{r} p_1x_1+p_2x_2+\dots \quad +p_nx_n=M \\ -\mu p_1+u_1=0 \\ -\mu p_2+u_2=0 \\ \dots\dots \\ -\mu p_n+u_n=0 \end{array}\right\} \qquad (६.१)$$

M से आंशिक अवकलन करने पर—

$$\left.\begin{array}{r} p_1\frac{\partial x_1}{\partial M}+p_2\frac{\partial x_2}{\partial M}+\dots \quad +p_n\frac{\partial x_n}{\partial M}=1 \\ -p_1\frac{\partial\mu}{\partial M}+u_{11}\frac{\partial x_1}{\partial M}+u_{12}\frac{\partial x_2}{\partial M}+\dots \quad +u_{1n}\frac{\partial x_n}{\partial M}=0 \\ -p_2\frac{\partial\mu}{\partial M}+u_{21}\frac{\partial x_1}{\partial M}+u_{22}\frac{\partial x_2}{\partial M}+\dots \quad +u_{2n}\frac{\partial x_n}{\partial M}=0 \\ \dots\dots\dots\dots \\ -p_n\frac{\partial\mu}{\partial M}+u_{n1}\frac{\partial x_1}{\partial M}+u_{n2}\frac{\partial x_2}{\partial M}+\dots \quad +u_{nn}\frac{\partial x_n}{\partial M}=0 \end{array}\right\}. \qquad (६.२)$$

इनको हल करने पर हम पाते हैं कि—

$$\frac{\partial x_r}{\partial M}\begin{vmatrix} 0 & p_1 & p_2 & \dots & p_n \\ p_1 & u_{11} & u_{12} & \dots & u_{1n} \\ p_2 & u_{12} & u_{22} & \dots & u_{2n} \\ \dots & \dots & \dots & \dots & \dots \\ p_n & u_{1n} & u_{2n} & \dots & u_{nn} \end{vmatrix} = \begin{vmatrix} 0 & p_1 & \dots & p_{r-1} & 1 & p_{r+1} & \dots & p_n \\ p_1 & u_{11} & \dots & u_{1,r-1} & 0 & u_{1,r+1} & \dots & u_{1n} \\ p_2 & u_{12} & \dots & u_{2,r-1} & 0 & u_{2,r+1} & \dots & u_{2n} \\ \dots & \dots & \dots & \dots & \dots & \dots & \dots & \dots \\ p_n & u_{1n} & \dots & u_{r-1,n} & 0 & u_{r+1,n} & \dots & u_{nn} \end{vmatrix}$$

क्योंकि (६.१) से इसको निम्नांकित रूप में रख सकते हैं:—

$$\frac{\partial x_r}{\partial M}=\frac{\mu U_r}{U} \qquad (६.३)$$

U_r के चिन्ह के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है: अतः $\partial x_r/\partial M$ धनात्मक भी हो सकता है और ऋणात्मक भी। (देखिए पीछे, अध्याय २)

७. समान आय के होते कीमत-परिवर्तन का प्रभाव—मान लीजिए कि केवल p_r बदलता है और अन्य कीमतें (तथा M) नहीं बदलते। तब (६.१) से हम कहते हैं—

$$\left.\begin{array}{l} p_1\frac{\partial x_1}{\partial pr}+p_2\frac{\partial x_2}{\partial pr}+\ldots+pn\frac{\partial xn}{\partial pr}=-xr \\ -p_1\frac{\partial\mu}{\partial pr}+u_{11}\frac{\partial x_1}{\partial pr}+u_{12}\frac{\partial x_2}{\partial pr}+\ldots+u_1n\frac{\partial xn}{\partial pr}=0 \\ \cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots \\ -p_r\frac{\partial\mu}{\partial pr}+u_1r\frac{\partial x_1}{\partial pr}+u_2r\frac{\partial x_2}{\partial pr}+\ldots+urn\frac{\partial xn}{\partial pr}=\mu \\ \cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots \\ -pn\frac{\partial\mu}{\partial pr}+u_1n\frac{\partial x_1}{\partial pr}+u_2n\frac{\partial x_2}{\partial pr}+\ldots+unn\frac{\partial xn}{\partial pr}=0 \end{array}\right\} \quad (७.१)$$

पूर्व की भाँति इसको सरल करके हल करने पर मिलता है—

$$\frac{\partial x_s}{\partial p_r}=\frac{1}{U}(-x_r\mu U_s+\mu U_{rs}) \quad (r \text{ and } s=1,2,3,\ldots,n).$$

की सहायता से, इसे लिख सकते हैं–

$$\frac{\partial x_s}{\partial p_r}=-x_r\frac{\partial x_s}{\partial M}+\mu\frac{U_{rs}}{U} \quad (r \text{ and } s=1,2,3,\ldots,n). \qquad (७\cdot२)$$

यह समीकरण, जिसको सर्वप्रथम स्ल्युत्स्की ने सिद्ध किया था, मूल्य-सिद्धांत का मूलाधारीय समीकरण कहा जा सकता है। इससे ज्ञात होता है कि किसी वस्तु, Xr, की कीमत में परिवर्तन होने पर व्यक्ति की किसी अन्य वस्तु, X_3, की माँग पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव को हम आय-प्रभाव तथा प्रतिस्थापन-प्रभाव शीर्षक से दो भागों में बाँटते हैं। यदि अन्य सभी X (Xr, को छोड़कर) और उनकी कीमतें (P) दी हुई मान लें और M को दिया हुआ न मानें, तो—$Xr=dM\ dp_r$। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिस्थापन-प्रभाव को, जो X_s, की माँग पर पड़ता है, इस भांति समझा जा सकता है। यदि Xr की कीमत बदलने के साथ साथ व्यक्ति की आय में इतना परिवर्तन होता है कि p_r के बदल जाने पर भी वह पहले की भांति ही ठीक उसी मात्रा में सभी वस्तुएं खरीद सकता: यही आय-परिवर्तन का Xs की माँग पर पड़ने वाला प्रभाव प्रतिस्थापन-प्रभाव है। स्पष्ट है कि उपभोक्ता के बजट में X_r का महत्व जितना कम होगा, उतना ही यह आय-परिवर्तन कम होगा।

उसी समीकरण में r और s को बराबर करके (कोई कारण नहीं है कि हम ऐसा नहीं कर सकते) उस को x_r की कीमत-परिवर्तन का Xr, की माँग

पर पड़ने वाला प्रभाव ज्ञात किया जा सकता है। तब समीकरण होगा—

$$\frac{\delta x_r}{\delta p_r} = - x_r \frac{\partial x_r}{\partial M} + \frac{\mu U_{rr}}{U}$$

स्थिरता-शर्तों की सहायता से प्रत्यक्ष है कि इस समीकरण में प्रतिस्थापन-पद ऋणात्मक होना चाहिए।

८. प्रतिस्थापन-पद के गुण—उपभोक्ता की माँग का शेष सिद्धांत का अधिकांश इस मूलाधारीय समीकरण के गुणों का ज्ञान है। सर्वप्रथम, इसको एक अन्य रूप में लिखना सुविधाजनक होगा। उपयोगिता-फंक्शन के रूप में U के स्थान पर ϕ (μ) लिखने पर भी $\mu Urs/U$ यथार्थ में अपरिवर्तित रहता है। फलतः इसको ऐसे रूप में रखना अच्छा होगा जिसमें किसी विशेष उपयोगिता-फंक्शन का प्रत्यक्ष उल्लेख न हो। अतः मैं इन्हें अकिंचन रूप में लिखूंगा, जिससे समीकरण होंगे—

$$\left.\begin{aligned} \frac{\partial x_s}{\partial p_r} &= -x_r\frac{\partial x_s}{\partial M} + x_{rs}, \\ \frac{\partial x_r}{\partial p_r} &= -x_r\frac{\partial x_r}{\partial M} + x_{rr}. \end{aligned}\right\} \qquad (८.१)$$

यही वह रूप है जिसमें हम आगे के विश्लेषण में इन्हें काम में लाना अति सुविधाजनक पायेंगे।[1]

पूर्व कथित अंशों से प्रतिस्थापन-पदों की दो विशेषताएं तुरंत स्पष्ट हो जाती हैं। मैं इनका उल्लेख करके ही आगे बढ़ूंगा।

(१) क्योंकि r तथा s के बीच दोनों सारणिक U_{rs} तथा U सममित हैं, X_{rs} भी सममित होगा अर्थात् $X_{rs} = X_{sr}$। अतः $\delta x_s\ ISKr$ तथा $\delta x_r/\delta p_s$ के प्रतिस्थापन पद भी सममित हैं : किन्तु सामान्यतः आय-पद बराबर नहीं हैं। अतः $\delta x_s/\delta p_r$ तथा $\delta x_r/\delta p_s$ के आपस में बराबर होने के लिए यह आवश्यक है कि X_r $(\delta x_s/\delta M)$ तथा $X_s(\delta r/\delta M)$ भी बराबर हों। इसका निहित अर्थ यह है कि

१. कुछ दृष्टिकोणों से (किन्तु मेरी समझ में सभी से नहीं) यह लाभदायक होगा कि हम मूलाधारीय समीकरण को लोच के पदों में रखें। समीकरण को p_n/x_s से गुणा करके मिलने वाली संहतियों में इकाई-विहीन भिन्न रखे जा सकते हैं। मैंने अपनी फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित पुस्तिका, 'ला थिअरी मेथेमेटीक द ला वेल्यु' (प्रकाशक : हरमेन, १९३७) में लोच वाले ढंग को अपनाकर ही आगे आने वाले अनेकों तर्क प्रस्तुत किये हैं। अतः पाठकगण अपनी इच्छानुसार दोनों में से कोई भी राह अपना सकते हैं।

(M/x_r) $(\delta x_r/\delta M)$ और (M/x_s) $(\delta x_s/\pi M)$ बराबर हों। अन्य शब्दों में X_r तथा X_s की माँग की आय-लोचें बराबर होनी चाहिए।

(२) क्योंकि U_{rr}/U ऋणात्मक है और μ धनात्मक है $x_{rr}<0$.

(३) पदसंहति

$$0 \cdot U_r + u_1 U_{1r} + u_2 U_{2r} + \ldots + u_n U_{nr}$$

एक सारणिक बनाता है जिसकी प्रथम दो सतरें सर्वांग सम है ; अतः उसका मान शून्य है। किन्तु क्योंकि $u_s U_{rs} = p_s \mu U_{rs} = p_s U x_{rs}$, हम इस संबंध से के मध्य एक संबंध स्थापित कर सकते हैं—$\sum_{s=1}^{s=n} p_s x_{rs} = 0$.

$\therefore \sum p_{rs} x_s$ (को छोड़कर s के सभी मानों के लिए) $= -p_r x_{rr}$) जो कि निश्चय ही धनामत्क है।

(४) अब तक का हमारा अध्ययन (४.१) में दी स्थिरता-शर्तों में से केवल दो पर आधारित रहा है : और उन दोनों को भी हमने मिलाकर एक कर लिया था, अर्थात् U_{rr}/U ऋणात्मक हो। अन्य स्थिरता-शर्तों का क्या स्थान है ? अब हम इस पर विचार करेंगे।

मान लीजिये कि U'' में u_{22} का सहखड $U''_{,22}$ है, $U''_{,22}$ में का u_{33} सहखंड है, $U''_{,22,33}$ तब स्थिरता शर्तों से हम कह सकते हैं कि

$$\frac{U_{11}}{U}, \frac{U_{11,22}}{U}, \frac{U_{11,22,33}}{U}, \ldots$$

एकांतर से ऋणात्मक तथा धनात्मक हैं। अतः व्युत्क्रम सारणिक ([1]) की प्रख्यात विशेषता वश

$$\frac{U_{11}}{U}, \frac{1}{U^2}\begin{vmatrix} U_{11} & U_{12} \\ U_{12} & U_{22} \end{vmatrix}, \frac{1}{U^3}\begin{vmatrix} U_{11} & U_{12} & U_{13} \\ U_{12} & U_{22} & U_{23} \\ U_{13} & U_{23} & U_{33} \end{vmatrix}, \ldots \quad 0$$

भी एकांतर से ऋणात्मक तथा धनात्मक हैं।

किन्तु ये शर्तें इस हेतु हैं कि Z के सभी मानों के लिए निम्नाँकित द्विघातीय रूप अवश्य ऋणात्मक हो (तुलना कीजिए पीछे के २ (२) से)—

$$\sum_{r=1}^{r=m} \sum_{s=1}^{s=m} z_r z_s \frac{U_{rs}}{U}$$

---

(१) तुलना कीजिए, उदाहरणार्थ, बर्नसाइड तथा पैन्टन, खंड दो, पृष्ठ ४२।

फलतः अविहित गुणकों, λ, के सभी मानों तथा n को लेकर उस तक के सभी m के मानों के लिए—

$$\sum_{1}^{m}\sum_{1}^{m}\lambda_r\lambda_s X_{rs}<0$$

इस प्रकार प्रतिस्थापन्न-पदों पर अनिवार्यतः लागू होने वाले चार नियम मिल जाते हैं:—

(१) $X_{sr}=X_{rs}$; (२) $X_{rr}<0$; (३) $\sum_{s=1}^{s=n} p_s X_{rs}=0$;

(४) $\sum_{1}^{m}\sum_{1}^{m}\lambda_r\lambda_s X_{rs}<0$, n तक के m के सभी मानों के लिए।

दरअसल नियम (२) केवल नियम (४) का विशेष रूप है। क्योंकि यह संभव है कि λ विशेष स्थिति में p के बराबर हो, अतः इस स्थिति में नियम (४) का रूप होगा—

$$\sum_{1}^{m}\sum_{1}^{m}p_r p_s X_{rs}<0$$

n से कम वाले m के सभी मानों के लिए।

इससे, नियम (३) की सहायता लेकर हम लिख सकते हैं कि

$$\sum_{r=1}^{r=m}\sum_{s=m+1}^{s=n} p_r p_s X_{rs}>0$$

यह अन्तिम असमता शब्दों में इस प्रकार रखी जा सकती है। हम n वस्तुओं को किसी भी संभव ढंग से दो भागों में बाँटते हैं और एक भाग से वस्तु x_r, तथा दूसरे से वस्तु, x_s, लेकर संहृति $p_r p_s$, X_{rs} की कल्पना करते हैं। तब यदि r तथा s सभी प्रकार से अपने अपने वर्ग में बदलें तो $\sum\sum p_r p_s X_{rs}$ अवश्य धनात्मक होना चाहिए।

यदि कीमतों के परिवर्तन ऐसे हैं कि वे भिन्न कीमत-परिवर्तनों को काट देते हैं, जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता उसी अनधिमान-वक्र पर रहता है जिस पर वह परिवर्तन से पूर्व था, तो प्रधान समीकरण का आय-पद विलुप्त हो जाएगा। तब

$$dx_r=\sum\frac{\partial x_r}{\partial p_s}dp_s=\sum_s X_{rs}dp_s$$

इस प्रकार $$\sum_r dx_r dp_r=\sum_r\sum_s X_{rs}dp_r\,dp_s$$

यह नियम (४) के कारण अवश्य ऋणात्मक है। यह वही साध्य है जिस पर (देखिए पीछे पृ० ५२) हम एक दूसरे से मार्ग से पहुँचे थे।

९. संपूरकता—जैसा मूल पुस्तक में कहा जा चुका है, मैं किसी उपभोक्ता के लिए वस्तुओं x_r तथा x_s को प्रतिस्थापन्न कहता हूँ यदि उसका $X_{rs}>0$; समपूरक कहता हूँ यदि $X_{rs}<0$ । अतः नियम (५) की सहायता से तुरंत यह स्पष्ट हो जाता है कि, यद्यपि यह तो संभव है कि x_r के प्रतिस्थापन्न स्वरूप सभी अन्य वस्तुओं का उपभोग किया जा सकता है, यह संभव नहीं है कि वे सभी x_r की समपूरक हों। नियम (६) के अनुसार संभव समपूरकताओं की मात्रा पर एक अन्य सीमा भी लागू होती है।

वस्तु-युग्मों के मध्य जो प्रतिस्थापन-पद होते हैं उन्हें समूहों में लेने के ऐसे पर्याप्त अधिक ढंग हैं कि उनमें से प्रत्येक समूह में प्रतिस्थापन्न-युग्मों की संख्या समपूरक युग्मों से अधिक हो।

n वस्तुओं में से $\frac{1}{2}n\ (n\text{-}1)$ भिन्न वस्तु-युग्म बनाये जा सकते हैं और इन $\frac{1}{2}n\ (n\text{-}1)$ युग्मों को समूहों में लेने के निम्नलिखित संख्या में भिन्न ढंग हो सकते हैं:—

$$\tfrac{1}{2}(C^n_1 + C^n_2 + \ldots + C^n_{n-2} + C^n_{n-1}) = 2^{n-1} - 1$$

यह आवश्यक नहीं है कि $p_r p_s X_{rs}$ (जहाँ $r \# s$) संहतियाँ, जो संख्या में ($\frac{1}{2}n$-१) हैं, सभी धनात्मक हों। किन्तु इनके २ (n-१)—१ भिन्न ऐसे समूह हैं जिनके योग अवश्य धनात्मक हैं। इसी अर्थ में कहा जाता है कि सम्पूर्ण निकाय में प्रतिस्थापन्नता प्रधान स्थान रखती है।

१०. किसी वस्तु-समूह की माँग—अभी नियम (४) के सब से अधिक महत्व का प्रयोग करना शेष है। हमारे प्रधान समीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब x_r की कीमत में दिया हुआ अनुपातिक परिवर्तन होता है तो x_s की माँग में होने वाली वृद्धि का मूल्य होगा—

$$= prps\frac{\partial xs}{\partial pr} = -prxrps.\frac{\partial xs}{\partial M} + prpsxrs \qquad (१०.१)$$

यहाँ $p_r\ x_r$ वह निधि है जो x_r पर व्यय की गयी है ; $p_s\ (\partial X_s/\partial M)$ उस व्यय-वृद्धि का माप है जो आय-वृद्धि के कारण x_s पर होगी।

अब मान लीजिए कि वस्तुओं के किसी समूह $x_1, x_2, .., x_m$ $(m<n)$ की कीमतें एक ही अनुपात में बढ़ती हैं। तब इनमें से किसी एक वस्तु x_s $(s<m)$ की माँग-वृद्धि उपर्युक्त पद-संहतियों को जोड़ने से मिल जाएगी—

$$\sum_{r=1}^{r=m} p_r p_s \frac{\partial x_s}{\partial p_r} = -\left(\sum_{1}^{m} p_r x_r\right) p_s \frac{\partial x_s}{\partial M} + \sum_{r=1}^{r=m} p_r p_s \chi_{rs}.$$

सम्पूर्ण समूह को एक साथ लेकर, योग करने से, माँग-वृद्धि का मूल्य निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात होता है:—

$$\sum_{s=1}^{s=m} \sum_{r=1}^{r=m} p_r p_s \frac{\partial x_s}{\partial p_r} = -\left(\sum_{1}^{m} p_r x_r\right)\left(\sum_{1}^{m} p_s \frac{\partial x_s}{\partial M}\right) + \sum_{r=1}^{r=m} \sum_{s=1}^{s=m} p_r p_s \chi_{rs}.$$

(१०.२)

इसका सर्वांग रूप वही है जो (१०.१) का और इसकी उसी प्रकार व्याख्या करेंगे। इसके अतिरिक्त, क्योंकि r तथा s वस्तुओं के एक ही समूह के लिए जोड़े जाते हैं, नियम ४ से निष्कर्ष निकलता है कि (१०.२) के प्रतिस्थापन्न पद अवश्य ऋणात्मक हैं।

इस प्रकार गणितीय ढंग पर हमने उस मूल में बहु प्रयुक्त अति महत्वपूर्ण सिद्धांत को प्रदर्शित कर दिया है कि, यदि वस्तुओं के किसी समूह की कीमतें समान अनुपात में बदलती हैं तो वह समूह ठीक इस प्रकार का व्यवहार रखता है जैसा एक वस्तु का।

११. पूर्त्तिपक्ष—अब मान लीजिए कि कोई व्यक्ति बाजार में एक दी हुई निश्चित मुद्रा-मात्रा के साथ, जो कीमतों के परिवर्तन होने पर नहीं बदलती है, नहीं आता, वरन् बिक्री हेतु निश्चित मात्रा में वस्तु लाता है। तब उसको व्यय हेतु उपलब्ध निधि बाजार-कीमतों पर निर्भर होगी। सामान्य उदाहरण हेतु, मान लीजिए कि वह n वस्तुओं की $x_1, x_2, x_3 .., x_n$ मात्राओं को लाता है। सौदों के फलस्वरूप, इन मात्राओं में घट-बढ़ होगी ताकि पूर्ववत अधिमान्य समूह $x_1, x_2, x_3, .., x_n$ प्राप्त किया जा सके। तब संस्थिति-समीकरणों (६.१) का पहला समीकरण निम्नांकित होगा :

$$p_1 x_1 + p_2 x_2 + \ldots + p_n x_n = p_1 x_1 + p_2 x_2 + \ldots + p_n x_n. \quad (११.१)$$

पूर्व लिखित समीकरण-निकाय में केवल यही परिवर्तन करना पड़ेगा।

इस परिवर्तन का यह अर्थ है कि m के स्थान पर $\sum p_r x_r$ लिखेंगे और यह अब कीमतों से स्वतंत्र नहीं होगा। अतः अवकलन करते समय हमको $\partial m/\partial p_r$ को शून्य न लिख कर x_r लिखना पड़ेगा। तब समीकरण (७·१) निम्नांकित रूप ले लेगा—

$$p_1 \frac{\partial x_1}{\partial pr} + p_2 \frac{\partial x_2}{\partial pr} + \dots + pn \frac{\partial xn}{\partial pr} = xr - xr$$

और समीकरण (८·१) के स्थान पर हम पाएंगे कि—

$$\frac{\partial xs}{\partial pr} = (xr - xr) \frac{\partial xs}{\partial M} + \mathrm{x}rs$$

यह हमारे प्रथम मूलाधारीय समीकरण से केवल इस अर्थ में भिन्न है कि अब आय-पद प्राप्त किये x_r की वास्तविक मात्रा से भारित हो गया है।

१२. बाजार माँग—हमारे प्रधान समीकरण की यह अति स्पष्ट सुविधा है कि किसी कीमत-परिवर्तन के व्यक्ति-समूह की माँग पर पड़ने वाले प्रभाव के विश्लेषण हेतु यह प्रत्यक्ष काम में लाया जा सकता है। यदि समूह के सभी व्यक्तियों को लेकर योग करें तो—

$$\frac{\partial}{\partial pr} (\sum xs) = \sum \frac{\partial xs}{\partial pr} = \sum \left[(xr - x_r) \frac{\partial x}{\partial M} \right] + \sum \mathrm{x}rs \quad (१२·१)$$

सूत्र का आय-पद समूह की x_s, संबंधी माँग पर पड़ने वाले उस प्रभाव से संबंधित है जो तब होता है जब समूह की आय बढ़ती है कि समूह के प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होने वाली आय-वृद्धि उसकी x_s संबंधी पहले की वास्तविक माँग के अनुपात में होती है। तब प्रतिस्थापन्न पद वैयक्तिक प्रतिस्थापन्न-पदों का योग-मात्र है; और इसलिये इस पर वे सभी नियम लागू होंगे जो इसके अंशों पर लागू होते हैं। यदि हम समूह के प्रतिस्थापन्न पद $\sum X_{rs}$
को X_{rs} लिखें तो ठीक सदृश नियम लिखे जाएंगे:—

(1) $\mathbf{X}sr = \mathbf{X}rs,$ (2) $\mathbf{X}rr < 0,$

(3) $\sum_{=1}^{s=n} ps\mathbf{X}rs = 0,$ (4) $\sum_{1}^{m} \sum^{m} prps\mathbf{X}rs < 0,$

$$(5)\ \sum_{s=r} p_s \mathbf{X}_{rs} > 0, \qquad (6) \sum_{r=1}^{r=m} \sum_{s=m+1}^{s=n} p_r p_s \mathbf{X}_{rs} > 0.$$

अध्याय ४ का परिशिष्ट

१३. विनिमय-संस्थिति—यहाँ हमको केवल वालरा के क्लासिकल तर्क को अपने पदों में रखना मात्र ही अभीष्ट है।

N व्यक्ति हैं। प्रत्येक व्यक्ति n वस्तुओं की भिन्न मात्राएं लेकर बाजार आता है और पूर्ण स्पर्धा की दशा के अंतर्गत विनिमय करता है। किसी भी rवीं वस्तु की प्रारंभिक मात्रा को, जिसे लेकर एक व्यक्ति बाजार आता है, हम x_r लिखेंगे और विनिमय-उपरांत उसके पास x_r मात्रा होती है। अतः यदि व्यक्ति क्रेता है तो $x_r > x_r$; यदि वह विक्रेता है तो $x_r < x_r$ । मान लीजिए कि आरंभ में सभी व्यक्तियों द्वारा मिलाकर x_r मात्रा लायी गयी थी और अंत में उनके पास x_r मात्रा रह गयी।

पूर्ववत् हम n वस्तुओं की कीमतों को $p_1, p_2, \ldots, p_n$ लिखेंगे। याद रहे कि एक वस्तु (मान लीजिये, x_n) मूल्य का मान हेतु होगा : अतः $p_n =$ । शेष कीमतों, $p_1, p_2, \ldots, p_{n-1}$ को निर्धारित करना है।

निकाय की संस्थिति के लिए प्रत्येक वस्तु की माँग उसकी पूर्ति के बराबर होनी चाहिए—

$$\therefore X_r = X_r \quad (r = 1, 2, 3, \ldots, n). \qquad (१३\cdot१)$$

n वस्तुओं के कारण n समीकरण मिलेंगे किन्तु केवल n -१ कीमतें निर्धारित करनी हैं। एक समीकरण अन्य सभी समीकरणों से निकलता है, इसलिये कोई कठिनाई नहीं उठती। किसी भी प्रतिनिधि व्यक्ति के लिए संस्थिति-समीकरणों में से एक यह है:—

$$\sum_1^n p_r x_r = \sum_1^n p_r \cdot x_r \qquad (११\cdot१)$$

सभी व्यक्तियों के इस समीकरण का योग करके हम लिख सकते हैं—

$$\sum_1^n p_r X_r = \sum_1^n p_r X_r$$

भले ही (१३·१) के समीकरण सही उतरें या न उतरें, यह समीकरण अवश्य सही है।

अतः यदि (१३.१) के n -१ समीकरण सही हैं तो nवाँ भी सही होगा।
अतएव हमारे पास n -१ कीमतें निर्धारित करने के लिए ठीक n -१ स्वतंत्र समीकरण हैं।

अध्याय ५ का परिशिष्ट

१४. विनिमय संस्थिति का स्थायित्व—क्योंकि x_r अचर माना जा सकता है, विनिमय-स्थिरता की दशाओं को ज्ञात करने के लिए dxx_r/dp_r चिन्ह का अध्ययन कर सकते हैं।

पूर्णतया स्थायी संस्थिति हेतु dx_r/dp_r का चिन्ह नीचे की दशा में ऋणात्मक होना चाहिए:—

(१) जब सभी अन्य कीमतें अपरिवर्तित हों;

(२) जब x_s , के वाजार की संस्थिति बनाये रखने के लिए केवल p_s को समायोजित करते हैं और सभी अन्य कीमतें अपरिवर्तित रहती हैं;

(३) जब p_s तथा p_t सदृश रूप से समायोजित होते हैं; और इसी प्रकार यह क्रम चलता है जब तक p_r को छोड़कर (तथा निश्चय ही p_n को छोड़कर क्योंकि वह अवश्य १ है) सभी कीमतें समायोजित कर ली जाती हैं।

उदाहरणार्थ, उक्त तीसरी शर्त का निहित अर्थ है कि $\frac{dx_r}{dp_r}$ ऋणात्मक होगा, यदि

$$\left.\begin{aligned} \frac{dX_r}{dp_r} &= \frac{\partial X_r}{\partial p_r} + \frac{\partial X_r}{\partial p_s}\frac{dp_s}{dpr} + \frac{\partial X_r}{\partial p_t}\frac{dp}{dp_r} \\ 0 &= \frac{\partial X_s}{\partial p_r} + \frac{\partial X_s}{\partial p_s}\frac{dp_s}{dp_r} + \frac{\partial X_s}{\partial p_t}\frac{dp_t}{dp_r} \\ 0 &= \frac{\partial X_t}{\partial p_r} + \frac{\partial X_t}{\partial p_s}\frac{dp_s}{dp_r} + \frac{\partial X_t}{\partial p_t}\frac{d\,p}{dp_r} \end{aligned}\right\} . \qquad (१४.१)$$

dp_s/dp_r तथा dp_t/dp_rका निष्कासन करने पर—

$$\frac{dX_r}{dp_r} = \begin{vmatrix} \frac{\partial X_r}{\partial p_r} & \frac{\partial X_r}{\partial p_s} & \frac{\partial X_r}{\partial p_t} \\ \frac{\partial X_s}{\partial p_r} & \frac{\partial X_s}{\partial p_s} & \frac{\partial X_s}{\partial p_t} \\ \frac{\partial X_t}{\partial p_r} & \frac{\partial X_t}{\partial p_s} & \frac{\partial X_t}{\partial p_t} \end{vmatrix} : \begin{vmatrix} \frac{\partial X_s}{\partial p_s} & \frac{\partial X_s}{\partial p} \\ \frac{\partial X_t}{\partial p_s} & \frac{\partial X_t}{\partial p_t} \end{vmatrix} .$$

इस प्रकार हमको एक संहति मिल जाती है जो निकाय के स्थायित्व के लिए

अवश्य ऋणात्मक होगी ।

सभी सदृश शर्तों को साथ लेकर तथा यह याद रखते हुए कि वे प्रत्येक चर $x_r(r=1,2,3,..,n-1)$ के बाजार के लिए सही होनी चाहिए., स्थायित्व की शर्त सुविधाजनक रूप में रखी जा सकती है । यह आवश्यक है कि निम्नलिखित सभी जेकोबीय संहृतियाँ $r,s\ t,..$ के $_{1,2,3,..},n-1$ तक के मानों के लिए एकांतर से ऋणात्मक तथा धनात्मक होगा:—

$$\frac{\partial X_r}{\partial p_r}, \quad \begin{vmatrix} \frac{\partial X_r}{\partial p_r} & \frac{\partial X_r}{\partial p_s} \\ \frac{\partial X_s}{\partial p_r} & \frac{\partial X_s}{\partial p_s} \end{vmatrix}, \quad \begin{vmatrix} \frac{\partial X_r}{\partial p_r} & \frac{\partial X_r}{\partial p_s} & \frac{\partial X_r}{\partial p_t} \\ \frac{\partial X_s}{\partial p_r} & \frac{\partial X_s}{\partial p_s} & \frac{\partial X_s}{\partial p_t} \\ \frac{\partial X_t}{\partial p_r} & \frac{\partial X_t}{\partial p_s} & \frac{\partial X_t}{\partial p_t} \end{vmatrix}, \ldots \qquad (१४\cdot२)$$

१५. अब हम जानते हैं कि—

$$\frac{\partial X_r}{\partial p_r} = \sum(x_r - x_r)\ \frac{\partial x_r}{\partial M} + \mathbf{X}_{rr}. \qquad (१२.१)$$

अत:, क्योंकि X_{r_r} , अनिवार्यतः ऋणात्मक है, प्रथम-स्तरीय स्थिरता-शर्त केवल तभी पूरी नहीं होगी जब उपर्युक्त पद-संहृति में आय-पद बड़ा तथा धनात्मक हो । किन्तु जब हम अपने (क्रेता तथा विक्रेतायुक्त पूर्ण बाजार वाले समुदाय पर उक्त सूत्र घटाते हैं, तो आय-पद का एक अजीव गुण स्पष्ट होता है । यदि $\delta x_r/\delta M$, जो कि किसी भी दी आय-वृद्धि का x_r की वृद्धि पर प्रभाव है, बाजार-स्थित सभी व्यक्तियों के लिए समान है, तो आय-पद का रूप होगा $(x_r - x_r)\ (\delta x_r/\delta M)$: और क्योंकि संस्थिति की दशा में $X_r = x_r$, इसका अर्थ है कि आय-पद का लोप हो जायगा । फलतः, यदि आय-पद को बड़ा होना है तो यह आवश्यक है कि औसतन आय-परिवर्तन स्वरूप क्रेता तथा विक्रेता की प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न ढंगों से हों । आय-पद के बड़ा तथा धनात्मक होने के लिये यह आवश्यक है कि जब x_r के विक्रेता अधिक आय-वाले बनें तो अपनी प्रतिक्रिया स्वरूप उनके द्वारा किये x_r के उपभोग की वृद्धि उसी दशा में क्रेताओं के x_r की उपभोग-वृद्धि से अधिक हो ।

क्रेताओं तथा विक्रेताओं के बीच ऐसी दृढ़ प्रतिक्रिया ही अस्थिरता का संभव-कारण हो सकता है । यह खोज करने के लिए कि क्या अस्थिरता का कोई अन्य कारण भी हो सकता है, आइए मान लें कि बाजार में ऐसी विशेष प्रतिक्रिया नहीं होती : तब सभी आय-पदों का ध्यान छोड़ा जा सकता है ।

तब स्थिरता-संबंधित जेकोबीय संहतियाँ निम्नांकित रूप ले लेती हैं:—

$$X_{rr},$$

$$\begin{vmatrix} X_{rr} & X_{rs} \\ X_{rs} & X_{ss} \end{vmatrix},$$

$$\begin{vmatrix} X_{rr} & X_{rs} & X_{rt} \\ X_{rs} & X_{ss} & X_{st} \\ X_{rt} & X_{st} & X_{tt} \end{vmatrix}, \ldots .$$

यदि विनिमय संबंधी पूर्ण निकाय को पूर्णतया स्थायी रखना है तो ये सारणिक क्रमशः एकांतर से ऋणात्मक तथा धनात्मक होने चाहिए ।

अब हम अपने नियम (४) से जानते हैं कि बाजार में प्रत्येक व्यक्ति के लिए, संहति $\sum\limits_{1}^{m}\sum\limits_{1}^{m} \lambda_r \lambda_s x_{rs}$ अवश्य ऋणात्मक होगा, भले ही m का मान n तक हो और λ का मान कुछ भी हो। इन संहतियों को सभी व्यक्तियों को लेकर जोड़ने पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि—

$$\sum\limits_{1}^{m}\sum\limits_{1}^{m} \lambda_r \lambda_s X_{rs} ,$$

λ के सभी मानों तथा m के n तक के सभी मानों के लिए ऋणात्मक है । इसका निहित अर्थ यह हुआ कि उपर्युक्त सारणिक क्रमशः एकांतर से ऋणात्मक तथा धनात्मक हैं । अतः यदि आय-प्रभाव का ध्यान छोड़ दें तो स्थिरता की शर्तें पूरी हो जाएंगी ।

विषम आय-प्रभाव ही अस्थिरता का संभव कारण होता है ।

१६. माँग-वृद्धि के प्रभाव—मान लीजिए कि वस्तु x_r की माँग में कुछ वृद्धि हुई । जैसा कि मूल-पुस्तक में (अध्याय ५, §६ में) हमने अध्ययन किया था, हम वृद्धि-प्रभाव की व्याख्या हेतु यह विचार कर सकते हैं कि पुरानी दशा में कीमतों में कौन से परिवर्तन हों कि x_r के बाजार में माँग से पूर्ति कुछ अधिक हो जाय । यहाँ अन्य सभी बाजारों में पूर्ति और माँग बराबर हैं (केवल प्रमाणित वस्तु, x_n, को छोड़कर जिसकी अपेक्षा वस्तु x_r की माँग बढ़ी है) ।

स्थिरता की शर्तों से प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि इसका अर्थ है कि x_r की कीमत में वृद्धि होगी ।

अन्य कीमतों पर पड़ने वाला प्रभाव (१४.१) के समीकरणों से ज्ञात किया जा सकता है । मान लीजिये कि X_r को छोड़कर अन्य सभी वस्तु-कीमतों पर भुलाए जाने योग्य प्रभाव है ।

तब (१४.१) के दूसरे समीकरण से (आय-पदों का ध्यान छोड़ देने पर) हम

पाते हैं कि

$$o = \frac{\partial X_s}{\partial p_r} + \frac{\partial X_s}{\partial p_s}\frac{dp_s}{dp_r}.$$

$$\therefore \frac{dp_s}{dp_r} = -\frac{\partial X_s}{\partial p_r}\Big/\frac{\partial X_s}{\partial p_s} = -\frac{\mathbf{X}_{rs}}{\mathbf{X}_{ss}} \qquad (१६.१)$$

क्योंकि X_{ss} ऋणात्मक हैं, यह निष्कर्ष निकलेगा कि यदि x_s तथा x_r प्रतिस्थापन्न हैं तो x_s की कीमत वढ़ेगी; यदि वे समपूरक हैं तो x_s की कीमत घटेगी।

सूत्र को निम्नलिखित रूप में लिखने पर—

$$\frac{p_r}{p_s}\frac{dp_s}{dp_r} = -\frac{p_r\mathbf{X}_{rs}}{p_s\mathbf{X}_{ss}} = \frac{p_r\mathbf{X}_{rs}}{p_r\mathbf{X}_{rs}+p_0\mathbf{X}_{s0}}$$

(तथा तीसरे नियम के योग से) यह फल निकलता है कि p_r के अनुपात में p_s कम बढ़ेगी : केवल वह दशा अपवाद होगी जहाँ x_s तथा x_o (अर्थात् x_r तथा x_s की जोड़ी छोड़कर, x_s की सभी अन्य वस्तुओं से जोड़ी बनाने पर प्रत्येक) के बीच समपूरकता होती है।

आगे, मान लीजिए कि दो अन्य वस्तुओं, x_s तथा x_s की कीमतों पर काफी प्रभाव पड़ता है। तब (१४.१) के दूसरे तथा तीसरे समीकरणों से हमको मिलता है कि (आय-प्रभाव का ध्यान छोड़ देने पर) निम्नलिखित संवंध सही होगा:—

$$\frac{dp_s}{dp_r} = -\begin{vmatrix} \frac{\partial X_s}{\partial p_r} & \frac{\partial X_s}{\partial p_t} \\ \frac{\partial X_t}{\partial p_r} & \frac{\partial X_t}{\partial X_t} \end{vmatrix} \div \begin{vmatrix} \frac{\partial X_s}{\partial p_s} & \frac{\partial X_s}{\partial X_t} \\ \frac{\partial X_t}{\partial p_s} & \frac{\partial X_t}{\partial p_t} \end{vmatrix}$$

$$= \frac{-\mathbf{X}_{rs}\mathbf{X}_{tt}+\mathbf{X}_{rt}\mathbf{X}_{st}}{\mathbf{X}_{ss}\mathbf{X}_{tt}-\mathbf{X}^2_{st}} \qquad (१६.२)$$

इसके अन्तिम पद का 'हर' स्थिरता-शर्तों के कारण धनात्मक है। अंश का प्रथम पद x_s की कीमत पर पड़ने वाले प्रत्यक्ष प्रभाव को तथा द्वितीय पद x_t के माध्यम से पड़ने वाले प्रभाव को वताता है । यदि x_t का x_r तथा x_s से निकट संबंध नहीं है तो इसका प्रभाव अर्थात् दूसरा पद नगण्य होगा और (१६.१) वाला सरल रूप रह जाएगा।

किन्तु यदि संवंध निकट का है तव अप्रत्यक्ष प्रभाव "प्रतिस्थापन्न का प्रतिस्थापन्न" नियम के अनुसार पड़ेगा ।

१७. स्थिरता—जेकोबी पद-संहतियों में से उस अन्तिम को लीजिए, जिसमें n-१ स्तर तथा कालम हैं जिसमें उसमें प्रमाणीकृत वस्तु को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं

तथा सभी परिवर्तनीय कीमतों का समावेश है। इसको J की संज्ञा दीजिए और इसमें J_{rr}, J_{rs} से $\delta X_r / \delta p_r$ तथा $\delta X_r / \delta p_s$ के सहखंड का संकेत कीजिए। J_{rr} में $\delta X_s/\delta p_s$ तथा $\delta X_s/\delta p_t$ के सहखंड का $J_{rr,ss}$ तथा $J_{rr,st}$ से संकेत कीजिए।

तब, सभी अन्य कीमतों के अप्रत्यक्ष प्रभावों का ध्यान रखकर हम पाते हैं कि (तुलना कीजिए, १४·१ समीकरणों से)—

$$\frac{dX_r}{dp_r} = \frac{J}{J_{rr}}. \qquad (१७·१)$$

यदि हम आय-प्रभावों को भूल जायं और तीसरे नियम की सहायता से X_{rr}, X_{ss}, आदि को हटा दें तो उक्त समीकरण वस्तु-युग्मों के मध्य उदय होने वाले प्रतिस्थापन्न-प्रभावों के पदों में dX_r/dp_r को प्रसरित करता लेखा जा सकता है (यहाँ वस्तु-युग्म होंगे X_{rs}, X_{st}, जहाँ $r \neq s \neq t$)। प्रश्न उठता है कि इस सरल प्रतिस्थापन्न-प्रभावों पर दीखने वाली निर्भरता के संबंध में क्या कहा जा सकता है।

यदि हम (१७·१) को X_{st} से (यहाँ s या t, किन्तु दोनों नहीं, के बराबर हो सकते हैं) अवकलित करें तो हम पाते हैं कि—

$$J_{rr}^2 \frac{\partial}{\partial \mathbf{X}_{st}}\left(\frac{J}{J_{rr}}\right) = J_{rr}\frac{\partial J}{\partial \mathbf{X}_{st}} - J \frac{\partial J_{rr}}{\partial \mathbf{X}_{st}}.$$

हमारे तीसरे नियम से,

$$\frac{\partial \mathbf{X}_{ss}}{\partial \mathbf{X}_{st}} = -\frac{p_t}{p_s},$$

तथा व्युत्क्रम सारणिकों के एक प्रख्यात गुण से यह निष्कर्ष निकलता है—

$$J_{rr}J_{ss} - J_{rs}^2 = JJ_{rr,ss},$$
$$J_{rr}J_{st} - J_{rt}J_{rs} = JJ_{rr,st}.$$

इन साध्यों की सहायता से हम अवकलन पूरा कर सकते हैं—

$$J_{rr}^2 \frac{\partial}{\partial \mathbf{X}_{st}}\left(\frac{J}{J_{rr}}\right) = J_{rr}\left(-\frac{p_t}{p_s}J_{ss} - \frac{p_s}{p_t}J_{tt} + 2J_{st}\right)$$

$$-J\left(-\frac{p_t}{p_s}J_{rr,ss}-\frac{p_s}{p_t}J_{rr,tt}+2J_{rr,st}\right)$$

$$=-\frac{p_t}{p_s}J_{rs}^2-\frac{p_s}{p_t}J_{rt}^2+2J_{rs}J_{rt}$$

$$=-\frac{1}{p_s p_t}(p_t J_{rs}\quad p_s J_{rt})^2$$

और यह निश्चयपूर्वक ऋणात्मक है ।

$dX_r dp_r$ निश्चय रूप से ऋणात्मक है : अतः हमने यह सिद्ध कर दिया कि निकाय की किन्हीं दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन्नता-प्रभाव जितना अधिक होगा, $dx_r dp_r$ का आंकिक मान (*absolute size*) उतना ही अधिक होगा ।

अध्याय ६ का परिशिष्ट

१८. फर्म की संस्थिति की शर्तें—ऐसा सोचा जा सकता है कि फर्म भिन्न कारकों की भिन्न मात्राएँ, y_1, y_2, y_3, y_m, को नियुक्त करके वस्तुओं की $x_m+_1, z_m+_2, \cdots, x_n$ मात्राएँ उत्पन्न करती है। फर्म का ध्येय अपने अतिरेक (या लाभ) को अधिकतम करना है—

$$V=-p_1y_1-p_2y_2-\ldots-p_m y_m+p_{m+1}x_{m+1}+p_{m+2}+\ldots+p_n x_r$$

और इस पर लागू अनुबंध-स्वरूप वह उत्पादन-फंक्शन है जो सभी x और y को संत्रंधित करता है । क्योंकि फर्म के दृष्टिकोण से कारक और उत्पाद में केवल चिन्ह का अंतर है, असुविधा कम करने के लिए– y_r के लिए x_r लिख लें : यहाँ $r < m$ है । तब हम कह सकते हैं कि फर्म—

$$V=\sum_{1}^{n} p_r x_r$$

को अधिकतम करेगी और इस पर लागू अनुबंध है—$f(x_1, x_2, x_3, \ldots x_n) = o1$ (यह ज्ञातव्य है कि फंक्शन f उसी प्रकार अविहित है जैसे उपयोगिता फंक्शन u था । कोई भी फंक्शन $\phi(f)$ जो F के शून्य होने पर शून्य हो जाता है, काम आ सकता है ।)

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मानकर, लगरांज-गुणक को मिलाकर समस्या की व्याख्या की जा सकती है । हम $V-\mu f$ को अधिकतम बनायेंगे जिसकी शर्तें हैं—

$$d(V-\mu f)=0$$
$$d^2(V-\mu f)<0$$

इनमें से पहली शर्त के फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि

$$p_r=\mu f_r (r=1, 2, 3, \ldots, n)$$

यदि μ को निकाल दें तब n-१ समीकरण बचेंगे। इनको तथा उत्पादन-फंक्शन को लेकर हम $x_1, x_2, \cdots, x_n$ नामक n अचर-राशियों के मान निकाल सकते हैं।

क्योंकि V का एक घातीय फंक्शन है, $d^2V=0$; अतः दूसरी शर्त के अनुसार $d^2f>0$ जब कि $df=0$

जैसा कि हमने ४ में किया था, (केवल चिन्हों के अंतर का ध्यान रखते हुए) उसी प्रकार शर्तों को फैलाने पर उसी प्रकार की स्थिरता की शर्तें प्राप्त होती हैं। नीचे लिखा प्रत्येक सारणिक अवश्य ऋणात्मक होगा (इस संबंध में देखिए पीछे २ (३)।

$$\begin{vmatrix} 0 & f_1 & f_2 \\ f_1 & f_{11} & f_{12} \\ f_2 & f_{12} & f_{22} \end{vmatrix}, \quad \begin{vmatrix} 0 & f_1 & f_2 & f_3 \\ f_1 & f_{11} & f_{11} & f_{13} \\ f_2 & f_{12} & f_{22} & f_{23} \\ f_3 & f_{13} & f_{23} & f_{33} \end{vmatrix}, \ldots, \quad \begin{vmatrix} 0 & f_1 & f_2 & \cdot & \cdot & f_n \\ f_1 & f_{11} & f_{12} & \cdot & \cdot & f_{1n} \\ f_2 & f_{12} & f_{22} & \cdot & \cdot & f_{2n} \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ f_n & f_{1n} & f_{2n} & \cdot & \cdot & f_{nn} \end{vmatrix}$$

उपयोगिता सिद्धांत की व्याख्या के सदृश यहाँ भी एक सदृश प्रतीक रखना सुविधा-जनक होगा। यदि हम अंतिम को F लिखें तो F में f_{rs} का सहखंड F_{rs} लिखा जायगा। यह शर्त कि

$$\frac{F_{rr}}{\mu F}$$

घनात्मक है, अविचल है; भले ही हम f के स्थान पर $\varnothing(f)$ को उत्पादन-फंक्शन लिखें।

अध्याय ७ का परिशिष्ट

१९. फर्म की संस्थिति 'कीमत-परिवर्तन का प्रभाव—अब मान लीजिए कि अन्य कीमतें अपरिवर्तित हैं और केवल p_r बदलता है। हम जानते हैं कि संस्थिति समीकरण निम्नलिखित हैं:—

$$\left. \begin{array}{l} f(x_1, x_2, \ldots, x_n)=0 \\ \mu f_r=p_r (r=1, 2 \ldots, n). \end{array} \right\}$$

p_r से इनको अवकलित करने पर हम पाते हैं कि—

$$\left.\begin{array}{l} f_1\frac{\partial x_1}{\partial p_r}+f_2\frac{\partial x_2}{\partial p_r}+\ldots+f_n\frac{\partial x_n}{\partial p_r}=0 \\ f_1\frac{\partial \mu}{\partial p_r}+\mu f_{11}\frac{\partial x_1}{\partial p_r}+\mu f_{12}\frac{\partial x_2}{\partial p_r}+\ldots+\mu f_{1n}\frac{\partial x_n}{\partial p_r}=0 \\ \cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots \\ f_r\frac{\partial \mu}{\partial p_s}+\mu f_{1r}\frac{\partial x_1}{\partial p_r}+\mu f_{2r}\frac{\partial x_2}{\partial p_r}+\ldots+\mu f_r\frac{\partial x_n}{\partial p_r}=1 \\ \cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots \\ f_n\frac{\partial \mu}{\partial p_r}+\mu f_{1n}\frac{\partial x_1}{\partial p_r}+\mu f_{2n}\frac{\partial x_2}{\partial p_r}+\ldots+\mu f_{nn}\frac{\partial x_n}{\partial p_r}=0 \end{array}\right\} \quad (१९.२)$$

$$\frac{\partial x_s}{\partial p_r}=\frac{F_{rs}}{\mu F}. \quad (१९.३)$$

हल करने पर,

स्थिरता—   के रूप से यह स्पष्ट है कि पद $F_{rs}/\mu F$ पर बहुत सदृश वैसे ही नियम लागू होंगे जो उपयोगिता-सिद्धांत में प्रतिस्थापन्न-पदों पर लागू होते हैं। केवल चिन्ह बदल कर नियम सर्वांग समान बनाये जा सकते हैं। अतः आइए लिखें कि—

$$\frac{F_{rs}}{\mu F}=-\mathbf{x}'_{rs}.$$

फलतः, हमारा प्रधान समीकरण होगा—

$$\frac{\partial x_s}{\partial p_r}=-\mathbf{x}'_{rs}, \quad (१९.४)$$

और ऐसे ही सदृश नियमों का सेट होगा—

(1) $\mathbf{x}'_{sr}=\mathbf{x}'_{rs}$,   (2) $\mathbf{x}'_{rr}<0$,

(3) $\sum_{s=1}^{s=n} p_s\mathbf{x}'_{rs}=0$,

(4) $\sum_{1}^{m}\sum_{1}^{m}\lambda_r\,\lambda_s\mathbf{x}_{rs}<0$.

जिस रूप में मूलाधारीय समीकरण लिखा गया है उससे (कारक या उत्पाद किसी की भी) कीमत-परिवर्तन का उत्पाद-पूर्ति पर पड़ने वाला प्रभाव ज्ञात होता है। किसी कारक की माँग पर पड़ने वाले प्रभाव को ज्ञात करने के लिए केवल x_s के स्थान पर $-y_s$ रखना आवश्यक है। तब मूलाधारीय समीकरण होगा—

$$\frac{\delta y_s}{\delta p_r}=\mathrm{X}'_{rs}$$

और सभी नियम पूर्णतया अपरिवर्तित बने रहेंगे ।

२०. कारकों के मध्य संपूरकता की प्रमुख स्थिति की प्रवृत्ति—पिछले दो प्रकरणों में उत्पादन-सिद्धान्त की जो व्याख्या की गयी है उसमें यह निहित रूप में मान लिया है कि साहसोद्यमी के पास कुछ निश्चित उत्पादक-अवसर है जो उसके उत्पादन की मात्रा को सीमित करता है और अतिरेक V को जिसकी अर्जित-आय स्वरूप लेखा जा सकता है। यदि ऐसा कोई निश्चित अवसर नहीं है, तो कोई कारण नहीं कि सभी कारकों को बराबर अनुपात में बढ़ाने पर उसी अनुपात में सभी उत्पाद न बढाये जा सकते। गणित के शब्दों में, यदि $f(x_1,x_2,..,x_n)=o$, तो $f(\lambda x_1,\lambda x_2,..,\lambda x_n)$ भी शून्य होगा : यहाँ λ का मान कुछ भी हो सकता है। (निहित रूप में लिखा, जैसा हमने लिखा है) उत्पादन-फंक्शन शून्य-अंशीय समांग फंक्शन होगा ।

फलस्वरूप, औयलर-प्रमेय के कारण $\sum_{1}^{u} x_r f_r = o1$ । (क्योंकि १९.१ के अनुसार $p_r = \mu f_r$ और इसका निहित अर्थ हुआ, $V = o1$) । पुनर्अवकलन द्वारा

$$f_s + \sum_{r=1}^{r=n} x_r f_{rs} = 0 \quad (\text{जहां } s = १, २, ३, .., n)$$

इन सर्वांग समानताओं को स्थिरता-सारणियों पर लागू करने पर (अर्थात् सारणिक के २रे, ३रे, ...कालमों को क्रमशः $x_1, x_2, ...$ से गुणा करके पहले कालम में जोड़ने पर) ज्ञात होता है कि (स्थिरता सारणिकों में से अन्तिम) F शून्य हो जाता है ।

क्योंकि $x'_{rs} = \frac{F_{rs}}{uF}$, यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी के पद अनंत मान वाले हैं। यदि अन्य सभी कारकों और उत्पादों की कीमतें अपरिवर्तित रहें तो सस्थिति को बिगाड़े बिना किसी एक कारक (या उत्पाद) की कीमत नहीं बदल सकती है। यदि किसी उत्पाद की कीमत बढ़ती है तो उसका उत्पादन अनंत हो जायगा । यदि किसी कारक की कीमत बढ़ती है तो उत्पादन शून्य हो जायगा । जिस सीमा-वाले उदाहरण का हम विचार कर रहे हैं, हमारी व्याख्या पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो जायगी ।

तब भी कीमत परिवर्तन के साथ कारकों की माँग तथा उत्पादों की पूर्ति के परिवर्तन की दिशा का ज्ञान प्राप्त करना उपयोगी है, क्योंकि दिशा संबंधी ये नियम उस समय तो लागू होंगे ही जब सीमा-वाले उदाहरण की ओर हम प्रवृत्त होते हैं, परंतु

सीमा तक पहुँचते नहीं। इसे जानने के लिए उस दशा में F_{rs} का मान निकालना चाहिए जब उत्पादन-फंक्शन शून्य-अंशीय तथा समांग है।

हम जानते हैं कि F_{rs}

$$=(-1)^{r+s}\begin{vmatrix} 0 & f_1 & \cdot & \cdot & f_{r-1} & f_{r+1} & \cdot & \cdot & f_n \\ f_1 & f_{11} & \cdot & \cdot & f_{1,r\,1} & f_{1,r+1} & \cdot & \cdot & f_{1n} \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ f_{s-1} & f_{1,s=1} & \cdot & \cdot & f_{r-1,s-1} & f_{r+1,s=1} & \cdot & \cdot & f_{s-1,n} \\ f_{s+1} & f_{1,s+1} & \cdot & \cdot & f_{r-1,s+1} & f_{r+1,s+1} & \cdot & \cdot & f_{s+1,n} \\ \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot & \cdot \\ f_n & f_{1n} & \cdot & \cdot & f_{r-1,n} & f_{s+1,n} & \cdot & \cdot & f_{nn} \end{vmatrix}$$

ऊपर जैसा F के साथ किया था वैसे ही दोहरे प्रयोग वाले ढंग से उपर्युक्त संहति को संवरित करके हम इसको $x_r x_s F_o$ के बराबर पाते हैं। यहाँ के सारणिक में F_o शून्य (०) का सहखंड है अर्थात् वह सारणिक का प्रधान लघु है। अतः सभी r और s के लिए—

$$X'_{rs}=-x_r x_s \frac{F_o}{\mu F}$$

क्योंकि हम जानते हैं कि X'_{rr} ऋणात्मक है, यह निष्कर्ष निकलता है कि $Fo/\mu F$ अवश्य धनात्मक होगा। यदि x_r तथा x_s दोनों उत्पाद हैं, या दोनों कारक हैं, तो $x_r x_s$ धनात्मक होगा और X_{rs} ऋणात्मक। यदि x_r तथा x_s में से एक उत्पाद है और दूसरा कारक, तो $X_r X_s$ ऋणात्मक होगा और X'_{rs} धनात्मक।

फलस्वरूप, विचाराधीन सीमा वाले उदाहरण में, हमें यह प्रत्याशा करनी ही होगी कि सीमा आते-आते कारक और उत्पाद दो समपूरक वर्गों में बँट जायँगे ; तथा 'प्रतिस्थापन्नता', जो अब भी (कारक तथा उत्पादों से युक्त) संपूर्ण निकाय में अवश्य प्रमुख स्थान रखेगी, पूर्णतया कारक-उत्पाद संबंधों द्वारा ही सम्पन्न होगी।

अध्याय ८ का परिशिष्ट

२१. उत्पादन की सामान्य संस्थिति—अब हमको अब तक के सभी निष्कर्षों को एकत्र कर लेना चाहिए, और समस्त स्थैतिक-निकाय को समझने के लिए उनका उपयोग करना चाहिए। (जैसा मूल-पुस्तक में लिखा है.) अर्थ-व्यवस्था की जनता निम्नांकित वर्गों में से किसी एक (अथवा दोनों) के साधनों की पूर्ति करती है:— (१) वस्तुएं अथवा सेवाएं जो सीधे बाजार में बेची जा सकती हैं; (२) साहसोद्यम-गत साधन, जिनको विनिमय-साध्य वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए काम में ला सकते हैं, किन्तु जिन्हें स्वतंत्र रूप से नहीं बेचा जा सकता है; किसी भी दिये हुए कीमतों

के निकाय पर केवल उन्हीं सहसोद्यम-गत कारकों को नियुक्त किया जायगा जिनकी नियुक्ति से धनात्मक लाभ होगा ।

कीमतों के दिये हुए निकाय की पृष्ठभूमि में, उपभोक्ताओं द्वारा माल की विशिष्ट माँग की जायगी और X_r वस्तु की माँग के लिये हम X_r लिखेंगे । प्राइवेटव्य व्यक्तियों द्वारा कुछ $(\overline{X_r})$ प्रत्यक्ष पूर्ति की जायगी तथा कुछ नये बने माल की पूर्ति (X'_r) होगी ।X_r के बाजार में संस्थिति तभी होगी जब—

$$X_r = \overline{X}_r + X'_r \qquad (२१.१)$$

ध्यान रहे कि यह समीकरण पूर्णतया सामान्य है और किसी भी वस्तु, सेवा, उत्पाद या कारक के लिए लिखा जा सकता है । यदि X_r ऐसा निर्मित उपभोग-माल है कि उसकी पूर्ति केवल नये उत्पादन से होती है अर्थात् यदि $\overline{X_r} = 0$, तो उक्त समीकरण होगा—

$$X_r = X'_r$$

यदि हम उत्पादन के साधन (यथा, श्रम) का उदाहरण लें तो X'_r ऋणात्मक होगा । X_r में कारक की सेवाओं की सभी प्रत्यक्ष माँग निहित है और यह कुछ सीमा तक अन्य व्यक्तियों के कारण होती है और कुछ स्वयं कारक के पूर्तिकर्ता (स्वामी) के कारण । (कारक की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का विचार करने के लिए यह सबसे अधिक सुविधाजनक ढंग है ।) अतः समीकरण का निम्नांकित रूप होगा—

$$(-X'_r) + X_r = \overline{X_r}$$

यदि X_r ऐसा अर्धनिर्मित माल है जो उत्पादन-प्रक्रम के बीच ही तैयार होता है और खप भी जाता है परंतु जिसकी एक फर्म द्वारा दूसरी फर्म को बिक्री की जाती है तो X_r तथा $\overline{X}_r$ दोनों ही शून्य होंगे; और तब समीकरण होगा—

$$X'_r = 0$$

(अर्थात् सभी फर्मों द्वारा की गई कुल वास्तविक पूर्ति शून्य है ।)

इस प्रकार एक ही प्रकार का समीकरण सभी वस्तुओं और सेवाओं के लिए काम आ जायगा । पूर्ववत्, किसी एक वस्तु को मूल्य-मानदण्ड स्वरूप मानना पड़ेगा जिससे n वस्तुओं के होते हुए भी केवल n -१ कीमतों का ही निर्धारण करना होगा । पूर्ववत्, एक समीकरण अन्य सभी समीकरणों से निकल आयेगा । किसी एक व्यक्ति की संस्थिति के समीकरण होंगे—

$$\sum_{r=1}^{r=n} p_r\, x_r = \sum_{r=1}^{r=n} p_r \bar{x}_r + V$$

यहाँ $\sum V$ व्यक्ति के पास उपलब्ध साहसोद्यम-गत साधन जनित लाभ है। सभी व्यक्तियों को लेकर इस समीकरण का योग लिखेंगे—

$$\sum_1^n p_r X_r = \sum_1^n p_r \overline{X}_r + \sum V$$

यहाँ $\sum V$ पूरी अर्थ व्यवस्था में जनित लाभों का योग है।

इसी प्रकार, किसी एक फर्म में,

$$\sum_1^n p_r x_r = V \tag{१८.१}$$

और इनका योग करें तो—

$$\sum_1^n p_r X'_r = \sum V$$

$$\therefore \sum_1^n p_r (X_r - \overline{X}_r - X'_r) = 0$$

अतः यदि संस्थिति समीकरण (२१.१) n-१ माल के लिए सही है तो वह nवें माल के लिए भी सही होगा। केवल n-१ स्वतंत्र समीकरण है और निकाय पूर्णतया निर्धारित है।

२२. सामान्य संस्थिति की स्थिरता—जैसा कि विनिमय-संस्थिति के संबंध में सही है, स्थिरता हेतु यह आवश्यक है कि किसी बाजार में कीमत घटने पर पूर्ति की अपेक्षा माँग अधिक हो जाय। पूर्ण स्थिरता हेतु यह शर्त पूरी होनी चाहिए (१) यदि सभी अन्य कीमतें अपरिवर्तनशील हों और (२) यदि एक-एक करके वे सभी इस प्रकार समायोजित होती हैं कि अन्य बाजारों की संस्थिति अपरिवर्तित रहे। अपूर्ण स्थिरता हेतु केवल यह आवश्यक है कि जब सभी कीमतें समायोजित हो जायँ तब शर्त पूरी उतरे।

शर्त को इस रूप में लिख सकते हैं— $\frac{d}{dp_r}(X_r - \overline{X}_r - X') \angle 0$ किन्तु क्योंकि $\overline{X}_r$ को कीमतों से अलग और स्वतंत्र दिया हुआ माना जा सकता है, शर्त को घटाकर यों लिख सकते हैं:—

$$\frac{d}{dp_r}(X_r - X'_r) < 0$$

जैसा कि हमने § १४ में किया था, यहाँ भी वैसे ही उक्त संहति को फैला सकते हैं।

यह दो सारणिकों के अनुपातस्वरूप प्रतीत होता है जिसका प्रतिनिधि पद — $\frac{\partial}{\partial p_r}(X_s - X'_s)$ है ।

हम जानते हैं कि इस अन्तिम संहृति को कैसे फैलायें। (१२.१) की सहायता से–

$$\frac{\partial X_s}{\partial p_r} \Sigma(x_r + x'_r - x_r) \frac{\partial x_s}{\partial M} + X_{rs}$$

(यहाँ p_r के परिवर्तनों के साथ V में भी परिवर्तन होना माना गया है।)

सूत्र (१९.४) से $\frac{\partial x}{d p_r} = - x'_{rs}$ निकाय की प्रत्येक फर्म के लिए सत्य है। अत: सबका योग करने पर,

$$\frac{\partial X'_s}{\partial p_r} = -X'_{rs}$$

जहाँ X'_{rs} पर वही नियम लागू होते हैं जो X_{rs} पर ।

फलत: $\frac{\partial}{\partial p_r}(X_s - X'_s) = \Sigma(\bar{x}_r + x'_r)\frac{\partial x_s}{\partial M} + X_{rs} + X'_{rs}$ । क्योंकि X_{rs} X_{rs} तथा X'_{rs} पर वही नियम लागू होते हैं, $X_{rs} + X'_{rs}$ भी उन्हीं से अनुबंधित होगा ।

अत: विनिमय-सिद्धान्त के अध्ययन में हमने $\frac{\partial X_s}{\partial p_r}$ पर जिन नियमों को लगते पाया था वही $\frac{\partial}{\partial p_r}(X_s - X_s')$ पर भी लागू होंगे । फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि उत्पादन की सामान्य संस्थिति का विश्लेषण अब ठीक उसी प्रकार का होगा जैसा विनिमय की सामान्य-संस्थिति का; और व्यापक दृष्टि से §§ १५-१७ के सभी प्रमेय की यहाँ पुन: व्याख्या की जा सकती है ।

अध्याय १५ का परिशिष्ट

२३. उत्पादन-योजना का निर्धारण—जिस प्रकार स्थैतिक सिद्धांत के संबंध में सुविधाजनक था, उसी प्रकार आइए अब भी हम उत्पादन-साधनों को ऋणात्मक उत्पाद मानते चलें। प्रावैगिक दृष्टि से फर्म की समस्या प्रारंभिक यंत्रसामग्री से संभव उत्पादित निर्गतों के उस प्रवाह को ज्ञात करना है जिसका पूंजीगत मूल्य अधिकतम होगा (मिलाइए अध्याय १५, वर्ग ४ का विचार) । यदि हम आयोजित रूप में अब से आगे के सप्ताहों में विकने वाली X_r की मात्राओं को क्रमश:

$$x_{r0}, x_{r1}, x_{r2}, \ldots\ldots, x_r v$$

लिखें, तो यह मानकर कि अगले u सप्ताहों के लिए योजना बनायी गयी है, उत्पाद-

फंक्शन निम्मांकित प्रकार का होगा —

$$f(x_{10}, x_{20}, .., x_{n0}, x_{11}, x_{21}, ..., x_{n1}, x_{12}, x_{22}, .., x_{1u}, x_{2u}, .., x_{n}) = 0$$

अतः योजना का पूंजीकृत मूल्य होगा—

$$C = (= \sum_{r=1}^{r=n} \sum_{t=0}^{t=u} (\beta_t^t p_{rt} x_{rt})$$

यहाँ $\beta_t = 1/(1+i_t$ और i_t वह साप्ताहिक ब्याज-दर है जो t सप्ताह के ऋण पर लगती है ; x_r की वर्तमान-कीमत p_{r0} है और p_{rt} वह कीमत है जिसके अब से t वें सप्ताह में होने की साहसोद्यमी प्रत्याशा करता है। (जैसा कि मूल पुस्तक के अध्याय ९, § ६ में वर्णित किया गया है, उसी अर्थ में जोखिम के लिए p_{rt} को समायोजित समझना चाहिए ।)

पूर्ण-स्पर्धा के अंतर्गत स्थित किसी एक साहसोद्यमी की दृष्टि से सभी β तथा p दिये हुए हैं। फलतः बाह्य रूप में अधिक जटिल प्रतीत होने वाली यह समस्या ठीक उसी प्रकार की है जिसका § १८ में ऊपर विचार किया जा चुका है। अतः संस्थिति-समीकरणों को पूर्ण रूप से लिखना अनावश्यक है। जिन नियमों से कीमतों अथवा कीमत-प्रत्याशाओं में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप उत्पादन-योजना के समायोजित होने का ढंग निर्धारित होगा वे § १९ में दिये नियमों के सदृश होंगे। लेकिन प्रतिस्थापन्न-पदों पर लागू छहों नियमों को लिखते समय हमको p_r के स्थान पर $\beta_t^t p_{rt}$ लिखना होगा; तथा सभी t तथा r के मानों को लेकर ही योग करेंगे ।

अध्याय १७ का परिशिष्ट

२४. उत्पादन-योजना पर ब्याज का प्रभाव—कीमतों तथा कीमत-प्रत्याशाओं को दिया हुआ मान कर जब हम योजना पर पड़ने वाले ब्याज-परिवर्तनों के प्रभाव के संबंध में विचार करते हैं, तो इस गुण का उपयोग करना सुविधाजनक है कि विचाराधीन समस्या हेतु वे सभी उत्पाद, जिनके अपहरित कीमत-अनुपात दिये हुए समझे जा सकते हैं, एक उत्पाद समान माने जा सकते हैं। फलतः हम किसी विशेष सप्ताह के लिए आयोजित विभिन्न प्रकार के निर्गतों (और आगतों) में भेद करने की बात भूल सकते हैं, और अपने सूत्र में कीमतों का स्पष्ट उल्लेख भी अनावश्यक हो उठता है। अब से आगे x_t उन सभी निर्गतों तथा आगतों के प्रत्याशित द्राव्यिक-मूल्य का सामूहिक प्रतिनिधित्व करेगा जिनके लिए t सप्ताह के पश्चात् वाले सप्ताह से आयोजन किया गया है। अन्य शब्दों में, x_t विचाराधीन सप्ताह का आयोजित अतिरेक है

इस साधारणीकरण को अपनाकर हम कह सकते हैं कि साहसोद्यमी निम्नांकित को अधिकतम बनाने की चेष्टा करता है—

$$C = \sum_{t=o}^{t=v} (\beta_t{}^t x_t)$$

और इसका अनुबंध होता है— $f(x_0, x_1 \ldots, x_u) = 0.$

t' सप्ताहों के ऋणों के अतिरेक x पर पड़ने वाला प्रभाव इससे ज्ञात होगा कि—

$$\frac{\partial x_t}{\partial (t^{/t/})} = -\mathbf{x}'_{tt'}$$

यहाँ पूर्वोक्त छः नियमों में से जिस नियम द्वारा X'' अवश्य अनुबंधित होना पड़ेगा (वह) नियम ३ है।

$$\sum_{t'=o}^{t'=v} (\beta_t{}^{t'} \mathbf{x}'_{tt'}) = 0. \qquad (२४.१)$$

ब्याज-दरों के सामान्य परिवर्तन के अतिरेक पर पड़ने वाले प्रभाव को जानने हेतु, सर्वप्रथम यह ज्ञातव्य है कि—

$$\frac{d(\beta_t{}^{t'})}{d\beta_{t'}} = t'\beta_t{}^{t'-1}$$

और इसलिए

$$\frac{\partial x_t}{\partial \beta_{t'}} = -t'\beta_t{}^{t'-1}\mathbf{x}'_{tt'}.$$

फलतः यदि सभी पक्षों के ऋणों के अपहरण-अनुपात (β) समान अनुपात में बदलें तो x_t पर पड़ने वाला प्रभाव इससे ज्ञात होगा—

$$\frac{dx_t}{d\beta} = -\sum_{t'=o}^{t'=v} t'\beta_t{}^{t'-1}\mathrm{x}'_{tt'} = -\sum_{t'=o}^{t'=v} t'\beta^{t'\ 1}\mathrm{x}'_{tt'}$$

बशर्ते सभी पक्षों के ऋणों की साप्ताहिक ब्याज-दरें (अतः अपहरण-अनुपात भी) बराबर हों।।

सूत्र (२४-१) की मदद से हम लिख सकते हैं कि—

$$\beta\frac{dx_t}{d\beta} = \sum_{t'=o}^{t'=v} (t - t')\beta^{t'}\mathrm{x}'_{tt'}.$$

इस अंतिम संहति को फैलाकर लिखने पर यह स्पष्ट होगा कि X'_{s_s} कट जाएँगे।

किन्तु नियम २ के अनुसार X'_{tt} ऋणात्मक हैं: यदि संपूरकता न हो तो शेष $X_t''t$ धनात्मक होंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि ब्याज-दर गिरे (अर्थात् β बढ़े) तो x_t से पहले के अतिरेकों के विपक्ष में और x_t के पक्ष में प्रतिस्थापन्न किया जायगा। इसी प्रकार x_t के विरुद्ध और x_t से बाद उदय होने वाले अतिरेकों के पक्ष में प्रतिस्थापन करेंगे। यही सामान्य नियम है, किंतु संपूरकता के कारण यह जटिल बन जाता है।

२५. योजना की औसत अवधि—अध्याय १७ की भाँति यदि औसत अवधि की परिभाषा हो—

$$P = \frac{\sum_{0}^{u} t\beta^t x_t}{\sum_{0}^{u} \beta^t x_t}.$$

$$\therefore \sum_{0}^{v} (P-t)\beta^t x_t = 0.$$

ऊपर अध्याय १७§४ के अन्तिम पैरा में दिये नियमानुसार, β^t को अचल रखकर यदि हम उपर्युक्त अंतिम समीकरण को β से अवकलित करें तो—

$$\sum_{0}^{v} \left[\frac{dP}{d\beta}\beta^t x_t + (P-t)\beta^t \frac{dx_t}{d\beta}\right] = 0.$$

$$\therefore \quad \beta C \frac{dP}{d\beta} \sum_{0}^{v} \left[(P-t)\beta^{t+1}\frac{dx_t}{d\beta}\right] \text{क्योंकि } \Sigma\beta^t x_t = C)$$

$$= \sum_{0}^{v}\sum_{0}^{v}[(P-t)t'\beta^{t+t'}x'_{tt'}] \qquad (२४.२)$$

अब (२४-१) से,

$$\sum_{t=0}^{t=v} \beta^t x'_{tt'} = 0. \therefore \sum_{t=0}^{t=v} (t'P\beta^{t+t'}x'_{tt'}) = 0$$

यह t' के सभी मानों के लिए सही है।

$$\therefore \beta C \frac{dP}{d\beta} = -\sum_{0}^{v}\sum_{0}^{v} tt'\beta^{t+t'}x'_{tt'}. \qquad (२५-१)$$

यदि हम $t\beta^t = \lambda_t$, लिखें तो उक्त अंतिम समीकरण का दाहिना पक्ष यह हो जायगा

$$\Sigma\,\Sigma\lambda_t\lambda_{t'}x'_{tt'}.$$

और (१९) सेक्शन के नियम (४)से हम कह सकते हैं कि यह सभी λ — मानों के लिए अनिवार्यतः ऋणात्मक है। अतः सूत्र (२५.१) का दक्षिण-पक्ष अवश्य धनात्मक है, और इसलिए $dp/d\beta$ भी। β की वृद्धि का अर्थ है व्याज-दर में ह्रास : अतः व्याज-दर में ह्रास होने से योजना की औसत-अवधि बढ़ जायगी।

अतिरिक्त टिप्पणी अ

माँग का साधारणीकृत नियम

१. पीछे हम यह दिखा चुके हैं कि यदि कीमतों के बदल जाने पर उपभोक्ता उसी अनधिमान स्तर पर रहता है तो कीमत-परिवर्तन के पश्चात् क्रय की गयी वस्तु-मात्राओं का परिवर्तन के पूर्व की कीमतों पर अनुगणित मूल्य, इन्हीं कीमतों पर परिवर्तन-पूर्व क्रय की गयी मात्राओं के मूल्य से अधिक होगा। क्योंकि पहले के कुल व्यय से केवल पहले वाली मात्राएँ क्रय की जा सकती थीं, उसी अनधिमान वक्र पर स्थित बिंदु से संबंधित अन्य मात्रा-समूह का मूल्य (अतः परिवर्तन-पश्चात् की मात्राओं का, जो उसी वक्र पर हैं, का भी मूल्य) अधिक होगा ही।

इस प्रकार यदि $p_r)r = 1,2,..,n)$ परिवर्तन से पूर्व की कीमतें हों, और $p_r + dp_r$ बाद वाली कीमतें; यदि x_r परिवर्तन से पहले क्रय की जाने वाली मात्राएँ, और $x_r + dx_r$ बाद वाली मात्राएँ; तो किसी भी दी हुई अनधिमान सतह पर इस सिद्धांत के अनुसार

$$\Sigma p_r x_r < \Sigma p_r (x_r + dx_r). \quad \therefore \quad \Sigma p_r dx_r > 0.$$

(अत्यणु परिवर्तन के लिए, गणितीय परिशिष्ट के § ८ में दिये नियम (३) की सहायता से हम कह सकते हैं कि $\Sigma p_r dx_r = 0$ (जैसा कि होना चाहिए) क्योंकि अनधिमान वक्र और कीमत-रेखा का स्पर्श होता है। नया नियम अत्यणु से भी अधिक परिवर्तनों के लिए सही है।)

यदि हम दूसरी स्थिति से चलकर पहली स्थिति को वापस जाएँ तो पूर्वोक्त कारण-वश ही हम लिखेंगे—

$$\Sigma(p_r + dp_r)(x_r + dx_r) < \Sigma(p_r + dp_r)x_r. \quad \therefore \Sigma(p_r + dp_r)dx_r < 0.$$

इन दो असमताओं से हम पाते हैं कि $\Sigma dp_r dx_r < 0$,जैसा कि गणितीय परिशिष्ट के § ८ में अत्यणु-परिवर्तनों के लिए सिद्ध किया जा चुका है।

२. उपर्युक्त साध्यों के दो प्रयोग उल्लेखनीय हैं। एक तो देशनांक के सिद्धांत से संबंधित है। उपर्युक्त दूसरी असमता के आधार पर हम कह सकते हैं कि—

$$\frac{\Sigma(p_r+dp_r)(x_r+dx_r)}{\Sigma p_r(x_r+dx_r)} < \frac{\Sigma (p_r+dp_r)x_r}{\Sigma p_r(x_r+dx_r)},$$

और पहले वाली असमता से,

$$\frac{\Sigma(p_r+dp_r)x_r}{\Sigma p_r(x_r+dx_r)} < \frac{\Sigma(p_r+dp_r)x_r}{\Sigma p_r x_r}.$$

फलतः

$$\frac{\Sigma(p_r+dp_r)(x_r+dx_r)}{\Sigma p_r(x_r+dx_r)} < \frac{\Sigma(p_r+dp_r)x_r}{\Sigma p_r x_r}.$$

इनमें से प्रथम (दोनों में से द्वितीय स्थिति में उपभोग की गयी मात्राओं से भारित) कीमतों का पास्के देशनांक है; दूसरा (पहली स्थिति में उपभोग की गयी मात्राओं द्वारा भारित) कीमतों का लास्पेरे देशनांक है। इस प्रकार, मानी शर्तों के अन्तर्गत हमारे साध्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि लास्पेरे देशनांक की अपेक्षा पास्के देश-नांक कम होगा।

तथापि ध्यान रहे कि यह निष्कर्ष केवल उस स्थिति के लिए सिद्ध किया है जब उपभोक्ता उसी अनधिमान स्तर पर है—अर्थात्, यद्यपि सापेक्ष कीमतों में परिवर्तन हुआ है, वास्तविक आय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि वास्तविक आय में परि-वर्तन हो तो आय-प्रभाव का उदय होगा और संभव है कि दोनों देशनांकों के संबंध, जिसे प्रतिस्थापन्न-प्रभाव के क्षेत्र का संबंध कहा जा सकता है, विकृत हो उठें। जब यह तर्क एक उपभोक्ता को छोड़कर उपभोक्ताओं के समूह के संबंध में लागू किया जाता है तब अधिक पुष्टि के साथ कहा जा सकता है कि वास्तविक आय के पुनर्वितरण के कारण परिवर्तन होंगे, क्योंकि कीमतें बदली हैं। (इनमें से कुछ विशेषताओं का विश्ले-षण बोले लिखित "अर्निंग्स एंड प्राइसेज़", रिव्यू ऑव इक्नामिक स्टडीज़, जून १९४१ में दिया हुआ है।)

अंत में इस बात पर जोर देना ही चाहिए कि तर्क का संबंध दी हुई आवश्यकताओं वाले उपभोक्ता, या उपभोक्ताओं के व्यवहार पर बदलती कीमतों के प्रभाव से है। यदि परिवर्तन दी हुई आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में उत्पादन सामर्थ्य में होने के बजाय, दी हुई उत्पादन सामर्थ्य की पृष्ठभूमि में आवश्यकताओं के क्षेत्र में होता है, तो हो सकता है कि हमको यह आशा करना उचित हो कि देशनांकों के मध्य का उल्लिखित संबंध विपरीत दिशा में होगा।

३. दूसरा प्रयोग उपभोक्ता के अतिरेक से संबंधित मूलाधारीय साध्य के साधा-

रणीकरण से संबंधित है। अध्याय २ के अंतिम पृष्ठों में हमने सिद्ध किया था कि यदि किसी वस्तु-विशेष की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता की आय के क्षतिपूरक परिवर्तन को उस अंतर से अधिक होना पड़ेगा जो परिवर्तन-पूर्व क्रय की गयी मात्रा की पिछली और नयी कीमतों पर अनुगणित मूल्यों में है। स्पष्टतया यही तर्क अधिक जटिल कीमत-परिवर्तन (यथा, दो या तीन कीमतों का एक साथ बदलना) के संबंध में दिया जा सकता है। जब कोई कीमत p से घटकर $p+dp(dp<0)$ हो जाती है तो परिवर्तन $-xdp$ से अधिक होगा : जब कई कीमतें गिरती हैं तो क्षतिपूरक परिवर्तन—Σxdp से अधिक होगा। यह अब भी सत्य है कि यदि कीमतें घटने के साथ-साथ आय भी—Σxdp से घट जाय तो वस्तुओं की मात्राएँ पूर्ववत् क्रय की जायँगी और उपभोक्ता की हालत गिर नहीं सकती : अपितु अब प्रतिस्थापन के नये अवसर, जो पुरानी स्थिति में उपलब्ध नहीं थे, सामने आयेंगे जिसके फलस्वरूप साधारणतया उपभोक्ता अपनी स्थिति को पहले की अपेक्षा उत्तम बना सकेगा। यदि वह उसको अपेक्षाकृत उत्तम नहीं बनने देना है तो उसको– Σxdp से अधिक घाटा देना ही होगा।

अब इस प्रमेय के गणितीय रूप का विचार कीजिए। हम जानते हैं कि संस्थिति की दशा में

$$u=u(x_1, x_2,..,x_n),\ M=\Sigma p_r x_r,\ u_r=\mu p_r (r=1, 3,....,n)$$

सिद्धांत की दृष्टि से, इन $n+$ २ समीकरणों की सहायता से $n+$१ चरों ($x_1, x_2, .., x_n$ तथा μ) का निष्कासन संभव है : तब $M, p^1, p^2, .., p_n$ तथा u के मध्य एक समीकरण रह जायगा। इसको अन्य पदों में M के निर्धारण-समीकरण के रूप में देखा जा सकता है। (u को अचर-राशि मानकर) कीमतों द्वारा M के आंशिक-अवकलनों से M (आय) के उन क्षतिपूरक परिवर्तनों का ज्ञान हो जाता है जो कीमत-परिवर्तन के प्रभाव को काटने तथा उपयोगिता u को पूर्ववत् रखने के लिए आवश्यक हैं। (क्योंकि हम केवल उन स्थितियों की ओर ध्यान दे रहे हैं जिनमें u अपरिवर्तित है, हमारे तर्क हेतु उपयोगिता की अनिर्धारितता की बात नहीं उठती है।)

कीमतों में सामान्य परिवर्तन से संबंधित क्षतिपूरक परिवर्तन नीचे के सूत्र से ज्ञात होंगे जिसमें द्विघातीय सन्निकटन काम में लाया गया, क्योंकि उपभोक्ता की अति-रेक संबंधी समस्याओं में यह सदैव आवश्यक है :—

$$dM=\sum_r \frac{\partial M}{\partial p_r} dp_r+\tfrac{1}{2} \sum_r\sum_s \frac{\partial^2 M}{\partial p_r \partial p_s} dp_r dp_s,$$

अब $\frac{\partial M}{\partial p_r} = x_r + \sum p_s \frac{\partial x_s}{\partial p_r}$ यह संस्थिति समीकरणों में से दूसरे के आधार पर है)

और यदि u अचर हो तो $0 = \frac{\partial u}{\partial p_r} = \sum_s u_s \frac{\partial x_s}{\partial p_r} = \mu \sum_s p_s \frac{\partial x_s}{\partial p_r}$ (यह तीसरे संस्थिति समीकरण से सही है); इस प्रकार u को अचर मान कर $\sum_s p_s \frac{\partial x_s}{\partial p_r} = 0$

और अतएव $\frac{\partial M}{\partial p_r} = x_r$.

फलतः उसी अनधिमान वक्र पर से,

$$\frac{\partial^2 M}{\partial p_r \partial p_s} = \frac{\partial x_r}{\partial p_s};$$

और यह $= X_{rs}$. अतः द्विघातीय पद का संवरित रूप $\frac{1}{2}\Sigma\Sigma X_{rs}\, dp_r dp_s$ $\frac{1}{2}\Sigma dx_r dp_r$ या जिसे अनधिमान सतह पर लिया है और, जैसा हम देख चुके हैं, यह निश्चय ही ऋणात्मक है ।

इस प्रकार $dM = \sum_r x_r dp_r + \frac{1}{2}\sum_{rs}\Sigma X_{rs} dp_r dp_s$.

कीमतों के गिरने पर, सभी

पद ऋणात्मक होते हैं; इसलिए क्षतिपूरक परिवर्तन मात्रा में— $\Sigma x dp$ से अधिक है । कीमत बढ़ने की दशा में प्रथम दो पद धनात्मक होंगे और क्षतिपूरक परिवर्तन मात्रा में $\Sigma x dp$ से कम होगा ।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम प्रकाशन-कालांतर उपभोक्ता के अतिरेक के सिद्धांत संबंधी जो विश्लेषण हुए हैं उनसे स्पष्ट है कि यह आवश्यक है कि हम निम्नलिखित दोनों परिवर्तनों में भेद करें:—

(अ) क्षतिपूरक परिवर्तन जो ऐसा आय-परिवर्तन है कि कीमतों के दिये परिवर्तनों के प्रभाव को काट देता है;

(ब) तुल्य-परिवर्तन जो आय में वह परिवर्तन है जो प्रारंभिक कीमत-स्थिति में होते हैं और जिनके कारण उपयोगिता में वही परिवर्तन होता है जो कीमत-परिवर्तन के कारण होता है ।

क्योंकि, एक दिशा में कीमत-परिवर्तनवश उपयोगिता-परिवर्तन विपरीत दिशा में उतने ही कीमत-परिवर्तनवश होने वाले उपयोगिता-परिवर्तन के बराबर परंतु चिन्ह में विपरीत होता है, हम कह सकते हैं कि कीमत निकाय A से कीमत-निकाय-B पर जाने से संबंधित तुल्य-परिवर्तन उस क्षतिपूरक-परिवर्तन के बराबर है जो कीमत निकाय B से कीमत-निकाय A पर आने से संबंधित है। अतः हम $p_r + dp_r$ से p_r तक आने से संबंधित क्षतिपूरक परिवर्तन निकाल कर कीमतों के p_r से $p_r + dp_r$ हो जाने से संबंधित तुल्य-परिवर्तन ज्ञात कर सकते हैं। (यह स्मरण रखते हुए कि प्रभाव को शून्य करने वाले आयपरिवर्तन की अनुपस्थिति में कीमत-परिवर्तन होने पर संबंधित मात्राएँ इस प्रकार समायोजित करेंगे कि हम अपने मूलाधारीय समीकरण (देखिए गणितीय परिशिष्ट §७) के उपयोग को बढ़ा सकें और अनधिमान-वक्र पर न चलना पड़े। हम अपने सूत्र में उपयुक्त प्रतिस्थापन करके एवं पूर्ववत् द्विधातीय सन्निकटन द्वारा तुल्य-परिवर्तन स्वरूप पाते हैं—

$$-d'M = \sum_r (x_r + dx_r)(-dp_r) + \tfrac{1}{2}\sum_r\sum_s x_{rs}(-dp_r)(-dp_s)$$

$$= -\sum_r (x_r + dx_r) + \tfrac{1}{2}\sum_r\sum_s x_{rs}\,dp_r\,dp_s$$

$$= -\sum_r x_r\,dp_r - \sum_{rs}\frac{\partial x_r}{\partial p_s}\,dp_r\,dp_s + \tfrac{1}{2}\sum_r\sum_s x_{rs}\,dp_r\,dp_s$$

$$= -\sum_r x_r\,dp_r + \sum x_s\,dp_s \sum \frac{\partial x_r}{\partial M}\,dp_r - \tfrac{1}{2}\sum_r\sum_s x_{rs}\,dp_r\,dp_s$$

इस प्रकार

$$d'M = \sum_r s_r\,dp_r - \sum x_s\,dp_s \sum \frac{\partial x_r}{\partial M}\,dp_r + \tfrac{1}{2}\sum_s\sum_s x_{rs}\,dp_r\,dp_s.$$

एक अतिरिक्त आय-पद को छोड़कर शेष सूत्र ऐसा क्षतिपूरक परिवर्तन सूत्र ही है जो उन दो अनधिमान सत हों, जिन पर क्रमशः चल रहे हैं, पर मुद्रा की सीमांत उपयोगिताओं के अंतर के संगत है।

ध्यान देने से पता चलता है कि दोनों परिवर्तनों तथा उनकी सीमाओं $\Sigma x\,dp$ तथा $\Sigma\,(x+dx)\,dp$ के मध्य समांग संबंध है यह (पीछे अध्याय २ की टिप्पणी में दिये) चित्र १० में दिखाये आंतरिक और बाह्य आयतों ब प 'जब' तथा बप 'ज' ब के क्रमशः संगत है।

अब तुल्य-परिवर्तन होगा—

$$=\Sigma(x+dx)dp-\tfrac{1}{2}\Sigma\ \Sigma x_{rs}dp_r dp_s$$
$$=\Sigma x+dp-\sum xdp\sum\frac{\partial x}{\partial M}dp+\tfrac{1}{2}\Sigma\ \Sigma x_{rs}dp_r dp_s\ ;$$

क्षतिपूरक-परिवर्तन

$$=\Sigma xdp+\tfrac{1}{2}\Sigma\ \Sigma x_{rs}dp_r dp_s$$
$$=\Sigma\ (x+dx)dp+\sum xdp\sum\frac{\partial x}{\partial M}dp-\tfrac{1}{2}\Sigma\ \Sigma x_{rs}dp_r dp_s.$$

यदि पप' को लगभग रेखा मान लें तो माँग-वक्र के नीचे बनने वाले त्रिभुज की वृद्धि (ब प प 'ब') का माप $(x+\frac{1}{2}dx)\,dp$ है, और यह तुल्य परिवर्तन तथा क्षति-पूरक-परिवर्तन के ठीक मध्य में है।

ऊपर जो कुछ कहा है वह 'रिव्यू ऑव इक्नामिक स्टडीज़,' १९४२ में सर्वप्रथम प्रकाशित मेरे निबंध 'उपभोक्ता का अतिरेक और देशनांक' का सरल तथा सुधारा हुआ रूप है। इसका संबंध मात्रागत परिवर्तनों से नहीं वरन् मात्र उन परिवर्तनों से है जिन्हें बाद में मैंने "कीमत-परिवर्तनों" की संज्ञा दी है (देखिए द फोर कन्ज्युमर्स सरप्लसेज़, रिव्यू ऑव इक्नामिक स्टडीज़, १९४४)। उपभोक्ता के अतिरेक सिद्धांत का अधिक विशद अध्ययन प्रस्तुत पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है।

अतिरिक्त टिप्पणी ब

अस्थायी संस्थिति-निकाय की अपूर्ण स्थिरता

प्रोफेसर लाँगे [1] तथा डाक्टर योज़क[2] की खोज के परिणामस्वरूप मैं महसूस करता हूँ कि अध्याय २० तथा २१ के तर्क में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। जो संशोधन मैं करने जा रहा हूँ उससे तर्क की प्रमुख धाराएँ अप्रभावित रहेंगी, और इसलिए मैंने मूल को अपरिवर्तित छोड़ देना ही सर्वोत्तम समझा है। आगे जो कुछ कहा जा रहा है वह बड़ी पाद-टिप्पणी स्वरूप ही समझिए। इसका अधिकांश लाँगे तथा योज़क की पुस्तकों की उस आलोचना का अंश है जो मैंने सन् १९४५ में इक्नामिका में प्रकाशित की थी।

महत्वपूर्ण प्रश्न (जिनसे उक्त अध्यायों के तर्क संबंधित हैं) उस प्रभाव से संबंधित हैं जो सभी वस्तुओं (और कारकों) की कीमतों में समानानुपाती परिवर्तन के फल-स्वरूप तब होता है जब (अ) ब्याज की दरें अपरिवर्तित रहें तथा (ब) ब्याज की दरों में परिणामस्वरूप परिवर्तन होने दिया जाता है। क्योंकि सभी वस्तुओं की कीमतें एक ही अनुपात में बदलती हैं, अतः हमको वस्तु-वस्तु में भेद करने की आवश्यकता नहीं है: हम उन्हें एक ही सम्मिलित वस्तु के रूप में लिख सकते हैं और चालू वस्तुओं की कीमत-स्तर में परिवर्तनों की बात कर सकते हैं। इसी प्रकार, 'अ' के अंतर्गत ब्याज की दरों की अचर-दशा के कारण हम मुद्रा तथा बांडों[3] को एक 'वस्तु' मान सकते हैं, जिससे हमारे निकाय में केवल दो वस्तुएँ रह जाती हैं और प्राविधिक कठिनाइयाँ निम्नतम रह जाती हैं। तिस पर जिन मान्यताओं को लेकर हम चल रहे हैं उनके कारण कुछ एक प्रकार से जटिल कठिनाइयाँ बच रहती हैं, और इस संबंध में स्पष्टतया मैं मूल में पर्याप्त सतर्क नहीं था।

यदि कीमत स्तर में वृद्धि होती है और ब्याज-दर अपरिवर्तनशील रहती है, तब भावी वस्तुओं के प्रति धनात्मक प्रतिस्थापन-प्रभाव तभी हो सकता है यदि कीमत-प्रत्याशाओं की लोच एक से कम हो। यदि कीमत-प्रत्याशाओं की लोच एक है, तो प्रतिस्थापन-प्रभाव शून्य होगा। यही मैंने कहा था, और मेरी समझ में यह मान लिया

---

(१) देखिए लाँगे कृत 'प्राइस फ्लैक्सिबिलिटी एंड एमप्लायमेंट' काउले कमीशन १९४४। (२) देखिए योज़क, जनरल इक्वीलिब्रियम थिअरी इन इंटरनेशनल ट्रेड काडले कमीशन, १९४४। (३) मेरे "प्रतिभूतियों" शब्द के स्थान पर लाँगे (पृ० १५) ने ठीक ही यह शब्द रखा। साधारण हिस्सों की कीमतें निर्स्संदेह वस्तुओं के कीमत-स्तर के अनुरूप समायोजित हो जाएँगी।

गया है। और भी, "मुद्रा तथा बांड" की माँग मात्र भावी वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति का दर्पण है; अतः "मुद्रा तथा बांड" के पक्ष में कोई प्रतिस्थापन-प्रभाव हो ही नहीं सकता है।

तथापि, आय-प्रभाव का क्या होगा ? सिद्धांत की दृष्टि से, क्योंकि भिन्न व्यक्तियों के पास की प्रारंभिक "मुद्रा तथा बांड" की विधियाँ भिन्न-भिन्न होंगी, आय-प्रभाव का उदय होगा। व्यवहार में, यह संभव है कि कुछ व्यक्ति धनात्मक "मुद्रा तथा बांड" रूपी निधि से सप्ताह आरंभ करें और कुछ ऋणात्मक निधि से। कीमत-स्तर की वृद्धि का अर्थ है कि इन निधियों का वास्तविक मूल्य घट जाएगा, फलतः समाज में क्रय-शक्ति का वितरण प्रभावित हो उठेगा। मेरे विश्लेषण की संभव त्रुटि यह है कि इस आय-प्रभाव की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। (मैं उस सरलता के मोह में पड़ गया हूँ जो इस विचार से उदित हुई कि जब जब बाजार के दोनों पक्षों में आय-प्रभाव आते हैं तो वे एक दूसरे को काट देते हैं।)

दो दशाओं में भेद करना आवश्यक है। एक में हमारी अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्वरूप मात्र शुद्ध साख-मुद्रा है। क्योंकि इस पर ब्याज का उदय नहीं होता, यह मुद्रा है, बांड नहीं, तथापि यह अर्थव्यवस्था में एक व्यक्ति (जो बैंक हो सकता है) का दूसरे व्यक्ति पर होने वाले ऋण का मात्र संकेत है। इस हालत में प्रारंभिक स्थिति में भी कुल धनात्मक निधि तथा कुल ऋणात्मक निधि निश्चय ही बराबर होंगी। यह उसी प्रकार सत्य है जैसे बांड की धनात्मक निधियों का योग ऋणात्मक निधियों के योग के निश्चय ही बराबर होता है। कीमत-स्तर की वृद्धि के कारण कुछ व्यक्तियों की स्थिति ठीक उसी अंश में अच्छी हो जायगी जिसमें कुछ की स्थिति हीनतर हो जायगी। यदि इन दोनों गतियों के कारण होने वाले आय-प्रभाव समांग हैं, तो वास्तविक आय-प्रभाव शून्य होगा। अब निकाय समभाव संस्थिति में है। यह विक्सेल वाली दशा है, और भूतकालीन संविदाओं से संबंधित हमारी व्याख्या में (देखिए अध्याय २१,§५) आय-प्रभाव का पर्याप्त विचार कर लिया गया है।

हम शीघ्र ही इस दशा पर वापस आयेंगे। इस समय, इसकी अपेक्षा दूसरी दशा को समझ लें। यदि साख-मुद्रा ही उपलब्ध मुद्रा का एक मात्र रूप नहीं है किन्तु किसी भी प्रकार की कुछ कठोर मुद्रा (चाहे वह धातु-मुद्रा हो, अथवा हमारे निकाय से बाहर स्थित किन्हीं भी सिद्धांतों के आधार पर निर्धारित सरकारी पत्र-मुद्रा), तो मुद्रा की धनात्मक-निधि अवश्य ही ऋणात्मक निधि से अधिक होगी। फलतः, यदि दोनों पक्षों के आय-प्रभाव समांग हों तब भी मुद्रा का वास्तविक मूल्य घटने पर वास्तविक क्रयशक्ति भी घटेगी, और आय-प्रभाव के कारण निकाय की स्थिरता बनी रहेगी।

निस्संदेह, इस दशा में भी, निकाय अनिवार्यतः स्थिर नहीं होता। इसकी स्थिरता असममित आय-प्रभावों के कारण विचलित हो सकती है; हो सकता है कि जब एक बार प्रतिस्थापन प्रभाव का सामान्य स्थिरताकारी असर हटा दें तो इस घटना के घटने की ही बहुत कुछ संभावना हो। स्थैतिक तथा प्रावेगिक दोनों ही विश्लेषणों में असममित आय-प्रभावों के कारण अस्थिरता के उदय होने की पूर्णतया सामान्य संभावना बनी रहती है।

इतना तो हुआ अचर-व्याज दरों की पृष्ठभूमि में निकाय की स्थिरता संबंधी प्रथम समस्या के संबंध में। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जब व्याज-दरें प्रभावित होने दी जायें तब भी हमको ऐसे ही भेद करने पड़ें। हम देख चुके हैं कि समांग आय-प्रभाव वाली तथा शुद्ध साख वाली अर्थव्यवस्था समभाव-संस्थिति में होती है यदि व्याज की दरें समान (अचर) रखी जायँ। इस स्थिति में यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि यदि व्याज-दर के परिवर्तन की रोक न हो तो वह क्यों परिवर्तनीय न होगी। ऐसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा-सर्जन, बांड-सर्जन की तरह, ऋण देने तथा लेने की तत्परता पर निर्भर होगा। अपेक्षाकृत ऊँचे कीमत-स्तर पर उसी वास्तविक निकाय को बनाये रखने के फलस्वरूप उस ऊँचे कीमत-स्तर हेतु पर्याप्त मुद्रा-सर्जन का आकर्षण होगा। यहाँ निकाय मात्र अपूर्ण रूप में स्थिर नहीं है: प्रभाव और परिवर्तनों के होते हुए भी वह समभाव-संस्थिति में है।

दूसरी ओर, यहाँ चर्चित आय-प्रभाव के बल पर कुछ 'कठोर' मुद्रा वाली अर्थ-व्यवस्था को स्थिर रखना मात्र संभव ही नहीं है; अपितु, यह अनुभव संभव है कि ऊँचे कीमत-स्तर पर उस स्तर को बनाये रखने के लिए उपलब्ध 'कठोर' मुद्रा अपर्याप्त है: अतः स्थिरता-शक्तियाँ न केवल आय-प्रभाव के रूप में वरन् व्याज-दर के माध्यम से भी कार्यान्वित होती हैं। मूल ग्रंथ में हमने ऐसी स्थिति पर विचार किया था। अतः हमारा विश्लेषण अब भी सही प्रतीत होता है; मात्र उसमें आय-प्रभाव को स्थान देना चाहिए था, और (मुझे खेद है) मैं इस ओर चूक गया।

'कठोर' मुद्रा वाली स्थिति का आय-प्रभाव वही विचार प्रतीत होता है जो हाल में केन्सीय-सिद्धांत संबंधी अपनी आलोचना में प्रोफसर पिगु ने उठाया है।[1] मैं स्वयं इसको अधिक व्यावहारिक महत्व नहीं दे सकता किन्तु मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि सैद्धांतिक रूप से यह सही है, और विश्लेषण में इसका विचार करना चाहिए।

१. देखिए पिगु लिखित 'द क्लासिकल स्टेशनरी स्टेट', इक्नामिक जनरल, १९४३; लेयसेज़ फ्राम फुल एमप्लायमेंट, १९४५, अध्याय ५।

अतिरिक्त टिप्पणी स

प्रोफेसर सेमुएल्सन का प्रावेगिक सिद्धान्त

प्रस्तुत पुस्तक में विश्लेषित सामान्य क्षेत्र में सन् १९३८ तथा १९४६ के बीच होने वाला स्यात् सबसे महत्वपूर्ण विकास प्रोफेसर सेमुएल्सन द्वारा प्रतिपादित प्रावेगिक-स्थिरता सिद्धान्त है।[1] उपलब्ध पृष्ठों में प्रोफेसर सेमुएल्सन के अति जटिल सिद्धांत के साथ किंचित् भी पर्याप्त न्याय नहीं किया जा सकता; इसके अतिरिक्त मैं यह भी दावा नहीं कर सकता कि अपने विचारों के हेतु मैंने उसे पूरी तरह समझ लिया है। किन्तु उसका महत्व इतना अधिक है कि उसका उल्लेख छोड़ा नहीं जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में स्थैतिक संस्थिति की मेरी विवेचना मेरे द्वारा नामांकित अर्थ-शास्त्रीय प्रावेगिक विज्ञान की पृष्ठभूमि मात्र भी नहीं थी : जान-बूझकर स्थैतिक स्थिरता की विवेचना प्रत्यक्ष समयविहीन बनायी गयी थी। जब मैं अपनी प्रावेगिकी का अध्ययन करने लगा तब भी स्थिरता की विवेचना कम से कम इसी अर्थ में समय-विहीन थी : और मैंने यह मान लिया था कि अस्थायी संस्थिति हेतु समायोजन-प्रक्रम अल्पकाल (एक सप्ताह) में पूर्ण हो जाता है : मैंने सप्ताह के बीच होने वाले कीमत-परिवर्तनों को भुला दिया ताकि मेरे अर्थशास्त्रीय निकाय में अस्थायी संस्थिति की एक शृंखला का अस्तित्व माना जा सके। ऐसा करते समय मैंने मार्शल की परंपरा अपनायी थी। तथापि मैं जानता था कि "अस्थायी संस्थिति तक के सरल मार्ग" वाली मान्यता हेतु मेरी स्थिति में, जिसमें मार्शल के एक बाजार की अपेक्षा कई बाजार थे, अधिक न्यायोक्ति

---

१. देखिए पी० ए० सेमुएल्सन लिखित 'द स्टेब्लिटी ऑव इक्युलिब्रियम : कम्पैरेटिव स्टैटिक्स और डायनेमिक्स', इक्नोमेट्रिका, १९४१; 'द स्टेब्लिटी ऑव इक्युलिब्रियम : लीनिअर एंड नानलीनिअर सिस्टम्स', इक्नोमेट्रिका, १९४२; 'द रिलेशन बिटवीन हिक्सिएन स्टेब्लिटी एंड ट्रू डायनेमिक स्टेब्लिटी', इक्नोमेट्रिका, १९४४। और भी देखिए ओ० लाँगे, प्राइस फ्लेक्सिब्लिटी एंड एम्प्लायमेंट, परिशिष्ट; और लॉयड ए० मेज़लर लिखित 'स्टेब्लिटी ऑव मल्टिमिल मार्केट्स; द हिक्सि कन्डिशंस', इक्नोमेट्रिका, १९४५।

की आवश्यकता थी। अध्याय ९ की टिप्पणी में मैंने ऐसे न्याय को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है परंतु मैंने ऐसा दावा नहीं किया कि मैं फल से अति संतुष्ट हूँ। अस्तु, अपनी उपलब्ध रीति द्वारा मैं इतना ही सिद्ध कर पाया।

इस समस्या पर मेरी अपेक्षा प्रोफेसर सेमुएल्सन ने अधिक गणितीय बाणवर्षा की है, और निस्संदेह महत्वपूर्ण प्रगति की है। उन्होंने तीव्र और सरल अस्थायी संस्थिति का मार्ग छोड़कर कीमत-परिवर्तन की दरों को माँग और पूर्ति के अंतर का फंक्शन माना है। अतः, मुझ से भिन्न दृष्टि से उनका सारा सिद्धांत अधिक प्रावेगिक हो जाता है, और वह दृष्टि गणितज्ञों को अधिक ग्राह्य है। मेरे सामान्य समीकरणों के स्थान पर अवकलिन और अंतर-समीकरण काम में लाये जाते हैं। इस प्रकार आवर्तन और आवर्तिना की रोचक संभावनाएँ निकल आती हैं।

इस नवीन रीति द्वारा मेरा स्थैतिक सिद्धांत प्रावेगिक बनाया जा सकता है; यह खोज करना कि स्थैतिक निकाय की स्थिरता कैसी होती है, इस अर्थ में संभव है कि जब निकाय प्रारंभ में संस्थिति से बाहर रहता है, क्या तब आरंभ होने वाले परिवर्तन-निकाय को संस्थिति की ओर ले जाएगा ? क्योंकि प्रोफेसर सेमुएल्सन के निकाय में स्वतंत्रता की एक नई कड़ी है, इसमें आश्चर्य नहीं कि उनकी स्थिरता-शर्तें मेरी शर्तों से भिन्न ही नहीं अपितु अधिक विशद भी हैं। उनके निकाय की स्थिरता न केवल मेरे द्वारा दिये कारणों से नष्ट हो सकती है अपितु इस कारण से भी कि भिन्न बाजारों में यथानुकूलता की दरों का अथवा व्यापार करने वाले व्यक्तियों की प्रतिक्रिया-दरों का समायोजन नहीं होता है। इन सबके कारण खोज की एक अति आशाप्रद राह निकल आती है जो कि अब तक किये गये कार्य के पश्चात् भी पूरी तरह नापी नहीं जा चुकी है।

प्रोफेसर सेमुएल्सन की कृति संबंधित-बाजारों के व्यवहार-प्रणाली संबंधी ज्ञान को महत्वपूर्ण ढंग से आगे बढ़ाती है। किन्तु मैं अब भी महसूस करता हूँ कि मेरे प्रावेगिक सिद्धांत के समाँतर कुछ कमी है, और वह प्रोफेसर सेमुएल्सन की कृति में भी पूरी नहीं होती है। अपनी अनिवार्यतः तत्क्षण समायोजन की परिकल्पना द्वारा मैंने अपने प्रावेगिक सिद्धांत के शुद्धतः प्राविधिक अंग को सरलतम पदों में रख लिया था। अब तो यह पर्याप्त स्पष्ट है कि मैंने आवश्यकता से अधिक सरलीकरण से काम लिया था। किन्तु ऐसा करके मैं अन्य कम प्राविधिक अंशों—यथा, प्रत्याशाएँ आदि—की ओर अधिक ध्यान दे सका। मैं अब भी महसूस करता हूँ कि मेरी रीति उपयोगी है और मात्र प्रविधियों पर आधारित अध्ययन हेतु अपनी रीति को छोड़ने में मुझे दुःख होगा। हो सकता है कि अर्थमितीय कार्य के लिए प्रोफेसर सेमुएल्सन के सिद्धांत सदृश

ही कुछ चाहिए : साँख्यिकीय आसंजन हेतु इससे अत्युत्तम मॉडल प्राप्त होता है। किन्तु अर्थशास्त्रीय निकाय को समझने के लिए हमको कुछ अधिक चाहिए—कुछ ऐसा जो अंतिम विश्लेषण में व्यक्तियों के व्यवहार और उनके आचरण के प्रेरकों तक जाता हो। यह संभव है कि ऐसे तरीके निकल आएँगे जिनसे हम इस रीति तथा प्राविधिक सिद्धांत रीति दोनों के लाभ प्राप्त कर सकें। किन्तु मेरी समझ में अभी तक ऐसा कोई तरीका नहीं ढूँढ़ा गया है।

सामान्य संस्थिति वाले अर्थशास्त्रीय अध्ययन के संबंध में प्रोफेसर सेमुएल्सन ने जो कुछ किया है तथा व्यापार-चक्र के संबंध में श्री कलेकी और अन्य अर्थमितिज्ञों ने जो अध्ययन किया है, दोनों में एक सार्थक समाँतरता है। अर्थशास्त्रीय विवादों में से एक सब से बड़ा विवाद यह है कि व्यापार-चक्र की व्याख्या अंतर-समीकरणों पर आधारित यांत्रिक आवर्तितताओं के पदों में अधिक सरलतापूर्वक की जा सकती है अथवा केन्सीय प्रकार के अस्थायी संस्थिति-सिद्धांत अधिक शक्तिशाली हैं। इस प्रश्न का उत्तर निस्संदेह प्रासंगिक रूप से—विवरण का ही नहीं अपितु विषय प्रवेश तथा रीति संबंधी उस प्रश्न का भी हल होगा जो प्रोफेसर सेमुएल्सन तथा मेरे बीच बना हुआ है।

हिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दावली

अंतर्पणी	Arbitrageur
अंतराल	Interval
अतिरिक्त निधि	Surplus fund
अत्यणु	Infinitesimal
अधिमानता	Preference
अधिमानताओं का माप (मापदण्ड)	Scale of preferences
अधिशेष	Rent
अद्वितीय रूप से निर्धार्य	Uniquely determinate
अनपहृरित	Undiscounted
अनावधि, अतिथिगत	Undated
अनिर्धार्य	Indeterminate
अनुप्रयुक्त, व्यावहारिक अर्थशास्त्र	Applied economics
अनुप्रस्थ प्रभाव	Cross-effect
अपरिमित, अनन्त	Infinite
अपरिवर्तनशील दशा, अपरिवर्ती दशा	Constant condition
अपरिवर्तनशील, अचर	Constant
अप्रत्याशित लाभ	Windfall
अपहरण अनुपात	Discount ratio
अमूर्त	Abstract
अर्थमिति	Econometrics
अर्थशास्त्रीय दर्शन	Economic philosophy
अर्थशास्त्रीय प्रावैगिक-विज्ञान	Economic dynamics
अर्थशास्त्रीय स्थिति-विज्ञान	Economic statics
अलपेट	Kink
अवकल	Differential
अवतल	Concave
अविहित	Arbitrary
अशोधन अथवा व्यतिक्रम जोखिम	Default risk
असतत	Discontinuous
असमाकलनीयता	Nonintegrability
असंगत असंस्थिति	Inconsistency disequilibrium

अज्ञात	Unknown
आंतरिक मंडल	Inner Circle
आगत	Input
आगे की ओर नत	Forward falling
आत्मगत धारणा	Subjective concept
आत्मगत मूल्य का सिद्धान्त	Theory of subjective value
आदर्शभूत अथवा टिपिकल फर्म	Typical firm
आदि गृहीत	A priori
आधार वस्तु, प्रामाणिक वस्तु	Standard commodity
आभासी	Virtual
उत्क्रमणीय	Reversible
उत्कर्ष, तेजी	Boom
उत्पाद	Product
उत्पादन फलन, उत्पादन फंक्शन	Production function
उत्पाद्य	Producible
उधारणीय निधि	Loanable fund
उधार सौदे	Loan transactions
उन्मुख प्रभाव	Upward effect
उपनति	Trend
उपभोक्ता माल,	Consumers' goods
उपभोग माल	Consumption goods
उपभोक्ता वरण सिद्धान्त	Theory of consumers' choice
उपभोक्ता लागत	User cost
उपयोगिता-पृष्ठ	Utility surface
ऊर्ध्वता, ऊर्ध्वमुखी	Crescendo
एकाधिक्रेता समान	Monopsonistic
ऋणकर्त्ता	Borrower, debtor
ऋणदाता	Lender
कटिबद्धता	Preparation
क्रम	Sequence
क्रमान्वित	Ordinal
कल्पना करना, मानना	Assume
काम चलाऊ, अनन्तिम	Provisional
कारक	Factors
कारक-उत्पाद-परिवर्तन (रूपान्तर)-दर	Rate of conversion of factors
कारक-माँग	Demand for factors
कीमत-निकाय	System of prices, Price-system.

कीमत-दृढ़ता	Price rigidity
कोटि अक्ष, शीर्ष अक्ष	Y-axis
कोटिलम्ब	Ordinate
क्षति-अवरोध	Hedging
क्षति अवरोधक	Hedger
क्षतिपूरक विचलन	Compensating variation
क्षैतिज अक्ष, अनुभौमिक अक्ष	X-axis
खींच	Pull
गुणनात्मक	Multiplicative
गुणक	Multiplier
ग्राह्यता, स्वीकृति	Acceptance
घटना-पूर्व	Ex-ante
घटनोत्तर	Ex-post
घिसावट	Depreciation
चरण	Phase
छाया कीमत	Shadow price
छाया-विक्रेता-कीमत	Shadow sellers' price
जोखिम का प्रतिफल	Risk premium
जोखिम हेतु कमी अथवा छूट	Risk allowance
ढांचा	Structure
तत्क्षण अथवा तात्कालिक कीमत	Spot-price
तत्क्षण अथवा तात्कालिक बाजार	Spot-market
तत्क्षण अथवा तात्कालिक सौदे	Spot transactions
तरलता अधिमान	Liquidity preference
त्रिखंड विभेद	Tripartite division
तिथिगत	Dated
तिथिगत करना	Dating
देय	Liability
दोलन	Oscillation
दृढ़ता	Rigidity
धारक	Bearer
धोखाधड़ी	Treachery
नव प्रवर्त्तन	Innovation
निकृष्ट, घटिया	Inferior
निग्रह-माँग	Reservation demand
नियमनिष्ठ	Formal
नियुक्त	Employee

नियोक्ता	Employer
निरसन	Elimination
निर्गत	Output
निर्धार्य	Determinate
निर्वचन	Choice
निरार्थिक	Uneconomic
निवल प्राप्ति	Net receipt
निवल बचत	Net saving
नि:सुग्राही, असुग्राही, अचेतन	Insensitive
निश्चित	Definite
पका हुआ बिल, पकी हुई हुंडी	Mature bill
पृथकत्व	Isolation
पृष्ठ	Surface
प्रक्रम	Process
प्रक्रम-विश्लेषण	Process analysis
प्रत्याशा	Expectation
प्रतिक्रिया-दर	Rate of response
प्रतिच्छाया-कीमत	Shadow price
प्रतिच्छद विन्दु, कटन विन्दु	Point of intersection
प्रतिभूति	Security
प्रतिस्थापन की प्राविधिक दर	Technical rate of substitution
प्रतीपायन	Regression
प्रथम सन्निकटन	First approximation
प्रबल	Strong
प्रभार	Charges
प्रमाणीकृत	Standardised
प्रविधि	Technique
प्रावेगिक निकाय	Dynamic system
प्रसरण, प्रसार	Extension
प्रसरण	Dispersion
प्रारक्षण	Reserve
प्रारक्षित नकद	Cash reserve
प्रेरक	Motive
परिमित	Finite
परिसम्पत्ति	Assets
परोक्ष-माँग, व्युत्पन्न माँग	Derived demand
पश्चता	Lag

पहली संभावी सम्पन्नता	Prospect I
पिछड़न	Backwardation
पीछे की ओर नत	Backward sloping
पुंज	Block
पुनर्उधार	Reborrowing
पुनर्नवीकरण	Renewal
पुनर्निर्वचन	Reinterpretation
पुनर्बट्टा	Rediscount
पुनर्संविदे	Recontracts
पुनरुक्त	Repeatedly
पूंजीकरण	Capitalization
पूंजी की सीमान्त क्षमता	Marginal efficiency of capital
पूंजीगत मूल्य	Capitalized value
पूंजी-संचयन	Capitalized accumulation
पूर्वदृष्टि, दूरदर्शिता	Foresight
पूर्वधारणायें	Preoccupations
फलन, फंक्शन	Function
बचत की प्रवृत्ति	Propensity to save
बहुअर्थात्मक	Equivocation
बहुविनिमय निकाय	System of multiple exchange
बहु विस्तारीय (बहुदिशीय) पृष्ठ	Surface in many dimensions
विक्रीत	Sold
बेकार पड़ी मुद्रा	Idle money
बेकारी	Unemployment
भिन्न	Fraction
मंदी	Slump
मजदूरी उपार्जक	Wage-earner
मजदूरी का सौदा (श्रम सौदा)	Wage bargain
मध्यस्थ उत्पाद	Intermediate product
माँग-आधिक्य वक्र	Excess demand curve
माँग स्थानान्तरण	Shift in demand
मान्यता, कल्पना	Assumption
माध्यमिक-उत्पाद	Intermediate product
माध्यमिक उत्पादों का स्टाक	Stock of intermediate products
माप	Measure
माल	Goods
मात्रागत समान प्रत्युपलब्धि का नियम	Law of constant returns to scale

मात्रान्वित	Cardinal
मिथ्याकरण	Falsification
मुक्त चर	Independent variable
मोड़, उतार-चढ़ाव	Tilt
मौद्रिक-दर	Money-rate
मौद्रिक-रीति	Monetary approach
यथानुकूलता, तालमेल	Adaptation
यादृच्छिक विभ्रम	Random error
योगात्मक	Additive
योजनाबद्ध निर्गत	Planned output
योजना विहीनता	Planlessness
प्रतिलोमित	Inverted
वरण	Choice
वहिष्करण	Exclusion
वृद्धिमान, वर्धमान	Increasing
वस्तु, पण्य	Commodity
वस्तुगत	Objective
वृत्ति, रोजगार	Employment
वांछनीयता	Desirability
वायदा (अग्रवर्ती) उधार सौदा	Forward loan transaction
वायदा कीमत	Futures price
वायदा-पत्र	Promissary document (or note)
वायदा-व्यापार, अग्रवर्ती व्यापार	Forward trading
बारंबारता बंटन	Frequency distribution
वित्त-गृह	Financial houses
विपर्ययी	Reversible
विवेचन	Discrimination
विषम	Odd
वेतन-उपार्जक	Salary earner
व्युत्क्रम	Reciprocal
शीघ्रता	Urgency
शुद्ध अर्थशास्त्र	Pure economics
शुद्ध-साख-निकाय	Pure credit system
श्रम निराकरण करने वाले	Labour saving
श्रमिक माल (श्रम-उपभुक्त माल)	Wage goods
श्रेणी	Set
संघात-प्रभाव	Impact effects

संगत-मात्रायें	Consistent quantities
संतुलन	Balance
संभाविता-वंटन	Probability distribution
संभावी	Potential, prospective
संरक्षण माँग, प्रारक्षण माँग	Reservation demand
संहृति	Expression
संश्लेषण	Synthesis
संस्थिति	Equilibrium
संस्थितिकरण	Equilibration
सक्रिय-विनियोग	Active investment
सटोरी	Speculative
सटोरी-माँग	Speculative demand
सतत श्रेणी	Perpetual series
सतर	Row
सत्याभास	Plausibility
सत्याभासक	Plausible
समग्रीकरण	Aggregation
समग्रीकृत	Aggregated
समभाव	Neutral
सममित	Symmetrical
समयोपरान्त	Overtime
समाकलनीय	Integrable
समांतर औसत	Arithmetic average
समायोजन	Adjustment
सांख्यिकिज्ञ, सांख्यिकीविद्	Statistician
साधक	Agent
साधन	Resources
सामान्यीकृत श्रम	Generalized labour
सारणिक	Determinant
साहसोद्यमिक	Entrepreneurial
सामान्य वस्तु, अप्रमाणीकृत वस्तु	Non-standard commodity
सामान्य संस्थिति निकाय	System of general equilibrium
सीमान्त उत्पाद	Marginal product
सुग्राही, संवेदी, संवेदनशील	Sensitive
सुग्राहिता, संवेदिता, संवेदनशीलता	Sensitivity
सुग्राही व्यवहार	Sensitive behaviour
सुरक्षा	Preservation

सीमाविन्दु	Culminating point
स्थगन	Determent
स्थायक तत्व	Stabilising element
स्थायी उपभोग माल	Durable consumer goods
स्थिर अवस्था	Stationary state
स्वयंसिद्ध सत्यता	Truism
ह्रासमुखी	Diminuendo
हेत्वाभास	Fallacy

पाद टिप्पणियाँ

अध्याय ४

१—मैं, इस प्रश्न को कि 'कार्य' की मात्राओं को कैसे मापा जाय, छोड़े देता हूँ।

२—'कॉमनसेन्स ऑव पॉलिटिकल इकॉनॉमी' अध्याय ५ ।

३—अब से आगे इसको उस विशिष्ट मार्शल वाले अर्थ में, जिसमें हमने इसे अब तक उपयोग किया है, नहीं समझना है ।

४—'एलेमेन्ट्स द इकॉनॉमी पॉलिटिक प्योर' (१८७४), लेसन्स ५—१५ (संस्करण डेफीनिटिव) ।

५—स्थैतिक दृष्टिकोण से यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अति अधिमान्य स्थिति तक पहुँचने वाले ढंग पर व्यवहार कर रहा है (निःसन्देह उसको प्राप्त अवसर अनुबन्ध स्वरूप हैं) तो बाजार संस्थिति में होगा। इसका निहित अर्थ यह है कि भिन्न सौदा करने वाले व्यक्तियों की क्रियायें संगत होंगी । संस्थिति की धारणा संबंधी अधिक विवेचना के लिए, देखिए आगे, अध्याय १० ।

६—न्यूमेरेर, जैसी वॉल्‍रा ने संज्ञा दी थी ।

७—या तो हम ऋण का देना विचार क्षेत्र से बाहर छोड़ देंगे अथवा प्रतिभूतियों को एक प्रकार की वस्तु मानने के ढंग से उसे विचारान्तर्गत ले लेंगे । देखिए, आगे , अध्याय—१२ ।

८—वॉल्‍रा १८७४; मार्शल १८७९ । मार्शल का सिद्धान्त पुनः उनकी पुस्तक 'मनी, क्रेडिट एण्ड कॉमर्स' के परिशिष्ट में दिया गया है किन्तु वहाँ भी स्पष्टता नहीं बढ़ी है ।

अध्याय ५

१—यह ज्ञातव्य है कि यह दशा वही नहीं है जैसा मार्शल की प्रिंसिपल्स में (पृष्ठ ८०७, पाद-टिप्पणी) दी हुई है । मार्शल का कथन है कि माँग और पूर्ति वक्रों के कटन-बिन्दु से संबंधित माँग और पूर्ति की संस्थिति तभी स्थायी अथवा

अस्थायी है जब कटन-विन्दु के ठीक बाँयी ओर माँग-वक्र पूर्ति-वक्र के क्रमशः ऊपर अथवा नीचे हो; अन्य शब्दों में निर्गत का थोड़ा ह्रास माँग-कीमत को पूर्ति -कीमत से अधिक कर देता है। यह हमारी उपर्युक्त दशा से सर्वांगसम नहीं है, और यथार्थ में पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा की दशा की अपेक्षा एकाधिकार की दशा से संबंधित स्थायित्व के अधिक निकट है। एकाधिकार की दशा में संस्थिति तब स्थायी होती है जब किंचित निर्गत-ह्रास के कारण सीमान्त-आय, सीमान्त-लागत से अधिक हो जाती हैं। (यदि काह्न के पदों में कहें तो) 'आगे-की-ओर-नत पूर्ति-वक्र' वाला उदाहरण, जिसे मार्शल ने स्थायी संस्थिति से संगत माना था, पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत स्थायी संस्थिति से संगत नहीं है।

२—ध्यान रहे कि यथार्थ में इनमें से प्रत्येक दशा सममित है; संस्थिति की दशा का निहित अर्थ है कि 'ख' की माँग उसकी पूर्ति के बराबर हो, और स्थायित्व -दशा का अर्थ है कि 'क' के पदों में 'ख' की कीमत बढ़ने पर 'ख' की माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक हो जायगी।

३—वैकल्पिक रूप से हम विक्स्टीड की रीति को अपना सकते हैं और पूर्ति को उस मात्रा समान मान सकते हैं जो विक्रेता एक दिए हुए निश्चित स्टॉक में नहीं रखना चाहता। तब हम माँग तथा संरक्षण-माँग को मिलाकर माँग-वक्र खींच सकते हैं। विक्स्टीड का यह माँग-वक्र वही गुण रक्खेगा जो हमारे माँग-आधिक्य-वक्र के हैं : दोनों में मात्र एक अचर अंतर होगा।

४—देखिए, पीछे, अध्याय २।

५—यदि क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या में बहुत अंतर है तो स्यात् इस कारण हम यही मान सकते हैं कि जिस ओर संख्या कम है उस ओर आय-प्रभाव अधिक होगा, क्योंकि दूसरी ओर अनेक व्यक्तियों के लिए वास्तविक-आय-वृद्धि इतनी कम हो सकती है कि उसका पता भी न चले और इसलिए उसका उनकी माँग पर कोई भी प्रभाव न पड़े।

६—यह ध्यान देने की बात है कि यथार्थ में यह एक सममित दशा है।

७—सही तो यह है कि हमको कई दशाओं में भेद करना चाहिए :'क' की कीमत-वृद्धि माँग से पूर्ति को तब अधिक कर देगी जब (१) अन्य सभी कीमतें दी हुई हों, (२) 'ख' की कीमत 'ख' बाजार में संस्थिति बनाए रखने के लिए समायोजित की गयी है तथा (३) 'ख' और 'ग' की कीमतें, और आगे ऐसे ही अन्य कीमतें भी, समायोजित होती हैं ताकि अंत में सभी कीमतें समायोजित हो उठें। जैसे ही अन्तिम दशा पूरी होती है, निकाय के अस्थायित्व का अन्त हो जाता है;

किन्तु पूर्ण स्थायित्व के लिए तीनों दशायें लागू होना चाहिए।

८—जब समस्या पर इस दृष्टिकोण से विचार करते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार करने वाले व्यक्तियों की संख्या-वृद्धि के प्रभावों की समीक्षा हेतु ऐसा ही विश्लेषण किया जा सकता है। नवागंतुकों के कारण कुछ मालों की माँग बढ़ जायेगी और शेष मालों की पूर्ति। अतः आवश्यक सीमा तक कीमतों को इस प्रकार समायोजित करना पड़ेगा कि पुराने निकाय से संबंधित अतिरिक्त पूर्तियाँ तथा अतिरिक्त माँगें फलीभूत हो जायें।

९—यह तुरंत स्पष्ट हो जायगा यदि हम (क्षणमात्र के लिए) 'क' को प्रमाणित वस्तु मान लें: तब 'क' की माँग-वृद्धि पुरानी प्रमाणित-वस्तु 'म' की पूर्ति-वृद्धि के सदृश होगी। अब यह स्पष्ट है कि यदि संपूरकता नहीं है, तो 'क' के पदों में अन्य सभी वस्तुओं की कीमतें गिरेंगी।

१०—एक रोचक उदाहरण, जहाँ यह लगभग सही हो सकता है, विदेशी-विनिमय -बाजार का है। विदेशी-विनिमय-व्यापारी के लिए स्यात् भिन्न करेंसियों के सभी विनिमय-पत्र आपस में प्रतिस्थापन्न होते हैं: अतः, जैसा हम व्यवहार में देखते हैं, यदि फ्रेंक को डॉलर में बदलने दौड़ आई तो फ्रेंक के पदों में न केवल डॉलर की कीमत बढ़ जायगी वरन् अन्य सभी करेंसियों की भी, किन्तु डॉलर की अपेक्षा अन्य करेंसियों की कीमत-वृद्धि अनुपातिक रूप में कम होगी।

११—पुनः यह साध्य तभी अपवाद-रहित है जब आय-प्रभावों की उपेक्षा कर दी जाय।

१२—इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में मैंने यह मत प्रतिपादित किया था कि विनिमय-संस्थिति के अस्थायित्व का उदय दो कारणों से हो सकता है, एक से नहीं; असममित आय-प्रभावों के अतिरिक्त, जिनकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं, 'अतीव संपूरकता' भी थी। निःसन्देह असममित आय-प्रभावों के कारण होने वाला अस्थायित्व कुछ समझ में आता है, जैसा हम देख चुके हैं, विशेष उदाहरणों को लेकर यह दर्शाना कठिन नहीं है कि वह कैसे कार्यान्वित होता है। किन्तु 'अतीव संपूरकता' का अर्थ लगाना कठिन था यद्यपि, क्योंकि मेरे गणित के कारण यह निहित प्रतीत होता था, मैंने उसको बनाए रखने के लिए अपने को बाध्य पाया। कुछ वर्षों बाद, जब मैं उपभोक्ता के अतिरेक के सिद्धान्त का अध्ययन कर रहा था ('कन्ज्यूमर्स सरप्लस एण्ड इन्डेक्स नम्बर्स', रिव्यू ऑव इकॉनॉमिक् स्टडीज़, १९४२), मैंने अपनी गलती पकड़ ली। पिछले अध्याय ३ के § ६ के अन्त में अब माँग के जिस सामान्य नियम को मैंने दे दिया है उसको मैं भूल गया था और इसी की

सहायता से गणितीय तर्क दे कर हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि क्यों अतीव संपूरकता —ऐसी कि उसके कारण अस्थायित्व आवे—असंभव है। मैंने तर्क को पूर्णतया गणितीय परिशिष्ट में दिया है। जहाँ तक प्रस्तुत अध्याय का संबंध है, एक जटिलता को, जो कभी भी अर्थ रखती प्रतीत नहीं होती थी, छोड़कर ही मूल में तर्क को सरल बनाना संभव हुआ है। फलस्वरूप होने वाले अन्य सरलीकरण आगे अध्याय ८§३ में तथा अध्याय १७ §६ में दिए हैं।

यही सुधार डा० जे० एल० मोज़क लिखित 'जेनरल इक्विलिब्रियम थिअॅरी इन इन्टरनेशनल ट्रेड' काउले कमीशन मोनोग्राफ, १९४४, पृष्ठ ४२ पर भी दिया हुआ है।

अध्याय ६

१—उदाहरण के लिए देखिए, जोन रॉबिन्सन, 'इकानॉमिक्स ऑव इम्परफेक्ट कम्पटीशन'; श्नीडर, 'थिअॅरी डर् प्रोडक्सन'; काल्डर, 'इक्विलिब्रियम ऑव द फर्म' (इकॉनॉमिक्-जरनल, १९३४)।

२—एक 'उद्योग', बाजार से प्राप्त किए हुए कारकों के साथ साथ, स्वयं साहसोद्यमी द्वारा प्रदत्त कारकों का उपयोग कर सकता है। यदि ये कारक ऐसे हैं कि इन्हें बेचा जा सके (अगर उद्योग में प्रयुक्त नहीं हुए) तो उनकी बाजार-कीमतें उद्योग की लागत के खाते में डाल दी जानी चाहिए। किन्तु यदि उद्योग में छोड़कर उनका किसी दूसरे रूप में उपयोग नहीं हो सकता तो उनके कारण लागत नहीं बढ़ती और उन्हें फर्म के खाते में व्यय पक्ष पर नहीं चढ़ाया जाना चाहिए (वास्तव में, चढ़ाए नहीं जा सकते)।

३—वैकल्पिक दृष्टि से, हम इस प्रकार तर्क कर सकते हैं। अगर अतिरेक धनात्मक है, तो कीमत को औसत लागत से अधिक होना चाहिए। किन्तु कीमत सीमान्त-लागत के बराबर होती है। अतः सीमान्त लागत को औसत लागत की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। अतः एक अतिरिक्त -इकाई का उत्पादन औसत लागत को बढ़ाएगा। फलतः औसत लागत को वृद्धिमान होना चाहिए।

४—तुलना कीजिए रॉबिन्सन, वही, परिशिष्ट; काल्डर, वही।

५—जो भी हो, देखिए, आगे अध्याय—१५ §६

६—हमारे द्वारा इस उदाहरण को दिए हुए महत्व के प्रति, स्यात् यह आक्षेप हो सकता है कि यदि माँग में वृद्धि का प्रभाव अनिवार्य है तो (सीमान्त) लागत

में वृद्धि का प्रभाव निर्वार्य है। किन्तु लागतों में इस तरह की वृद्धि का प्रभाव तभी निर्वार्य बनाया जा सकता है, जब यह परिकल्पना की जाय कि कारक-बाजारों में पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा है; लागत-वृद्धि के निर्वार्य-प्रभाव मात्र उन आर्थिक नियमों के परिणामस्वरूप हैं जो (उस समय) तब भी उन बाजारों के संबंध में लागू हैं।

७—कई प्रकार के कारकों को काम में लाने वाली फर्म के सामान्य उदाहरण में, हमको कारकों के न केवल एकाधिकारीय शोषण की संभावना का विचार करना है वरन् उत्पाद की विक्री के संबंध में एकाधिकारीय प्रवृत्ति का भी। शायद हमको यह सोचना ही पड़े कि अपने (स्यात् आवश्यक) अतिरेकों को प्राप्त करने के लिए एक ओर फर्म को अपने क्रेताओं का शोषण करना पड़े और दूसरी ओर अपने कारकों की पूर्त्ति-कर्त्ताओं का।

८—यह ज्ञातव्य है कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की सूक्ष्म परिभाषा देने वाले प्रथम अर्थशास्त्री, कूर्नो ने इस बात को ठीक इसी प्रकार रक्खा था। यह निर्विवाद है कि कूर्नो का यह विश्वास नहीं था कि स्पर्द्धा आमतौर पर यथार्थ में, पूर्ण होती है; किन्तु पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा की मान्यता तथ्यों की अति-सरल सन्निकटन थी।

९—स्पष्ट है कि ऐसे उदाहरण होंगे जहाँ, यदि अन्य कारकों और उत्पादों की मात्रायें यादृच्छिक रूप से चुनी गई हैं तो हम शेष एक कारक की चाहे जितनी मात्रा लें, हम उत्पादकों के लिए हुए समूह को नहीं तैयार कर सकते। यदि उत्पादों की मात्रा अत्यधिक है और यदि एक को छोड़कर शेष प्रत्येक कारक केवल थोड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं, तो शेष एक कारक की बहुत अधिक मात्रा भी उत्पादों के उत्पादनार्थ अपर्याप्त हो सकती है, बशर्ते कारक के उपयोग अति-समायोजनशील न हों। किन्तु यह कठिनाई बहुत अधिक महत्त्व वाली नहीं प्रतीत होती। व्यवहार में हम किसी संस्थिति से ही सदैव चलते हैं, अर्थात् संगत मात्राओं के किसी एक समूह से। यह मानना उतना ही आवश्यक नहीं है जितना यह कि इस स्थिति से कुछ विचलन संभव है। मैं समझता हूँ यह स्वीकृत होगा।

१०—अन्तिम विश्लेषण में यह भी अनावश्यक रूप से जटिल हो उठता है क्योंकि पहले दो प्रकार, तीसरे प्रकार में संवरित किए जा सकते हैं। यथा, उत्पाद 'ख' के लिए उत्पाद 'क' का प्रतिस्थापन निम्नाँकित दो परिवर्तनों का योग माना जा सकता है : (१) उत्पाद 'क' तथा कारक 'अ' में युगपत् वृद्धि; (२) कारक 'अ' तथा उत्पादक 'ख' में युगपत् ह्रास। यहाँ मात्रायें इस प्रकार समायोजित की जाती हैं कि कारकों में होने वाले परिवर्तन आपस में एक दूसरे को काट देते हैं। अतः जब तक हम न चाहें, यह आवश्यक नहीं है कि हम प्रथम दो प्रकारों का विचार करे। मेरी

समझ में उन को बनाए रखने में हमें सुविधा होगी ।

११—हम उत्पादों के प्राप्त कुल मूल्य को सर्वाधिक बनाते हैं; अतः उत्पादों के मध्य वर्धमान सीमान्त प्रतिस्थापन दर होगी; किन्तु कारकों के मध्य सीमान्त प्रतिस्थापन की दर ह्रासमान होगी क्योंकि कारकों के कुल मूल्य को न्यूनतम बनाना रहता है । इन शर्तों को चित्रों की सहायता से सरलतापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है, यदि हम यह मान लें कि अन्य सभी कारकों और उत्पादों की मात्रायें दीं हुई हैं और चुने हुए दो उत्पाद (अथवा कारक) चित्र के दोनों अंशों पर दर्शाए जाते हैं ।

१२—अर्थात्, यदि किसी भी विशेष वर्ग का प्रत्येक कारक अविहित मात्रा में बढ़ाया जाता है, और उन उत्पादों की वृद्धियों के समूह को ज्ञात किया जाता है जिनका बढ़े हुए कारकों के कारण उत्पादन होगा; और यदि अब प्रत्येक कारक समान रूप से बढ़ा दिया जाता है तो यह अन्तिम कारकों की वृद्धियों की श्रेणी उत्पादों में उतनी पर्याप्ति वृद्धियों को नहीं लायगी जितनी कारकों की प्रथम वृद्धियों के कारण आई थीं । तुलना कीजिए, अध्याय १§९ में दिए नियम से ।

अध्याय ७

१—जैसा कि उपयोगिता सिद्धान्त में हुआ था, स्थायित्व की दशाओं से चलकर हम गणित की सहायता से इसे निकाल सकते हैं । देखिए पीछे अध्याय २§४ की पाद-टिप्पणी ।

२—तुलना कीजिए पिगु 'इकॉनॉमिक्स ऑव वेलफेयर', खण्ड ४, अध्याय ३ ।

३—जो भी हो, केवल उस दशा में, जब एक उत्पाद और दो कारक होते हैं, मेरी परिभाषा ठीक पिगू की परिभाषा जैसी है । यदि दो से अधिक कारक हैं, तो मेरा परीक्षण इस पर निर्भर होगा कि यदि 'व' को छोड़कर ('ब' को अपरिवर्तित रखकर) अन्य कारकों ('स' आदि) की पूर्तियाँ इस तरह बढ़ायी जायँ कि उनके सीमान्त उत्पाद अपरिवर्तित रहें तो 'ब' के सीमान्त उत्पाद की क्या गति होगी ।

४—विचाराधीन दशा ऐसी है कि निर्गत 'क', कारक 'अ' और 'ब' की मात्राओं का ऐकिक समाँग फलन है । इसे कभी-कभी 'मात्रागत-समान-प्रत्युपलब्धि' की दशा कहते हैं ।

५—इस प्रकार अपरिवर्तनशील लागत तथा दो कारकों वाले उदाहरण में, एक परिवर्तनशील निर्गत के उत्पादन के समय, दोनों कारक अनिवार्य रूप से संपूरक होते हैं; और अपरिवर्तनशील निर्गत के संबंध में अनिवार्य रूप से प्रतिस्थापन्न । यह एक

विरोधात्मक परिस्थिति है, जो, यदि हम सावधान न रहें तो, हमको सरलता से गलत राह पर लगा सकती है। यदि हम अपरिवर्तनशील लागत के उदाहरण को प्रमाणित उदाहरण मानें तो यह स्वाभाविक है कि हम एक दिए हुए निर्गत को मान कर कारकों के मध्य प्रतिस्थापन्नता और संपूरकता की परिभाषा दें (क्योंकि कारकों की कीमत में होने वाले परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि निर्गत के सापेक्ष कारकों के अनुपात में परिवर्तन हो जाता है : जहाँ तक स्वयं निर्गत पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रश्न है, वह तब तक किंचित भी निर्धार्य नहीं कहा जा सकता जब तक माँग संबंधी दशाओं का तुरन्त विचार न किया जाय)। मैंने अपनी पुस्तक 'थिऑरी ऑव वेजेज़' के परिशिष्ट में यही दृष्टिकोण अपनाया था और प्रतिस्थापन की लोच संबंधी अपनी विवेचना में श्रीमती रॉबिन्सन ने भी इसी विचार धारा को अपनाया था (इकॉनॉमिक्स ऑव इम्परफेक्ट कम्पटीशन' पृष्ठ २५६ और आगे)। ऐसी ही परन्तु अधिक विस्तृत और नवीन व्याख्या आर० जी० डी० एलेन-लिखित 'मैथमेटिकल एनेलिसिस फॉर इकोनोमिस्ट्स' में दी हुई है।

इसी विचार धारा के अनुरूप कुछ समय तक अध्ययन करने के पश्चात् मेरा दृढ़ विश्वास हो गया है कि अपरिवर्तनशील लागत की दशा को प्रमाणित दशा के रूप में न मानना अधिक सुविधाजनक है। मैं तो इसको सीमा की ऐसी दशा मानता हूँ जिसमें साहसोद्यमगत साधनों की, उत्पत्ति-देन शून्य हो जाती है। इस दृष्टिकोण से कारकों के मध्य संपूरकता और प्रतिस्थापन्नता की परिभाषा परिवर्तनशील निर्गत की पृष्ठभूमि में देना अच्छा होगा—और इसलिए किसी एक फर्म द्वारा नियुक्त दो कारक साधारणतया संपूरक होने की प्रवृत्ति रक्खेंगे।

६—इस निर्वचन का परीक्षण इस आधार पर किया जा सकता है कि संपूरकता की भांति प्रतीपायन एक सममित संबंध है। यथा, यदि 'अ' और 'क' प्रतीपायित हैं तो 'क' की कीमत में वृद्धि होने पर 'क' का निर्गत बढ़ेगा, नियुक्त कारक 'ब' की मात्रा बढ़ेगी किन्तु नियुक्त 'क' की मात्रा घटेगी।

७—देखिए, आगे, पृष्ठ ३२२—२३।

८—मात्र एक उत्पाद की अपेक्षा संयुक्त उत्पादन वाली दशाओं में प्रतीपायन अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण संभावना प्रतीत होती है। उत्पाद 'क' के उत्पादन में कारक 'अ' का विशेष महत्त्वपूर्ण हाथ हो सकता है; फलतः जब 'अ' की नियुक्त मात्रा बढ़ती है तो 'क' की मात्रा भी अवश्य बढ़नी चाहिए। किन्तु यदि साहसोद्यमी के निश्चित साधन 'क' के उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक लगे हुए हैं तो वे 'ख' के उत्पादन हेतु कम उपलब्ध होंगे। फलतः 'अ' और 'ख' प्रतीपादित हो सकते हैं।

अध्याय ८

१—मैं 'उत्पाद' न कह कर 'वस्तु' कहता हूँ ताकि उसके द्वारा प्रत्यक्ष कारकों (सेवाओं) की माँग की संभावना की भी गुंजायश रहे।

२—अध्याय ४ की भांति यहाँ भी पुस्तक के प्रथम संस्करण में "अतीव संपूरकता" के उल्लेख के कारण स्थायित्व की विवेचना जटिल हो गई थी। क्योंकि, जैसा कि अध्याय ५, §८ की पाद-टिप्पणी में दिए कारणों के वश अतीव संपूरकता मृग-मरीचिका सिद्ध हुई है, उसका उल्लेख पूर्णतया छोड़ दिया गया है।

३—निस्संदेह एक ओर साहसोद्यमी अधिक समृद्ध होते हैं और दूसरी ओर कम समृद्ध। कीमत परिवर्तन के सामान्य प्रभाव का विचार करते समय इस बात पर ध्यान देना है। किन्तु साधारणतया यह मध्यस्थ उत्पादों की जिनका (मान्यतानुसार) प्रत्यक्ष रूप से उपभोग नहीं किया जाता, माँग और पूर्ति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करता है।

४—देखिए, पीछे, अध्याय ५, § ७।

५—इस अध्याय के शेष भाग में मैंने आय-प्रभावों की उपेक्षा की है।

६—देखिए, जे० रॉबिन्सन, 'इकॉनॉमिक्स ऑव इम्पर्फेक्ट कम्पेटीशन', पृष्ठ २५८। श्रीमती रॉबिन्सन, जिन्होंने इसमें, हमारी तरह, पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा की व्याख्या की है, केवल उत्पादन-पक्ष को ही ध्यान में रखती हैं, और यह परिकल्पना करती हैं कि केवल दो कारक हैं, साहसोद्यमगत साधन शून्य हैं और दीर्घ पैमाने की मितव्ययितायें शून्य हैं। परिणामतः लागतें अपरिवर्तनशील हैं। ये परिकल्पनायें उन्हें अपने प्रभावों को विभिन्न रूप से विभाजित करने में समर्थ बनाती हैं। वह दो प्रभावों को लेती हैं, (१) जब (संपूर्ण) उत्पाद का निर्गत दिया हुआ हो तब 'ब' की माँग पर प्रभाव; (२) निर्गत के बदलावों के माध्यम से प्रभाव। हमारा निष्कर्ष पूर्ण रूप से संगत दिखाई पड़ता है। मेरी स्वयं की रीतियाँ अपेक्षाकृत अधिक शीघ्रता से सामान्यीकृत करके सम्पूर्ण निकाय की समस्याओं की व्याख्या में प्रयुक्त की जा सकती हैं, जब कि श्रीमती रॉबिन्सन की रीतियों के लाभ उन्हीं प्रयोगों तक सीमित हैं जो वे करना चाहती थीं।

७—हमारी व्याख्या से यह स्पष्ट होगा कि हमें यह प्रत्याशा नहीं रखनी चाहिए कि यह सामान्य-गति किसी भी कीमत-देशनाँक में प्रतिलक्षित होगी।

८—तुलना कीजिए प्रोफेसर पिगु के 'श्रमिक-मालों' से ('थिअरी ऑव अनएम्प्लॉयमेंट)।

९—आगे देखिए, अध्याय २१।

अध्याय ९

१—अर्थशास्त्रीय स्थिति-विज्ञान तथा प्रवेगिक विज्ञान के भेद तथा भौतिक विज्ञान के स्थिति-विज्ञान और प्रवेगिक विज्ञान के भेद में अधिक साम्य नहीं है। इन पदों का उपयोग करने का मात्र न्याय यही है कि अर्थशास्त्रीय शब्दावलियों में इनका पर्याप्त-स्थापित स्थान है। यद्यपि उनके सूक्ष्म अर्थ नहीं निकाले गये हैं तथापि कम से कम उनके अर्थों की एक ऐसी श्रेणी है जो कुछ उपयोगी बातों का संकेत करती है।

२—निस्सन्देह, स्थैतिक प्रणाली के प्रति लोग इसीलिये आश्वस्त रहते थे क्योंकि वे इसकी सीमाओं से अपूर्णतया ही परिचित थे। इस प्रकार वे अपने उत्पादन के कारकों में पूंजी तथा उसकी कीमत (ब्याज) को स्थान देते थे और यह मान लेते थे कि पूंजी स्थैतिक कारकों की भांति मानी जा सकती है। (तुलना कीजिए जे० बी० क्लार्क की "निःशुल्क पूंजी" तथा कैसेल का "पूंजी-विग्रह"।)। यह तो कोई नहीं इन्कार करता था कि इस धारणा में कुछ अशुद्धि है किन्तु, क्योंकि ऐसे सामान्य प्रावेगिक सिद्धांत का अभाव था, जिसमें सभी मात्राएँ तिथिगत थीं, अशुद्धि की मात्रा को कम करके मानने की गलती हो जाती थी।

३—आस्ट्रियाई पूंजी-सिद्धांत की क्लासिकल व्याख्या निस्संदेह बॉमवॉवर्क की पूंजी का धनात्मक सिद्धांत है; किन्तु मूलतः उसी सिद्धांत का एक और भी अधिक सूक्ष्म विवरण विक्सेल् लिखित लेक्चर्स के प्रथम खंड में मिलता है। (मूल्य के संबंध में विक्सेल् वालरा-सदृश था किन्तु पूंजी के संबंध में उसके विचार आस्ट्रियाई थे।)

४—देखिए, पिगु; इक्नॉमिक्स ऑव वेल्फेयर, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४३।

५—यद्यपि मार्शल सामान्य प्रावेगिक समस्या के कम से कम एक भाग की बात उठाते हैं, यह अजीब लगता है कि वे अपने प्रावेगिक विश्लेषण में भी स्थैतिक धारणाओं का त्याग करने के प्रति कितने अनिच्छुक हैं। उनके अध्ययन में स्थैतिकी तथा प्रावेगिक में बहुत कम भेद है। न अति स्थैतिक संस्थिति के पदों में रखी होने के कारण और न इस बात से ही कि उनका केन्द्रीय मार्ग हमको उनकी प्रख्यात मनगढ़ंत 'स्थिर दशा' तक ले जाता है, उनकी प्रावेगिकी अधिक सरल हो पाई है अर्थात् वह सरल नहीं है।

६—देखिए मार्शल, पिन्सिपल्स, खंड ५, अध्याय २; तथा इस अध्याय के अंत में दी कीमतों के निर्धारण संबंधी टिप्पणी।

७—देखिए मार्शल पृ० ३७६।

८—वही, पृ० ३७७।

९—ध्यान रहे कि ये वक्र केवल तभी निर्धार्य हैं जब 'न' के अतिरिक्त अन्य दिनों की प्रत्याशित कीमतों के संबंध में कुछ ज्ञात हो। एक साँगोपाँग सिद्धांत को यह जटिलता ध्यान में रखनी पड़ेगी।

१०—जो भी हो, इस समस्या संबंधी अधिक तर्क के लिए देखिए, अतिरिक्त टिप्पणी स।

११—पूर्णतया सही होने के लिए वंटन के वैषम्य की ओर कुछ ध्यान देना चाहिए। (तुलना कीजिए, इक्नोमेट्रिका, १९३४, पृ० १९५ पर प्रकाशित मेरे एक लेख का संक्षिप्त विवरण)।

१२—फर्म द्वारा अपनाई योजना न केवल उसकी कीमत प्रत्याशाओं पर अपितु प्राविधिक प्रत्याशाओं (यथा, उपज-उत्पत्ति संबंधी प्रत्याशाओं) पर भी निर्भर होगी। हम सामान्यतः यह मानेंगे कि ये प्रत्याशाएँ भी निश्चित हैं और वे केवल उपर्युक्त अनुबंध से बँधी हैं।

१३—देखिए वालरा, एलिमेन्ट्स, पृ० ४४ : एजवर्थ, मथेमेटिकल् साइकिक्स पृ० १७।

१४—देखिए मार्शल, पृ० ३३५।

१५—देखिए पीछे अध्याय ५§२, पैरा ३-४।

अध्याय १०

१—देखिए पिछले अध्याय की टिप्पणी।

२—देखिए आगे अध्याय २१, §६।

३—यदि हम शर्त को ढील दे दें और केवल किसी प्रकार की भी अपरिवर्तनीय कीमत-स्तर की माँग करें तब भी ऐसा नहीं होता।

४—निस्संदेह माँग-पक्ष की यह आधारभूत कमजोरी केवल वस्तुओं के अग्रवर्ती बाजारों के संबंध में सही है, और (उदाहरणार्थ) यह विदेशी-विनिमय के अग्रवर्ती बाजार के संबंध में सही नहीं। जो भी हो, सभी अग्रवर्ती बाजारों में दीर्घ अवधि में क्षति-अवरोधक किसी एक अथवा दूसरे पक्ष में प्रभुत्व पा जाते हैं। कोई भी अग्रवर्ती बाजार सटोरिए-तत्वों से विहीन नहीं होता है।

५—देखिए केन्स कृत ट्रीटाइज ऑन मनी, खंड २, पृष्ठ १४२-४। बाजार की भाषा में, यदि भावी-कीमत तत्क्षण-कीमत से कम होती है, तो "पिछड़न" की दशा

मानी जाती है; विपरीत दशा में कॉन्टैन्गो की दशा होती है। स्पष्टतया, जब भविष्य में तत्क्षण-कीमतों की तीव्र-वृद्धि की प्रत्याशा होती है, तब कॉन्टैन्गो का उदय होता है : साधारणतया इसका अर्थ होता है कि तत्क्षण-कीमतें असामान्य रूप से कम हैं।

६—प्रस्तुत श्रम-संविदों तथा वस्तुओं के साधारण अग्रवर्ती बाजारों में वायदा-व्यापार को नियंत्रित करने वाली एक अन्य प्रकार की अनिश्चितता होती है। यह अनिश्चितता भावी तिथि पर जिन मालों की पूर्ति का वादा है उनकी किस्म के संबंध में होती है। इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए सुव्यवस्थित वस्तु-बाजारों में विस्तृत उपाय किए जाते हैं, किन्तु ऐसे सभी उपायों में व्यय अधिक पड़ते हैं, और ये व्यय सरलता से वहन-सीमा के आगे निकल जाते हैं।

७—यहाँ यह भी शर्त लागू होती है कि वायदे के सौदों के कालाँतर क्रय-विक्रय द्वारा ये संविदे यथार्थ में ख़तम किए जा सकते हैं।

८—तुलना कीजिए नाइट कृत 'रिस्क, अन्सर्टेन्टी एंड प्रॉफिट', अध्याय ५-६।

अध्याय ११

१—तुलना कीजिए केन्स, जनरल थिअरी, पृष्ठ २२२-३। इस प्रकार प्राप्त होने वाला निम्नाँकित सूत्र ज्ञातव्य है—

व्याज की वस्तु-दर लगभग व्याज की मौद्रिक दर-कॉन्टैन्गो (अन्य शब्दों में यह तत्क्षण-कीमत पर भावी कीमत का आधिक्य है)

२—विदेशी विनिमय बाजार के संबंध में ऐसा उदाहरण दिया जा सकता है जिसमें दोनों वस्तुओं (करेन्सियों) में से प्रत्येक का ऋण-बाजार है ही, दोनों के तात्कालिक-बाजार तथा अग्रवर्ती बाजार भी हैं। यदि चारों बाजार स्वतंत्र हों, तब भी जब तक उपर्युक्त संबंध सही न हो (अर्थात् जब तक संबंधित अवधि में पेरिस व लंदन की ब्याज-दरों का अंतर 'वायदे के फ्रैंक' पर होने वाले अपहरण दर के बराबर न हों) तब तक अस्थायी संस्थिति भी संभव नहीं है। यदि संबंध सही न रहे तो हम इससे यह संकेत समझेंगे कि चारों बाजारों में से कम से कम एक में सौदे नियंत्रित हो उठे हैं। (यह जोर देने की बात है कि चारों बाजार परस्पर आश्रित हैं और संस्थिति तक पहुँचने के प्रक्रम में उनमें से एक या सभी प्रमाणित हो उठेंगे।)

३—इस प्रकार फर्मों की वैत्तिक ढांचे की जटिलताएं अधिकांशतया पूंजी-बाजार के विवेचनात्मक प्रयत्नों के फलस्वरूप उदय होती हैं।

४—सभी दरें साप्ताहिक हैं, और प्रतिशत नहीं वरन् 'भिन्न' के रूप में पायी

जाती हैं। प्रति सप्ताह १।१० % को लिखेंगे, ०.००१।

५—यदि दीर्घ-कालीन ऋण का यह अनुबंध हो कि अदाएगी के समय कुल ब्याज का भुगतान करने के स्थान पर निश्चित अंतरालों पर ब्याज दिया जाएगा तो सामान्य सूत्र तो और भी अधिक जटिल हो उठेंगे किन्तु सरल ब्याज के सूत्र स्वभावतः अप्रभावित रहेंगे।

६—हम कालांतर इस महत्त्वपूर्ण विषय की खुलकर व्याख्या करेंगे। (देखिए आगे अध्याय १३।)

७—इसका एक व्यावहारिक परिणाम, जिसके निहित अर्थों की हम बाद में विस्तार के साथ व्याख्या करेंगे, यह है कि दीर्घकालीन दरों की अपेक्षा अल्पकालीन दरों में अपेक्षाकृत कहीं अधिक उतार-चढ़ाव आएँगे। देखिए आगे अध्याय २१, §, ३।

८—केन्स की जनरल थिअरी की ब्याज-दर दीर्घकालीन दर है।

अध्याय १२

१—केन्स : "ब्याज-दर के वैकल्पिक सिद्धांत" (इक्नॉमिक जनरल, जून १९३७); ओइलिन, रार्व्टसन तथा हॉट्रे के प्रतिवाद (इ० ज० सितंबर १९३७); केन्स : ब्याज-दर का घटना पूर्व वाला सिद्धांत (इ० ज० दिसंबर, १९३७); रार्व्टसन तथा केन्स के वित्त संबंध मत (इ० ज० जून, १९३८)।

२—तुलना कीजिए, पीछे अध्याय ४ तथा ८।

३—निस्संदेह यह संभव है कि इतने से कुछ माल, विनिमय ग्राह्य होते हुए भी, चालू सप्ताह में हस्ताँतरित न किए जायँ। तथापि यह सोचना सुविधाजनक होगा कि उनकी बाजार-कीमतें हैं और वे इस प्रकार निश्चिति (या, मोटेतौर पर निश्चित) की गई हैं कि माँग = पूर्ति = ०।

४—विक्सेल् की कृति गेल्ज़िन्स उंड गूटरप्राइज़ इस कठिनाई को दूर करने का प्रथम प्रयास माना जा सकता है। इसमें (मौद्रिक अर्थशास्त्रियों के कार्य में उदय होने वाले) मौद्रिक ब्याज-दर का (वास्तविक अर्थशास्त्रियों के) प्राकृतिक ब्याज-दर के साथ अध्ययन किया गया है। हम विक्सेल् के तर्कोंको बाद में लेंगे, देखिए आगे अध्याय २०, §, ४।

५—वही, पृष्ठ १४२।

६—देखिए अध्याय ८ की टिप्पणी।

७—ऐसा प्रतीत होता है कि केन्स को यह विश्वास दिलाने के मेरा प्रथम प्रयास,

कि उनके सिद्धांत की व्याख्या का उपर्युक्त ढंग सही है, सफल नहीं रहा। (देखिए मेरे आलोचना-लेख 'श्री केन्स का वृत्ति-सिद्धांत' इ० ज० जून १९३६, का उल्लेख करने वाले श्री केन्स के ब्याज के वैकल्पिक सिद्धांत, इ० ज० जून १९३७, को)। मेरी समझ में मेरे लेख की भ्रामकता) इस कारण थी कि मैं अल्पकालीन ब्याज-दर युक्त तात्कालिक अर्थव्यवस्था और दीर्घकालीन ब्याज-दर युक्त तात्कालिक अर्थव्यवस्था के भिन्न गुणों का विवरण देते समय मेरे विचार स्पष्ट नहीं थे। श्री केन्स आदतवश दीर्घकालीन ब्याज-दर युक्त तात्कालिक अर्थव्यवस्था को लेकर चलते हैं किन्तु उनकी पुस्तक प्रकाशित होने से पूर्व ही मैं अल्पकालीन ब्याज-दर युक्त तात्कालिक अर्थव्यवस्था के गुणों की व्याख्या कर रहा था। इनमें से प्रत्येक मॉडल के साथ ऋणों (अथवा, प्रतिभूतियों) वाले समीकरण का निरसन करने की रीति अपनाई जा सकती है। श्री केन्स की पुस्तक प्रकाशित होने से पूर्व ही मैं अपने मॉडल के लिए इस रीति की सुविधा को जान गया था। (देखिए मेरा लेख 'मज़दूरियाँ तथा ब्याज', इ० ज०, सितंबर १९३५, पृ० ४६७।) मुझे आशा है कि वर्तमान अध्याय में बात पूरी तौर से स्पष्ट हो गई है।

अध्याय १३

१—देखिए केन्स, जेनरल थिअरी, अध्याय १३।

२—अपवाद केवल उन्हीं दशाओं में होंगे जब मुद्रा रखना पूर्णतया सुरक्षित नहीं समझा जाता है क्योंकि चोरी या ज़ब्ती के कारण (मुद्रा के पदों में) मुद्रा-निधि की घिसावट होती है। यही कारण है कि छोटी-छोटी निधियों को रखने के लिए लोग बैंक को कुछ देते हैं अर्थात वे ऋणात्मक ब्याज की दर स्वीकार करते हैं।

३—निस्संदेह ब्याज-दरों के निकाय का निर्धारण करने के लिए बैंक तथा राजकीय अधिकारीगण जो पार्ट अदा करते हैं उसका उस निकाय के नियंत्रण की संभावना पर अधिक प्रभाव पड़ता है और पिछले वर्षों में इस संभावना को काफी उछाला गया है।

अध्याय १४

१—यदि वह अपनी आय के अंदर रह रहा है तो वह पहले सोमवार समान दूसरे सोमवार के क्रय-प्रवाह की योजना बना सकता है, और तब भी कुछ बच रहेगा। मान लीजिए कि वह यह योजना बनाता है कि क्रमागत सप्ताहों में वह क वस्तु की क्रमशः

क$_0$, क$_1$, क$_2$, . . . मात्राएँ ख वस्तु की क्रमशः ख$_0$, ख$_1$, ख$_2$, . . . मात्राएँ, ख वस्तु की क्रमशः ख$_0$, ख$_1$, ख$_2$ . . . . मात्राएँ, और ऐसे ही अन्य वस्तुओं की मात्राएँ क्रय करेगा। पहले सप्ताह में अपनी आय के अंदर रहने के हेतु यह आवश्यक है कि अगले सप्ताहों में आयोजित क्रय-मात्रा समूह

$$क_1 ख_1 ग_1 \ldots, क_2 ख_2 ग_2 \ldots, क_3 ख_3 ग_3 \ldots,$$

के संगत (२रे, ३रे, ४थे, . . .) सप्ताहों के यथार्थतया प्रत्याशित कीमतों पर अनुगणित मूल्य, इन्हीं (अर्थात सप्ताह बाद की) कीमतों पर अनुगणित पहले वाले प्रवाह

$$क_0 ख_0 ग_0 \ldots क_1 ख_1 ग_1 \ldots, क_2 ख_2 ग_2 \ldots,$$

के मूल्य से अधिक हो। अर्थात प्रत्येक क्रय-समूह का मूल्य एक सप्ताह बाद वाली प्रत्याशित कीमतों पर अनुगणित करते हैं।

२—तुलना कीजिए पीछे अध्याय १,§ ४।

३—तुलना कीजिए पीछे अध्याय १२,§ ३।

४—यह प्रोफेसर मिर्डल द्वारा आविष्कृत शब्द है, और अन्य स्वीडेन के अर्थशास्त्रियों ने इसका निर्यात किया।

५—यह श्री केन्स द्वारा प्रयुक्त शब्द है।

६—क्योंकि सांख्यकी के विशेपज्ञ को यह राह पकड़नी ही पड़ेगी, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि वह वस्तुगत आय को मापने के प्रयत्न में रत अन्य व्यक्तियों (यथा, कमिश्नर्स फॉर इंलैंड रेवेन्यु) की सहायता माँगे। उसके लिए सर्वोत्तम बात यही होगी कि वह आयकर अधिकारियों की रीतियाँ अपनाएँ। किन्तु यह सैद्धांतिक अर्थशास्त्री का कर्तव्य है कि वह ऐसे अधिकारियों के व्यवहार की आलोचना करे; उसे उनके साथ रहने का कोई अधिकार नहीं है।

७—इस वास्तविक आय के संबंध में अप्रत्याशित लाभ को लेकर सुधार करने की बात अधिकतर कम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि द्राव्यिक-मूल्यों के परिवर्तनों के फलस्वरूप होने वाले सभी अप्रत्याशित लाभ पहले से ही निकाल दिये गए हैं। केवल ऐसी अप्रत्याशित हानियों का जो प्राकृतिक आपदाओं और युद्धों के कारण होती हैं, विचार करना है।

८—देखिए आगे अध्याय २३।

९—उसी समय, निस्संदेह यह आवश्यक नहीं है कि घटना पूर्व की मात्राएँ घटनोत्तर मात्राओं के बराबर हों।

१०—तुलना कीजिए पीछे, अध्याय १२ से।

११—देखिए, वही।

१२—परम्परानुसार (और यह अर्थशास्त्र में प्रचलित है) आश्रित चर को अनुभौमिक अक्ष पर रखेंगे ।

१३—देखिए आगे अध्याय १७ । पाठक को आश्चर्य तो होगा कि साधारणतया माप-इकाइयों से स्वतंत्र एक अंक मानी जाने वाली लोच समय-अवधि सिद्ध होती है । यह चक्रवृद्धि ब्याज का परिणाम है । द्विवर्षीय ब्याज-दर एक-वर्षीय दर का दुगुना नहीं होती है । अतः समानुपातिक परिवर्तन मान कर समय का निरसन नहीं किया जा सकता है ।

१४—क्योंकि $\frac{\text{ब} + \text{२ब}^{२} + \text{३ ब}^{३} + \ldots}{\text{१} + \text{ब} + \text{ब}^{२} + \text{ब}^{३} \ldots} = \frac{\text{ब}}{(\text{१} - \text{ब})^{२}} \Big/ \frac{\text{१}}{(\text{१} - \text{ब})} = \frac{\text{ब}}{\text{१} - \text{ब}}$

$= \frac{\text{१}}{\text{३}}$

१५—मूल्य-प्रवाह के ऊर्ध्वता का सर्वोत्तम आँकिक परिभाषा उस प्रवाह-वृद्धि की दर है, जो प्रत्येक अवधि में एक ही अनुपात में बढ़ता है और जिसकी औसत अवधि वही है जो प्रारंभिक-प्रवाह की थी । वृद्धि-दर तथा औसत समयावधि एक सरल सूत्र से बँधे हैं । यदि प्रवाह की औसत अवधि 'घ' है, ब्याज-दर इ है और ऊर्ध्वता, स, तो

$\text{स} = \text{इ} - \frac{\text{१}}{\text{घ}}$ ।

अध्याय १५

१—बॉम बोवर्क के सिद्धांत का क्लासिकल प्रतिपादन निस्संदेह उसकी पुस्तक, पाज़िटिव थिअरी ६ केपीटेल (१८८९) में दिया है । इसका अंग्रेजी अनुवाद स्मार्ट ने प्रस्तुत किया था और, प्रस्तुत लेखन कार्य करने के समय तक, एच० एन० गेटसकेल द्वारा परिवर्धित संस्करण के शीघ्र निकलने की घोषणा हो चुकी है । विक्सेल् कृत लेक्चर्स (खंड १) में उसी व्याख्या को अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है ।

२—प्रो० नाइट के लेखों में विशेषतया देखिए 'द क्वान्टिटी ऑव केपिटल एंड द रेट ऑव इंट्रेस्ट' (जनरल ऑव पोलिटिकल इकॉनामी, १९३६) । काल्डर लिखित "एन्वल सर्वे ऑव इक्नामिक थिअरी" (इक्नोमेट्रिका, १९३७) में भी इस विवाद संबंधी ग्रंथ-सूची दी हुई है । सन् १९३८ के इक्नोमेट्रिका में नाइट तथा काल्डर ने इसका अधिक विस्तार किया है ।

३—एक बार पुनः यह आवश्यक है कि दिए आगत तथा निर्गत में संगति हो

अन्यथा शेष निर्गत धनात्मक न होंगे, अथवा शून्य ही, तथा शेष आगत को अपरिमित होना पड़ेगा। हम यह सब पहले विचार चुके हैं। देखिए पीछे, अध्याय ६, पाद-टिप्पणियाँ ८, ९।

४—निस्संदेह यह पूर्ण संभव है कि किसी सप्ताह विशेष में निर्गत के मूल्य से आगत का मूल्य इतना अधिक हो कि अतिरेक ऋणात्मक हो जाय। इसका अनिवार्य परिणाम "दिवाला" नहीं है। इसका मात्र यह अर्थ हो सकता है कि विनियोग किया जा रहा है ताकि आज के घाटे के भविष्य के अतिरेक से पूरा हो जाने की प्रत्याशा है।

५—देखिए अध्याय १४, टिप्पणी ब का §१।

६—देखिए वही।

७—देखिए लेक्चर्स, खंड १ पृष्ठ १७२-८४।

८—देखिए जेनरल थिअरी, पृ० ६७।

९—देखिए वही, पृ० १३५।

१०—देखिए पीछे अध्याय ९, §६।

११—अपूर्ण प्रतिस्पर्धा जनित उत्पादन नियंत्रण तथा जोखिम जनित उत्पादन नियंत्रण के संबंध के प्रश्न की अधिक विवेचना करना यहाँ उपयुक्त न होगा; किन्तु इतना तो मैं कहूँगा ही कि इस विषय पर कई अति महत्त्वपूर्ण बातें बतानी हैं। (देखिए कालडर मार्केट इम्परफेक्शन एन्ड एक्सेस कैपेसिटी, इक्नोमेट्रिका, १९३५)

१२—देखिए पीछे अध्याय १४, टिप्पणी ब का § २।

अध्याय १६

१—निस्संदेह यह साध्य ही इस बात की मुख्य न्याय है कि कुछ व्यावहारिक समस्याएं होती है जिनकी स्थैतिकी की रीति से पर्याप्त व्याख्या की जा सकती है। जैसे जैसे हम आगे बढ़ेंगे, इन समस्याओं का ठीक क्षेत्र स्पष्ट हो जाएगा।

२—निस्संदेह यह सत्य है कि किसी विशेष भावी सप्ताह में (और केवल उसी में होने हेतु) प्रत्याशित कीमत-वृद्धि आवश्यक सामग्री को निर्धारित करने की अपर्याप्त-प्रेरक हो सकती है, जब कि कुछ काफी समय तक टिकने वाली प्रत्याशित वृद्धि इस संबंध में पर्याप्त हो सकती है। यदि ऐसा होता है (निस्संदेह अक्सर ऐसा होगा) तो कुल प्रभाव आंशिक प्रभावों के योग से अधिक हो सकता है। किन्तु अधिक होने पर भी यह पूर्व-प्रकार का ही होगा। क्योंकि हमारे सप्ताह की लंबाई अविहित है, यह बात तुरंत स्पष्ट हो जाती है : इसकी लंबाई को बढ़ाकर हम इस कमी के महत्व को घटा

सकते हैं और तब भी हमारा तर्क अक्षुण्य बना रहेगा।

३. देखिए पीछे अध्याय ७, §६ ।

४—देखिए वर्ल्ड इक्नामिक सर्वे, १९३५-३६, पृष्ठ, २४६ ।

अध्याय १७

१—घाटे के प्रसार को अतिरेक का संकुचन मानना है।

२—देखिए पीछे अध्याय १४ की टिप्पणी ब का §२ ।

३—यह एक तरह की अजीब विधि एक दृष्टाँत से अधिक स्पष्ट की जा सकती है। यदि हम कीमतों की वृद्धि के किसी उद्योग के निर्गत पर पड़ने वाले प्रभाव को मापना चाहते हैं, तो व्यवहार में (क्योंकि उद्योग के निर्गत एक से नहीं हैं) इसको भिन्न प्रकार के उत्पादों को उनकी कीमतों के अनुरूप महत्व देना पड़ता है। किन्तु यदि हम ऐसा करते हैं, तब, यद्यपि इस दूसरी स्थिति में कीमतें बदल गई होंगी, हमको फिर भी उन्हीं कीमत-भारों का उपयोग करते रहना पड़ेगा; अन्यथा, हमारे अनुगणन मात्र प्राप्तियों के परिवर्तनों को बतायेंगे (जो कि निर्गत-परिवर्तन न होने पर भी उठते); वे निर्गत परिवर्तन को तो विल्कुल नहीं बताएँगे।

४—देखिए पीछे अध्याय १४ की टिप्पणी ब का §२ ।

५—हमारे सीमांत प्रवाह तथा "विनियोग की सीमांत इकाई" में सादृश्य है : यह अन्य लेखकों की कृतियों में भी स्पष्ट है। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि सैद्धांतिक दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि सीमाँत समायोजन वश चालू अतिरेक में कोई घट-बढ़ की जाय, योजना का समायोजन पूर्णतया भविष्य से संबंधित हो सकता है।

६—देखिए पीछे अध्याय १७, §६ ।

७—पुस्तक के प्रथम संस्करण में मैं उक्त तर्क तथा संगत गणितीय सिद्धि में तनिक अंतर होने से चिंतित था। कालाँतर मैंने अन्तर का कारण ढूंढ़ लिया है; वह मेरी अतीव संपूरकता संबंधी भूल का परिणाम है। अतः परिशिष्ट में दिये गणितीय टिप्पणी से वह दूर कर दिया गया है।

८—मैंने इस उदाहरण को कलेकी कृत "द पिन्सिपुल ऑव इंक्रीजिंग रिस्क" (इक्नामिका, १९३७) से लिया है। मेरी अपेक्षा कलेकी विचाराधीन स्थिति को सामान्य उत्पादक प्रक्रम का अधिक प्रतिनिधि लक्षण मानते हैं : जो भी हो, क्योंकि मेरे सिद्धांत के अंतर्गत वह भली प्रकार आ जाता है इसको इस बात पर झगड़ना अनावश्यक है।

अध्याय १८

१—व्यवहार में आय संबंधी धारणा के उपयोग वश भावी साधनों की मात्रा की यह सामान्य कल्पना करना पर्याप्त सुविधाजनक हो जाता है। चालू व्यय-वृद्धि से संबंधित भावी साधनों का त्याग भावी आय का त्याग माना जाता है, किन्तु यह केवल कहने का संक्षेप ढंग है और अध्ययन हेतु, इससे कोई सुविधाजनक मॉडल नहीं मिलता है।

२—$स_न$ उन प्रतिभूतियों का मूल्य है जो योजना-अवधि में दिए ऋणों के फलस्वरूप प्राप्त की गई हैं। यह केवल तभी सभी प्राप्त प्रतिभूतियों के मूल्य-वृद्धि के बराबर होगा जब प्रारंभ से प्राप्त प्रतिभूतियों के अंत में वही मूल्य रहने की प्रत्याशा है जो आरंभ में था।

३—तुलना कीजिए, पीछे, अध्याय १४, टिप्पणी ब का §२।

४—तुलना कीजिये, अध्याय १५, §४।

५—तुलना कीजिये, पीछे, अध्याय १०, §३।

अध्याय १९

१—देखिए अध्याय १३।

२—मुद्रा को एक प्रकार की प्रतिभूति मानने के फलस्वरूप यह भी अनिवार्य हो जाता है कि हम पिछले अध्याय के तर्कों में कुछ सुधार करें। वहाँ हमने यह मान लिया था कि वर्तमान व्यय से जितनी निधि भावी व्यय हेतु अलग की जाती है उस सब पर ब्याज मिलता है, किन्तु अब हमने देखा कि यह बात नहीं है। कुछ निधि मुद्रा के रूप में रक्खी जाएगी और उस पर कोई ब्याज नहीं आता। और (जब विचार कर ही रहे हैं तो पूर्ण साधारणीकरण स्वरूप) कुछ निधि ऐसे रूपों में होगी कि उन पर कम ब्याज की दरें प्राप्त होंगी; और कुछ अधिक ब्याज-दर वाले रूपों में। किन्तु इस सब से बहुत कम महत्वपूर्ण अंतर होता है। हम देख चुके हैं कि केवल अति दूर के आयोजित व्ययों के अपहरित मूल्य ब्याज-दरों के परिवर्तनों से अधिक प्रभावित होंगे। यह तथ्य से कि कुछ (निकट भविष्य के) व्यय का अपरहण नहीं किया जाना चाहिए मुश्किल से कोई अंतर पड़ता है। फलस्वरूप आवश्यक परिवर्तन ऐसा नहीं है कि उसकी विस्तारपूर्वक समीक्षा की जाय।

३—तुलना कीजिए, केन्स, 'द एक्स-एंटे थिअरी ऑव इंट्रेस्ट', इकनॉमिक जनरल, १९३७।

अध्याय २०

१—देखिए अध्याय १२ ।

२—देखिए अध्याय ५ ।

३—देखिए, पीछे, अध्याय ४, §१ ।

४—अधिक ठीक रूप में, कहेंगे, अपहरण अनुपात, जिसका ब्याज-दर से निश्चित तथा अपरिवर्तनीय गणितीय संबंध है ।

५—देखिए, अध्याय ११, §५ ।

६—वास्तविक पदों में विश्लेषण करने की आदत ने ही ऐसा करने की प्रेरणा दी ।

७—देखिए गेल्ज़िस उंड गूटरप्राइज़ । श्री कान कृत अंग्रेजी अनुवाद का शीर्षक है—इंट्रेस्ट एंड प्राइसेज़ ।

८—देखिए, वही, पृष्ठ ६२–७५ ।

९—पहले से निश्चित ऐसे कोई संविदे न होने चाहिए जिनको नई दशाओं में भी कार्यान्वित करना पड़ेगा; और कोई परंपरागत कीमतें भी न होनी चाहिए, यथा, परंपरा द्वारा निर्धारित द्राव्यिक मज़दूरियाँ । मैं अगले अध्याय में इस बात पर पुनः विचार करूँगा ।

१०—पाठक समझ गए होंगे कि यह तर्क इस मान्यता पर निर्भर है कि सापेक्ष कीमत-निकाय अद्वितीय रूप से निर्धार्य है । मैं स्वयं भी इस मान्यता के पक्ष में अधिक नहीं हूँ । यदि यह सत्य नहीं है तो कुछ भी हो सकता है ।

११—स्थायित्व की दशाओं से चलकर परिवर्तन संबंधी नियमों को निकालने की इस रीति के लिए, देखिए अध्याय ५,—६ । यह विरोध किया जा सकता है कि ऊंची कीमतों के कारण बढ़ी माँग भी अवरुद्ध हो उठेगी, किन्तु यह न्याययुक्त विरोध नहीं है । नए क्रेता अपनी आय को बढ़ी हुई पाएँगे और इसलिए वे अब भी उतनी ही मात्राओं में वस्तुओं को खरीदने के लिए उत्सुक होंगे जितनी वह कम कीमतों पर खरीदते थे ।

१२—तुलना कीजिए प्रत्याशाओं की लोच की परिभाषा से । पीछे देखिए अध्याय १६, §३ ।

१३—प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम प्रकाशन के कुछ समय बाद, प्रो० लांगे ने अपनी पुस्तक 'प्राइस फ्लेक्सिबिलिटी एंड एम्प्लॉमेंट' (काउले कमीशन, १९४४) में तथा डा० मोज़क ने अपनी कृति 'जेनरल इक्वीलिब्रियम थिअरी इन इंटरनेश्नल ट्रेड' (काउले

कमीशन, १९४४) में इस अध्याय के तर्कों की समीक्षा की थी। उनके कार्य के परिणामस्वरूप मुझे महसूस होता है कि मेरी व्याख्या में कुल परिवर्तन आवश्यक है, तथापि वह ऐसा नहीं है कि तर्कों पर कोई विशेष प्रभाव पड़े। ऐसी बात भी नहीं है कि परिवर्तनों को सरलता से मूल में रखा जा सके, जैसा कि मैंने कुछ सुधारों को नए संस्करण के मूल में स्थान दे दिया है। फलतः मैंने इस अध्याय के मूल पाठ को अपरिवर्तित रखा है और पुस्तक के अन्त में इस अध्याय की अतिरिक्त टिप्पणी के रूप में उन सुधारों को लिख दिया है।

अध्ययन की एक नई रीति, जिसने इन बातों पर अधिक प्रकाश डाला है, प्रोफेसर सेमुएल्सन की 'प्रक्रय-विश्लेषण' रीति है। जब मैं अपनी मूल पुस्तक लिख रहा था, तब मेरे मस्तिष्क में केवल प्रोफेसर डी. एच० राबर्टसन वाले प्रक्रय-विश्लेषण का ढांचा था और इसका उल्लेख यथास्थान किया गया था। यह पद-टिप्पणी अब हटा दी गई है ।) था। बाद के अध्ययनों से स्पष्ट हो उठा है कि मैं जितना निकट संबंध सोचता था, मेरे द्वारा विचारित विषयों और प्रक्रय-विश्लेषण के बीच उससे अधिक निकटता का संबंध है। अब भी मुझे यह विश्वास तो नहीं है कि प्रक्रय-विश्लेषण की अति निकट संगति है, किन्तु इसको सन् १९३८ की मेरी विवेचना में दिए महत्व से अधिक महत्व मिलना चाहिए। अतः इस विषय पर मैंने एक अतिरिक्त टिप्पणी भी लिख दी है (अतिरिक्त टिप्पणी स, पृष्ठ,)

अध्याय २१

१—तुलना कीजिये, पीछे, अध्याय ११।

२—क्योंकि (देखिए पीछे अध्याय ११, §५) एक निश्चित अवधि के लिए दीर्घकालीन प्रतिभूतियों में किये विनियोग से प्राप्त निवल प्रतिफल ई + (ई/ई') − १ (यहाँ ई चालू दीर्घकालीन दर तथा ई' अवधि के अंत की प्रत्याशित दर हैं) है, दर-ह्रास की अधिकतम मात्रा सरलता से अनुगमन की जा सकती है। क्योंकि ई + (ई/ई') − १ अवश्य > ० है, ई > ई' / (१ + ई'); और सन्निकटन करके, ई > ई' (१ − ई')। यदि वर्ष के अन्त की प्रत्याशित दर ४ प्रतिशत है, चालू दर में ४% के चार प्रतिशत से अधिक का ह्रास नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अन्य बातें भी हैं। किसी भी कल्पना की गई दशा में यही अधिकतम ह्रास है; क्योंकि यहाँ जोखिम का ध्यान छोड़ दिया है, अतः व्यवहार में संभव ह्रास का यह बढ़ा हुआ अनुमान है। तुलना कीजिए केन्स, जेनरल थिअरी, पृ० २०२।

३—किन्तु देखिए आगे §८ तथा §९।

४—वर्तमान दीर्घकालीन दरों के कारण उन अल्पकालीन दरों के परिवर्त्तन कट जाते हैं जिनके न केवल निकट भविष्य में अपितु अति सुदूर भविष्य में होने की प्रत्याशा होती है। यह प्रत्याशा है कि अल्पकालीन दर की यकायक तीव्र कमी कालाँतर दीर्घकालीन दर को गिरा देगी बशर्ते अल्पकालीन दर नए स्तर पर बनी रहे; और इसी कारण इस प्रत्याशा का उदय होता है कि भूतकाल की अपेक्षा भविष्य में ऊंचे अल्पकालीन दरों के होने की संभावना कम है। किन्तु इसका दीर्घकालीन दर पर तुरंत प्रभाव पड़ेगा ही यदि तुरंत ऐसे प्रभाव की अनिवार्यता का कोई महत्वपूर्ण कारण स्पष्ट हो उठे—यथा, जैसा कि बिरली घटना के रूप में सन् १९३२ में इंग्लैंड में हुआ था जब, स्वर्ण-मान से बुरी तरह चिपके रहने के कारण, ऊंची अल्पकालीन दरों की अवधि का निश्चित रूप से पटाक्षेप हुआ था।

५—देखिए अध्याय १७, §७

६—देखिए आगे, § ५

७—पाठक समझ जाएंगे कि यह मंदी वाली मनोवृत्ति है, जो व्याज-दर के प्रभाव को घटाती है।

८—ऋण—से अपस्फीति के साथ होने वाली मुद्रा-माँग की वृद्धि के कारण अनिवार्यतः व्याज-दर नहीं बढ़ जाएगी। यदि व्याज-दर पहले से ही निम्नतम हो चुकी है, जिससे अर्थ व्यवस्था में अधिक 'बेकार पड़ी मुद्रा' है, तो मुद्रा-पूर्ति पर बोझ डाले बिना बढ़ी माँग को पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार दिवालियों की बाढ़ के बीच व्यापारिक मंदी के बाद की स्थिति में व्याज-दर कम रह सकती है। दूसरी ओर, संकट के समय अधिकतर प्रचलित व्याज की ऊंची दरों की भी इसी प्रकार व्याख्या की जा सकती है।

९—इस विशेष प्रकार की एकाधिकारीय कदम मात्र एक प्रकार की कीमत-दृढ़ता है और किसी भी अन्य प्रकार की कीमत-दृढ़ता की भांति इसको भी स्थायक शक्ति सिद्ध होने का अवसर है। अन्यथा, यह माननेका कोई विशेष कारण नहीं है कि एकाधिकारीय कदम स्थायक होता है। यदि एकाधिकार-दशा में सामान्य संस्थिति निकाय को निर्धार्य माना जा सकता तो विक्सेल—केन्स का साध्य (जिसकी हम पिछले अध्याय में विवेचना कर चुके हैं) प्रथम दृष्टि में एकाधिकार के अन्तर्गत भी सही होगा: कीमतोंमें सामान्य समानुपातिक परिवर्तन पहले वाली वास्तविक स्थिति को लाएगा और इसलिये संस्थिति अछूती रहेगी। किन्तु मुझे अपने गंभीर संदेह को व्यक्त ही करना चाहिये कि इस संबंधित अर्थ में सामान्य एकाधिकारीय

निकाय निर्धार्य होता है या नहीं। यदि यह निर्धार्य नहीं है, तब कुछ भी हो सकता है। किन्तु ऐसा मानने का मुझे कोई कारण नहीं मिलता कि यह 'कुछ भी' स्थायित्व प्रदान कर्त्ता सिद्ध होगी।

१०—श्रीमती रॉबिन्सन ने अपने 'छिपी बेकारी" संबंधित सिद्धान्त द्वारा केन्स के विचारों का प्रसरण किया है। देखिए एसेज़ इन द थिअरी ऑव एम्प्लॉयमेन्ट)। किन्तु उन्होंने यह नहीं स्पष्ट किया है कि प्रसरण की सीमाएं क्या हैं।

११—देखिए पीछे अध्याय ८ की टिप्पणी।

१२—यह ओ म से कम हो सकती है यदि पूर्त्ति चक्र पीछे की ओर अवनत है।

१३—इसके विलोभ, परन्तु कम महत्व वाली दशा में भी, जिसमें दृढ़ कीमत ऐसे स्तर पर होती है कि माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक होती है, यह सत्य है कि दृढ़ कीमत का स्थायक प्रभाव पड़ता है और प्रतिच्छाया कीमतों का, अस्थायक प्रभाव। किन्तु इस दशा में विक्रेता की कीमत दृढ़ तथा क्रेता की कीमत प्रतिच्छाया स्वरूप होती हैं। अन्य मालों की कीमतों में सामान्य चढ़ाव होने पर निश्चित कीमत वाली वस्तुओं की बिक्री घटेगी, फलतः विक्रेता की कीमतें अपेक्षाकृत गिरेंगी और क्रेताओं की कीमतें अपेक्षाकृत बढ़ेंगी।

१४—व्यवहार में, उस अन्य प्रतिक्रिया का विचार करना है जो राजस्व के माध्यम से होगी। किसी भी तर्क से यह अनिवार्य नहीं है कि इसका प्रभाव स्थायित्व की दिशा में होगा। तथापि, कम से कम उन देशों में, जहाँ बेकारी दूर करने का दबाव अधिक है और बजट को संतुलित रखने की माँग अति जोरदार नहीं है, इस बात की कुछ संभावना है कि अन्त में ऐसा होगा।

१५—अधिक कड़ाईसे देखें तो हमको कहना पड़ेगा कि यह संभव है कि चालू कीमतों में परिवर्तन होने से लोगों की सभी भावी कीमतों संबंधी प्रत्याशाएं एक ही सीमा तक न बदलें। यदि कोई व्यक्ति यह आशा करे कि कुछ समय बाद पुनः कीमतें सामान्य हो जाएंगी, तब भी, यदि उसके आचरण पर निकट भविष्य की प्रत्याशित कीमतों का अधिक प्रभाव पड़ता है तो, वह सुग्राही व्यवहार करेगा। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति का वर्तमान आचरण अधिक दूर वाली प्रत्याशाओं द्वारा प्रभावित होता है तो इसी उक्त स्थिति में उसका व्यवहार निः सुग्राही होगा।

अध्याय २२

१—देखिए पीछे, अध्याय २१, §९।

निकाय निर्धार्य होता है या नहीं। यदि यह निर्धार्य नहीं है, तब कुछ भी हो सकता है। किन्तु ऐसा मानने का मुझे कोई कारण नहीं मिलता कि यह 'कुछ भी' स्थायित्व प्रदान कर्त्ता सिद्ध होगी।

१०—श्रीमती रॉबिन्सन ने अपने 'छिपी बेकारी" संबंधित सिद्धान्त द्वारा केन्स के विचारों का प्रसरण किया है। देखिए एसेज़ इन द थिअरी ऑव एम्प्लॉयमेन्ट)। किन्तु उन्होंने यह नहीं स्पष्ट किया है कि प्रसरण की सीमाएं क्या हैं।

११—देखिए पीछे अध्याय ८ की टिप्पणी।

१२—यह ओ म से कम हो सकती है यदि पूर्त्ति चक्र पीछे की ओर अवनत है।

१३—इसके विलोम, परन्तु कम महत्व वाली दशा में भी, जिसमें दृढ़ कीमत ऐसे स्तर पर होती है कि माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक होती है, यह सत्य है कि दृढ़ कीमत का स्थायक प्रभाव पड़ता है और प्रतिच्छाया कीमतों का, अस्थायक प्रभाव। किन्तु इस दशा में विक्रेता की कीमत दृढ़ तथा क्रेता की कीमत प्रतिच्छाया स्वरूप होती हैं। अन्य मालों की कीमतों में सामान्य चढ़ाव होने पर निश्चित कीमत वाली वस्तुओं की बिक्री घटेगी, फलतः विक्रेता की कीमतें अपेक्षाकृत गिरेंगी और क्रेताओं की कीमतें अपेक्षाकृत बढ़ेंगी।

१४—व्यवहार में, उस अन्य प्रतिक्रिया का विचार करना है जो राजस्व के माध्यम से होगी। किसी भी तर्क से यह अनिवार्य नहीं है कि इसका प्रभाव स्थायित्व की दिशा में होगा। तथापि, कम से कम उन देशों में, जहाँ बेकारी दूर करने का दबाव अधिक है और बजट को संतुलित रखने की माँग अति जोरदार नहीं है, इस बात की कुछ संभावना है कि अन्त में ऐसा होगा।

१५—अधिक कड़ाईसे देखें तो हमको कहना पड़ेगा कि यह संभव है कि चालू कीमतों में परिवर्तन होने से लोगों की सभी भावी कीमतों संबंधी प्रत्याशाएं एक ही सीमा तक न बदलें। यदि कोई व्यक्ति यह आशा करे कि कुछ समय बाद पुनः कीमतें सामान्य हो जाएंगी, तब भी, यदि उसके आचरण पर निकट भविष्य की प्रत्याशित कीमतों का अधिक प्रभाव पड़ता है तो, वह सुग्राही व्यवहार करेगा। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति का वर्तमान आचरण अधिक दूर वाली प्रत्याशाओं द्वारा प्रभावित होता है तो इसी उक्त स्थिति में उसका व्यवहार निः सुग्राही होगा।

अध्याय २२

१—देखिए पीछे, अध्याय २१, §९।